समाजशास्त्र का परिचय

BASOC-101

Self Learning Material

Directorate of Distance Education

SWAMI VIVEKANAND SUBHARTI UNIVERSITY

MEERUT-250005

UTTAR PRADESH

SIM Module Developed by :

Reviewed by :

-

Assessed by:

Study Material Assessment Committee, as per the SVSU ordinance No. VI (2).

Copyright © Laxmi Publications Pvt Ltd.

No part of this publication which is material protected by this copyright notice may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior permission from the publisher.

Information contained in this book has been published by Laxmi Publications Pvt Ltd and has been obtained by its authors from sources believed to be reliable and are correct to the best of their knowledge. However, the publisher and its author shall in no event be liable for any errors, omissions or damages arising out of use of this information and specially disclaim and implied warranties or merchantability or fitness for any particular use.

Published by : Laxmi Publications Pvt Ltd., 113, Golden House, Daryaganj, New Delhi-110 002.
Tel: 43532500, E-mail: info@laxmipublications.com

DEM C—
Typeset at: Printed at:
Edition: 2020

अनुक्रमणिका
(Contents)

Unit 1: समाजशास्त्र : एक परिचय
(Sociology: An Introduction)

1.1 उद्देश्य (Objectives)..1
1.2 प्रस्तावना (Introduction)..1
1.3 समाजशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Sociology)..2
1.4 समाजशास्त्र का उद्‌भव (Origin of Sociology)..5
1.5 समाजशास्त्र का विकास (Development of Sociology)..7
1.6 भारत में समाजशास्त्र का विकास (Development of Sociology in India)..10
1.7 समाजशास्त्र का क्षेत्र (Scope of Sociology)..15
1.8 समाजशास्त्र की विषय-वस्तु या विषय-सामग्री (Subject-matter of Sociology)..22
1.9 समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य (Sociological Perspective)..33
1.10 समाजशास्त्र की प्रकृति एवं महत्त्व (Nature and Importance of Sociology)..43
1.11 समाजशास्त्र का अन्य सामाजिक विज्ञानों से सम्बन्ध..54
(Relationship between Sociology with Other Social Sciences)..54
1.12 सारांश (Summary)..70
1.13 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)..70
1.14 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)..71

Unit 2: समाजशास्त्र की प्रारंभिक अवधारणाएँ
(Basic Concepts of Sociology)

2.1 उद्देश्य (Objectives)..72
2.2 प्रस्तावना (Introduction)..72
2.3 समाज का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Society)..73
2.4 समाज की विशेषताएँ (Characteristics of Society)..74
2.5 मानव और पशु समाज की विशेषताएँ (Characteristics of Human and Animal Society)..76
2.6 समुदाय (Community)..82
2.7 संघ या समिति (Association)..86
2.8 संस्था (Institution)..90

2.9 सामाजिक समूह (Social Group) 93
2.10 सामाजिक संरचना का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Social Structure) 107
2.11 सामाजिक संरचना की विशेषताएँ (Characteristic of Social Structure) 109
2.12 सामाजिक संरचना के प्रमुख रूप (Principal Types of Social Structure) 110
2.13 सामाजिक संरचना के स्तर (Level of Social Structure) 111
2.14 सामाजिक प्रस्थिति एवं भूमिका (Social Status and Role) 112
2.15 सारांश (Summary) 120
2.16 अभ्यास प्रश्न (Review Questions) 120

Unit 3: सामाजिक संस्थाएँ (Social Institutions)

3.1 उद्देश्य (Objectives) 121
3.2 प्रस्तावना (Introduction) 122
3.3 विवाह का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Marriage) 122
3.4 विवाह के भेद या प्रकार (Types or Kinds of Marriage) 123
3.5 परिवार (Family) 127
3.6 परिवार के कार्य एवं सामाजिक महत्त्व (Social Importance and Functions of Family) 130
3.7 परिवार के भेद या प्रकार (Kinds or Types of Family) 133
3.8 नातेदारी (Kinship) 139
3.9 नातेदारी की रीतियाँ (Kinship Usages) 141
3.10 धर्म का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Religion) 146
3.11 पूर्व-आधुनिक समाजों में धर्म का उद्भव (Origin of Religion in Pre-modern Societies) 147
3.12 धर्म की सामाजिक उपयोगिता (प्रकार्य) [Social Utility (Functions) of Religion] 152
3.13 धर्म एवं विज्ञान (Religion and Science) 156
3.14 धर्म की सामाजिक अनुपयोगिता (हानियाँ) [Social Unusefulness (Demerits) of Religion] 157
3.15 धर्म में आधुनिक प्रवृत्तियाँ (Recent Trends in Religion) 159
3.16 धार्मिक एवं लौकिक (Religious and Secular) 161
3.17 धर्म और समाज (Religion and Society) 167
3.18 सारांश (Summary) 182
3.19 अभ्यास प्रश्न (Review Questions) 183
3.20 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings) 183

Unit 4: संस्कृति एवं समाजीकरण
(Understanding Culture—Culture and Civilization)

4.1 उद्देश्य (Objectives) 185
4.2 प्रस्तावना (Introduction) 185

4.3 संस्कृति का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Culture) 185
4.4 संस्कृति के उपादान (Components of Culture) 192
4.5 सांस्कृतिक तत्व (Cultural Trait or Element) 192
4.6 संस्कृति संकुल (Culture Complex) 194
4.7 संस्कृति का मानव-जीवन या समाज पर प्रभाव (Effect of Culture on Human Life or Society) 201
4.8 समाजीकरण का अर्थ व परिभाषा (Meaning and Definition of Socialization) 204
4.9 समाजीकरण की प्रकृति (Nature of Socialization) 205
4.10 समाजीकरण सीखने की एक प्रक्रिया के रूप में (Socialization as a Process of Learning) 206
4.11 सामाजिकता सीखने या समाजीकरण के कारक (Factors of Social Learning or Socialization) 207
4.12 सामाजिकता सीखने या समाजीकरण की विधियाँ (Methods of Social Learning or Socialization) 210
4.13 समाजीकरण की प्रक्रिया के स्तर या अवस्थाएँ (Stages of the Process of Socialization) 212
4.14 समाजीकरण की मुख्य संस्थाएँ, साधन या अभिकरण
(Chief Institutions, Sources or Agencies of Socialization) 213
4.15 समाजीकरण के सिद्धान्त (Theories of Socialization) 217
4.16 व्यक्तित्व के विकास में समाजीकरण का महत्त्व (Role of Socialization in the Development of Personality) ... 219
4.17 सारांश (Summary) 220
4.18 अभ्यास प्रश्न (Review Questions) 220
4.19 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings) 221

B.A. I Sociology

Paper I : Introduction to Sociology

Objectives :

This introductory paper is intended to acquaint the students with sociology social science and the distinctiveness of its approach among the social sciences. It is organized in such a way that even students without any previous exposure to socio could acquire an interest in the subject and follow it.

Course Outline

Unit 1 : Origin, Definition, Scope, Subject matter and Nature of Sociology;

Relationship of sociology with other social sciences (Economics, Hist Psychology and Political Science); Humanistic orientation Sociological study.

Unit 2 : Basic concepts (only meaning and characteristics) : Society, Community, Institution, Association, Group, Social Structure, Status and Role, Human a Animal Society.

Unit 3 : Social Institutions : Family, Kinship, Marriage and Religion.

Unit 4 : Culture, Socialization, Relationship between individual and society.

Essential readings :

Bottommore, T.B. 1972 : Sociology : A Guide to Problems and Literature, Bombay, Geogre Allen and Unwin (India) (also Hindi Translation)

Davis, K., 2004 : Human Society, New Delhi, Surjeet Publication (also Hindi Translation)

Harlambos, M., 1998. Sociology : Themes and perspectives, New Delhi, Oxford University Press.

Inkeles, Alex, 1987 : What is Sociology?, New Delhi, Prentice-Hall of India.

Jayaram, N., 1988 : What is Sociology?, Madras, Macmillan (India)

Johnson, Harry M., 1995 : Sociology : A Systematic Introduction. New Delhi, Allied Publishers, (also Hindi Translation)

Karve, Irawati, 1953 : Kinship Organization in India, Bombay, Asia Pub. House

.

MacIver, R.M. and Page C.H. : 1953 : Society-Introductory Analysis, (Tata-Mac Graw Hill)

Schaefer, Richard T. and Robert P. Lamm, 1999 : Sociology, New Delhi

Tata-Mac Graw Hill

नोट

इकाई–1: समाजशास्त्र : एक परिचय (Sociology: An Introduction)

संरचना (STRUCTURE)

संरचना (Structure)
1.1 उद्देश्य (Objectives)
1.2 प्रस्तावना (Introduction)
1.3 समाजशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Sociology)
1.4 समाजशास्त्र का उद्‌भव (Origin of Sociology)
1.5 समाजशास्त्र का विकास (Development of Sociology)
1.6 भारत में समाजशास्त्र का विकास
1.7 समाजशास्त्र का क्षेत्र (Scope of Sociology)
1.8 समाजशास्त्र की विषय-वस्तु (Subject-matter of Sociology)
1.9 समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य (Sociological Perspective)
1.10 समाजशास्त्र की प्रकृति एवं महत्त्व (Nature and Importance of Sociology)
1.11 समाजशास्त्र का अन्य सामाजिक विज्ञान से संबंध (Relationship between Sociology with other Social Science)
1.12 सारांश (Summary)
1.13 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
1.14 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

1.1 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे :

- समाजशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषा को समझने में;
- समाजशास्त्र का क्षेत्र एवं विषय-वस्तु का वर्णन करने में;
- समाजशास्त्र की प्रकृति एवं महत्त्व की व्याख्या करने में;
- समाजशास्त्र के उद्‌भव एवं विकास का उल्लेख करने में।

1.2 प्रस्तावना (Introduction)

यद्यपि मनुष्य आदि-काल से ही समाज में रहता है, परन्तु उसने समाज और अपने स्वयं के अध्ययन में काफी देर से रुचि लेना प्रारम्भ किया। सर्वप्रथम मनुष्य ने प्राकृतिक घटनाओं का अध्ययन किया, अपने चारों ओर के

पर्यावरण को समझने का प्रयत्न किया और अन्त में स्वयं के अपने समाज के विषय में सोचना-विचारना शुरू किया। यही कारण है कि पहले प्राकृतिक विज्ञानों का विकास हुआ और उसके पश्चात् सामाजिक विज्ञानों का। सामाजिक विज्ञानों के विकास-क्रम में समाजशास्त्र का एक विषय के रूप में विकास काफी बाद में हुआ। पिछली शताब्दी में ही इस नवीन विषय को अस्तित्व में आने का अवसर मिला। इस दृष्टि से अन्य सामाजिक विज्ञानों की तुलना में समाजशास्त्र एक नवीन विज्ञान है।

नोट

समाजशास्त्र की आवश्यकता का अनुभव जटिल समाजों और विभिन्न सामाजिक घटनाओं को समझने के लिए किया गया। धीरे-धीरे इस शास्त्र का महत्व बढ़ता ही गया। समाजशास्त्र के विकास के सम्बन्ध में **टी.बी. बोटोमोर** (Bottomore) ने लिखा है कि हजारों वर्षों से लोगों ने उन समाजों एवं समूहों का अवलोकन और चिन्तन किया है जिसमें वे रहते हैं। फिर भी समाजशास्त्र एक आधुनिक विज्ञान है और एक शताब्दी से अधिक पुराना नहीं है। **डान मार्टिण्डेल** (Don Martindale) ने बताया है कि यदि मानव प्रकृति से दार्शनिक है तो स्वभावत: वह समाजशास्त्री भी है क्योंकि सामाजिक जीवन उसका स्वाभाविक उद्देश्य है। परन्तु समाज में रहने, सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करने और सामाजिक जीवन में भागीदार बनने मात्र से व्यक्ति समाजशास्त्री नहीं बन जाता। अत: आवश्यकता इस बात की है कि यह समझने का प्रयत्न किया जाए कि वास्तव में समाजशास्त्र क्या है?

समाजशास्त्र 'समाज' का ही विज्ञान या शास्त्र है। इसके द्वारा समाज या सामाजिक जीवन का अध्ययन किया जाता है। इस नवीन विज्ञान को जन्म देने का श्रेय फ्रांस के प्रसिद्ध विद्वान **ऑगस्त कॉम्ट** (Auguste Comte) को है। आपने ही सर्वप्रथम सन् 1838 में इस नवीन शास्त्र को **'समाजशास्त्र'** (Sociology) नाम दिया। इसी कारण आपको **'समाजशास्त्र का जनक'**। (Father of Sociology) कहा जाता है। समाजशास्त्र के प्रारम्भिक लेखकों में कॉम्ट के अलावा दुर्खीम, स्पेन्सर तथा मैक्स वेबर के नाम भी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन सभी विद्वानों के विचारों का समाजशास्त्र के एक विषय के रूप में विकास में काफी योगदान है।

समाजशास्त्र की उत्पत्ति के मूल स्रोतों पर प्रकाश डालते हुए **गिन्सबर्ग** (Ginsberg) ने लिखा है कि मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र की उत्पत्ति राजनीतिक दर्शन, इतिहास, विकास के जैविकीय सिद्धान्त एवं उन सभी सामाजिक और राजनीतिक सुधार के आन्दोलनों पर आधारित है जिन्होंने सामाजिक दशाओं का सर्वेक्षण करना आवश्यक समझा। स्पष्ट है कि समाशास्त्र की उत्पत्ति में राजनीतिक दर्शन, इतिहास, विकास के जैविकीय सिद्धान्त तथा सामाजिक एवं राजनीतिक सुधार आन्दोलनों का योग रहा है। समाजशास्त्र की उत्पत्ति उन प्रयत्नों का परिणाम है जिनके द्वारा सामाजिक ज्ञान की विभिन्न शाखाओं के बीच पाये जाने वाले सामान्य आधार को ढूंढ़ा गया।

1.3 समाजशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Sociology)

शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि समाशास्त्र दो शब्दों से मिलकर बना है जिनमें से पहला शब्द 'सोशियस' (Socius) लैटिन भाषा से और दूसरा शब्द 'लोगस' (Logas) ग्रीक भाषा से लिया गया है। 'सोशियस' का अर्थ है–समाज और 'लोगस' का शास्त्र। इस प्रकार 'समाजशास्त्र (Sociology) का शाब्दिक अर्थ समाज का शास्त्र या समाज का विज्ञान है। **जॉन स्टुअर्ट मिल** ने 'Sociology' के स्थान पर 'इथोलॉजी' (Ethology) शब्द को प्रयुक्त करने का सुझाव दिया और कहा कि 'Sociology' दो भिन्न भाषाओं की एक अवैध सन्तान है, लेकिन अधिकांश विद्वानों ने **मिल** के सुझाव को नहीं माना। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से **हरबर्ट स्पेन्सर** (Herbert Spencer) ने समाज के क्रमबद्ध अध्ययन का प्रयत्न किया और अपनी पुस्तक का नाम 'सोशियोलॉजी' रखा। सोशियोलॉजी (Sociology) शब्द की उपयुक्तता के सम्बन्ध में आपने लिखा है कि प्रतीकों की सुविधा एवं सूचकता उनकी उत्पत्ति सम्बन्धी वैधता से अधिक महत्त्वपूर्ण है। स्पष्ट है कि शाब्दिक दृष्टि से **समाजशास्त्र का अर्थ समाज (सामाजिक सम्बन्धों) का व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध ढंग से अध्ययन करने वाले विज्ञान से है।**

जब हम इस प्रश्न पर विचार करते हैं कि **समाजशास्त्र क्या है** तो विभिन्न समाजशास्त्रियों के दृष्टिकोणों में भिन्नता देखने को मिलती है, लेकिन इतना अवश्य है कि अधिकांश समाजशास्त्री समाजशास्त्र को **'समाज का विज्ञान'** मानते हैं। समाजशास्त्र का अर्थ स्पष्ट करने की दृष्टि से विभिन्न विद्वानों ने समय-समय पर विचार व्यक्त किये हैं। उनके द्वारा दी गयी **समाजशास्त्र की परिभाषाओं को प्रमुखत: निम्नलिखित चार भागों में बांटा जा सकता है :**

1. समाजशास्त्र समाज के अध्ययन के रूप में।
2. समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों के अध्ययन के रूप में।
3. समाजशास्त्र समूहों के अध्ययन के रूप में।
4. समाजशास्त्र सामाजिक अन्त:क्रियाओं के अध्ययन के रूप में।

नोट

अब इनमें से प्रत्येक पर हम यहाँ विचार करेंगे।

1.3.1 समाजशास्त्र समाज के अध्ययन के रूप में

गिडिंग्स, समनर, वार्ड आदि कुछ ऐसे समाजशास्त्री हुए हैं जिन्होंने समाशास्त्र को एक ऐसे विज्ञान के रूप में परिभाषित करने का प्रयत्न किया जो सम्पूर्ण समाज का एक समग्र इकाई के रूप में अध्ययन कर सके।

वार्ड (Ward) के अनुसार, ''समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है।''

गिडिंग्स (Giddings) के अनुसार, ''समाजशास्त्र समाज का वैज्ञानिक अध्ययन है।'' आपने ही अन्यत्र लिखा है कि समाजशास्त्र समाज का एक समग्र इकाई के रूप में व्यवस्थित वर्णन एवं व्याख्या है।

ओडम (Odum) के अनुसार, ''समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो समाज का अध्ययन करता है।'' इन परिभाषाओं के आधार पर यह तो स्पष्ट है कि समाजशास्त्र समाज का वैज्ञानिक अध्ययन है, परन्तु यहाँ एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि समाजशास्त्र किस समाज का अध्ययन करता है–मानव समाज का या पशु समाज का अथवा दोनों का। यहाँ हमें यह स्पष्टत: समझ लेना चाहिए कि **समाजशास्त्र के अन्तर्गत मानव समाज का अध्ययन किया जाता है।** **जी. डंकन मिचेल** (G. Duncan Mitchell) के अनुसार, "समाजशास्त्र मानव समाज के संरचनात्मक पक्षों (Structural Aspects) का विवरणात्मक एवं विश्लेषणात्मक शास्त्र है।''

1.3.2. समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों के अध्ययन के रूप में

जहाँ कुछ विद्वानों ने समाजशास्त्र को समाज का विज्ञान माना है, वहीं कुछ अन्य ने इसे सामाजिक सम्बन्धों का व्यवस्थित अध्ययन कहा है, लेकिन समाज के विज्ञान और सामाजिक सम्बन्धों के अध्ययन में कोई अन्तर नहीं है। इसका कारण यह है कि सामाजिक सम्बन्धों की व्यवस्था को ही समाज के नाम से पुकारा गया है समाजशास्त्र को सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन मानने वाले कुछ प्रमुख विद्वानों की परिभाषाएँ इस प्रकार हैं :

मैकाइवर तथा **पेज** (MacIver and Page) के अनुसार, "समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों के विषय में है, सम्बन्धों के इसी जाल को हम समाज कहते हैं।" आपने अन्यत्र लिखा है, "सामाजिक सम्बन्ध मात्र समाजशास्त्र की विषय-वस्तु है।''

क्यूबर (J.F. Cuber) के अनुसार, "समाजशास्त्र को मानव सम्बन्धों (Human relationships) के वैज्ञानिक ज्ञान की शाखा के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।"

मैक्स वेबर (Max Weber) के अनुसार, "समाजशास्त्र प्रधानत: सामाजिक सम्बन्धों तथा कृत्यों का अध्ययन है।'' इसी प्रकार के विचारों को व्यक्त करते हुए **वान वीज** (Von Wiese) ने लिखा है, "सामाजिक सम्बन्ध ही समाजशास्त्र की विषय-वस्तु का एकमात्र वास्तविक आधार है।"

आरनोल्ड एम. रोज (Arnold M. Rose) के अनुसार, ''समाजशास्त्र मानव सम्बन्धों का विज्ञान है।''

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि समाजशास्त्र एक ऐसा विज्ञान है जो सामाजिक सम्बन्धों का व्यवस्थित अध्ययन करता है। सामाजिक सम्बन्धों के जाल को ही समाज कहा गया है। मनुष्य पारस्परिक जागरूकता (Mutual Awareness) और सम्पर्क (Contact) के आधार पर विभिन्न व्यक्तियों एवं समूहों के साथ अगणित सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करता है। जब अनेक व्यक्ति और समूह विभिन्न इकाइयों के रूप में एक-दूसरे के साथ सम्बन्धित हो जाते हैं, तब इन सम्बन्धों के आधार पर जो कुछ बनता है, वही 'समाज' (Society) कहलाता है। ऐसे समाज या सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन समाजशास्त्र के अन्तर्गत किया जाता है।

1.3.3. समाजशास्त्र समूहों के अध्ययन के रूप में

नोट

नोब्स, हाइन तथा **फ्लेमिंग** के अनुसार, ''समाजशास्त्र समूहों में लोगों का वैज्ञानिक और व्यवस्थित अध्ययन है।'' इसका तात्पर्य है कि समाजशास्त्र व्यवहार के उन प्रतिमानों की ओर ध्यान देता है जो संगठित समुदायों में रहने वाले लोगों में पाये जाते हैं।

जॉन्सन (Johnson) ने समाजशास्त्र को सामाजिक समूहों का अध्ययन माना है। आपके ही शब्दों में, ''समाजशास्त्र सामाजिक समूहों का विज्ञान है...सामाजिक समूह सामाजिक अन्त:क्रियाओं की ही एक व्यवस्था है।'' आपकी मान्यता है कि समाजशास्त्र को 'सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन' कह देने से काम नहीं चलेगा और हम किसी निश्चित निष्कर्ष पर भी नहीं पहुँच सकेंगे। अत: समाजशास्त्र को सामाजिक समूहों का विज्ञान माना जाना चाहिए। सामाजिक समूह का अर्थ **जॉन्सन** के अनुसार केवल व्यक्तियों के समूह से नहीं होकर व्यक्तियों के मध्य उत्पन्न होने वाली अन्त:क्रियाओं की व्यवस्था से है। विभिन्न व्यक्ति जब एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हैं तो उनमें सामाजिक अन्त:क्रिया उत्पन्न होती है और इन्हीं अन्त:क्रियाओं के आधार पर समूह बनते हैं। समाजशास्त्र सामाजिक अन्त:क्रियाओं के आधार पर बनने वाले ऐसे सामाजिक समूहों का अध्ययन ही है। जॉन्सन ने समाजशास्त्र में उन्हीं सामाजिक सम्बन्धों को महत्त्व दिया है जो सामाजिक अन्त:क्रियाओं के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं। आपने लिखा है, "समाजशास्त्र के अन्तर्गत व्यक्तियों में हमारी रुचि केवल वहीं तक है जहाँ तक वे सामाजिक अन्त:क्रियाओं की व्यवस्था में भाग लेते हैं।" स्पष्ट है कि समूह के निर्माण में सामाजिक अन्त:क्रियाएँ आधार के रूप में हैं और इन्हीं के आधार पर बनने वाले सामाजिक समूहों का अध्ययन समाजशास्त्र में किया जाता है।

सामाजिक समूहों के अध्ययन को समाजशास्त्र में इतना महत्त्व क्यों दिया जाता है, इसे भी हमें यहाँ समझ लेना चाहिए। व्यक्ति समूह में रहता है तथा उसकी विभिन्न गतिविधियों में भाग लेता है और अपनी आवश्यकताओं या लक्ष्यों की पूर्ति करता है। वह परिवार-समूह, नाते-रिश्तेदारों के समूह, जाति-समूह और खेल-कूद के साथियों के समूह, पड़ोस-समूह, विद्यालय-समूह, व्यावसायिक समूह, धार्मिक समूह एवं राजनीतिक दल में भाग लेता है और यहीं उसका विकास होता है। इनमें से प्रत्येक समूह सामाजिक अन्त:क्रियाओं की एक व्यवस्था है, अत: जब हम समाजशास्त्र में सामाजिक समूहों का अध्ययन करते हैं तो अप्रत्यक्ष रूप से सामाजिक अन्त:क्रियाओं के व्यवस्थित अध्ययन के महत्त्व को भी स्वीकार करते हैं।

1.3.4. समाजशास्त्र सामाजिक अन्त:क्रियाओं के अध्ययन के रूप में

कुछ सामजशास्त्री समाजशास्त्र को सामाजिक अन्त:क्रियाओं के अध्ययन के रूप में परिभाषित करते हैं। इनकी मान्यता है कि सामाजिक सम्बन्धों की बजाय सामाजिक अन्त:क्रियाएँ समाज का वास्तविक आधार हैं। सामाजिक सम्बन्धों की संख्या इतनी अधिक है कि उनका ठीक से अध्ययन किया जाना बहुत ही कठिन है। अत: समाजशास्त्र में सामाजिक अन्त:क्रियाओं का अध्ययन किया जाना चाहिए। अन्त:क्रिया (Interaction) का तात्पर्य दो या दो से अधिक व्यक्तियों या समूहों का जगरूक अवस्था में एक-दूसरे के सम्पर्क में आना और एक-दूसरे के व्यवहारों को प्रभावित करना है। सामाजिक सम्बन्धों के निर्माण का आधार अन्त:क्रिया ही है। यही कारण है कि **समाजशास्त्र को सामाजिक अन्त:क्रियाओं का विज्ञान माना गया है।**

गिलिन और **गिलिन** (Gillin and Gillin) के अनुसार, ''व्यापक अर्थ में समाजशास्त्र व्यक्तियों के एक-दूसरे के सम्पर्क में आने के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली अन्त:क्रियाओं का अध्ययन कहा जा सकता है।''

गिन्सबर्ग (Ginsberg) के अनुसार, ''समाजशास्त्र मानवीय अन्त:क्रियाओं और अन्त:सम्बन्धों, उनकी दशाओं और परिणामों का अध्ययन है।''

जार्ज सिमेल (George Simmel) के अनुसार, ''समाजशास्त्र मानवीय अन्त:सम्बन्धों के स्वरूपों का विज्ञान है।'' उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि समाजशास्त्र सामाजिक अन्त:क्रियाओं का विज्ञान है। **कुछ अन्य विद्वानों ने समाजशास्त्र को निम्न प्रकार से परिभाषित किया है :**

मैक्स वेबर (Max Weber) के अनुसार, ''समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो सामाजिक क्रिया (Social Action) का विश्लेषणात्मक बोध कराने का प्रयत्न करता है।" आपके अनुसार सामाजिक क्रियाओं को समझे बिना

समाजशास्त्र को समझना कठिन है। इसका कारण यह है कि जहाँ समाजशास्त्र में सामाजिक सम्बन्धों एवं सामाजिक अन्त:क्रियाओं का विशेष महत्त्व है, वहाँ सामाजिक क्रियाओं को समझे बिना इन दोनों को नहीं समझा जा सकता, स्वयं अन्त:क्रियाओं का निर्माण सामाजिक क्रियाओं से ही होता है। अत: मैक्स वेबर ने समाजशास्त्र में सामाजिक क्रियाओं को समझने पर विशेष ज़ोर दिया है। समाजशास्त्र में सामाजिक क्रिया के अध्ययन को **टालकट पारसन्स** ने भी काफी महत्त्व दिया है। आपकी मान्यता यह है कि सम्पूर्ण सामाजिक संरचना, सामाजिक सम्बन्धों, समाज तथा सामाजिक व्यवस्था को 'क्रिया' की धारणा के माध्यम से ही समझा जा सकता है।

सोरोकिन (Sorokin) के अनुसार, ''समाजशास्त्र सामाजिक-सांस्कृतिक प्रघटनाओं के सामान्य स्वरूपों, प्रकारों और अनेक अन्तर्सम्बन्धों का सामान्य विज्ञान है।'' आपने अन्यत्र बताया है कि समाजशास्त्र समाज के उन पहलुओं का अध्ययन करता है जो आवर्तक (Recurrent), स्थायी और सार्वभौमिक हैं और जो प्रत्येक सामाजिक विज्ञान की विषय-वस्तु से सम्बन्धित हैं, किन्तु फिर भी कोई भी सामाजिक विज्ञान उनका विशेष रूप से अध्ययन नहीं करता।''

अपने व्यापक रूप में **समाजशास्त्र समाज व्यवस्था** (Social System) **का अध्ययन करने वाला विज्ञान है।** समाज व्यवस्था में सामाजिक प्रक्रिया, सामाजिक सम्बन्ध, सामाजिक नियन्त्रण, सामाजिक परिवर्तन, सामाजिक संस्थाएँ तथा इनसे सम्बन्धित प्रभाव एवं परिस्थितियाँ आती हैं। अन्य शब्दों में, समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो समाज व्यवस्था से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों का अध्ययन करता है।

उपर्युक्त सभी परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि **समाजशास्त्र सम्पूर्ण समाज का एक समग्र इकाई के रूप में अध्ययन करने वाला विज्ञान है। इसमें सामाजिक सम्बन्धों का व्यवस्थित अध्ययन किया जाता है। सामाजिक सम्बन्धों को ठीक से समझने की दृष्टि से सामाजिक क्रिया, सामाजिक अन्त:क्रिया एवं सामाजिक मूल्यों के अध्ययन पर इस शास्त्र में विशेष ज़ोर दिया जाता है।**

1.4 समाजशास्त्र का उद्‌भव (Origin of Sociology)

एक पृथक् विषय के रूप में समाजशास्त्र का इतिहास 150 वर्ष से अधिक पुराना नहीं है। इस शास्त्र के अन्तर्गत समाज का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है। पूर्व में समाज, सामाजिक सम्बन्धों, परिवार, विवाह, सम्पत्ति, सामाजिक संस्थाओं आदि पर धर्म का स्पष्ट प्रभाव था। ईसा के जन्म के पूर्व भारत, चीन, अरब, ग्रीस, रोम आदि देशों में सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों पर दार्शनिक दृष्टिकोण से चिन्तन प्रारम्भ हुआ। इस समय मनु, कौटिल्य, कन्फ्यूशियस, प्लेटो तथा अरस्तू प्रसिद्ध सामाजिक दार्शनिक हुए। यद्यपि प्रारम्भ में समाज और सामाजिक जीवन को धार्मिक एवं दार्शनिक आधार पर समझने का प्रयत्न किया गया, लेकिन धर्म और दर्शन की पद्धतियों में वस्तुनिष्ठता व उद्वेगात्मक तटस्थता का अभाव था, निरीक्षण एवं परीक्षण को कोई महत्त्व नहीं दिया गया था।

तत्पश्चात् इतिहास की सहायता से समाज और सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं को समझने का प्रयत्न किया गया। समाजशास्त्र के अन्तर्गत इतिहास की सहायता से बीते हुए युग के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की गयी। अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों एवं उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में इतिहास एवं दर्शन की अध्ययन-विधियों का मिला-जुला रूप देखने को मिलता है। इस प्रकार की विश्लेषण पद्धति के विकास में जर्मन दार्शनिक हीगल का विशेष योगदान था। इससे समाजशास्त्र के विकास में काफी सहायता मिली। इस समय यूरोप में सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक पक्षों के विश्लेषण के लिए राजनीतिक अर्थतन्त्र नामक विषय को काफी महत्त्व दिया गया। इस विषय से सम्बन्धित अध्ययनों ने समाजशास्त्र के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

जब हम समाजशास्त्र के उद्‌भव एवं विकास का विचार करते हैं तो तीन विश्लेषण पद्धतियां उभरकर सामने आती हैं :

(*i*) प्रथम विश्लेषण पद्धति मानव चिन्तन की निरन्तरता पर जोर देती है। इसमें समाजशास्त्र के उदय एवं विकास को प्राचीन युग के सामाजिक चिन्तन के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया गया। **वार्न्स** एवं **टिमैरोफ** ने समाजशास्त्र का आरम्भ चिन्तन के एक निरन्तर प्रवाह के एक भाग के रूप में माना है। इसके अनुसार प्राचीनकाल में ग्रीस, रोम, भारत, चीन और अरब देशों में समाजशास्त्र का उदय हुआ। सामाजिक जीवन का विश्लेषण करने वाले विभिन्न सामाजिक विज्ञानों जैसे—इतिहास, राजनीतिशास्त्र, दर्शन, अर्थशास्त्र तथा

प्राकृतिक विज्ञानों में प्रयुक्त अध्ययन-विधियों के सम्मिलित प्रभाव के परिणामस्वरूप समाजशास्त्र की उत्पत्ति हुई।

(*ii*) द्वितीय विश्लेषण पद्धति सिद्धान्तों तथा तथ्यों के विवेचन पर जोर देती है। इस पद्धति के प्रतिपादक मर्टन का कहना है कि समाजशास्त्र के सिद्धान्तों पर विचार करते समय इसके इतिहास के अध्ययन पर जोर नहीं देकर सिद्धान्तों एवं तथ्यों के विश्लेषण पर जोर देना चाहिए।

नोट

(*iii*) तृतीय विश्लेषण पद्धति से सम्बन्धित विद्वानों का कहना है कि तत्कालीन यूरोप के सामाजिक एवं आर्थिक परिप्रेक्ष्य में समाजशास्त्र के उदय तथा विकास पर विचार किया जाना चाहिए। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दशकों में औद्योगीकरण व पूंजीवाद के विकास के परिणामस्वरूप सामाजिक जीवन में जो बदलाव आया, उसके सन्दर्भ में समाजशास्त्र के उद्भव एवं विकास का पता लगाया जाना चाहिए।

1.4.1 समाजशास्त्र के उद्भव की पृष्ठभूमि (Background of Origin of Sociology)

अठारहवीं शताब्दी के यूरोप की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं बौद्धिक परिस्थितियों ने समाजशास्त्र के उद्भव और विकास में विशेष योग दिया। अब राज्य व समाज की उत्पत्ति में दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त में विश्वास कम हुआ और इनकी उत्पत्ति में मानवीय प्रयत्नों को महत्त्वपूर्ण माना गया। इंग्लैण्ड में राजा के अधिकार कम हुए एवं संसद के अधिकार बढ़े। फ्रांस में राज्यक्रान्ति हुई, कारखानों पर आधारित नवीन अर्थव्यवस्था अस्तित्व में आयी, नगरों का विकास हुआ तथा समुदायों की दमनात्मक शक्ति में कमी आयी। इन सबके परिणामस्वरूप अनेक सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक परिवर्तन होने लगे। इससे समाज में बदलाव आया, समाज की नई सरंचना विकसित हुई। इस संरचना की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित थीं :

(*i*) राजतन्त्र के स्थान पर लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था का विकास हुआ।

(*ii*) भूमि तथा कृषि पर आधारित अर्थव्यवस्था की जगह औद्योगिक व्यवस्था का उदय हुआ।

(*iii*) गांवों से लोग या तो अन्य देशों की ओर या अपने ही देश में नगरों की ओर जाने लगे।

(*iv*) परम्परागत सामुदायिक सम्बन्धों एवं दबाव वाली सामूहिकता के स्थान पर व्यक्तिवादी विचारधारा का विकास हुआ।

फ्रांस में राज्यक्रान्ति (1789) के परिणामस्वरूप सामाजिक बदलाव की प्रक्रिया में तेजी आयी। इस क्रान्ति के फलस्वरूप स्वतन्त्रता, समानता एवं बन्धुत्व के विचार पनपे। फ्रांस में राजतन्त्र के स्थान पर लोकतान्त्रिक राजप्रण ााली प्रारम्भ हुई। राज्यक्रान्ति के पश्चात् फ्रांस में पनपी सामाजिक अव्यवस्था ने फ्रांस में सेण्ट साइमन तथा ऑगस्त कॉम्ट को काफी प्रभावित किया। इन दोनों विद्वानों ने व्यवस्था, पुनर्गठन एवं समाज की वैज्ञानिक व्याख्या हेतु एक नए समाज-विज्ञान की आवश्यकता पर बल दिया।

करीब-करीब इसी समय प्राकृतिक विज्ञानों का विकास हुआ और इसका प्रभाव सामाजिक विज्ञानों पर भी पड़ा। अब यह महसूस किया जाने लगा कि जिस प्रकार सार्वभौम सिद्धान्तों की सहायता से भौतिक जगत की व्याख्या की गयी है, इसी प्रकार से सामाजिक विज्ञानों में भी सार्वभौम सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर सामाजिक जगत की व्याख्या की जा सकती है।

यहाँ भी वस्तुनिष्ठ तरीके से या तटस्थ रहकर समाज का अध्ययन करना सम्भव है। इन मान्यताओं ने समाजशास्त्र के विकास में विशेष योग दिया।

ब्रिटिश समाजशास्त्री बॉटोमोर का कहना है कि अठारहवीं शताब्दी की बौद्धिक परिस्थितियाँ समाजशास्त्र के उदय में सहायक प्रमाणित हुईं। इस समय राजनीतिक दर्शन, इतिहास के दर्शन, उद्विकास के प्राणिशास्त्रीय सिद्धान्त, सामाजिक-राजनीतिक सुधार आन्दोलन तथा सामाजिक सर्वेक्षण विधि के विकास ने समाज के वस्तुनिष्ठ अध्ययन के लिए पृष्ठभूमि तैयार की।

इतिहास की दार्शनिक व्याख्या करने वालों में ऐडम फर्ग्युसन का नाम उल्लेखनीय है। आपने राज्य, समाज, परिवार, नातेदारी, जनसंख्या, प्रथा एवं कानून पर विचार व्यक्त किए। आपकी मान्यता है कि समाज पारस्परिक रूप से सम्बद्ध संस्थाओं की प्रणाली है। फर्ग्युसन के चिन्तन का प्रभाव हीगल तथा सेण्ट साइमन के विचारों पर पड़ा। हीगल का प्रभाव कार्ल मार्क्स पर तथा सेण्ट साइमन का ऑगस्त कॉम्ट पर पड़ा।

1.4.2 नए समाज-विज्ञान का प्रारम्भिक रूप (Early Form of New Social Science)

नोट

इस नवीन समाज-विज्ञान के सम्बन्ध में सेण्ट साइमन ने निम्नलिखित बातों पर ध्यान दिया :

(*i*) वैज्ञानिक अन्वेषणों, औद्योगिक क्रान्ति एवं राजनीतिक उथल-पुथल के फलस्वरूप सामाजिक संरचना काफी कुछ बदल चुकी है। अत: परिवर्तित सामाजिक संरचना के विश्लेषण के लिए एक नए समाज-विज्ञान की आवश्यकता है।

(*ii*) इस नवीन विज्ञान में प्राकृतिक विज्ञानों में प्रयुक्त होने वाली पद्धतियों को काम में लिया जाना चाहिए।

(*iii*) आज की बदली हुई परिस्थितियों में आस्था, कल्पना एवं तर्क पर आधारित धार्मिक एवं दार्शनिक विवेचन का कोई महत्त्व नहीं रह गया है।

(*iv*) अपने उपर्युक्त तर्कों को मूर्त रूप देने हेतु सेण्ट साइमन ने ऑगस्त कॉम्ट के साथ मिलकर सामाजिक जीवन का अध्ययन करने हेतु एक नए विज्ञान-सामाजिक भौतिकी को विकसित करने का प्रयत्न किया जिसे बाद में समाजशास्त्र का नाम दिया गया। इस विज्ञान के द्वारा सामाजिक जीवन का उसी प्रकार अध्ययन किया जाएगा जिस प्रकार भौतिकशास्त्र द्वारा भौतिक जगत का अध्ययन किया जाता है।

ऑगस्त कॉम्ट एवं सेण्ट साइमन दोनों सामाजिक भौतिकी (समाजशास्त्र) को विकसित करने हेतु कुछ वर्षों तक साथ-साथ काम करते रहे। इन दोनों विद्वानों ने सामाजिक विज्ञानों को धर्म एवं दर्शन के प्रभाव से मुक्त कराने का प्रयत्न किया। इन दोनों का कार्ल मार्क्स पर प्रभाव रहा है। इस काल को बॉटोमोर चिन्तन की दृष्टि से 'समाजशास्त्र' को प्रागैतिहासिक काल मानते हैं।

1.4.3 समाजशास्त्र की उत्पत्ति (Origin of Sociology)

सन् 1838 में ऑगस्त कॉम्ट ने उपर्युक्त प्रस्तावित विज्ञान को 'सोशियोलॉजी' नाम दिया। यह लैटिन के 'सोश्यस' तथा ग्रीक के 'लोगस' शब्द से मिलकर बना है जिसका अर्थ होता है—समाज का विज्ञान या शास्त्र। इसे ही हिन्दी में समाजशास्त्र कहा गया।

उन्नीसवीं शताब्दी में समाजशास्त्र के विकास में ऑगस्त कॉम्ट, कार्ल मार्क्स तथा हर्बर्ट स्पेन्सर का योगदान महत्त्वपूण र्ा है। इस समय समाजशास्त्री समाज के वैज्ञानिक विश्लेषण के प्रति जागरूक थे। इस दिशा में कॉम्ट ने 'वैज्ञानिक दर्शन का सिद्धान्त' प्रतिपादित किया। मार्क्स ने इसी समय 'वैज्ञानिक समाजवाद' नामक सिद्धान्त प्रतिपादित किया। इस समय समाजशास्त्र पर एक ओर तो भौतिक विज्ञानों का एवं दूसरी ओर प्राणी-विज्ञानों का प्रभाव पड़ा। इसी समय सामाजिक उद्‌विकास, उन्नति एवं प्रगति के सिद्धान्तों तथा सोपानों का पता लगाने का प्रयत्न किया गया। तीन विचारकों—कॉम्ट, मार्क्स तथा स्पेन्सर ने सामाजिक उद्‌विकास पर प्रकाश डाला। कार्ल मार्क्स ने आदिम साम्यवाद के स्तर से शुरू करके साम्यवाद तक की सामाजिक स्थिति का विश्लेषण 'इतिहास की भौतिक व्याख्या' के सिद्धान्त के आधार पर किया। स्पेन्सर ने बताया कि प्राणी-जगत के समान ही समाज का भी उद्‌विकास हुआ है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में जर्मन समाजशास्त्री टॉनीज, जार्ज सिमेल एवं फ्रेंच समाजशास्त्री इमाइल दुर्खीम ने समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रतिपादन में योग दिया। टॉनीज ने समाज का समुदायों एवं समितियों के रूप में वर्गीकरण प्रस्तुत किया। सिमेल ने 'स्वरूपात्मक समाजशास्त्र' के विकास में योग दिया जिसके अनुसार समाजशास्त्र की प्रमुख विषय-वस्तु सामाजिक अन्त:क्रिया के स्वरूपों का अध्ययन है। जर्मन समाजशास्त्री मैक्स वेबर का भी समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के विकास में काफी योगदान रहा है। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अमरीका के कुछ विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन का कार्य प्रारम्भ हो चुका था। इस समय यहाँ थार्स्टन वेबलन, फ्रेकवार्ड तथा ई. ए. रॉस प्रसिद्ध समाजशास्त्री हुए। इटली में विल्फ्रेडो पैरेटो ने 'अभिजात वर्ग के परिभ्रमण का सिद्धान्त' प्रतिपादित किया।

1.5 समाजशास्त्र का विकास (Development of Sociology)

अब हम यहां समाजशास्त्र के विकास की विभिन्न अवस्थाओं पर विचार करेंगे।

1.5.1 समाजशास्त्र के विकास की प्रथम अवस्था (First Stage of Development of Sociology)

नोट

साधारणतः यह माना जाता है कि समाजशास्त्र के विकास की प्रारम्भिक अवस्था यूरोप से शुरू हुई, परन्तु कुछ भारतीय विचारकों की मान्यता है कि समाज जीवन से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण बातें वेदों, उपनिषदों, पुराणों, महाकाव्यों एवं स्मृतियों आदि से मिलती हैं। यहाँ प्रचलित वर्णाश्रम व्यवस्था इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि भारतीय चिन्तकों ने समाज और जीवन की एक व्यापक व्यवस्था का विकास पाश्चात्य विद्वानों के इस दिशा में चिन्तन के बहुत पहले ही कर लिया था, लेकिन यहाँ हमें इतना अवश्य ध्यान में रखना होगा कि भारतीय विद्वानों के समाज सम्बन्धी विचार धर्म, राजनीति एवं अर्थ से काफी प्रभावित थे।

पश्चिमी समाजों में समाज सम्बन्धी अध्ययनों का प्रारम्भ यूनानी विचारकों से हुआ। **प्लेटो** तथा **अरस्तू** की रचनाएँ इस दिशा में प्रमुख प्रयास थे। प्लेटो ने अपनी पुस्तक **'रिपब्लिक'** (427-347 ई. पू.) तथा अरस्तू ने **'इथिक्स एण्ड पॉलिटिक्स'** (384-322 ई. पू.) में समाज जीवन से सम्बन्धित विभिन्न समस्याओं एवं घटनाओं का व्यवस्थित विवरण प्रस्तुत किया। आपने अपनी रचनाओं में पारिवारिक जीवन, रीति-रिवाजों, परम्पराओं, स्त्रियों की स्थिति, सामाजिक संहिताओं आदि का विस्तृत वर्णन किया है। इन विद्वानों के विचारों में स्पष्टता का अवश्य अभाव था और ये एक ओर समाज, समुदाय तथा राज्य में दूसरी ओर दर्शन एवं विज्ञान में स्पष्ट भेद नहीं कर पाए। उस समय समाज में धर्म और जादू-टोने का विशेष बोलबाला था। इसी कारण उस समय सामाजिक घटनाओं का अध्ययन प्रमुखतः वैज्ञानिक दृष्टि से नहीं किया जा सका। प्लेटो तथा अरस्तू के पश्चात् समाज-जीवन के अध्ययन एवं समाजशास्त्र के विकास में लुक्रेशियस (96-55 ई. पू.), सिसरो (106-43 ई. पू.), मारकस आरेलियस (121-180 ए. डी.) सेण्ट आगस्टाइन (354-430 ए. डी.) आदि का उल्लेखनीय योगदान है। भारतीय विचारों के इतिहास में मनु एवं कौटिल्य (चाणक्य) का योगदान काफी उल्लेखनीय है। मनु ने अपनी रचना 'मनुस्मृति' में भारतीय समाज व्यवस्था का और कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' में सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का विवेचन प्रस्तुत किया है।

1.5.2 समाजशास्त्र के विकास की द्वितीय अवस्था (Second Stage of Development of Sociology)

छठी शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक का काल समाजशास्त्र के विकास की द्वितीय अवस्था मानी जाती है। इस काल में भी काफी लम्बे समय तक सामाजिक समस्याओं को समझने के लिए धर्म और दर्शन का सहारा लिया जाता रहा, लेकिन तेरहवीं शताब्दी में सामाजिक समस्याओं को तार्किक ढंग से समझने का प्रयत्न किया गया। धीरे-धीरे सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में तर्क का महत्त्व बढ़ता गया। थामस एक्यूनस (1227-1274) तथा दान्ते (1265-1321) की रचनाओं से यह बात भली-भांति स्पष्ट है। इन विद्वानों ने मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी माना और समाज को व्यवस्थित ढंग से संचालित करने के लिए सरकार की आवश्यकता पर जोर दिया। एक्यूनस ने सामाजिक सहयोग, न्याय, ईश्वर, श्रद्धा, एकता आदि का अध्ययन किया। इसी काल में समाज को परिवर्तनशील माना गया और साथ ही बतलाया गया कि इस परिवर्तन के पीछे कुछ निश्चित नियम, सामाजिक क्रियाएँ एवं शक्तियाँ कार्य करती हैं। इस समय सामाजिक घटनाओं एवं तथ्यों को समझने के लिए उस विधि के प्रयोग पर जोर दिया गया जिसका प्रयोग प्राकृतिक घटनाओं एवं तथ्यों को समझने हेतु किया जाता था। परिणामस्वरूप इस काल के विचारकों के चिन्तन में वैज्ञानिकता का प्रभाव दिखाई देने लगा। अब समाज के अध्ययन में कार्यकारण सम्बन्धों पर जोर दिया जाने लगा।

1.5.3 समाजशास्त्र के विकास की तृतीय अवस्था (Third Stage of Development of Sociology)

इस अवस्था का प्रारम्भ पंन्द्रहवीं शताब्दी से माना गया है। इस काल में सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में वैज्ञानिक विधि का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। इस समय समाज-जीवन के विभिन्न पक्षों—सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि का स्वतन्त्र रूप से अध्ययन किया जाने लगा। परिणामस्वरूप विशिष्ट सामाजिक विज्ञानों, जैसे अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, राजनीतिशास्त्र, इतिहास आदि का विकास हुआ। इस काल के विचारकों के बौद्धिक चिन्तन के

फलस्वरूप समाजशास्त्र के विकास के लिए आवश्यक पृष्टभूमि तैयार हो सकी। हॉब्स, लॉक तथा रूसो के द्वारा 'सामाजिक समझौते का सिद्धान्त' प्रतिपादित किया गया। सर थामस मूर ने अपनी पुस्तक 'यूटोपिया' में दिन-प्रतिदिन की सामाजिक समस्याओं को समझाने का प्रयत्न किया। इसी पुस्तक में आपने इंग्लैण्ड की सामाजिक व्यवस्था एवं तत्कालीन सामाजिक समस्याओं का विवरण दिया है। माण्टेस्क्यू ने अपनी पुस्तक 'दी स्पिरिट ऑफ लॉज' में मानव समाज पर भौगोलिक पर्यावरण के प्रभाव को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया। विको नाम विद्वान ने 'दी न्यू साइन्स' में सामाजिक शक्तियों की उद्देश्यपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की। माल्थस ने जनसंख्या-सिद्धान्त और जनाधिक्य से सम्बन्धित समस्याओं पर प्रकाश डाला। एडम स्मिथ ने आर्थिक मनुष्यों का विचार दिया। कन्डोरसेट ने सामाजिक परिवर्तन का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। जेम्स हेरिंगटन ने इतिहास की आर्थिक व्यवस्था से सम्बन्धित सिद्धांत प्रस्तुत किया। इन सभी और अनेक अन्य विद्वानों का यद्यपि समाजशास्त्र के विकास मे काफी योगदान है, परन्तु इनके अध्ययनों में एकरूपता और विशेषीकरण का अभाव है। कई विद्वान सामाजिक घटनाओं को आर्थिक घटनाओं से पृथक करके उनका अध्ययन नहीं कर पाए।

1.5.4 समाजशास्त्र के विकास की चतुर्थ अवस्था (Fourth Stage of Development of Sociology)

समाजशास्त्र के विकास की इस चतुर्थ अवस्था का प्रारम्भ ऑगस्ट कॉम्ट (1798-1857) के समय से माना जाता है। यही समाजशास्त्र के वैज्ञानिक विकास की वास्तविक अवस्था है। फ्रांसीसी विद्वान ऑगस्ट कॉम्ट के गुरु सेण्ट साइमन भौतिक विज्ञानों के समान समाज को एक ऐसा विज्ञान बनाना चाहते थे जिसमें सामाजिक घटनाओं का व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध अध्ययन तथा विश्लेषण किया जा सके। इसके परिणामस्वरूप सामाजिक नियमों का पता लगाया जा सके। **ऑगस्ट कॉम्ट** ने अपने गुरु के इन्हीं विचारों को मूर्त रूप देने का प्रयत्न किया। आपने समाज से सम्बन्धित अध्ययन को **'सामाजिक भौतिकी'** (Social Physics) के नाम से पुकारा। सन् 1838 में आपने इस नाम को बदलकर इसे **'समाजशास्त्र'** (Sociology) नाम दिया। यही कारण है कि आपको समाजशास्त्र का जन्मदाता या पिता (Father of Sociology) कहा जाता है।

समाजशास्त्र रूपी विशाल भवन का आधार ऑगस्त कॉम्ट का चिन्तन ही है। आपने ही सर्वप्रथम सामाजिक दर्शन और समाजशास्त्र में अन्तर स्पष्ट किया। आपने ही सामाजशास्त्रीय प्रणाली का विकास किया। आपने स्पष्टत: बताया है कि प्राकृतिक घटनाओं के समान सामाजिक घटनाओं का भी वैषयिक तरीके से प्रत्यक्ष विधि की सहायता से अध्ययन किया जा सकता है। सन् 1849 में **जान स्टुअर्ट मिल** ने इंग्लैण्ड को समाजशास्त्र शब्द से परिचित कराया। बाद में प्रसिद्ध ब्रिटिश समाजशास्त्री **हरबर्ट स्पेन्सर** ने समाजशास्त्र के विकास में सक्रिय योग दिया। आपने ही अपनी रचना 'सिन्थेटिक फिलॉसफी' के एक भाग 'प्रिन्सीपल्स ऑफ सोशियोलॉजी' में कॉम्ट के विचारों को मूर्त रूप देने का प्रयत्न किया। आपने अपने प्रसिद्ध 'सावयवी सिद्धान्त' में समाज की तुलना मानव शरीर से की है। **सर्वप्रथम अमरीका के येल विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन का कार्य प्रारम्भ हुआ।**

समाजशास्त्र को अन्य सामाजिक विज्ञानों से पृथक् एक स्वतन्त्र एवं वैषयिक विज्ञान बनाने का श्रेय फ्रांसीसी विद्वान **इमाइल दुर्खीम** (1858-1917) को है। आपने समाजशास्त्र को सामूहिक प्रतिनिधानों (Collective Representations) का विज्ञान माना है। एडवुड ने बताया है कि यद्यपि कॉम्ट ने फ्रांस में समाजशास्त्र की नींव डाली, लेकिन इसे वैषयिक विज्ञान बनाने वाली विचारधारा का जनक दुर्खीम को ही माना जा सकता है। आपने ही समाजशास्त्र को अन्य सामाजिक विज्ञानों जैसे मनोविज्ञान, दर्शनशास्त्र और इतिहास से स्वतन्त्र किया। प्रसिद्ध जर्मन समाजशास्त्री **मैक्स वेबर** (1864-1920) ने समाजशास्त्र को विज्ञान का रूप देने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया। इटली के समाजशास्त्री विल्फ्रेडो पैरेटो (1848-1923) का समाजशास्त्र के व्यवस्थित विज्ञान के रूप में विकास में काफी योगदान है।

समाजशास्त्र के विकास में विश्व के विभिन्न देशों के विद्वानों का महत्त्वपूर्ण सहयोग है। विशेषत: 20वीं शताब्दी में फ्रांस, जर्मनी एवं संयुक्त राज्य अमरीका में इस विषय का काफी विकास हुआ। इंग्लैण्ड में इसके विकास की गति धीमी रही। अमरीका में समाजशास्त्र के विकास तथा अध्ययन-अध्यापन पर काफी ध्यान दिया गया, लेकिन

वहाँ भी 20वीं शताब्दी में ही इस विषय का विकास हुआ। यह इस बात से स्पष्ट है कि हार्वर्ड जैसे प्रसिद्ध विश्वविद्यालय में सन् 1930 तक समाजशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन की कोई व्यवस्था नहीं थी।

नोट

समाजशास्त्र के विकास में **इंग्लैण्ड** के हरबर्ट स्पेन्सर, मिल, चार्ल्स बूथ, हॉबहाउस, वेस्टरमार्क, मानहीम, गिन्सबर्ग आदि का उल्लेखनीय योगदान है। इन्होंने इंग्लैण्ड में समाजशास्त्र के विकास की दृष्टि से सराहनीय कार्य किया। वहाँ सन् 1907 में समाजशास्त्र का अध्यापन-कार्य प्रारम्भ हुआ। **फ्रांस** में दुर्खीम, टार्डे, लीप्ले आदि ने समाजशास्त्र के विकास की दृष्टि से सराहनीय कार्य किया। वहाँ सन् 1889 में समाजशास्त्र का अध्ययन-अध्यापन प्रारम्भ हुआ। **जर्मनी** में 19वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों और 20वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में समाजशास्त्र के विकास में टॉनीज, वान विज, मैक्स वेबर, कार्ल मार्क्स, वीरकान्त, सिमैल आदि विद्वानों का काफी योगदान रहा। **अमरीका** में समाजशास्त्र का बहुत विकास हुआ। वहाँ गिडिंग्स, समनर, वार्ड, पार्क, बर्गेस, सॉरोकिन, जिमरमैन, मैकाइवर, ऑगबर्न, पारसन्स, मर्टन, यंग, कॉजर, रॉस आदि ने इस दिशा में विशेष सहयोग दिया। वहाँ सन् 1876 में येल विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम समाजशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन का कार्य प्रारम्भ हुआ। सन् 1924 में मिस्र में और 1947 में स्वीडन में समाजशास्त्र विभाग स्थापित किए गए। वर्तमान में सभी विकसित और विकासशील देशों में समजाशास्त्र का अध्ययन साधारणत: प्रारम्भ हो चुका है, यद्यपि कुछ देश अपवाद अवश्य हैं। वर्तमान में समाजशास्त्र की उपयोगिता और लोकप्रियता दिनोंदिन बढ़ती ही जा रही है।

1.6 भारत में समाजशास्त्र का विकास (Development of Sociology in India)

भारत में समाजशास्त्र के विकास को तीन युगों में बांटा जा सकता है :

1. प्राचीन भारत में समाजशास्त्र का विकास—प्राचीन भारतीय ग्रन्थों—वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, गीता, स्मृतियों आदि में समाजिक चिन्तन का व्यवस्थित रूप देखने को मिलता है। इन ग्रन्थों के सूक्ष्म अवलोकन से ज्ञात होता है कि यहां उस समय समाजिक व्यवस्था काफी उन्नत प्रकार की थी और जीवन के आवश्यक मूल्यों पर गहन चिन्तन प्रारम्भ हो चुका था। साथ ही उस समय सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने वाले आवश्यक तत्वों पर भी गम्भीरता से विचार चल रहा था। उस काल के ग्रन्थों के अध्ययन से पता चलता है कि उस समय वर्णाश्रम व्यवस्था व्यक्ति और समाज के जीवन को किस प्रकार संचालित कर रही थी। यह व्यवस्था व्यक्ति और समाज के बीच सुन्दर समन्वय का एक उत्तम उदाहरण है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार पुरुषार्थ जीवन के चार प्रमुख उद्देश्य थे, जिन्हें प्राप्त करने के लिए व्यक्ति प्रयत्नशील रहता था और अपने व्यक्तित्व का विकास करते हुए समाजिक जीवन को उन्नत बनाने में योग देता था। उस समय व्यक्ति को इतना महत्त्व नहीं दिया गया कि वह समाज पर हावी हो जाए और साथ ही समाज को भी इतना शक्तिशाली नहीं मान लिया गया कि व्यक्ति का व्यक्तित्व दबकर रह जाए और वह (समाज) व्यक्ति को निगल जाए। उस समय के चिन्तक इस बात से परिचित थे कि केवल भौतिकता और व्यक्तिवादिता के आधार पर व्यक्ति के जीवन को पूर्णता प्रदान नहीं की जा सकती। अत: उन्होंने आध्यात्मवाद का सहारा लिया, धर्म के आधार पर व्यक्ति के आचरण को निश्चित करने का प्रयत्न किया। यह सम्पूर्ण सामाजिक चिन्तन समाजशास्त्र के विकास की दृष्टि से अमूल्य सामग्री है।

कौटिल्य (चाणक्य) के अर्थशास्त्र, शुक्राचार्य के नीतिशास्त्र, मनु की मनुस्मृति, मुगल काल में लिखी गयी आईन-ए-अकबरी आदि ग्रन्थों से पता चलता है कि उस समय सामाजिक व्यवस्था कैसी थी, किस प्रकार के रीति-रिवाज, समाजिक प्रथाएँ, परम्पराएँ और आचरण सम्बन्धी आदर्श-नियम प्रचलित थे। इन ग्रन्थों के अध्ययन से उस समय की समाज-व्यवस्था को समझने और उसमें समय-समय पर होने वाले परिवर्तनों को जानने में सहायता मिलती है। उदाहरण के रूप में, मनुस्मृति में समाजिक ज्ञान भरा पड़ा है। इसमें वर्ण, जाति, विवाह, परिवार, राज्य, धर्म, आदि पर गम्भीरता से विचार किया गया। इस ग्रन्थ ने समाज के भावी स्वरूप को निर्धारित करने में काफी योग दिया। प्राचीन ग्रन्थों का समाजशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन करने की दिशा में प्रो. विनयकुमार सरकार, प्रो. बृजेन्द्रनाथ, डॉ. भगवानदास एवं प्रो. केवल मोतवानी ने महत्त्वपूर्ण योग दिया। वर्तमान में आवश्यकता इस बात की है कि प्राचीन भारतीय विचारों पर समाजशास्त्रीय दृष्टि से चिन्तन और मनन किया जाए। यहाँ हमें इतना अवश्य ध्यान में रखना है कि उस समय की समाज-व्यवस्था एवं सामाजिक चिन्तन पर धर्म का काफी प्रभाव

था। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि वैदिक काल से ही भारत में समाजशास्त्र के विकास की परम्परा प्रारम्भ हो चुकी थी, यद्यपि मध्यकाल में यहाँ समाजिक व्यवस्थाओं के अध्ययन पर ध्यान दिया गया।

2. भारत में समाजशास्त्र का औपचारिक प्रतिस्थापन युग–भारत में, समाजशास्त्र एक नवीन विज्ञान है। यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यूरोप में समाजशास्त्र का एक व्यवस्थित विषय के रूप में विकास प्रारम्भ हो चुका था, परन्तु भारत में बीसवीं शताब्दी के पहले तक ऐसा कोई विज्ञान नहीं था जो समाज का सम्पूर्णता में अध्ययन करे। पश्चिम के देशों में समाजशास्त्र का विकास तेजी से होता जा रहा था। ऐसी दशा में भारतीयों का ध्यान भी भारत में समाजशास्त्र को एक विषय के रूप में विकसित करने की ओर गया। परिणामस्वरूप यहाँ समाजशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन का कार्य प्रारम्भ हुआ। सन् 1914 से 1947 तक का काल भारत में समाजशास्त्र का औपचारिक प्रतिस्थापन युग कहा जा सकता है।

यहाँ सर्वप्रथम सन् 1914 में बम्बई विश्वविद्यालय में स्नातक स्तर पर समाजशास्त्र का अध्ययन-कार्य प्रारम्भ हुआ। यहीं सन् 1919 में ब्रिटिश समाजशास्त्री प्रो. पैट्रिक गेडिस की अध्यक्षता में समाजशास्त्र विभाग की स्थापना हुई और समाजशास्त्र की स्नातकोत्तर कक्षाएँ शुरू की गयीं। सन् 1917 में कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्रो. बृजेन्द्रनाथ शील के प्रयत्नों से अर्थशास्त्र विषय के साथ समाजशास्त्र का अध्ययन-कार्य चालू किया गया। डॉ. राधाकमल मुकर्जी, विनय कुमार, डॉ. डी. एन. मजुमदार तथा प्रो. निर्मल कुमार बोस जैसे प्रतिभाशाली विद्वान डॉ. बृजेन्द्रनाथ शील के ही विद्यार्थी थे जिन्होंने आगे चलकर समाजशास्त्र के विकास में काफी योग दिया। सन् 1921 में लखनऊ विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र विभाग के अन्तर्गत समाजशास्त्र को मान्यता अवश्य दी गयी, परन्तु इस विषय का अध्ययन अर्थशास्त्र विषय के अन्तर्गत ही किया जाने लगा। यहाँ देश के प्रमुख विद्वान डॉ. राधाकमल मुकर्जी को समाजशास्त्र का विभागाध्यक्ष नियुक्त किया गया। सन् 1924 में प्रो. पैट्रिक गेडिस के बाद उन्हीं के शिष्य और देश-विदेश में जाने-माने समाजशास्त्री डॉ. जी. एस. घुरिये को बम्बई विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र के विभागाध्यक्ष का पद सुशोभित करने का अवसर मिला। प्रो. राधाकमल मुकर्जी और डॉ. जी. एस. घुरिये का भारत में समाजशास्त्र के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। मैसूर विश्वविद्यालय में सन् 1923 में स्नातक कक्षाओं में इस विषय को पढ़ाया जाने लगा। इस वर्ष आन्ध्र विश्वविद्यालय में भी समाजशास्त्र को एक विषय के रूप में मान्यता प्रदान की गयी। सन् 1930 में पूना विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र विभाग प्रारम्भ हुआ और श्रीमती इरावती कार्वे ने विभागाध्यक्ष का पद संभाला। धीरे-धीरे देश के कुछ अन्य विश्वविद्यालयों में भी समाजशास्त्र को बी. ए. तथा एम. ए. के पाठ्यक्रम में सम्मिलित कर लिया गया। सन् 1947 के पूर्व तक देश में समाजशास्त्र के विकास की गति काफी धीमी रही, परन्तु इस काल में यहाँ समाजशास्त्र की नींव अवश्य पड़ चुकी थी। इतना अवश्य है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व तक कहीं समाजशास्त्र अर्थशास्त्र के साथ तो कहीं मानवशास्त्र या दर्शनशास्त्र के साथ जुड़ा रहा और एक स्वतन्त्र विषय के रूप में मान्यता प्राप्त नहीं कर सका।

3. **स्वतन्त्र भारत में समाजशास्त्र का व्यापक प्रसार युग**–सन् 1947 में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से यह युग प्रारम्भ होता है। इस युग में समाजशास्त्र को देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों में एक व्यवस्थित स्वतन्त्र विषय के रूप में मान्यता प्राप्त हुई तथा इसके अध्ययन-अध्यापन की ओर लोगों का ध्यान गया। वर्तमान में देश में आधे से अधिक विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र विभाग की स्थापना हो चुकी है। वर्तमान में मुंबई, कोलकाता, लखनऊ, मैसूर, पूना, बड़ौदा, गुजरात, पटना, भागलपुर, गोरखपुर, दिल्ली, जबलपुर, पंजाब, नागपुर, राजस्थान, जोधपुर, उदयपुर, अजमेर, इन्दौर, जीवाजी, भोपाल, रायपुर, रांची, काशी विद्यापीठ, कुमाऊं, रुहेलखण्ड, बुन्देलखण्ड, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, रविशंकर, मेरठ, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, चेन्नई, कानपुर आदि विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र विभागों की स्थापना हो चुकी है। इनके अतिरिक्त देश के अनेक राजकीय एवं अराजकीय महाविद्यालयों में भी बी. ए. और एम. ए. स्तर पर समाजशास्त्र का अध्यापन कार्य चल रहा है। वर्तमान में इस विषय की लोकप्रियता एवं उपयोगिता तेजी के साथ बढ़ती जा रही है। अब तो अनेक विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र से सम्बन्धित शोध-कार्य भी चल रहे हैं। साथ ही समाजशास्त्र के विकास की दृष्टि से कुछ शोध संस्थान भी स्थापित किए गए हैं।

भारत में समाजशास्त्र के विकास की प्रवृत्तियाँ (Trends of Development of Sociology in India)

भारत में समाजशास्त्र के विकास की तीन प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं :

1. **पाश्चात्य समाजशास्त्रीय परम्परा से प्रभावित** (Influenced by Western Sociological Thinking)—इस विचारधारा के मानने वाले विद्वानों का कहना है कि भारत में पश्चिमी समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों एवं अध्ययन पद्धतियों को काम में लेते हुए ही समाजशास्त्र का विकास किया जा सकता है।

नोट

भारत में पाश्चात्य समाजशास्त्रीय चिन्तन से प्रभावित होकर जाति, वर्ग, विवाह, परिवार, नातेदारी और धर्म से सम्बन्धित अनेक अनुभवात्मक अध्ययन (Empirical Studies) किये गये हैं। ऐसे अध्ययनकर्ताओं में डॉ. हट्टन, रिजले, डॉ. घुरिये, मजूमदार एवं कापडिया के नाम विशेषत: उल्लेखनीय हैं। इन विद्वानों ने उपर्युक्त पर गहन अध्ययन कर समाजशास्त्र के विकास में अपूर्व योग दिया। **डॉ. हट्टन** और **मजूमदार** ने भारतीय जाति-व्यवस्था की सूक्ष्म विवेचना प्रस्तुत की है। डॉ. घुरिये ने विभिन्न समाजशास्त्रीय विषयों पर लिखा है जिनमें जाति, वर्ग, व्यवसाय, परिवार, धर्म आदि मुख्य हैं। आपने अनेक पुस्तकें भी लिखी हैं जिनमें (*i*) *Caste, Class and Occupation*; (*ii*) *Culture and Society*; (*iii*) *Cities and Civilization* प्रमुख हैं। आपके प्रयत्नों से सन् 1952 में Indian Sociological Society की स्थापना हुई जिसने 'सोशियोलॉजिकल बुलेटिन' (Sociological Bulletin) का प्रकाशन किया। आप ही इस पत्रिका के प्रथम सम्पादक रहे हैं। **डॉ. के. एम. कापडिया** ने विवाह, परिवार और नातेदारी पर अपने अध्ययनों के आधाार पर बहुत कुछ लिखा है। आपने कई लेखों के अतिरिक्त दो महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखी हैं : (*i*) *Marriage and Family in India*, तथा (*ii*) *Hindu Kinship*। **डॉ. मजूमदार** ने बिहार, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश तथा बंगाल के जनजातीय क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान कार्य किया है। जाति-व्यवस्था और ग्रामीण भारत के सम्बन्ध में भी आपने काफी कुछ लिखा है। आपकी पुस्तकों में निम्नलिखित पुस्तकें प्रमुख हैं : (*i*) *Races and Cultures of India*; (*ii*) *An Introduction to Social Anthropology*; (*iii*) *A Tribe in Transition* तथा (*iv*) *Caste and Communication in an Indian Village*।

इस विचारधारा से सम्बन्धित अन्य विद्वानों में वे लोग आते हैं जिन्होंने धार्मिक विश्वासों तथा नैतिक विचारों के तुलनात्मक अध्ययन पर जोर दिया है। उदाहरण के रूप में, **डॉ. एम. एन. श्रीनिवास** ने दक्षिण के कुर्ग प्रदेश में कुर्ग लोगों का इस दृष्टि से अध्ययन किया और अपनी प्रसिद्ध पुस्तक '*Religion and Society among the Coorgs of South India*' लिखी। अन्य समाजशास्त्रियों ने इस प्रकार के अध्ययनों में कोई विशेष रुचि नहीं दिखायी; यद्यपि भारत में ऐसे अध्ययनों की काफी महत्ता एवं उपयोगिता है। आपने भारत में जाति के सन्दर्भ में होने वाले परिवर्तनों को समझाने हेतु **संस्कृतीकरण** (Sankritization) नामक अवधाारणा प्रस्तुत की। आपकी उपयुक्त पुस्तक के अलावा अन्य प्रमुख पुस्तकें निम्नलिखित हैं। (*i*) *Marriage and Family in Mysore*; (*ii*) *Caste in Modern India and other Essays*; (*iii*) *Social Change in Modern India*, (*iv*) *Indian Villages*।

यहाँ अनेक विद्वानों ने **'ग्रामीण अध्ययन'** (Village Studies) भी किये हैं। ये अध्ययन अमेरिका की समाजशास्त्रीय परम्परा से काफी प्रभावित हैं। भारत में डॉ. एस. सी. दुबे, डॉ. मजूमदार, डॉ. ए. आर. देसाई आदि प्रमुख समाजशास्त्रियों ने ग्रामीण समाज के अध्ययन में विशेष रुचि दिखायी है। **डॉ. दुबे** की निम्नलिखित पुस्तकें काफी लोकप्रिय हैं : (*i*) *An Indian Village* (*ii*) *India's Changing Villages* तथा (*iii*) *The Kamar* । प्रथम दो पुस्तकों में शोधकार्यों के आधार पर ग्रामीण समुदायों पर बहुत कुछ लिखा गया और साथ ही वहाँ चल रहे विकास कार्यों की धीमी गति के कारणों का विश्लेषण किया गया है। **डॉ. मजूमदार** ने अपनी पुस्तक '*Rural Profile*' में ग्रामीण समाज का समाजशास्त्रीय दृष्टि से चित्रण किया है। **डॉ. ए. आर. देसाई** ने भारतीय ग्रामीण समाज पर काफी कुछ सामग्री उपलब्ध करायी है। आपकी पुस्तकें (*i*) *Rural Sociology in India* तथा (*ii*) *Rural India in Transition* काफी लोकप्रिय हैं।

समाजशास्त्र की इस परम्परा से सम्बन्धित एवं अन्य प्रवृत्ति सामाजिक और आर्थिक कारकों के एक-दूसरे पर पड़ने वाले प्रभावों के अध्ययन से सम्बन्धित हैं। इस प्रवृत्ति को **'समाजिक अर्थशास्त्र'** के नाम से जाना जाता है। इस प्रवृत्ति के विकास में डॉ. राधाकमल मुकर्जी और प्रो. डी. पी. मुकर्जी का विशेष योगदान है। **डॉ. राध ाकमल मुकर्जी** ने 'अर्थशास्त्र का संस्थात्मक सिद्धान्त' (Institutional Theory of Economics) प्रतिपादित किया। इसमें आपने बताया है कि समाजिक मूल्य और परम्पराएं आर्थिक जीवन को काफी मात्रा में प्रभावित करती

हैं। **डॉ. डी. पी. मुकर्जी** ने अर्थशास्त्र से सम्बन्धित प्राचीन ज्ञान को इतिहास एवं समाजशास्त्र से जोड़ने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कार्य किया। यद्यपि ये दोनों विद्वान प्रमुखत: अर्थशास्त्री थे, परन्तु इन्होंने अपने मौलिक चिन्तन और समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण के कारण समाजशास्त्र के विकास में काफी योग दिया।

नोट

भारत में समाजशास्त्रीय चिन्तन पर पश्चिम का काफी प्रभाव होने के कारण यहाँ समाजशास्त्र का स्वतन्त्र रूप से विकास नहीं हो सका। यहाँ समाजशास्त्र में आत्म-निर्भरता (Self-Sufficiency) का अभाव पाया जाता है। डॉ. एस. सी. दुबे की मान्यता है कि भारतीय समाजशास्त्रीय चिन्तन और लेखन में उपनिवेशवाद का स्पष्ट प्रभाव अब भी देखने को मिलता है। यहाँ के बुद्धिजीवी अब भी पाश्चात्य देशों के समाजशास्त्रियों से समाजशास्त्रीय चिन्तन की दृष्टि से प्रेरणा प्राप्त करते हैं, परन्तु वर्तमान में विश्वासपूर्वक यह कहा जा सकता है कि अब समाजशास्त्र उपनिवेशवाद के प्रभाव से छुटकारा प्राप्त करता और स्वतन्त्र रूप से विकसित होता जा रहा है।

2. **परम्परागत भारतीय चिन्तन से प्रभावित** (Influenced by Traditional Indian Thinking)—भारत में समाजशास्त्र के विकास की द्वितीय प्रवृत्ति के समर्थकों के अनुसार भारतीय समाजशास्त्रीय चिन्तन की धाारा का आधार पाश्चात्य समाजशास्त्रीय सिद्धान्त नहीं होकर भारतीय परम्परागत सिद्धान्त होने चाहिए। भारतीय समाज और संस्कृति में कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिन्हें पाश्चात्य समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का अन्धानुकरण करके ठीक से नहीं समझा जा सकता। ऐसी स्थिति में भारत में समाशास्त्र का विकास परम्परागत भारतीय समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर ही किया जाना चाहिए। ऐसा करने पर ही हम भारतीय समाज को सही परिप्रेक्ष्य में समझ सकेंगे। इस प्रवृत्ति के समर्थकों में श्री आनन्द कुमार स्वामी, डॉ. भगवानदास, प्रो. ए. के. सरन, डॉ. नगेन्द्र, नर्मदेश्वर प्रसाद आदि हैं। श्री आनन्द कुमार स्वामी एवं डॉ. भगवानदास ने भारतीय संस्कृति का काफी गहनता के साथ अध्ययन किया है। इन विद्वानों की मान्यता है कि पश्चिम से लिये गये सिद्धान्तों एवं अवधारणाओं के आधार पर हम भारत को ठीक से नहीं समझ पायेंगे। भारतीय समाज और पाश्चात्य समाजों के सामाजिक मूल्य, जीवन-दर्शन एवं संस्कृति में कुछ ऐसे मौलिक अन्तर हैं कि पाश्चात्य सिद्धान्त यहाँ लोगों को भारतीय समाज को वास्तविक रूप में समझने में मदद नहीं दे पाएंगे। इन दोनों विद्वानों के अनुसार परम्परागत भारतीय विचारों का अध्ययन तार्किक दृष्टि से किया जाना चाहिए। प्रो. सरन ने भारतीय समाज की संरचना के अध्ययन के लिए सामाजिक मूल्यों को भली-भाँति समझने पर ज़ोर दिया है। प्रो. नर्मदेश्वर प्रसाद ने जाति-व्यवस्था के अध्ययन के आधार पर भारतीय समाज और सम्पूर्ण जीवन-व्यवस्था को समझाने का प्रयत्न किया है। इन सभी विद्वानों की मान्यता है कि भारतीय समाज, सामाजिक संस्थाएँ और संस्कृति इतने व्यापक एवं जटिल हैं कि इनके अध्ययन से हम सम्पूर्ण भारतीय समाज-व्यवस्था को ठीक से समझ सकते हैं।

आज अधिकतर समाजशास्त्री यह मानने को तैयार नहीं हैं कि केवल परम्परागत भारतीय सिद्धान्तों के आधार पर ही भारत में समाजशास्त्र का विकास किया जाना चाहिए। आजकल लोग बौद्धिक समन्वय में विश्वास करते हैं। पाश्चात्य देशों में समाजशास्त्र के क्षेत्र में जो कुछ कार्य हुआ है, उस पर भारतीय परिप्रेक्ष्य में विचार किया जाना चाहिए। यहाँ दृष्टिकोण यह नहीं होना चाहिए कि जो कुछ परम्परागत भारतीय चिन्तन या सिद्धान्त हैं, उन्हें हमें छोड़ना ही है तथा जो कुछ पाश्चात्य है, उसे ग्रहण करना ही है। भारत की समाज-व्यवस्था को ठीक से समझने और यहाँ समाजशास्त्र के एक विज्ञान के रूप में विकास में न केवल परम्परागत भारतीय सिद्धान्तों का बल्कि जहाँ आवश्यक और लाभदायक हो, पाश्चात्य समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों एवं अवधारणाओं का भी सहारा लिया जाना चाहिए।

3. **पाश्चात्य एवं भारतीय समाजशास्त्रीय परम्पराओं के समन्वित चिन्तन से प्रभावित** (Influenced by Synthetical Thinking of Western and Indian Sociological Traditions)—इस प्रवृत्ति के समर्थकों में डॉ. राधाकमल मुकर्जी, प्रो. डी. पी. मुकर्जी, डॉ. जी. एस. घुरिये एवं डॉ. आर. एन. सक्सेना के नाम विशेषत: उल्लेखनीय हैं। इन विद्वानों ने समाजशास्त्र के विकास की दृष्टि से परम्परागत एवं आधुनिक विचारों के समन्वय पर ज़ोर दिया है। **डॉ. राधाकमल मुकर्जी** ने बताया है कि समाजशास्त्रीय विचारों को भली-भांति समझने के लिए ऐतिहासिक दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिए। आपकी मान्यता है कि समाज के सामान्य सिद्धान्त को समझने हेतु समाज की संस्तरणात्मक प्रणाली (Hierarchial System) और साथ ही उस समाज में मौजूद अलौकिक विश्वासों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है। पाश्चात्य सामाजशास्त्रीय परम्पराओं से प्रभावित होकर

आपने भारत में परिस्थितीय समाजशास्त्र (Ecological Sociology) के विकास की काफी कोशिश की। आपकी एक प्रमुख देन 'प्रवासिता का सिद्धान्त' है। आपने अपने विचारों का प्रतिपादन अपनी निम्नलिखित प्रमुख पुस्तकों में विशेषत: किया है : (*i*) *Dynamics of Morals*, (*ii*) *Social Ecology*; (*iii*) *Social Structure of Values*।

नोट

डॉ. डी. पी. मुकर्जी ने भारत में समाजशास्त्र के विकास में काफी योग दिया है। आपका दृढ़ विश्वास है कि भारतीय समाज का अपना स्वयं का कोई चिन्तन है, स्वयं की कुछ मान्यताएँ हैं जिनका अध्ययन किया जाना चाहिए। आप भारतीय समाज को समझने के लिए भारतीय परम्पराओं के अध्ययन को अत्यन्त आवश्यक मानते हैं। आपने तो यहां तक कहा है कि इन परम्पराओं का अध्ययन भारतीय समाजशास्त्रियों के लिए प्रमुख कर्तव्य होना चाहिए। आपकी मान्यता है कि भारत में अनुसन्धान कार्य केवल पश्चिम से आयातित सिद्धान्तों, अवधारणाओं एवं अध्ययन-पद्धतियों के आधार पर नहीं किया जाना चाहिए। यहाँ अनुसंधान के लिए भारतीय परंपराओं, प्रथाओं, संस्कारों, जनरीतियों आदि को ठीक से समझा जाना चाहिए। यहां भारतीय संस्कृति पर समय-समय पर अन्य संस्कृतियों का और विशेषत: पश्चिमी संस्कृतियों का प्रभाव भी पड़ा और इसके परिणामस्वरूप संस्कृतीकरण एवं सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया भी प्रारम्भ हुई। संस्कृति के इस समन्वय को समझने के लिए ऐतिहासिक पद्धति का सहारा लिया जाना चाहिए। आपका दृढ़ विश्वास रहा है कि भारत में पाश्चात्य और भारतीय परम्पराओं के समन्वित चिन्तन के आधार पर ही समाजशास्त्र का उपयोगी ढंग से विकास हो सकता है। आपने अपने विचार प्रमुखत: निम्नलिखित पुस्तकों में व्यक्त किये हैं : (*i*) *Basic Concepts in Sociology;* (*ii*) *Modern Indian Culture* (*iii*) *Diversities;* (*iv*) *Personality and Social Science*।

डॉ जी. एस. घुरिये की मान्यता है कि केवल पश्चिमी सिद्धान्तों के अन्धानुकरण के आधार पर भारतीय समाज और संस्कृति को नहीं समझा जा सकता। इसके लिए पाश्चात्य और भारतीय परम्पराओं के समन्वित चिन्तन की आवश्यकता है। पश्चिम में समाजशास्त्र का जो कुछ विकास हुआ है, जो कुछ सिद्धान्त एवं अवधाारणाएँ विकसित हुई हैं, जो पद्धतियाँ अपनायी गयी हैं, उन्हें भारतीय परिस्थितियों एवं समाज-व्यवस्था की विशेषताओं को ध्यान में रखे बिना उसी रूप में अपनाना किसी भी दृष्टि से हितकर नहीं होगा। अत: उनमें आवश्यकतानुसार संशोधन करके भारतीय परम्पराओं को ध्यान में रखकर समन्वित चिन्तन के आधार पर ही भारत में समाजशास्त्र का विकास किया जाना चाहिए। आपकी प्रमुख रचनाओं का उल्लेख पहले किया जा चुका है। **डॉ. आर एन. सक्सेना** भी उपयुक्त प्रवृत्ति के ही समर्थक हैं। आपकी मान्यता है कि परम्परागत भारतीय सिद्धान्तों को समझने के लिए ऐतिहासिक दृष्टिकोण को अपनाया जाना चाहिए। आपने बताया है कि पुरुषार्थ सिद्धान्त-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष व्यक्ति के सभी प्रकार के समाजिक सम्बन्धों का आधार है और समाजशास्त्र में इसके अध्ययन पर विशेष जोर दिया जाना चाहिए। आपके अनुसार प्राचीन भारतीय विचारों पर गम्भीरता से विचार किया जाना चाहिए।

भारत में **समाजशास्त्र के विकास की अन्य प्रवृत्ति मार्क्सवादी चिन्तन से प्रभावित हैं।** प्रो. डी. पी. मुकर्जी इसी प्रवृत्ति से प्रभावित रहे हैं, यद्यपि आपने सांस्कृतिक परम्पराओं के अध्ययन के आधार पर समाज-व्यवस्था को समझने पर जोर दिया है।

भारत में समाजशास्त्र के विकास में उपयुक्त विद्वानों के अतिरिक्त डॉ. पी. एन. प्रभु., प्रो. सच्चिदानन्द, डॉ. योगेश अटल, डॉ. योगेन्द्र सिंह, प्रो. एल. पी. विद्यार्थी, प्रो. राजाराम शास्त्री, प्रो. एम. एस. ए. राव, प्रो. वाई बी. दामले, डॉ. श्रमती इरावती कार्वे, डॉ. टी. के. एन. यून्निनाथ, डॉ. बृजराज चौहान, प्रो. एस. पी. नागेन्द्र आदि विद्वानों का योगदान भी काफी महत्त्वपूर्ण हैं।

हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद से अब तक भारत में समाशास्त्रीय चिन्तन की कोई स्पष्ट दिशा नहीं बन पायी है। यहाँ अन्य देशों से आयातित समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों को भारतीय समाज-व्यवस्था की विशिष्ट विशेषताओं को ध्यान में रखे बिना, अपनाये जाने की प्रबल प्रवृत्ति रही है। भारतीय समाज, संस्कृति और सामाजिक चिंतन पर समाजशास्त्रीय दृष्टि से कम विचार हुआ है। यही कारण है कि यहाँ समाजशास्त्र की किसी निश्चित पुष्ट परंपरा का अभी तक विकास नहीं हो पाया है, यद्यपि इसके लक्षण अब दिखाई अवश्य देने लगे हैं।

1.7 समाजशास्त्र का क्षेत्र (Scope of Sociology)

नोट

इंकल्स कहते हैं कि ''समाजशास्त्र परिवर्तनशील समाज का अध्ययन करता है, इसलिए समाजशास्त्र के अध्ययन की न तो कोई सीमा निर्धारित की जा सकती है और न ही इसके अध्ययन क्षेत्र को बिल्कुल स्पष्ट रूप से परिभाषित किया जा सकता है।'' क्षेत्र का तात्पर्य यह है कि यह विज्ञान कहाँ तक फैला हुआ है। अन्य शब्दों में क्षेत्र का अर्थ उन सम्भावित सीमाओं से है जिनके अन्तर्गत किसी विषय या विज्ञान का अध्ययन किया जा सकता है। समाजशास्त्र के विषय-क्षेत्र के सम्बन्ध में विद्वानों के मतों को मुख्यत: दो भागों में बांटा जा सकता है : (I) **स्वरूपात्मक अथवा विशिष्टात्मक सम्प्रदाय** (Formal or Specialistic or Particularistic School) तथा (II) **समन्वयात्मक सम्प्रदाय** (Synthetic School)। प्रथम मत या विचारधारा के अनुसार समाजशास्त्र एक विशेष विज्ञान है और द्वितीय विचारधारा के अनुसार समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान है। इनमें से प्रत्येक विचारधारा को हम यहाँ स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।

1.7.1 स्वरूपात्मक सम्प्रदाय (Formal School)

इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक जर्मन समाजशास्त्री **जार्ज सिमैल** हैं। इस सम्प्रदाय से सम्बन्धित अन्य विद्वानों में वीरकान्त, वान विज, मैक्स वेबर तथा टानीज आदि प्रमुख हैं। इस विचारधारा से सम्बन्धित समाजशास्त्रियों की मान्यता है कि अन्य विज्ञानों जैसे राजनीतिशास्त्र, भूगोल, अर्थशास्त्र, इतिहास, भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र आदि के समान समाजशास्त्र भी एक स्वतन्त्र एवं विशेष विज्ञान है। जैसे प्रत्येक विज्ञान की अपनी कोई प्रमुख समस्या या सामग्री होती है जिसका अध्ययन उसी शास्त्र के अन्तर्गत किया जाता है, उसी प्रकार समाजशास्त्र के अन्तर्गत अध्ययन की जाने वाली भी कोई मुख्य सामग्री या समस्या होनी चाहिए। ऐसा होने पर ही समाजशास्त्र एक विशिष्ट एवं स्वतन्त्र विज्ञान बन सकेगा और इसका क्षेत्र निश्चित हो सकेगा। इस सम्प्रदाय के मानने वालों का कहना है कि यदि समाजशास्त्र को सम्पूर्ण समाज का एक सामान्य अध्ययन बनाने का प्रयत्न किया गया तो वैज्ञानिक आधार पर ऐसा करना सम्भव नहीं होगा। ऐसी दशा में समाजशास्त्र एक खिचड़ी-शास्त्र बन जायेगा। अत: समाजशास्त्र को एक विशिष्ट विज्ञान बनाने के लिए यह आवश्यक है कि इसके अन्तर्गत सभी प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन नहीं करके इन सम्बन्धों के विशिष्ट स्वरूपों का अध्ययन किया जाए। सामाजिक सम्बन्धों के 'स्वरूपात्मक पक्ष' पर जोर देने के कारण ही इस सम्प्रदाय को **'स्वरूपात्मक सम्प्रदाय'** कहा जाता है। **इस सम्प्रदाय या विचारधारा से सम्बन्धित प्रमुख विद्वानों के विचार इस प्रकार हैं :**

1. **जार्ज सिमैल के विचार** (Views of George Simmel)—जार्ज सिमैल समाजशास्त्र को एक विशेष विज्ञान बनाना चाहते थे। आपने समाजशास्त्र को सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों का अध्ययन माना है। आपकी मान्यता है कि यदि अन्य विज्ञानों के समान समाजशास्त्र भी सामाजिक सम्बन्धों की अन्तर्वस्तु का अध्ययन करने लगा तो यह एक विशिष्ट विज्ञान नहीं बन सकेगा। अत: समाजशास्त्र को सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों का अध्ययन करना चाहिए। आपके अनुसार सभी भौतिक एवं अभौतिक वस्तुओं का अपना एक स्वरूप (Form) और एक अन्तर्वस्तु (Content) होती है जो एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। स्वरूप और अन्तर्वस्तु का एक-दूसरे पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उदाहरण के रूप में तीन एक-से स्वरूप वाली बोतलों में से एक में पानी, दूसरी में दूध और तीसरी में शराब भरी जा सकती है। पानी, दूध और शराब का बोतलों के स्वरूप पर और इनके स्वरूप का बोतलों की अन्तर्वस्तु (पानी, दूध, शराब) पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। बोतल की विशेष आकृति या बनावट उसका स्वरूप है और उसमें भरा हुआ पानी, दूध या शराब उसकी अन्तर्वस्तु है। इसी प्रकार सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूप और अन्तर्वस्तु में भी अन्तर पाया जाता है और ये भी एक-दूसरे को प्रभावित नहीं करते। अनुकरण (Imitation), सहयोग (Co-operation), प्रतिस्पर्द्धा (Competition), प्रभुत्व (Domination), अधीनता (Subordination), श्रम-विभाजन (Division of Labour) आदि सामाजिक सम्बन्धों के प्रमुख स्परूप हैं। **समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों के इन्हीं स्वरूपों का अध्ययन करने वाला विज्ञान है।** सामाजिक सम्बन्धों के ये स्वरूप जब विभिन्न अन्तर्वस्तुओं जैसे आर्थिक संघ, धार्मिक संघ, राजनीतिक दल आदि में पाये जाते हैं

नोट

तो इनका अध्ययन समाजशास्त्र के अन्तर्गत नहीं किया जाकर अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र के अन्तर्गत किया जाता है। अतः समाजशास्त्र को तो केवल सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों का ही अध्ययन करना चाहिए न कि अन्तर्वस्तुओं का। **सिमैल** के अनुसार, अन्य सामाजिक विज्ञानों में सामाजिक सम्बन्धों की अन्तर्वस्तु का और एक विशेष विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र में सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों का अध्ययन किया जाता है।

2. **वीर कान्त के विचार** (Views of Vier Kant)—वीर कान्त भी समाजशास्त्र को एक विशेष विज्ञान बनाने के समर्थक थे। आपने बताया है कि यदि समाजशास्त्र को अस्पष्टता एवं अनिश्चितता के आरोपों से बचाना है तो उसे किसी मूर्त समाज का ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन नहीं करना चाहिए। **समाजशास्त्र को तो एक विशिष्ट विज्ञान के रूप में मानसिक सम्बन्धों के स्वरूपों का अध्ययन करना चाहिए** जो व्यक्तियों को एक-दूसरे से अथवा समूह से बांधते हैं। समाजशास्त्र इस पर विचार नहीं करता कि पिता और पुत्र में अथवा माता और पुत्री में क्या सम्बन्ध हैं? वह तो यश, सम्मान, प्रेम, लज्जा, स्नेह, समर्पण, घृणा, सहयोग, संघर्ष आदि भावनात्मक या मानसिक पहलुओं का अध्ययन करता है। इन्हीं के आधार पर विभिन्न सामाजिक सम्बन्ध बनते हैं और इन्हीं सामाजिक सम्बन्धों से समाज का निर्माण होता है। अतः समाजशास्त्र को इन्हीं मानसिक अथवा भावनात्मक तत्वों या सम्बन्धों के स्वरूपों तक अपने को सीमित रखना चाहिए। स्वयं **वीर कान्त** ने लिखा है, ''समाजशास्त्र उन मानसिक सम्बन्धों के अन्तिम स्वरूपों का अध्ययन है जो कि मनुष्यों को एक-दूसरे से बांधते हैं।''
3. **वान विज के विचार** (Views of Von Wiese)—वान विज भी सिमैल के समान समाजशास्त्र को एक विशेष विज्ञान बनाने के पक्ष में थे। आपने लिखा है कि **समाजशास्त्र एक विशिष्ट सामाजिक विज्ञान है जो कि मानवीय सम्बन्धों के स्वरूपों का अध्ययन है और यही उसका विशिष्ट क्षेत्र है।** आपने सामाजिक सम्बन्धों के 650 स्वरूपों का उल्लेख करते हुए बताया है कि समाजशास्त्र को इन्हीं स्वरूपों के अध्ययन में अपने आपको लगाना चाहिए।
4. **मैक्स बेवर के विचार** (Views of Max Weber)—मैक्स वेबर समाजशास्त्र को एक विशिष्ट विज्ञान मानते हैं। **आपके अनुसार समाजशास्त्र सामाजिक क्रियाओं का अध्ययन है।** सामाजिक क्रियाओं को आपने उन व्यवहारों के रूप में स्पष्ट किया है जो कि अर्थपूर्ण हैं और साथ ही जो अन्य व्यक्तियों के व्यवहारों से प्रभावित होते हैं। मैक्स वेबर की मान्यता है कि सामाजिक क्रियाओं का आधार व्यवहार है। अतः समाजशास्त्र का कार्य सामाजिक व्यवहार को समझना और उसकी व्याख्या करना है। आपके अनुसार, सामाजिक क्रियाओं की विस्तृत व्याख्या एवं विश्लेषण से ही समाजशास्त्र में अनुभव और तर्क पर आधारित नियमों का निर्माण किया जा सकता है। आपने बताया है कि यदि समाजशास्त्र के अन्तर्गत सभी प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन किया जायेगा, तो इसका क्षेत्र अस्पष्ट और असीमित हो जायेगा। अतः यह आवश्यक है कि सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन निश्चित सीमा में ही किया जाये। इस दृष्टि से मैक्स वेबर मानते हैं कि समाजशास्त्र में सामाजिक क्रिया (Social Action) का ही अध्ययन किया जाना चाहिए।

स्वरूपात्मक सम्प्रदाय के अन्य समर्थकों में टानीज, बोगल, रॉस, पार्क एवं बर्गेस आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इस सम्प्रदाय से सम्बन्धित सभी विद्वान समाजशास्त्र के क्षेत्र को सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों के अध्ययन तक सीमित मानते हैं। उपर्युक्त सभी विद्वानों का समाजशास्त्र को अन्य सामाजिक विज्ञानों से स्वतन्त्र एक विशिष्ट विज्ञान बनाने का प्रयत्न रहा है।

स्वरूपात्मक सम्प्रदाय की आलोचना (Criticism of Formal School)—स्वरूपात्मक सम्प्रदाय पर अनिश्चितता और अस्पष्टता का आरोप है। इस सम्प्रदाय के समर्थकों के सम्बन्ध में **फिचर** (Fichter) का कहना है कि इन्हें समाजशास्त्री नहीं कहकर सामाजिक दार्शनिक कहना ठीक होगा क्योंकि इन्होंने सामाजिक जीवन की व्यावहारिक प्रकृति को समझने का प्रयत्न नहीं किया। **इस सम्प्रदाय की प्रमुख कमियां निम्न हैं :**

1. स्वरूपात्मक सम्प्रदाय से सम्बन्धित विद्वानों का यह कहना गलत है कि सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों का अध्ययन किसी अन्य विज्ञान के द्वारा नहीं किया जाता, अतः समाजशास्त्र को एक नवीन विज्ञान के रूप में इनका अध्ययन करना चाहिए। ऐसा कहना निराधार है। सामाजिक सम्बन्धों के बहुत-से स्वरूप जैसे–प्रभुत्व, सत्ता, शक्ति, स्वामित्व, आज्ञा-पालन, दासता, संघर्ष आदि का अध्ययन कानूनशास्त्र में काफी व्यवस्थित रूप में किया जाता है। **सोरोकिन** ने लिखा है, ''स्वरूपों का अध्ययन अन्य विज्ञानों द्वारा भी किया जाता है, अतः समाजशास्त्र के लिए मानवीय सम्बन्धों के स्वरूपों के विज्ञान के रूप में कोई स्थान नहीं है।''
2. इस सम्प्रदाय के समर्थकों ने स्वरूप तथा अन्तर्वस्तु में भेद किया है और इन्हें एक-दूसरे से पृथक् माना है, लेकिन सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूप तथा अन्तर्वस्तु को एक-दूसरे से पृथक् करना सम्भव नहीं है। इस सम्बन्ध में **सोराकिन** ने लिखा है, ''हम एक गिलास को शराब, पानी या शक्कर से बिना उसके स्वरूप को परिवर्तित किये हुए भर सकते हैं, परन्तु मैं एक सामाजिक संस्था के विषय में कल्पना भी नहीं कर सकता कि उसका स्वरूप उसके सदस्यों के बदल जाने के बाद भी परिवर्तित नहीं होगा।'' स्पष्ट है कि जब सामाजिक सम्बन्धों के क्षेत्र में स्वरूप और अन्तर्वस्तु को एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता है तो समाजशास्त्र के अन्तर्गत केवल सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों का अध्ययन करना भी सम्भव नहींहै।
3. इस सम्प्रदाय के समर्थक समाजशास्त्र को अन्य सभी सामाजिक विज्ञानों से पृथक् एक स्वतन्त्र और परिशुद्ध विज्ञान (Pure Science) बनाना चाहते हैं, परन्तु ऐसा होना सम्भव नहीं है। इसका कारण यह है कि विभिन्न सामाजिक विज्ञानों में पारस्परिक निर्भरता पायी जाती है। सभी सामाजिक विज्ञान थोड़ी-बहुत मात्रा में एक-दूसरे से कुछ ग्रहण करते हैं। **सोरोकिन** ने इस सम्बन्ध में लिखा है, ''शायद ही ऐसा कोई विज्ञान हो जो अन्य विज्ञानों से किसी न किसी रूप में सम्बन्ध न रखता हो।''
4. इस सम्प्रदाय के समर्थक समाजशास्त्र को एक नवीन विज्ञान मानते हुए इसके अध्ययन-क्षेत्र को सीमित रखने पर ज़ोर देते हैं। उनके अनुसार, समाजशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र सामाजिक सम्बन्धों के कुछ विशिष्ट स्वरूपों तक ही सीमित है, परन्तु उनकी इस प्रकार की मान्यता ठीक नहीं है। यदि इस सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार समाजशास्त्र में केवल सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों का अध्ययन किया जाए तो सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्ष समाजशास्त्र के अन्तर्गत नहीं आयेंगे। ऐसी दशा में इसका क्षेत्र बहुत ही सीमित हो जायेगा जो कि विषय के विकास की दृष्टि से उचित नहीं है।
5. समाजशास्त्र समग्र रूप में समाज का विज्ञान है। आज यह प्रमाणित हो चुका है कि सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्ष एक-दूसरे के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। यदि सामाजिक जीवन के किसी एक भाग या पक्ष में कोई परिवर्तन आता है तो उसका प्रभाव अन्य भागों या पक्षों पर भी पड़ता है। अतः इस सम्प्रदाय के समर्थकों के अनुसार, समाजशास्त्र के अन्तर्गत केवल सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों के अध्ययन पर ज़ोर देना सामाजिक जीवन के अन्य पक्षों की अवहेलना करना है जो कि किसी भी दृष्टि से उचित नहींहै।
6. इस सम्प्रदाय के समर्थकों ने समाजीकरण के स्वरूपों और सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों में कोई अन्तर नहीं किया है तथा दोनों को एक-दूसरे का पर्यायवाची मान लिया है, जबकि वास्तव में ऐसा नहीं है। सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों में केवल समाजीकरण के ही नहीं बल्कि असमाजीकरण के स्वरूप भी मौजूद हैं।

स्पष्ट है कि इस सम्प्रदाय की मान्यताएं सही नहीं हैं। इसके समर्थक समाजशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र को ठीक से स्पष्ट करने में असमर्थ रहे हैं।

1.7.2 समन्वयात्मक सम्प्रदाय (Synthetic School)

इस सम्प्रदाय के प्रमुख समर्थकों में सोरोकिन, दुर्खीम, हॉबहाउस तथा गिन्सबर्ग आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं जो समाजशास्त्र को एक विशिष्ट विज्ञान बनाने के बजाय एक सामान्य विज्ञान बनाने के पक्ष में हैं। इन विद्वानों के अनुसार समाज के सम्बन्ध में सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए समाजशास्त्र के क्षेत्र को केवल

नोट

सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों तक सीमित नहीं रखा जा सकता। इसे तो सम्पूर्ण समाज का सामान्य अध्ययन करना है और इस सम्बन्ध में इस सम्प्रदाय के समर्थकों ने दो तर्क दिये हैं :

1. समाज की प्रकृति जीवधारी शरीर के समान है जिसके विभिन्न अंग एक-दूसरे के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं और एक अंग में होने वाला कोई भी परिवर्तन दूसरे अंगों को प्रभावित किए बिना नहीं रह सकता है। अत: समाज को समझने के लिए उसकी विभिन्न इकाइयों या अंगों के पारस्परिक सम्बन्ध को समझना अत्यन्त आवश्यक है। यह कार्य उसी समय हो सकता है जब समाजशास्त्र को एक सामान्य विज्ञान बनाया जाए और इसके क्षेत्र को काफी व्यापक रखा जाए।
2. समाजशास्त्र को एक सामान्य विज्ञान बनाने के पक्ष में एक अन्य तर्क यह दिया गया है कि प्रत्येक सामाजिक विज्ञान के द्वारा समाज के किसी एक भाग या पक्ष का ही अध्ययन किया जाता है। उदाहरण के रूप में, राजनीतिशास्त्र द्वारा समाज के एक पक्ष–राजनीतिक जीवन का ही अध्ययन किया जाता है। इसी प्रकार अर्थशास्त्र के द्वारा आर्थिक जीवन का अध्ययन किया जाता है। ऐसा कोई भी सामाजिक विज्ञान नहीं है जो सामाजिक जीवन के सभी पक्षों का या सम्पूर्ण समाज का समग्र रूप में अध्ययन करता हो। अत: समाजशास्त्र को एक सामान्य विज्ञान के रूप में यह कार्य करना है। ऐसा होने पर ही समाज की वास्तविक प्रकृति को समझा जा सकता है। इसके अभाव में समाज के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान काफ़ी संकुचित और एकाकी हो जायेगा। वास्तव में समाजशास्त्र को लोगों को सामाजिक जीवन की सामान्य अवस्थाओं से परिचित कराने की दृष्टि से महत्वपूर्ण भूमिका निभानी है और यह उसी समय सम्भव है जब इसके क्षेत्र को एक सामान्य विज्ञान के रूप में विस्तृत किया जाए।

इस सम्प्रदाय के दृष्टिकोण को ठीक से समझने के उद्देश्य से इसके कुछ प्रमुख समर्थकों के विचार यहाँ दिये जा रहे हैं :

1. **हॉबहाउस के विचार** (Views of Hobhouse)–इंग्लैण्ड के समाजशास्त्री हॉबहाउस समन्वयात्मक सम्प्रदाय के प्रमुख समर्थक हैं। आपके अनुसार समाजशास्त्र को अन्य सभी सामाजिक विज्ञानों के प्रमुख सिद्धान्तों एवं सार तत्वों के बीच पाये जाने वाले सामान्य तत्वों का पता लगाना और उनका सामान्यीकरण (Generalization) करना है। समाजशास्त्र को एक सामान्य विज्ञान के रूप में विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के बीच समन्वय स्थापित करना है। समाजशास्त्र यह कार्य निम्नलिखित प्रकार से कर सकता है :
   (*i*) सभी सामाजिक विज्ञानों की प्रमुख धारणाओं के सामान्य स्वरूपों (तत्वों) की जानकारी प्राप्त करके,
   (*ii*) समाज को स्थायी रखने तथा बदलने वाले कारकों को ज्ञात करके,
   (*iii*) सामाजिक विकास की प्रवृत्ति एवं दशाओं का पता लगा करके।
   यह सब कुछ उसी समय सम्भव है जब समाजशास्त्र को एक सामान्य सामाजिक विज्ञान के रूप में मान्यता दी जाए।
2. **दुर्खीम के विचार** (Views of Durkheim)–फ्रेंच समाजशास्त्री दुर्खीम ने भी समन्वयात्मक विचारधारा का समर्थन किया है। आपने बताया कि एक सामान्य समाजशास्त्र का निर्माण करना सम्भव है जो विशिष्ट विज्ञानों के विशेष क्षेत्रों के नियमों पर आधारित अधिक सामान्य नियमों से मिलकर बना हो। ये ही सामूहिक रूप में सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन्हीं के अध्ययन से समाज को ठीक से समझा जा सकता है। **दुर्खीम** ने लिखा है, ''हमारा विश्वास है कि समाजशास्त्रियों को विशिष्ट विज्ञानों, जैसे कानून का इतिहास, प्रथाएँ एवं धर्म, सामाजिक अंकशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि में किये गये अन्वेषणों से नियमित रूप से परिचित रहने की बहुत अधिक आवश्यकता है क्योंकि इनमें उपलब्ध सामग्रियों से ही समाजशास्त्र का निर्माण होना चाहिए।'' यद्यपि **दुर्खीम** समाजशास्त्र को एक सामान्य विज्ञान बनाने के पक्षधर हैं, परन्तु आपने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि पहले समाजशास्त्र को एक विशिष्ट विज्ञान बनाना है ताकि यह अन्य सामाजिक विज्ञानों के समान अपने स्वतन्त्र नियमों का विकास कर सके। इसके बाद इसे एक सामान्य विज्ञान के रूप में अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ समन्वय स्थापित करना है। **अत: आपने**

नोट

समाजशास्त्र में सर्वप्रथम उन सामाजिक तथ्यों (Social Facts) **के अध्ययन पर जोर दिया जिनसे सामाजिक प्रतिनिधान का निर्माण होता है।** आपके अनुसार, ''समाजशास्त्र सामूहिक प्रतिनिधानों का विज्ञान है'' (Sociology is the science of collective representation)। **सामूहिक प्रतिनिधानों से दुर्खीम का तात्पर्य प्रत्येक समूह या समाज में पाये जाने वाले विचारों, भावनाओं एवं धारण ाओं के एक कुलक** (Set) **से है जिन पर व्यक्ति अचेतन रूप से अपने विचारों, मनोवृत्तियों एवं व्यवहार के लिए निर्भर रहता है।** इन्हें समाज के अधिकतर लोग अपना लेते हैं। **दुर्खीम** के अनुसार ये विचार, भावनाएँ एवं धारणाएँ ही एक सामूहिक शक्ति का रूप ग्रहण कर लेते हैं। इसी को आपने सामूहिक प्रतिनिधान नाम दिया। ये सामूहिक रूप में सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन्हीं के अध्ययन से समाज को ठीक से समझा जा सकता है। **सामूहिक प्रतिनिधान की दो विशेषताएँ बतायी गयी हैं :**

(क) ये सारे समाज में फैले होते हैं तथा व्यक्ति की शक्ति से ऊपर होते हैं।

(ख) ये समाज के सभी लोगों को अनविार्य रूप से प्रभावित करते हैं।

समाजशास्त्र को इन्हीं सामूहिक प्रतिनिधानों का अध्ययन करना चाहिए ताकि विभिन्न सामाजिक समस्याओं एवं परिस्थितियों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की जा सके।

3. **सोरोकिन के विचार** (Views of Sorokin)–आप भी समाजशास्त्र को एक सामान्य विज्ञान बनाने के पक्षधर हैं। आपने लिखा है, मान लीजिए यदि सामाजिक घटनाओं को वर्गीकृत कर दिया जाए और प्रत्येक वर्ग का अध्ययन एक विशेष सामाजिक विज्ञान करे, तो इन विशेष सामाजिक विज्ञानों के अतिरिक्त एक ऐसे विज्ञान की आवश्यकता होगी जो सामान्य एवं विशेष विज्ञानों के सम्बन्धों का अध्ययन करे।'' कोई भी सामाजिक विज्ञान पूर्णत: स्वतन्त्र नहीं है। प्रत्येक को किसी न किसी रूप में अन्य पर निर्भर रहना पड़ता है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक विज्ञान द्वारा समाजिक जीवन के एक पक्ष या एक विशिष्ट प्रकार की घटनाओं का अध्ययन ही किया जाता है जबकि विभिन्न घटनाएँ पारस्परिक रूप से एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं। अत: एक ऐसे सामान्य विज्ञान की आवश्यकता है जो विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के निष्कर्षों में समन्वय स्थापित कर सके ताकि समाज को समग्र रूप से समझा जा सके। समाजशास्त्र का कार्य विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्धों या उनके सामान्य तत्वों का अध्ययन करना है। सोरोकिन ने इस बात को निम्न प्रकार से समझाने का प्रयत्न किया है :

आर्थिक सम्बन्ध	a, b, c, d, e, f
राजनीतिक सम्बन्ध	a, b, c, g, h, i
धार्मिक सम्बन्ध	a, b, c, j, k, l
वैधानिक सम्बन्ध	a, b, c, m, n, o
मनोरंजनात्मक सम्बन्ध	a, b, c, p, q, r

स्पष्ट है कि हम चाहे किसी भी प्रकार के सम्बन्ध–आर्थिक, राजनीतिक या धार्मिक स्थापित करें अथवा कोई भी क्रिया करें, उनमें कुछ सामान्य तत्व अवश्य होते हैं। इनमें a, b, c कुछ ऐसे ही सामान्य तत्व हैं। इन्हीं सामान्य तत्वों या अन्तर्सम्बन्धों का अध्ययन समाजशास्त्र में किया जाता है। **मैकाइवर** व **पेज** के अनुसार, ''समाजशास्त्री होने के नाते हमारी रुचि सामाजिक सम्बन्धों में है, इस कारण नहीं कि वे सम्बन्ध आर्थिक, राजनीतिक अथवा धार्मिक हैं, बल्कि इस कारण कि वे साथ ही सामाजिक भी होते हैं।'' सोरोकिन के अनुसार, समाजशास्त्र का अध्ययन क्षेत्र सामान्य होना चाहिए और इसे सामाजिक जीवन के प्रत्येक पहलू का अध्ययन करना चाहिए।

उपर्युक्त विद्वानों के अतिरिक्त वार्ड, मोतवानी, गिन्सबर्ग आदि ने भी समाजशास्त्र को एक सामान्य विज्ञान बनाने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया है।

समन्वयात्मक सम्प्रदाय की आलोचना (Criticism of Synthetic School)–इस सम्प्रदाय के विरुद्ध कुछ प्रमुख आरोप इस प्रकार हैं :

1. यदि समाजशास्त्र में सभी प्रकार के सामाजिक तथ्यों एवं प्रघटनाओं का अध्ययन किया जायेगा तो यह अन्य सामाजिक विज्ञानों की एक खिचड़ी मात्र या एक 'हरफनमौला' (Jack of all trades) विज्ञान बन जायेगा।

नोट

2. यदि समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान होगा तो इसका अपना कोई स्वतन्त्र क्षेत्र नहीं होगा। ऐसी दशा में इसे अन्य विज्ञानों पर आश्रित रहना पड़ेगा।
3. यदि समाजशास्त्र में सभी प्रकार के सामाजिक तथ्यों एवं घटनाओं का अध्ययन किया जाने लगा तो ऐसी स्थिति में यह किसी भी तथ्य या प्रघटना का पूर्णता के साथ अध्ययन नहीं कर पायेगा।
4. यदि समाजशास्त्र विभिन्न सामाजिक विज्ञानों का योग या संकलन मात्र होगा तो इसकी अपनी कोई निश्चित पद्धति विकसित नहीं हो पायेगी।

समाजशास्त्र विशेष एवं सामान्य विज्ञान : दोनों ही रूपों में
(Sociology Both as a Special and General Science)

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र के विषय-क्षेत्र के सम्बन्ध में स्वरूपात्मक एवं समन्वयात्मक दोनों ही सम्प्रदायों के दृष्टिकोण एकाकी हैं। समाजशास्त्र न तो पूरी तरह से विशिष्ट विज्ञान है जो केवल सामाजिक सम्बन्धों के कुछ विशिष्ट स्वरूपों के अध्ययन तक अपने को सीमित रखता है और न ही सामान्य विज्ञान है जो समस्त सामाजिक प्रघटनाओं का अध्ययन करता है। वास्तविकता यह है कि समाजशास्त्र के विषय-क्षेत्र में दोनों दृष्टिकोण सम्मिलित हैं। जहाँ समाजशास्त्र के विषय-क्षेत्र के अन्तर्गत एक ओर सामाजिक प्रघटनाओं के अध्ययन में विशिष्ट दृष्टिकोण पर बल दिया जाता है, वहाँ दूसरी ओर सामाजिक घटनाओं के सामान्य पक्षों का समन्वयात्मक दृष्टिकोण से भी अध्ययन किया जाता है। समाजशास्त्र में जहाँ सामान्य सामाजिक सम्बन्धों का महत्त्व है, वहाँ साथ ही विशिष्ट प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों का भी। अत: **समाजशास्त्र के विषय-क्षेत्र के अन्तर्गत 'सामान्य' एवं 'विशिष्ट' दोनों का ही अध्ययन किया जाता है।** इसी बात को स्पष्ट करते हुए **प्रो. गिन्सबर्ग** ने लिखा है, ''उदाहरण के रूप में, यह सभी जानते हैं कि प्राणिशास्त्र एक अर्थ में अनेक विज्ञानों का संकलन है जिसमें प्रत्येक विज्ञान स्पष्टत: एक विशिष्ट विज्ञान है, परन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि इस विशिष्ट विज्ञान के अतिरिक्त एक सामान्य प्राणिशास्त्र भी होता है जो जीवन की सामान्य दशाओं का एक उन्नत ज्ञान-भण्डार है। इसी प्रकार समाजशास्त्र में भी सामाजिक जीवन के विभिन्न भागों से सम्बन्धित अनेक विशिष्ट विज्ञान हैं और इस रूप में समाजशास्त्र समस्त सामाजिक विज्ञानों के एक समग्र समूह के समान है। एक अन्य अर्थ में वह (समाजशास्त्र) स्वयं ही एक विशिष्ट विज्ञान है जिसका उद्देश्य अन्य विज्ञानों के बीच पाए जाने वाले पारस्परिक सम्बन्धों को खोजना और सामाजिक सम्बन्धों की सामान्य विशेषताओं का विवरण देना है।'' स्पष्ट है कि समाजशास्त्र में ऐसे विशिष्ट विज्ञान सम्मिलित हैं जिनके द्वारा सामाजिक जीवन के विभिन्न अंगों का अध्ययन किया जाता है। साथ ही समाजशास्त्र स्वयं भी एक विशिष्ट विज्ञान है जिसका लक्ष्य सामान्य सम्बन्धों की सामान्य प्रकृति या विशेषताओं का पता लगाना है।

समाजशास्त्र के बारे में बीरस्टीड के विचार (Bierstedt's Views Regarding Sociology)

बीरस्टीड ने समाजशास्त्र की कुछ विशेषताओं का उल्लेख किया है जो इसे अन्य विज्ञानों से भिन्न बनाती हैं। ये विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

1. **समाजशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है न कि प्राकृतिक विज्ञान** (Sociology is a social science not a natural science)–समाजशास्त्र की विषय-वस्तु अन्य विज्ञानों से भिन्न है, किन्तु अध्ययन विधि नहीं। इस आधार पर हम समाजशास्त्र को उन विज्ञानों से भिन्न कर सकते हैं जो भौतिक जगत का अध्ययन करते हैं। इस प्रकार समाजशास्त्र ज्योतिष विज्ञान, भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, भूगर्भशास्त्र एवं जीवशास्त्र से भिन्न है।
2. **समाजशास्त्र वास्तविकता का अध्ययन करने वाला विज्ञान है, यह एक आदर्शात्मक विज्ञान नहीं है** (Sociology is a categorical not a normative science)–समाजशास्त्र 'क्या है' का अध्ययन

नोट

करता है न कि 'क्या होना चाहिए' का। विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र मूल्यों की चर्चा नहीं करता, वह यह नहीं बताता कि समाज को किस दिशा में जाना चाहिए, यह सामाजिक नीति निर्धारण के लिए भी कोई सुझाव नहीं देता। इसका यह अर्थ नहीं है कि सामाजिक एवं राजनीतिक निर्णयों की दृष्टि से समाजशास्त्री ज्ञान व्यर्थ है वरन् इसका तात्पर्य यह है कि अकेला समाजशास्त्र ही अच्छाई और बुराई, सही एवं गलत, श्रेष्ठतम एवं निम्नतम आदि मानवीय मूल्यों की समस्या का अध्ययन नहीं करता। यद्यपि समाजशास्त्र यह कार्य कर सकता है और करता भी है, लेकिन केवल एक विज्ञान के रूप में। समाजशास्त्र एक निश्चित समय और स्थान में निश्चित मानव समूह के मूल्यों का उल्लेख करता है, लेकिन वह यह नहीं बताता कि उस समूह को इन मूल्यों को अपनाना चाहिए। इसी आधार पर समाजशास्त्र सामाजिक एवं राजनीतिक दर्शन, नीतिशास्त्र एवं धर्म से भिन्न है।

3. **समाजशास्त्र एक विशुद्ध विज्ञान है न कि व्यावहारिक विज्ञान** (Sociology is a pure science, not an applied science)–समाजशास्त्र का उद्देश्य मानव समाज के बारे में ज्ञान प्राप्त करना है न कि उस ज्ञान का उपयोग करना। जिस प्रकार से भौतिकशास्त्र पुल का निर्माण नहीं करता, रसायनशास्त्र बीमार को दवाएं नहीं लिखता, उसी प्रकार से समाजशास्त्र भी लोकनीति तय नहीं करता, विधायकों को यह नहीं कहता कि कौन से कानूनों का निर्माण करना चाहिए और कौन से का नहीं, बीमार, अपंग-अपाहिज, बाल अपराधी व गरीब को किसी प्रकार की सहायता देनी चाहिए अथवा नहीं। विशुद्ध विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र तो केवल ज्ञान का ही संचय करता है जो प्रशासक, विधायक, कूटनीतिज्ञ, अध्यापक, फोरमेन, सुपरवाइजर, सामाजिक कार्यकर्ता और साधारण नागरिक के लिए लाभदायक हो सकता है, किन्तु समाजशास्त्रियों का यह कार्य नहीं है कि वे यह बताएँ कि समाजशास्त्रीय ज्ञान का व्यावहारिक प्रयोग कैसे किया जाए।

   समाजशास्त्र का मूल विषय तो समाज के बारे में ज्ञान अर्जन करने से है जिसका उपयोग कुछ समस्याओं को हल करने के लिए किया जा सकता है, लेकिन यह अपने आप में एक व्यावहारिक विज्ञान नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं लिया जाना चाहिए कि समाजशास्त्रीय ज्ञान व्यर्थ है या इसका व्यावहारिक उपयोग सम्भव नहीं है। इसका अर्थ यह है कि जो लोग समाजशास्त्रीय ज्ञान के संकलन में लगे हुए हैं वे सदैव से ही इस ज्ञान का उपयोग करने वाले नहीं होते और जो लोग इस ज्ञान का प्रयोग करते हैं, उनके पास इस ज्ञान को अर्जित करने के लिए साधारणत: समय, शक्ति एवं प्रशिक्षण का अभाव होता है। यही कारण है कि सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक ज्ञान को पृथक्-पृथक् किया गया है।

4. **समाजशास्त्र एक अमूर्त विज्ञान है न कि मूर्त विज्ञान** (Sociology is an abstract science, not a concrete one)–समाजशास्त्र एक अमूर्त विज्ञान है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि यह अनावश्यक रूप से जटिल एवं कठिन है। इसका अर्थ तो केवल यह है कि समाजशास्त्र मानवीय घटनाओं के स्वरूपों एवं प्रतिमानों में रुचि रखता है, न कि उनके मूर्त प्रदर्शन में। समाजशास्त्र इतिहास की तरह किसी विशिष्ट युद्ध एवं क्रान्ति का अध्ययन नहीं करता वरन् युद्ध एवं क्रान्ति का सामाजिक प्रघटना के रूप में सामान्य अध्ययन करता है। यह इसका अध्ययन एक प्रक्रिया एवं सामाजिक संघर्ष के रूप में करता है। समाजशास्त्र किसी विशिष्ट सामाजिक संगठन जैसे रोटरी इण्टरनेशनल, संयुक्त राष्ट्र संघ, अहमदाबाद कपड़ा मिल मजदूर संघ आदि में रुचि नहीं रखता वरन् इसमें रुचि रखता है कि मानव अपने हितों की पूर्ति के लिए किस प्रकार का संगठन बनाता है तथा इन संगठनों एवं अन्य प्रकार के सामाजिक समूहों में क्या सम्बन्ध है? समाजशास्त्र रूसी, अंग्रेज, स्पेनवासी, इटलीवासी या अरबवासी में इसलिए रुचि नहीं रखता कि वे इन स्थानों के रहने वाले हैं वरन् इसलिए कि सभी मानव हैं, चाहे उनकी उत्पत्ति, विश्वासों, अभिवृत्तियों, कार्य करने के तरीकों, सामाजिक संगठनों में कितनी ही भिन्नता क्यों न हो। इसी अर्थ में समाजशास्त्र एक अमूर्त विज्ञान है।

5. **यह सामान्यीकरण करने वाला विज्ञान है** (It is a generalising science)–यह किसी विशिष्ट कानून, समाज, व्यक्ति व घटना का अध्ययन न कर सामान्य घटनाओं का अध्ययन करता है। यह मानवीय अन्त:क्रियाओं, समितियों, समूहों एवं समाजों की प्रकृति, संरचना, स्वरूप एवं अन्तर्वस्तु के सामान्य नियमों

एवं सिद्धान्तों में रुचि रखता है। इतिहास की तरह यह किसी विशिष्ट समाज या घटना के विस्तृत एवं पूर्ण वर्णन में रुचि नहीं रखता। यह इस बात का अध्ययन नहीं करता कि हिटलर, मुसोलिनी या नेपोलियन ने क्यों, कहाँ और कब युद्ध किया वरन् इसकी रुचि इस बात में है कि जब किसी समूह पर बाह्य आक्रमण होता है तो उसकी आन्तरिक दृढ़ता कैसे कायम होती है?

नोट

6. **समाजशास्त्र एक तार्किक एवं अनुभवसिद्ध दोनों ही विज्ञान है** (Sociology is both a rational and an empirical science)—समाजशास्त्र में वैज्ञानिक पद्धति द्वारा ज्ञान का अर्जन किया जाता है। मानवीय अनुभव एवं तर्क दोनों का ही इस विज्ञान में उपयोग होता है।
7. **समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान है न कि विशिष्ट** (Sociology is a general science, not a special science)—समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान है न कि विशिष्ट, यद्यपि यह बात समाजशास्त्रियों में आज भी विवादास्पद है। सामान्य विज्ञान होने के नाते समाजशास्त्र सभी समाजों में पाए जाने वाले सामाजिक सम्बन्धों एवं सामाजिक क्रियाओं का अध्ययन करता है। मानव के धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, वैधानिक आदि सभी व्यवहारों में सामाजिक सम्बन्ध एवं सामाजिक क्रियाएँ विद्यमान होती हैं, अत: समाजशास्त्र उनका अध्ययन करता है। दूसरे शब्दों में, समाजशास्त्र उन प्रघटनाओं एवं तथ्यों का अध्ययन करता है जो सभी मानवीय अन्त:क्रियाओं में पाए जाते हैं। इसे स्पष्ट करने के लिए बीरस्टीड ने एक तालिका दी है :

आर्थिक	a, b, c	d, e, f
राजनीतिक	a, b, c	g, h, i
धार्मिक	a, b, c	j, k, l
वैधानिक	a, b, c	m, n, o
मनोरंजनात्मक	a, b, c	p, q, r

इस तालिका से स्पष्ट है कि आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, वैधानिक एवं मनोरंजनात्मक सभी पक्षों में a, b, c तथ्य विद्यमान हैं। ये सभी सामाजिक कारक हैं और सभी में सामान्य रूप से विद्यमान हैं। समाजशास्त्र इसी कारण आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक घटनाओं का अध्ययन करता है न कि इसलिए कि वे आर्थिक, राजनीतिक या धार्मिक हैं। समाजशास्त्र सामाजिक कारकों के अध्ययन में रुचि रखता है; चाहे वे किसी भी सन्दर्भ में घटित होते हों। समाजशास्त्र का केन्द्र-बिन्दु कोई विशिष्ट हो सकता है जिस प्रकार से अन्य विज्ञानों का होता है, किन्तु इसके अन्वेषण का क्षेत्र सामान्य है।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि समाशास्त्र एक वास्तविक, विशुद्ध अमूर्त, सामान्यीकरण करने वाला, तार्किक एवं अनुभव-सिद्ध तथा सामान्य विज्ञान है।

1.8 समाजशास्त्र की विषय-वस्तु या विषय-सामग्री (Subject-matter of Sociology)

कुछ विद्वानों ने समाजशास्त्र के विषय-क्षेत्र (Scope) और विषय-वस्तु (Subject-matter) में किसी प्रकार का कोई अन्तर नहीं किया है तथा दोनों को एक ही मान लिया है, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। इन दोनों में काफी अन्तर है। **विषय-क्षेत्र** का तात्पर्य उन सम्भावित सीमाओं से है जहाँ तक किसी भी विषय का अध्ययन अधिक से अधिक किया जा सकता है। **विषय-वस्तु** का तात्पर्य उन निश्चित बातों या विषयों से है जिनका अध्ययन एक शास्त्र के अन्तर्गत किया जाता है। किसी विषय का क्षेत्र अनुमानित परिधि को और विषय-वस्तु अध्ययन के वास्तविक विषयों को व्यक्त करते हैं। समाजशास्त्र की विषय-वस्तु के सम्बन्ध में यद्यपि विद्वानों में मत-भिन्नता है, परन्तु अधिकांश समाजशास्त्री सामाजिक प्रक्रियाओं, सामाजिक संस्थाओं, सामाजिक नियन्त्रण एवं सामाजिक परिवर्तन को इनके अन्तर्गत सम्मिलित करते हैं। यहाँ समाजशास्त्र की विषय-वस्तु को समझने की दृष्टि से कुछ प्रमुख विद्वानों के विचारों का उल्लेख किया जा रहा है।

सोरोकिन के विचार (Views of Sorokin)

सोरोकिन के अनुसार समाशास्त्र की विषय-वस्तु में निम्नलिखित बातें सम्मिलित की जानी चाहिए :

(*i*) विभिन्न सामाजिक घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्धों और सह-सम्बन्धों का अध्ययन किया जाना चाहिए। उदाहरण के रूप में, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, पारिवारिक एवं आचार-सम्बन्धी घटनाओं के परस्पर सम्बन्धों का।

(*ii*) सामाजिक और असामाजिक तथ्यों एवं घटनाओं के बीच पारस्परिक सम्बन्धों तथा सह-सम्बन्धों का अध्ययन किया जाना चाहिए, उदाहरण के रूप में, भौगोलिक एवं प्राणिशास्त्रीय दशाओं के सामाजिक जीवन एवं घटनाओं पर पड़ने वाले प्रभावों का।

(*iii*) समाज की सभी सामाजिक घटनाओं की सामान्य विशेषताओं का अध्ययन किया जाना चाहिए।

समाजशास्त्र को एक सामान्य विज्ञान मानते हुए इसकी विषय-वस्तु के सम्बन्ध में **सोरोकिन** ने बताया है कि ''समाजशास्त्र सभी प्रकार की सामाजिक घटनाओं की सामान्य विशेषताओं, उनके पारस्परिक सम्बन्धों एवं सह-सम्बन्धों का विज्ञान रहा है और या तो वैसा ही रहेगा या फिर समाजशास्त्र का अस्तिव ही नहीं रहेगा।'' सोरोकिन के विचारों को सविस्तार जानने के लिए समाजशाास्त्र की परिभाषा एवं विषय-क्षेत्र देखिए।

इंकल्स के विचार (Views of Inkeles)

इंकल्स ने समाजशास्त्र की विषय-वस्तु के निर्धारण के तीन पथ बताए हैं जो इस प्रकार हैं :

1. ऐतिहासिक पथ, 2. आनुभविक पथ, 3. विश्लेषणात्मक पथ।

इन तीन में से प्रत्येक पथ समाशास्त्र की विषय-वस्तु को जानने में कुछ न कुछ योग देता है। इस प्रकार इंकल्स समाजशास्त्र की विषय-वस्तु ज्ञात करने के लिए आगमनात्मक पद्धति (Inductive method) का सहारा लेते हैं। हम यहाँ उपर्युक्त तीनों ही पथ या दृष्टिकोणों का उल्लेख करेंगे।

1. **ऐतिहासिक पथ** (Historical Path)–इसके अन्तर्गत समाजशास्त्र की विषय-वस्तु को ज्ञात करने के लिए हम उन समाजशास्त्रियों के लेखों का अध्ययन करेंगे जिन्हें समाजशास्त्र का प्रवर्तक माना जाता है। हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि इन प्रवर्तकों ने अपनी रचनाओं में किन विषयों को केन्द्र-बिन्दु माना है।

सोरोकिन ने अपनी प्रसिद्ध कृति '*Contemporary Sociological Theories*' में लगभग 1,000 उन लोगों के महत्त्वपूर्ण कार्यों का उल्लेख किया है जिन्होंने आधुनिक समाजशास्त्र के विकास में योग दिया है। **हॉवर्ड बेकर** तथा **हैरी एल्मर बारनेस** ने अपनी कृति '*Social Thought from Lore to Science*' के दो ग्रन्थों में लगभग 1,178 पृष्ठों में समाजशास्त्रीय इतिहास का उल्लेख किया है। आधुनिक समाजशास्त्र के विकास में चार समाजशास्त्रियों–ऑगस्ट कॉम्ट, हरबर्ट स्पेन्सर, दुर्खीम तथा मैक्स वेबर के नाम उल्लेखनीय हैं। इनका समय 19वीं सदी से लेकर 20वीं सदी के प्रारम्भ तक है। समाजशास्त्र का प्रारम्भिक विकास फ्रांस, इंग्लैण्ड एवं जर्मनी में हुआ जहाँ इन विद्वानों ने कार्य किया। इनमें से प्रत्येक विद्वान का समाजशास्त्र पर व्यक्तिगत बौद्धिक प्रभाव है। समाजशास्त्र की वास्तविक विषय-वस्तु के निर्धारण में इन विद्वानों के विचारों से अवगत होना आवश्यक है :

ऑगस्त कॉम्ट (1798-1857) समाजशास्त्र के पिता कहे जाते हैं। उन्होंने अपना अधिकांश समय समाजशास्त्र को एक विषय के रूप में स्थापित करने में लगाया न कि उसकी विषय-वस्तु को परिभाषित करने में। उनका विश्वास था कि वर्तमान में समाजशास्त्र का उप-विभाजन सम्भव नहीं है, दूर भविष्य में चाहे यह वांछित एवं सम्भव हो। अत**:** **ऑगस्त कॉम्ट** से हमें समाजशास्त्र से सम्बन्धित विषयों की कोई सूची या उप-क्षेत्र प्राप्त नहीं होते। यद्यपि ऑगस्ट कॉम्ट समाजशास्त्र का उपक्षेत्र निर्धारण करने के प्रति उदासीन थे फिर भी उन्होंने समाजशास्त्र को प्रमुखत: दो भागों में विभक्त किया :

(*i*) **सामाजिक स्थैतिकी** (Social Statics) तथा (*ii*) **सामाजिक गतिकी** (Social Dynamics)। इसी आधार पर हम समाजशास्त्र की विषय-वस्तु को दो प्रमुख भागों में बांट सकते हैं और यह वर्गीकरण किसी न किसी रूप में अन्य विज्ञानों में भी देखने को मिलता है।

(*ii*) **सामाजिक स्थैतिकी** के अन्तर्गत **कॉम्ट** समाज की संस्थाओं जैसे आर्थिक संस्था, परिवार एवं राज्य आदि के अध्ययन को सम्मिलित करते हैं। इस दृष्टि से समाजशास्त्र में विभिन्न संस्थाओं के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है। स्वयं **कॉम्ट** लिखते हैं, ''समाजशास्त्र में स्थैतिकी के अध्ययन के अन्तर्गत समाज व्यवस्था के विभिन्न अंगों की क्रिया एवं प्रतिक्रिया के नियमों का अध्ययन किया जाता है।''

नोट

आपका मत था कि समाज के अंगों को पृथक् से नहीं समझा जा सकता क्योंकि उनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। उन्हें एक-दूसरे के सम्बन्ध में ही देखा जाना चाहिए। इस सिद्धान्त को वे सार्वभौमिक सामाजिक अन्तर्सम्बन्ध का सिद्धान्त (Principle of Universal Social Inter-connection) कहते हैं और यह उनकी पद्धति का प्रमुख विचार कहा जाता है।

(*ii*) **सामाजिक गतिकी** (Social Dynamics)–यदि स्थैतिकी में समाज के विभिन्न अंगों के अन्तर्सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है तो गतिकी में समाज को एक सम्पूर्ण इकाई के रूप में देखा जाता है और यह ज्ञात किया जाता है कि समय के साथ उसका विकास एवं परिवर्तन कैसे हुआ। **कॉम्ट** का विश्वास था कि उसने यह समस्या हल कर दी है। उनका मत था कि समाज का विकास कुछ निश्चित स्तरों से हुआ है। विभिन्न स्तरों से गुजरते समय समाज पूर्णता एवं प्रगति की ओर अग्रसर होता है।

हरबर्ट स्पेन्सर (1820-1903)–स्पेन्सर की पुस्तक '*Principles of Sociology*' तीन जिल्दों में 1877 में प्रकाशित हुई जिसमें उसने समाजशास्त्र का व्यवस्थित ढंग से विश्लेषण किया है। उसने समाजशास्त्र की विषय-वस्तु एवं क्षेत्र का निर्धारण **कॉम्ट** की अपेक्षा व्यवस्थित ढंग से किया है। **स्पेन्सर** के अनुसार, समाजशास्त्र की विषय-वस्तु के अन्तर्गत परिवार, राजनीति, धर्म, सामाजिक नियन्त्रण तथा उद्योग या कार्य आदि विषय आते हैं। इनके अतिरिक्त स्पेन्सर ने समितियों, समुदायों, श्रम-विभाजन, सामाजिक विभेदीकरण एवं स्तरीकरण, ज्ञान का समाजशास्त्र तथा कला और सौन्दर्यशास्त्र के अध्ययन को भी समाजशास्त्र की विषय-वस्तु में सम्मिलित किया है। वे समाज के विभिन्न तत्वों के पारस्परिक सम्बन्धों के अध्ययन पर भी जोर देते हैं जिससे यह ज्ञात हो सके कि इकाइयाँ किस प्रकार से सम्पूर्ण को प्रभावित एवं परिवर्तित करती हैं और सम्पूर्ण की उनके प्रति क्या प्रतिक्रिया व्यक्त की जाती है। इनके पारस्परिक प्रभावों को स्पष्ट करने के लिए स्पेन्सर ने यौन सम्बन्धी मानदण्डों एवं परिवार और राजनीतिक संस्थाओं एवं धर्म के पारस्परिक सम्बन्धों का उल्लेख किया है। उसने पुरोहित व्यवस्था और अन्य संस्तरण व्यवस्थाओं के अध्ययन का भी सुझाव दिया है जिससे यह ज्ञात हो सके कि इनकी संरचना में होने वाला परिवर्तन अन्य संरचनाओं में परिवर्तन को कैसे प्रभावित करता है।

स्पेन्सर ने सम्पूर्ण समाज को समाजशास्त्रीय विश्लेषण की एक इकाई मानने का भी सुझाव दिया है। उसने विभिन्न प्रकार एवं स्तर के समाजों का तुलनात्मक अध्ययन करने का भी सुझाव दिया है। उनका मत है कि समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों को प्राप्त करने के लिए विभिन्न समाजों की संरचना एवं प्रकार्यों के तथ्यों का अध्ययन करना होगा। इस प्रकार कॉम्ट ने समाजशास्त्र का जिस प्रकार से विभाजन किया, उसकी झलक हम स्पेन्सर के विचारों में देख सकते हैं।

दुर्खीम (Durkheim, 1858-1917)–दुर्खीम ने समाजशास्त्र की विषय-वस्तु का कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं किया, किन्तु उसकी पुस्तक '*Rules of Sociological Method*' तथा अन्य रचनाओं के आधार पर हम इस सन्दर्भ में उसके विचारों को ज्ञात कर सकते हैं। दुर्खीम ने स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया है कि समाजशास्त्र का सम्बन्ध सामाजिक संस्थाओं एवं सामाजिक प्रक्रियाओं के अध्ययन से है। **दुर्खीम** ने '*Annee Sociologique*' नामक प्रथम समाजशास्त्रीय पत्रिका को सात खण्डों एवं कई उपखण्डों में विभाजित किया जो कि समाजशास्त्र की विषय-वस्तु के बारे में उसके विचारों को व्यक्त करते हैं। उनके प्रमुख खण्ड इस प्रकार से हैं–1. सामान्य समाजशास्त्र, 2. धर्म का समाजशास्त्र, 3. कानून एवं नैतिकता का समाजशास्त्र जिसमें राजनीतिक संगठन, सामाजिक संगठन तथा परिवार और विवाह आदि उपखण्ड आते हैं, 4. अपराध का समाजशास्त्र, 5. आर्थिक समाजशास्त्र जिसमें मूल्यों का माप, व्यावहारिक समूह आदि उपखण्ड आते हैं, 6. जनांकिकी, इसके उपखण्ड में नगरीय एवं ग्रामीण समुदाय आते हैं, 7. सौन्दर्य का समाजशास्त्र। दुर्खीम ने 1896 में समाजशास्त्र की विषय-वस्तु की यह रूपरेखा प्रस्तुत की जिसका उपयोग समकालीन समाजशास्त्र के पुनरावलोकन के लिए भी किया जा सकता है। दुर्खीम ने भी कॉम्ट एवं स्पेन्सर की भांति संस्थाओं के पारस्परिक सम्बन्धों एवं उनके अपने पर्यावरण के साथ सम्बन्धों के अध्ययन

नोट

पर भी जोर दिया। उसने कहा कि समाजशास्त्र को सामाजिक तथ्यों (Social Facts) का अध्ययन करना चाहिए तथा आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, कानून एवं नैतिकता आदि के सामाजिक तथ्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का भी अध्ययन किया जाना चाहिए। इसके अभाव में उन्हें स्पष्ट रूप से नहीं समझा जा सकता। दुर्खीम ने भी स्पेन्सर की तरह समाजों को समाजशास्त्रीय विश्लेषण की इकाई मानने की बात कही और विभिन्न समाजों के तुलनात्मक अध्ययन पर ज़ोर दिया।

मैक्स वेबर (Max Weber, 1864-1920)—मैक्स वेबर ने अपना अधिकांश समय एक विशेष अध्ययन पद्धति **'वर्स्टेहेन'** (*Verstehen*) की विवेचना करने में लगाया। वर्स्टेहेन सामाजिक अध्ययन की एक पद्धति है, इस पद्धति से अध्ययन करने वाला व्यक्ति स्वयं को उस परिस्थिति में रखकर अध्ययन करता है जिसका वह अध्ययन करता चाहता है। वेबर सामाजिक क्रिया एवं सामाजिक सम्बन्धों को समाजशास्त्र की विषय-वस्तु मानता है। वेबर ने धर्म, आर्थिक जीवन के विभिन्न पक्षों, मुद्रा, श्रम-विभाजन, राजनीतिक दल, राजनीतिक संगठन, वर्ग, जाति, शहर एवं संगीत आदि विषयों पर विस्तृत कार्य किया। उसने धर्म के आर्थिक प्रभावों का भी अध्ययन किया।

यद्यपि इन सभी समाजशास्त्रियों ने समाजशास्त्र की विषय-वस्तु की अलग-अलग व्याख्या की है फिर भी उसमें कुछ समानताएँ पायी जाती हैं, जैसे—(*i*) सभी समाजशास्त्री सामाजिक संस्थाओं के अध्ययन को समाजशास्त्र में सम्मिलित करते हैं। ये संस्थाएँ परिवार से लेकर राज्य तक की संस्थाएँ हैं। (*ii*) सभी समाजशास्त्री विभिन्न प्रकार की संस्थाओं के पारस्परिक सम्बन्धों के अध्ययन पर जोर देते हैं। (*iii*) सभी समाजशास्त्री यह स्वीकार करते हैं कि सम्पूर्ण समाज को समाजशास्त्रीय विश्लेषण की इकाई माना जाना चाहिए। समाजशास्त्र यह भी देखे कि सभी समाजों में कुछ समानताएँ एवं भिन्नताएँ क्यों हैं? (*iv*) सभी समाजशास्त्री सामाजिक क्रिया या सामाजिक सम्बन्धों को समाजशास्त्र के अध्ययन के अन्तर्गत सम्मिलित करते हैं। यह विचार मुख्य रूप से वेबर द्वारा प्रतिपादित किया गया जिसे अन्य विद्वानों ने भी स्वीकार किया।

समाजशास्त्र की पाठ्य पुस्तकों, **'अमरीकन समाजशास्त्रीय संगठन'** के सदस्यों एवं प्रतिष्ठित समाजशास्त्रियों के लेखों आदि के अध्ययन से समाजशास्त्र की विषय-वस्तु के कुछ सामान्य विषय प्रकट होते हैं जिन्हें **इंकल्स** ने इस प्रकार प्रकट किया है :

2. **आनुभविक पथ** (Empirical Path)—इसके अन्तर्गत हम यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि आजकल के समाजशास्त्रीय किस प्रकार की समस्या का अध्ययन कर रहे हैं, उनकी अध्ययन पद्धति क्या है और वे किन विषयों से सम्बन्धित हैं। इसे जानने के लिए हमारे पास तीन स्रोत हैं :

(*i*) समाजशास्त्र की विभिन्न पुस्तकों में दी गई विषय सूची को ज्ञात करें। (*ii*) समाजशास्त्री समाजशास्त्र की किस उपशाखा से अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं? (*iii*) उनके द्वारा किया शोध कार्य तथा समाजशास्त्रीय बैठकों, पत्र-पत्रिकाओं एवं पुस्तकों में उनके द्वारा प्रस्तुत किए गए लेख एवं प्रतिवेदन।

इन तीनों स्रोतों के अध्ययन से जो विषय उभर कर आए हैं, उनमें प्रमुख हैं—वैज्ञानिक विधि, व्यक्तित्व और समाज, सांस्कृतिक मानव समूह, जनसंख्या, जाति एवं वर्ग, प्रजाति, सामाजिक परिवर्तन, आर्थिक संस्थाएँ, परिवार, शिक्षा एवं धर्म, सामुदायिक जीवन (ग्रामीण एवं नगरीय), सामाजिक समस्याएँ, सरकार एवं राजनीति, आदि।

नोट

समाजशास्त्र की विषय-वस्तु की सामान्य रूपरेखा

I. समाजशास्त्रीय विश्लेषण
- मानव संस्कृति एवं समाज
- समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य या दृष्टिकोण
- सामाजिक विज्ञानों में वैज्ञानिक पद्धति

II. सामाजिक जीवन की प्राथमिक इकाइयां
- सामाजिक क्रिया एवं सामाजिक संबंध
- मानव व्यक्तित्व
- समूह (प्रजाति एवं वर्ग भी सम्मिलित हैं)
- समुदाय–नगरीय एवं ग्रामीण
- समितियां एवं संगठन
- जनसंख्या
- समाज

III. आधारभूत सामाजिक संस्थाएं
- परिवार एवं नातेदारी
- आर्थिक संस्थाएं
- राजनीतिक एवं वैधानिक संस्थाएं
- धार्मिक संस्थाएं
- शैक्षणिक एवं वैज्ञा. संस्थाएं,
- मनोरंजनात्मक एवं कल्याण संस्थाएं
- कलात्मक एवं अभिव्यक्ति संबंधी संस्थाएं

IV. मौलिक सामाजिक संस्थाएं
- विभेदीकरण एवं स्तरीकरण
- सहयोग, समायोजन तथा सात्मीकरण
- सामाजिक संघर्ष, क्रान्ति एवं युद्ध
- संचार (जनमत निर्माण, अभिव्यक्ति और परिवर्तन भी शामिल)
- समाजीकरण तथा सैद्धांतीकरण
- सामाजिक मूल्यांकन (सामाजिक मूल्यों का अध्ययन)
- सामाजिक विचलन (अपराध एवं आत्महत्या, आदि)
- सामाजिक नियंत्रण
- सामाजिक एकीकरण
- सामाजिक परिवर्तन

3. **विश्लेषणात्मक पथ** (Analytical Path)–हम यह तर्क दे सकते हैं कि न तो समाजशास्त्र की नींव डालने वालों ने और न ही वर्तमान में समाजशास्त्री जो कर रहे हैं, वह समाजशास्त्र की विषय-वस्तु निर्धारण का उचित तरीका है। इसका निर्धारण तो तार्किक विश्लेषण के आधार पर किया जाना चाहिए। प्रत्येक मानवीय विज्ञान की शाखा की अपनी विषय-वस्तु है।

समाजशास्त्र की भी कुछ मूर्त ए वं विशिष्ट विषय-वस्तु होनी चाहिए जिसका अध्ययन अन्य विज्ञानों में नहीं किया जाता हो। प्रमुख संस्थाएँ सामाजिक उत्पादन तथा सामाजिक क्रियाएँ वे क्षेत्र हैं जिन पर कोई अन्य विज्ञान दावा नहीं कर सकता है। इनमें से प्रत्येक विषय पर समाजशास्त्र में शोध कार्य एवं सिद्धान्त निर्माण का कार्य हुआ है। इस प्रकार से समाजशास्त्र को सामाजिक विज्ञानों से बचे हुए विषयों का अध्ययन करना चाहिए। कुछ लोग कह सकते हैं कि तब तो समाजशास्त्र कोई विशिष्ट विषय नहीं होगा और यह कई विषयों का एक झमेला हो जाएगा जिसमें वे सभी विषय आ जाएंगे जो पृथक् विज्ञान की शाखा बनने में असमर्थ रहे हैं।

यह बात सही भी है कि कभी भी विश्वविद्यालय में इनकी पृथक् शाखा की स्थापना हो सकती है, जैसे जनसंख्या एवं जनांकिकी, अपराध एवं दण्ड शास्त्र, औद्योगिक समाजशास्त्र एवं पारिवारिक समाजशास्त्र की हुई है। प्रश्न उठता है कि यदि समाजशास्त्र की इसी प्रकार से उपशाखाओं की स्थापना होती रही तो क्या समाजशास्त्र का एक पृथक् विज्ञान के रूप में अस्तित्व खतरे में पड़ सकता है? इसका उत्तर इंकल्स 'नहीं' में देते हैं क्योंकि फिर भी कई ऐसे विषय बचे रहेंगे जिस पर समाजशास्त्र का ही दावा बना रहेगा, वे हैं : समाज, संस्था एवं सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन। **इस प्रकार इंकल्स समाजशास्त्र की विषय-वस्तु को समाज, संस्था एवं सामाजिक सम्बन्धों के अध्ययन के रूप में देखते हैं।**

इंकल्स के अनुसार समाजशास्त्र की विषय-वस्तु

इंकल्स समाजशास्त्र की विषय-वस्तु में समाज, संस्था एवं सामाजिक सम्बन्धों के अध्ययन को सम्मिलित करते हैं।

समाजशास्त्र समाज के अध्ययन के रूप में (Sociology as the Study of Society)–इंकल्स का मत है कि समाजशास्त्र को समाज के किसी एक अंग का अध्ययन न कर सम्पूर्ण समाज का अध्ययन करना चाहिए अर्थात् इसके विश्लेषण की इकाई सम्पूर्ण समाज होना चाहिए। इस अर्थ में समाजशास्त्र को समाज का निर्माण करने वाली विभिन्न संस्थाओं एवं विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन करना चाहिए। समाज

नोट

का यह अध्ययन दो प्रकार से किया जा सकता है, **एक**, विशिष्ट समाज के आन्तरिक विभेदीकरण के अध्ययन के रूप में, और **दूसरा**, सभी समाजों को एक जनसंख्या मानकर उनकी पहचान योग्य विशिष्ट विशेषताओं के अध्ययन के रूप में। इसमें यह भी ज्ञात करें कि क्या समाज का विकास कुछ निश्चित स्तरों से हुआ है? समाज की आन्तरिक समस्याएँ, समाज के निर्मायक तत्व एवं समाज में कार्यों का विभाजन किस प्रकार से किया जाता है आदि का अध्ययन भी इसमें किया जाना चाहिए। यदि विभिन्न प्रकार की संस्थाओं को संयुक्त कर दिया जाये तो उसके क्या परिणाम होंगे? उदाहरणार्थ, औद्योगिक संस्थाएं संयुक्त परिवार को किस प्रकार से प्रभावित करती हैं। यह सभी समाजशास्त्र की अध्ययन-वस्तु होनी चाहिए।

ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक समाजशास्त्र इसी प्रकार का अध्ययन करता है। मैक्स वेबर ने भी इसी प्रकार का अध्ययन किया। उसने ऐसे प्रश्न किये जैसे धार्मिक मूल्यों का मानव की आर्थिक क्रियाओं पर क्या प्रभाव पड़ता है? उसने यह भी बताया कि कुछ धार्मिक मूल्यों दूसरों की तुलना में समाज में अधिक क्रियाशील एवं प्रभावी होते हैं। वेबर ने धर्म के आर्थिक जीवन पर प्रभाव को ज्ञात करने के लिए चीन, भारत एवं प्रोटेस्टैण्ट यूरोप का अध्ययन किया और *'The Protestant Ethic and the Spirit of Capitalism'* नामक पुस्तक की रचना की जो बहुत ही विवादास्पद है। वेबर की धर्म के अध्ययन में रुचि नहीं थी वरन् वह तो धार्मिक संगठनों का सामाजिक जीवन के अन्य पक्षों, विशेष रूप से आर्थिक जीवन पर प्रभाव जानना चाहता था।

समाजशास्त्र संस्थाओं के अध्ययन के रूप में (Sociology as the Study of Institutions)–समाजशास्त्र की अध्ययन वस्तु सामाजिक सम्बन्ध ही है, यह बात प्राचीन समय से एवं सर्वमान्य रूप से स्वीकार की गई है, क्योंकि सामाजिक सम्बन्ध ही समाज की निर्मायक इकाइयाँ हैं। यह तर्क भी दिया जा सकता है कि परिवार, चर्च, स्कूल एवं राजनीतिक दल जैसी संस्थाएँ समाजशास्त्र की विशिष्ट विषय-वस्तु हैं, क्योंकि इतिहास एवं मानवशास्त्र में सम्पूर्ण समाज को ही अध्ययन की इकाई माना गया है। सामाजिक संस्थाओं के अध्ययन के सन्दर्भ में समाजशास्त्र सभी संस्थाओं की विशेषताओं को ज्ञात करेगा, उनके विभिन्न पक्षों में क्या भेद है, को ज्ञात करेगा, संस्थाओं के आकार, विशेषीकरण की मात्रा एवं स्वायत्तता में क्या समाताएँ हैं, आदि का भी अध्ययन समाजशास्त्र करता है। 1901 में दुर्खीम ने समाजशास्त्र को संस्थाओं का अध्ययन करने वाले विज्ञान के रूप में माना था। वर्तमान समय में बड़े संगठनों के महत्त्व में वृद्धि होने से संस्थाओं की सामान्य विशेषताओं के अध्ययन में भी रुचि बढ़ी है।

समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों के अध्ययन के रूप में (Sociology as the Study of Social Relationships)–जिस प्रकार समाज को संस्थाओं की जटिल व्यवस्था माना जाता है उसी प्रकार से संस्थाएं सामाजिक सम्बन्धों की जटिल व्यवस्था मानी जाती हैं। उदाहरण के लिए, परिवार रूपी संस्था का निर्माण अनेक प्रकार के सम्बन्धों, जैसे स्त्री-पुरुष, भाई-बहन, माता-पिता एवं बच्चों, बहन-बहन आदि के सम्बन्धों से मिलकर होता है। इन सम्बन्धों का अध्ययन समाजशास्त्र में किया जाता है।

विश्लेषणात्मक आधार पर हम कह सकते हैं कि सम्बन्ध एक विशिष्ट प्रकार की विषय-वस्तु है। सामाजिक संस्थाओं की तरह ही समाजशास्त्र में सामाजिक सम्बन्धों की समानता एवं भिन्नता का अध्ययन किया जाना चाहिए। सामाजिक सम्बन्ध सामाजिक जीवन के अणु हैं तथा सामाजिक क्रिया सामाजिक जीवन का 'परमाणु' जो कि समाजशास्त्र की विशिष्ट विषय-वस्तु हो सकती है। मैक्स वेबर ने भी समाजशास्त्र को सामाजिक क्रिया एवं सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन करने वाला विज्ञान माना है। अन्य जर्मन समाजशास्त्रियों ने भी वेबर का अनुगमन किया। वानवीजे, जार्ज सीमेल जैसे जर्मन समाजशास्त्री एवं पारसन्स जैसे अमरीकन समाजशास्त्रियों ने सामाजिक क्रिया एवं सामाजिक सम्बन्धों के अध्ययन को समाजशास्त्र की विषय-वस्तु माना है। लघु समूहों एवं औद्योगिक अनुसन्धानों में तो इनका अध्ययन और भी महत्त्वपूर्ण है।

इस प्रकार इंकल्स समाजशास्त्र की विषय-वस्तु में उन संस्थाओं एवं सामाजिक प्रक्रियाओं के अध्ययन को सम्मिलित करते हैं जिनके अध्ययन का अन्य विज्ञान दावा नहीं करते। वे इसे परिभाषित करते हुए कहते हैं, ''समाजशास्त्र सामाजिक क्रियाओं की व्यवस्थाओं एवं उनके अन्तर्सम्बन्धों का अध्ययन है।''

दुर्खीम के विचार (Views of Durkheim)

दुर्खीम ने समाजशास्त्र की विषय-वस्तु में सामाजिक तथ्यों (Social Facts) के अध्ययन पर विशेष जोर दिया है। आपने इस दृष्टि से समाजशास्त्र की विषय-वस्तु में निम्न विषयों को सम्मिलित किया है :

नोट

(*i*) **सामाजिक स्वरूपशास्त्र** (Social Morphology)–इसके अन्तर्गत जीवन पर भौगोलिक कारकों के प्रभावों तथा सामाजिक संगठन के साथ उनके सम्बन्धों का अध्ययन आता है। यहां जनसंख्या सम्बन्धी समस्याओं जैसे जनसंख्या का आकार, घनत्व एवं स्थानीय वितरण आदि का भी अध्ययन किया जाता है।

(*ii*) **सामाजिक शरीरशास्त्र** (Social Physiology)–इसमें समाज रूपी शरीर का निर्माण करने वाले विभिन्न अंगों जैसे–धर्म, नीति, भाषा, कानून, परिवार आदि का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अध्ययन किया जाता है। ये सभी विषय समाजशास्त्र की विभिन्न शाखाओं के रूप में विकसित हो चुके हैं। उदाहरण के रूप में, धर्म का समाजशास्त्र, भाषा का समाजशास्त्र, कानून का समाजशास्त्र, परिवार का समाजशास्त्र आदि।

(*iii*) **सामान्य समाजशास्त्र** (General Sociology)–इसमें सामाजिक तथ्यों के सामान्य रूप का पता लगाने एवं उन सामान्य सामाजिक नियमों को ज्ञात करने पर जोर दिया जाता है जो सामाजिक जीवन की स्थिरता एवं निरन्तरता की दृष्टि से आवश्यक हैं तथा जिनका अन्य सामाजिक विज्ञानों के लिए भी विशेष महत्त्व है। दुर्खीम ने इस शाखा को समाजशास्त्र का दार्शनिक अंग कहा है।

सोरोकिन के विचार (Views of Sorokin)

सोरोकिन के अनुसार समाजशास्त्र की विषय-वस्तु में निम्नलिखित बातें सम्मिलित की जानी चाहिए :

(*i*) विभिन्न सामाजिक घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्धों और सह-सम्बन्धों का अध्ययन किया जाना चाहिए, उदाहरण के रूप में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, पारिवारिक एवं आचार-सम्बन्धी घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्धों का।

(*ii*) सामाजिक और असामाजिक तथ्यों एवं घटनाओं के बीच पारस्परिक सम्बन्धों तथा सह-सम्बन्धों का अध्ययन किया जाना चाहिए। उदाहरण के रूप में, भौगोलिक एवं प्राणिशास्त्रीय दशाओं के सामाजिक जीवन एवं घटनाओं पर पड़ने वाले प्रभावों का।

(*iii*) समाज की सभी सामाजिक घटनाओं की सामान्य विशेषताओं का अध्ययन किया जाना चाहिए।

समाजशास्त्र को एक सामान्य विज्ञान मानते हुए इसकी विषय-वस्तु के सम्बन्ध में सोरोकिन ने बताया है कि ''समाजशास्त्र सभी प्रकार की सामाजिक घटनाओं की सामान्य विशेषताओं, उनके पारस्परिक सम्बन्धों एवं सह-सम्बन्धों का विज्ञान रहा है और या तो वैसा ही रहेगा या फिर समाजशास्त्र का अस्तित्व ही नहीं रहेगा।''

डेविस के विचार (Views of Davis)

किंग्सले डेविस ने समाजशास्त्र की विषय-वस्तु के अन्तर्गत निम्नांकित विषयों को सम्मिलित किया है :

1. **सामाजिक संरचना**–इसके अन्तर्गत समाज व्यवस्था, उसके विभिन्न भाग एवं तत्वों का विश्लेषण किया जाता है। इसमें यह भी ज्ञात किया जाता है कि वे कौन से तत्व हैं जो सभी समाज व्यवस्था में पाये जाते हैं? परिवर्तनशील तत्व क्या होते हैं, इन परिवर्तनों का कारण तथा इनकी सीमाएँ क्या हैं?
2. **सामाजिक कार्य**–सामाजिक व्यवस्था की मूलभूत आवश्यकताएँ कौन-कौन सी होती हैं तथा सामाजिक संरचना इन्हें किस प्रकार से पूरी करती हैं? समाज के संगठन एवं उसके कार्य के बीच कोई आन्तरिक सम्बन्ध होता है, इस दृष्टिकोण से कि यदि एक में परिवर्तन आ जाए तो दूसरे में भी परिवर्तन उपस्थित हो जायेगा? सामाजिक कार्य का समाज के सदस्यों के उन उद्देश्यों से क्या सम्बन्ध होता है जो उनके मस्तिष्क में होते हैं? सामाजिक कार्यकुशलता या सामाजिक अकार्यकुशलता का यदि कोई अर्थ है तो क्या है?
3. **सामाजिक अन्त:क्रिया**–इसके अन्तर्गत सहयोग एवं संघर्ष का मानव जीवन में क्या स्थान है, का अध्ययन किया जाता है। पारस्परिक उद्दीपन, सामूहिक प्रतीक, समारोह एवं अनुष्ठानों का समूह-व्यवहार में क्या स्थान है, का भी अध्ययन किया जाता है।

4. **व्यक्ति और उसका समाज**—इसके अन्तर्गत इस बात का अध्ययन किया जाता है कि किस प्रकार से मानव व्यक्तित्व समाज की उपज है। समाज किस प्रकार विभिन्न प्रकार के व्यक्तित्वों को जन्म देता है एवं उपयोग करता है? विभिन्न प्रकार की सामाजिक परिस्थितियों में व्यक्ति की क्या प्रतिक्रियाएँ होती हैं आदि।
5. **सामाजिक परिवर्तन**—सामाजिक परिवर्तन चक्रीय होता है या किसी रेखा में? परिवर्तन लाने वाले कारक कौन-कौन से हैं तथा कौन से कारक उसमें बाधक हैं? सामाजिक परिवर्तन की गति को कैसे मापते हैं और कितनी गति से समाज के विभिन्न भाग एक-दूसरे के सम्बन्ध में परिवर्तित होते हैं।

ऊपर वर्णित सम्पूर्ण विषय-सामग्री पर ध्यानपूर्वक विचार करने पर हम पाते हैं कि समाजशास्त्र की विषय-सामग्री में मूल बात सामाजिक सम्बन्ध है। इसका कारण यह है कि समाजशास्त्र के अन्तर्गत अध्ययन किये जाने वाले सभी विषयों का प्रमुख आधार सामाजिक सम्बन्ध ही है। **मैकाइवर** व **पेज** ने स्पष्ट लिखा है कि ''समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्ध के विषय में है।'' आगे इसी बात को और स्पष्ट किया गया है।

समाजशास्त्र की विषय-सामग्री सामाजिक सम्बन्ध ही है।

कई विद्वान सामाजिक सम्बन्धों को ही समाजशास्त्र की विषय-सामग्री मानते हैं। यह बात कुछ विद्वानों के कथनों से स्वत: ही स्पष्ट हो जाती है। **मैकाइवर** एवं **पेज** कहते हैं, ''समाजशास्त्र की विषय-वस्तु सामाजिक सम्बन्ध ही है।" चाहे समाजशास्त्र की विषय-वस्तु की सूची में कितने ही विषयों को सम्मिलित क्यों न किया जाए, परन्तु यह सत्य है कि मूल रूप में समाजशास्त्र में सामाजिक सम्बन्धों का ही अध्ययन किया जाता है। **मैक्स वेबर** के अनुसार, समाजशास्त्र एक ऐसा विज्ञान है जो सामाजिक सम्बन्धों एवं सामाजिक क्रियाओं का अध्ययन करता है। यद्यपि आपने समाजशास्त्र के अन्तर्गत सामाजिक क्रिया (Social Action) के अध्ययन पर विशेष जोर दिया है, परन्तु यहाँ इस बात पर भी ध्यान देना आवश्यक है कि सामाजिक क्रिया भी सामाजिक सम्बन्धों के सन्दर्भ में ही हो सकती है। अन्य शब्दों में, सामाजिक क्रिया के सम्पन्न होने के लिए भी सामाजिक सम्बन्ध अत्यन्त आवश्यक हैं। यही कारण है कि समाजशास्त्र के प्रारम्भिक काल से लेकर अब तक के सभी प्रमुख समाजशास्त्री सामाजिक सम्बन्धों को ही समाजशास्त्र की विषय-वस्तु मानते हैं। **वॉन विज** ने सामाजिक सम्बन्धों को समाजशास्त्र की विषय-वस्तु का आधार माना है। आपके अनुसार, "सामाजिक सम्बन्ध ही समाजशास्त्र की विषय-वस्तु का वास्तविक आधार है।''

क्यूबर ने सामाजिक सम्बन्धों के इसी महत्त्व को स्वीकार करते हुए लिखा है, ''समाजशास्त्र को सामाजिक सम्बन्धों के बारे में वैज्ञानिक ज्ञान के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।'' सच तो यह है कि समाजशास्त्र व्यक्ति का सामाजिक प्राणी के रूप में अध्ययन करता है और व्यक्ति सामाजिक सम्बन्धों के मध्य ही सामाजिक प्राणी बनता है। वास्तव में, सामाजिक सम्बन्धों के अभाव में व्यक्ति का सामाजिक विकास सम्भव नहीं है, वह अन्य के साथ सम्बन्धित रहता हुआ ही उनसे बहुत कुछ सीखता है। इस प्रकार सामाजिक सम्बन्धों के मध्य ही उसका समाजीकरण एवं उसके व्यक्तित्व का विकास होता है।

व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के साथ विभिन्न प्रकार के सम्बन्ध स्थापित करता है, जैसे पारिवारिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि, परन्तु इन सभी प्रकार के सम्बन्धों के मूल में सामाजिक सम्बन्ध ही हैं। अन्य शब्दों में, ये सभी प्रकार के सम्बन्ध सामाजिक सम्बन्धों की ही विभिन्न रूपों में अभिव्यक्ति है। समाजशास्त्र इन्हीं मानवीय अन्तर्सम्बन्धों की विवेचना करता है, सामाजिक सम्बन्धों के एक अंग के रूप में व्यक्ति का अध्ययन करता है। **मैकाइवर** एवं **पेज** ने ठीक ही कहा है कि ''समाजशास्त्री होने के नाते हमारा सम्बन्ध सामाजिक सम्बन्धों से है, इस कारण नहीं कि वे आर्थिक या राजनीतिक या धार्मिक हैं बल्कि इस कारण कि वे साथ ही 'सामाजिक' भी हैं।''

प्रो. मैकी ने समाजशास्त्र की विषय-सामग्री के रूप में सामाजिक सम्बन्धों के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि ''ऊपरी तौर पर ऐसा मालूम पड़ता है कि सामाजिक प्रक्रियाएँ, सामाजिक संस्थाएँ तथा समाज आदि समाजशास्त्र की वास्तविक अध्ययन सामग्री हैं और अधिकतर समाजशास्त्रीय साहित्य इन्हीं सब विषयों से सम्बन्धित अध्ययनों से भरा पड़ा है, परन्तु यदि ध्यान से विचार किया जाए तो यह स्पष्टत: पता चलता है कि इन सभी तथ्यों एवं सामाजिक प्रक्रियाओं का निर्माण सामाजिक सम्बन्धों के द्वारा ही होता है। अत: चाहे हम स्थिर सामाजिक तथ्यों

नोट

का अथवा परिवर्तनशील तथ्यों का अध्ययन कर रहे हों, हमारा वास्तविक लक्ष्य तो सामाजिक सम्बन्धों के एक विशेष स्वरूप का अध्ययन करना ही होता है।'' स्पष्ट है कि समाजशास्त्र की विषय-सामग्री के अन्तर्गत चाहे विभिन्न विषयों का अध्ययन ही क्यों न किया जाए, परन्तु वास्तव में उन सबका आधार सामाजिक सम्बन्ध ही हैं और समाजशास्त्र में इन्हीं का अध्ययन किया जाता है।

मैकाइवर तथा **पेज** ने लिखा है, ''समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों के विषय में है, सम्बन्धों के इसी जाल को हम समाज कहते हैं।'' अन्य शब्दों में, यह भी कहा जा सकता है कि **समाजशास्त्र समाज का ही व्यवस्थित अध्ययन है।** जब इस शास्त्र में सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है और सामाजिक सम्बन्धों के ताने-बाने या जाल को ही समाज कहा जाता है, तो यह अपने आप ही स्पष्ट हो जाता है कि समाजशास्त्र समाज का ही अध्ययन करने वाला विज्ञान है। वास्तव में, मनुष्य सर्वप्रथम सामाजिक प्राणी है और उसके बाद ही आर्थिक, राजनीतिक या धार्मिक प्राणी है। सामाजिक सम्बन्धों के बीच ही व्यक्ति का सामाजिक जीवन निर्मित होता है। इसके अभाव में एकाकी व्यक्ति की कल्पना की जा सकती है, सामाजिक प्राणी की नहीं। सामाजिक प्राणी के रूप में ही व्यक्ति अन्य के साथ आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित करता है। सहयोगपूर्ण या संघर्षमय सम्बन्धों का आधार भी सामाजिक सम्बन्ध ही है। कहने का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति सामाजिक सम्बन्धों के बीच ही पलता है तथा जीवन की विभिन्न गतिविधियों में भाग लेता है। विभिन्न सामाजिक सम्बन्धों के इस जाल अर्थात् समाज का व्यक्ति के जीवन में सर्वाधिक महत्त्व है और समाजशास्त्र इसी समाज का व्यवस्थित अध्ययन है।

समाजशास्त्र किस प्रकार सामाजिक सम्बन्धों के विषय में है, इसकी विवेचना **मैकाइवर** एवं **पेज** ने इस प्रकार भी की है। आपने सामाजिक सम्बन्धों को समाज कहा है। साथ ही आपने समाज को रीति-रिवाजों और कार्य-प्रणालियों की, अधिकार और पारस्परिक सहायता की, अनेक समूहों और उनके विभाजनों की, मानव व्यवहार के नियन्त्रणों एवं स्वाधीनताओं की व्यवस्था माना है। स्पष्ट है कि समाज के अन्तर्गत रीति-रिवाज, अधिकार, सहयोग, नियन्त्रण एवं स्वाधीनता, आदि तत्व आते हैं। समाज रूपी व्यवस्था के निर्मायक इन सभी तत्वों का आधार सामाजिक सम्बन्ध ही हैं। रीति-रिवाज, अधिकार, सहयोग, नियन्त्रण तथा स्वाधीनता विभिन्न प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों को ही व्यक्त करते हैं। इन सबसे मिलकर ही समाज बनता है। जिसे सामाजिक सम्बन्धों का जाल कहा गया है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों के विषय में है, क्योंकि सामाजिक सम्बन्धों के इसी जाल को समाज कहा गया है, अत: अन्य शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र समाज का व्यवस्थित अध्ययन है।

विभिन्न विद्वानों के विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि समाजशास्त्र की विषय-वस्तु सामाजिक सम्बन्ध ही है। अत: यहाँ यह जानना आवश्यक है कि सामाजिक सम्बन्ध किसे कहते हैं, उनकी क्या विशेषताएँ हैं और उनका निर्माण किन परिस्थितियों में होता है।

सभी प्रकार के सम्बन्धों को प्रमुख रूप से हम दो भागों में बांट सकते हैं : (*i*) भौतिक सम्बन्ध तथा (*ii*) सामाजिक सम्बन्ध।

भौतिक सम्बन्ध (Physical Relationship)

दो बेजानदार वस्तुओं अथवा एक तरफ जीवित प्राणी व दूसरी तरफ बेजानदार वस्तु के बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों को भौतिक सम्बन्ध कहते हैं। पेन तथा कागज, टेबिल व कुर्सी, चुम्बक व लोहा, सूर्य व पृथ्वी तथा आग और धुएं का सम्बन्ध भौतिक सम्बन्ध है। इसी प्रकार से लेखक व पेन, वक्ता एवं माइक तथा श्रोता एवं रेडियो के बीच भी भौतिक सम्बन्ध ही पाया जाता है। भौतिक सम्बन्धों में पारस्परिक जागरूकता (Mutual awareness) नहीं होती है, उनमें मानसिक पक्ष का अभाव होता है। भौतिक सम्बन्धों में एक के अस्तित्व का दूसरे पर प्रभाव पड़ सकता है, किन्तु उनके सम्बन्धों को सामाजिक नहीं कहा जा सकता। भौतिक सम्बन्ध रखने वाली दो वस्तुएँ एक-दूसरे से अर्थपूर्ण रूप से परिचित नहीं होती हैं। पारस्परिक जागरूकता या सहानुभूति से उनके सम्बन्ध निश्चित नहीं होते हैं। पेन कागज के बारे में व टेबिल कुर्सी के बारे में जागरूक नहीं है। लेखक, वक्ता और श्रोता क्रमश: पेन, माइक व रेडियो के बारे में जागरूक हैं, किन्तु पेन, माइक व रेडियो उनके बारे में जागरूक नहीं हैं। इस

प्रकार इन सभी की जागरूकता एकतरफा है, पारस्परिक नहीं है। जब दो वस्तुओं में जागरूकता का अभाव हो या यह जागरूकता एकतरफा हो तो उनके बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों को हम भौतिक सम्बन्ध कहेंगे।

सामाजिक सम्बन्ध (Social Relationship)

दूसरे प्रकार के सम्बन्ध सामाजिक सम्बन्ध हैं। ये सम्बन्ध केवल जीवित प्राणियों में ही पनपते हैं, क्योंकि उनमें ही पारस्परिक जागरूकता पायी जाती है और वे ही परस्पर एक-दूसरे से अर्थपूर्ण रूप से परिचित हो सकते हैं। मित्र-मित्र के, छात्र-छात्र के, पति-पत्नी के तथा मालिक व नौकर के बीच पाये जाने वाले सम्बन्ध सामाजिक सम्बन्ध हैं, क्योंकि वे जीवित, चेतन एवं मानसिक दृष्टि से जागरूक प्राणी हैं। जीवित प्राणियों में ही चेतना व मानसिक स्थिति पायी जाती है। अत: वे ही सामाजिक सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। **सामाजिक सम्बन्धों की यह विशेषता है कि वे अमूर्त होते हैं।** उन्हें न तो माप-तोल सकते हैं और न ही उनका मूर्त आकार या रूप ही होता है। **वे अच्छे या बुरे, सहयोगी एवं संघर्षकारी किसी भी प्रकार के हो सकते हैं।** सामाजिक सम्बन्धों का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, शैक्षणिक, पारिवारिक, मनोरंजनात्मक, सांस्कृतिक आदि सभी प्रकार के सम्बन्ध सामाजिक सम्बन्धों के ही भाग हैं। सामाजिक सम्बन्धों की अन्तर्वस्तु कई प्रकार की हो सकती है जैसे—सहयोग, संघर्ष, यौन आकर्षण, विभिन्नता, कर्तव्यपरायणता अथवा आर्थिक विनिमय आदि। **सामाजिक सम्बन्ध व्यक्ति के अनुकूल अथवा प्रतिकूल हो सकते हैं।**

सामाजिक सम्बन्ध की परिभाषा (Definition of Social Relationship)

सामाजिक सम्बन्धों को परिभाषित करते हुए **मैक्स वेबर** लिखते हैं, ''सामाजिक सम्बन्ध शब्द का प्रयोग अनेक कर्ताओं के ऐसे व्यवहार को स्पष्ट करने के लिए किया जाता है जो अर्थपूर्ण हो तथा एक-दूसरे की क्रियाओं से प्रभावित होता हो।''

वेबर की इस परिभाषा से स्पष्ट है कि सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण करने के लिए (अ) अनेक कर्ता होने चाहिए, (ब) इन कर्ताओं में परस्पर अर्थपूर्ण व्यवहार होना चाहिए तथा (स) ये दूसरे की क्रियाओं से प्रभावित हों तथा एक-दूसरे को प्रभावित भी करें। इस प्रकार एक व्यक्ति जब क्रिया करता है तो वह दूसरे व्यक्ति से प्रत्युत्तर की अपेक्षा भी करता है। इससे क्रिया अर्थपूर्ण हो जाती है जो सामाजिक सम्बन्धों के निर्माण में योग देती है।

थियोडोरसन एवं **थियोडोरसन** लिखते हैं, ''सामाजिक सम्बन्ध दो या दो से अधिक व्यक्तियों के बीच पायी जाने वाली प्रतिमानित (Patterned) सामाजिक अन्त:क्रिया है।'' इस परिभाषा से भी स्पष्ट है कि *(i)* सामाजिक सम्बन्ध बनाने के लिए कम-से-कम दो या अधिक व्यक्ति हों, *(ii)* ये व्यक्ति परस्पर सामाजिक अन्त:क्रिया करें, तथा *(iii)* अन्त:क्रिया का कोई-न-कोई प्रतिमानित रूप विकसित होना चाहिए।

किंग्सले डेविस लिखते हैं, ''सामाजिक सम्बन्ध का अर्थ दो या दो से अधिक व्यक्तियों का आपस में सम्बन्ध ही नहीं है, वरन् इन व्यक्तियों का समूह के साथ सम्बन्ध भी है।'' **मैकाइवर** एवं **पेज** के अनुसार, ''सामाजिक सम्बन्ध में व्यक्ति की मनोवृत्ति तथा वे स्वार्थ आते हैं जिनसे वे सम्बन्धित होते हैं। अत: सामाजिक सम्बन्ध की पूर्ण परिभाषा में इन दोनों की व्याख्या आवश्यक है।''

उपर्युक्त परिभाषा में सामाजिक सम्बन्धों के बारे में तीन बातों पर ज़ोर दिया गया है :

(i) दो या दो से अधिक व्यक्तियों का होना, *(ii)* उनमें सामाजिक अन्त:क्रिया होना, *(iii)* सामाजिक अन्त:क्रिया का प्रतिमानित रूप एवं अर्थपूर्ण प्रभाव होना। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि **जब दो या दो से अधिक व्यक्ति परस्पर अन्त:क्रिया करते हैं, एक-दूसरे को अर्थपूर्ण रूप से प्रभावित करते हैं एवं एक-दूसरे से प्रभावित होते हैं तो वे सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण करते हैं। प्रतिमानित सामाजिक अन्त:क्रियाएँ ही सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण करती हैं।**

सामाजिक सम्बन्धों की विशेषताएँ (Characteristics of Social Relationships)

विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर हम सामाजिक सम्बन्धों की निम्नांकित विशेषताओं का उल्लेख कर सकते हैं :

नोट

1. **अमूर्त** (Abstract)–सामाजिक सम्बन्ध अमूर्त होते हैं। उनका कोई भौतिक आकार नहीं होता है जैसा कि टेबिल-कुर्सी, पंखा, घड़ी, पेन, आदि का होता है। चूंकि सम्बन्ध मानसिक तथ्य हैं, अतः उन्हें महसूस किया जाता है, वस्तुओं की भांति उन्हें नापा-तौला नहीं जा सकता।
2. **जटिल प्रकृति** (Complex Nature)–सामाजिक सम्बन्धों की प्रकृति बड़ी जटिल होती है। यही कारण है कि कई बार इनके बारे में भविष्यवाणी करना बड़ा कठिन हो जाता है। सामाजिक सम्बन्धों की संख्या भी असंख्य है। इन असंख्य सम्बन्धों के ताने-बाने से ही समाज का निर्माण होता है।
3. **अर्थपूर्ण** (Meaningful)–सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया जाता है। ये व्यक्ति एवं समूह के लिए अर्थपूर्ण होते हैं।
4. **अनिश्चित स्वरूप** (Indefinite Forms)–सामाजिक सम्बन्धों का कोई निश्चित स्वरूप नहीं होता। विभिन्न व्यक्तियों के उद्देश्यों, कार्यों, पद एवं भूमिकाओं के अनुसार सामाजिक सम्बन्ध भी अनेक प्रकार के होते हैं। ये आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, शैक्षणिक, मित्रतापूर्ण, विरोधात्मक आदि अनेक प्रकार के हो सकते हैं।
5. **स्थायी एवं अस्थायी प्रकृति** (Permanent and Temporary Nature)–सामाजिक सम्बन्ध स्थायी भी हो सकते हैं, जैसे परिवार के सदस्यों के होते हैं और अस्थायी भी हो सकते हैं, जैसे डाक्टर व मरीज या दुकानदार व ग्राहक के होते हैं। अस्थायी सम्बन्ध थोड़े समय के लिए होते हैं और उद्देश्यों की प्राप्ति के बाद समाप्त हो जाते हैं।
6. **सहयोगी एवं असहयोगी प्रकृति** (Associative and Non-associative Nature)–सामाजिक सम्बन्ध दो व्यक्तियों या समूहों के बीच सहयोग के आधार पर भी निर्मित हो सकते हैं और इनमें विरोध एवं संघर्ष के कारण भी। सम्बन्ध प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष भी हो सकते हैं।

सामाजिक सम्बन्धों के निर्माण की आवश्यक दशाएँ

सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण कुछ परिस्थितियों में ही सम्भव है। वे आवश्यक तत्व या दशाएँ जो सामाजिक सम्बन्धों के निर्माण के लिए आवश्यक हैं, इस प्रकार हैं–जीवित व्यक्ति, सम्पर्क एवं संचार, पारस्परिक जागरूकता तथा सामाजिक अन्त:क्रिया।

1. **जीवित व्यक्ति** (Living Persons)–सामाजिक सम्बन्ध केवल जीवित व्यक्तियों के साथ ही स्थापित किए जा सकते हैं, क्योंकि उनमें ही जागरूकता एवं चेतना होती है और वे ही अर्थपूर्ण सम्बन्ध कायम कर सकते हैं। चेतना केवल मानव में ही नहीं वरन् अन्य प्राणियों में भी होती है, अतः वे भी अर्थपूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। इसीलिए उनके सम्बन्धों को भी सामाजिक सम्बन्धों की श्रेणी में रखा जाता है। दो चींटियों, कुत्तों, बिल्लियों तथा मानव और घोड़े व गाय के अर्थपूर्ण सम्बन्ध को भी सामाजिक सम्बन्ध ही कहा जायेगा। स्पष्ट है कि सामाजिक सम्बन्ध और समाज केवल मानव तक ही सीमित नहीं है, वरन् अन्य प्राणियों में भी पाये जाते हैं। **मैकाइवर** तो कहते हैं कि जहाँ भी जीवन है वहाँ समाज है, किन्तु हम यहाँ मानव के सामाजिक सम्बन्धों एवं समाज तक ही सीमित हैं।
2. **सम्पर्क एवं संचार** (Contact and Communication)–सामाजिक सम्बन्धों के निर्माण के लिए दो या दो से अधिक व्यक्तियों का होना ही पर्याप्त नहीं है वरन् उनके बीच सम्पर्क एवं संचार की व्यवस्था होना भी आवश्यक है। सम्पर्क को परिभाषित करते हुए **गिलिन** एवं **गिलिन** लिखते हैं, ''समाजशास्त्र में सम्पर्क से हमारा तात्पर्य है कि व्यक्ति परस्पर एक-दूसरे को उत्प्रेरित करने की और एक-दूसरे की उत्प्रेरणाओं का अर्थपूर्ण रूप से प्रत्युत्तर देने की स्थिति में है।'' यह सम्पर्क भौतिक एवं मानसिक तथा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष किसी भी प्रकार का हो सकता है, किन्तु मानसिक सम्पर्क ही सामाजिक सम्बन्धों को जन्म देता है। मानसिक सम्पर्क प्रत्यक्ष रूप से आमने-सामने होने पर इशारे, हाव-भाव या बोल-चाल के द्वारा भी हो सकता है और परोक्ष रूप से पत्र, टेलीफोन या सन्देशवाहक के द्वारा भी।
3. **पारस्परिक जागरूकता** (Mutual Awareness)–सामाजिक सम्बन्ध उसी समय बन सकते हैं जब व्यक्तियों के बीच मानसिक अनुभूति या पारस्परिक जागरूकता हो, जब वे परस्पर एक-दूसरे के व्यवहार

नोट

का कोई अर्थ लगाते हों। जागरूकता एक विशिष्ट प्रकार की मानसिक स्थिति होती है जिसके अभाव में सामाजिक सम्बन्ध कायम नहीं हो सकते। जब सामाजिक प्राणी एक-दूसरे से इस प्रकार से व्यवहार करते हैं जो उनके पारस्परिक ज्ञान से निर्धारित होते हैं तो इस प्रकार से निर्धारित सभी सम्बन्धों को सामाजिक सम्बन्ध कहा जाता है। जागरूक अवस्था में दूसरे व्यक्तियों से सम्बन्ध स्थापित करने पर ही सामाजिक सम्बन्ध बनते हैं।

4. **सामाजिक अन्त:क्रिया** (Social Interaction)—सामाजिक सम्बन्धों के निर्माण के लिए व्यक्तियों या समूहों के बीच अन्त:क्रिया का होना भी आवश्यक है। व्यक्ति या समूह जब परस्पर सम्पर्क में आते हैं तो एक-दूसरे को प्रभावित करते एवं एक-दूसरे से प्रभावित होते हैं। इसी दशा को अन्त:क्रिया कहा जाता है। जब ये सामाजिक अन्त:क्रियाएँ बार-बार होती हैं तो वे स्थिर व प्रतिमानित सामाजिक सम्बन्धों को जन्म देती हैं। सामाजिक सम्बन्धों का ही नहीं वरन् अन्य सामाजिक घटनाओं एवं समूहों का आधार भी सामाजिक अन्त:क्रियाएँ ही हैं।

समाज जितना जटिल होता है उतने ही प्रकार के सामाजिक सम्बन्ध पाये जाते हैं। मतदाता का प्रत्याशी से, माता का सन्तान से, कर्मचारी का नियोक्ता से, मित्र का मित्र से—ये सभी सम्बन्ध विभिन्न प्रकार के सम्बन्धों में से ही कुछ सम्बन्ध हैं 'सामाजिक' शब्द बहुत व्यापक है और मनुष्यों के बीच बने विभिन्न प्रकार के सम्बन्धों को हम इसी श्रेणी में रखते हैं। आर्थिक, राजनीतिक, वैयक्तिक, अवैयक्तिक, मित्रतापूर्ण और विरोधपूर्ण सभी सम्बन्ध सामाजिक ही हैं, क्योंकि इन सभी का आधार पारस्परिकता है।

समाजशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र एवं विषय-सामग्री की सीमाएँ

समाजशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र एवं विषय-वस्तु की कुछ प्रमुख सीमाएँ निम्नलिखित हैं :

1. **समाजशास्त्र मानव समाज की आधारभूत विशेषताओं का अध्ययन करता है न** कि पशु समाज की विशेषताओं का।
2. समाजशास्त्र व्यक्ति के **सामाजिक व्यवहारों का अध्ययन** करता है न कि सभी प्रकार के व्यवहारों का।
3. समाजशास्त्र **समाज में व्याप्त सामान्य विशेषताओं एवं सामान्य नियमों का अध्ययन** करता है न कि किसी विशेष समाज की विशिष्ट विशेषताओं या दशाओं का।
4. समाजशास्त्र का अपना एक **पृथक् दृष्टिकोण एवं अध्ययन क्षेत्र है** यद्यपि इसके द्वारा किसी भी घटना को प्रभावित करने वाले विभिन्न कारकों, जैसे आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि का अध्ययन किया जाता है।
5. समाजशास्त्र में **यथार्थ तथ्यों का अध्ययन** किया जाता है। यह वास्तविकता पर जोर देता है, **'क्या है' का अध्ययन करता है, न कि 'क्या होना चाहिए'** का। अन्य शब्दों में, समाजशास्त्र का कल्पना, दर्शन या आदर्श से कोई सम्बन्ध नहीं है।

यहाँ हमें यह भी ध्यान रखना है कि समाजशास्त्र अन्य विज्ञानों की खिचड़ी मात्र नहीं है। यह एक स्वतन्त्र सामाजिक विज्ञान है जिसका अपना एक अध्ययन-क्षेत्र और विषय-सामग्री है।

1.9 समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य (Sociological Perspective)

मनुष्य के चारों ओर समय-समय पर अनेक घटनाएँ घटित होती रहती हैं। इन घटनाओं से प्रभावित होकर उसने इनका अध्ययन प्रारम्भ किया। परिणामस्वरूप कई विज्ञानों का विकास किया गया जिनके द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार की घटनाओं का अध्ययन किया जाने लगा। साथ ही यह भी अनुभव किया गया कि विभिन्न विषयों से सम्बन्धित विज्ञान एक ही घटना या समान घटनाओं का अध्ययन भी करते हैं। प्रश्न यह उठा कि जब समान या एक ही घटना, तथ्य, आंकड़ों एवं सामाजिक वास्तविकताओं का अध्ययन अलग-अलग विज्ञान करते हैं तो ऐसी कौन-सी विशेषताएँ हैं जो विभिन्न विज्ञानों की पृथकता को बनाये रखने में योग देती हैं। इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि प्रत्येक विज्ञान या घटनाओं एवं तथ्यों को देखने समझने का एक अपना नजरिया होता है, एक दृष्टिकोण होता है,

नोट

एक सन्दर्भ परिधि होती है, उसे ही उस विज्ञान का परिप्रेक्ष्य (Prespective) कहा जाता है। उदाहरण के रूप में, अपराधी व्यवहार का अध्ययन समाजशास्त्री सामाजिक दृष्टिकोण (नज़रिया) से, अर्थशास्त्री आर्थिक दृष्टिकोण से, राजनीतिशास्त्री राजनीतिक दृष्टिकोण से, तो मनोवैज्ञानिक मानसिक दृष्टिकोण से या मानसिक कारकों के सन्दर्भ में करने का प्रयत्न करते हैं। स्पष्ट है कि एक ही घटना या तथ्य को विभिन्न विज्ञान पृथक्-पृथक् दृष्टिकोण, नज़रिये या परिप्रेक्ष्य से देखते एवं अध्ययन करते हैं। इन विज्ञानों का परिप्रेक्ष्य एवं सन्दर्भ-परिधि (Frame of Reference) अलग-अलग होते हैं जो उन्हें विशिष्टता या भिन्नता प्रदान करते हैं। समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य को सविस्तार समझने के पूर्व यहाँ परिप्रेक्ष्य का अर्थ जान लेना आवश्यक है।

परिप्रेक्ष्य का अर्थ (Meaning of Perspective)

'पर्सपेक्टिव' (Perspective) जो अंग्रेजी भाषा का शब्द है, का अर्थ **'परिप्रेक्ष्य'** है, पर्सपेक्टिव (परिप्रेक्ष्य) लैटिन भाषा के 'पर्सपैक्ट' (Perspect) से बना है जिसका अर्थ 'सीन थ्रू' (Seen Through) यानि ऊपर से नीचे तक देखना है। अन्य शब्दों में परिप्रेक्ष्य का अर्थ एक सिरे से दूसरे सिरे तक देखना या निरीक्षण करना है। सामाजिक विज्ञानों में इसका अर्थ प्रारम्भ से अन्त तक परीक्षण या अन्वेषण करना है। जब कोई वैज्ञानिक अपने विषय के विशिष्ट उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए किसी तथ्य, घटना या सामाजिक वास्तविकता का अध्ययन विशेष नज़रिये या दृष्टिकोण से करता है तो वह उस विषय का परिप्रेक्ष्य कहलाता है।

सभी विषयों का घटना के अध्ययन का अपना विशेष ढंग, तरीका या दृष्टिकोण होता है। इस ढंग, तरीका या दृष्टिकोण को परिप्रेक्ष्य के नाम से पुकारते हैं। परिप्रेक्ष्य का तात्पर्य अध्ययन के क्रमबद्ध, व्यवस्थित एवं विशिष्ट दृष्टिकोण से है जो एक विषय को अन्य विषयों से विशिष्ट बनाता है। किसी भी घटना या तथ्य के अध्ययन के अनेक आयाम या पहलू होते हैं, अत: उसके व्यवस्थित विश्लेषण के लिए उसे निश्चित सीमा या परिधि में बांधना आवश्यक है। इस हेतु एक घटना के भिन्न-भिन्न सन्दर्भों को अलग-अलग किया जाता है एवं एक सन्दर्भ अथवा अध्ययन का दृष्टिकोण एक विज्ञान या विषय के अन्तर्गत आता है। इससे उसके अध्ययन की सीमा निर्धारित हो जाती है। इसे ही परिप्रेक्ष्य (Perspective) या सन्दर्भ परिधि (Frame of Reference) नाम दिया गया है। यहाँ यह जान लेना भी आवश्यक है कि किसी भी विषय को समझने के लिए उसके परिप्रेक्ष्य, दृष्टिकोण एवं सन्दर्भ परिधि को समझ लेना जरूरी है।

समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य की परिभाषा एवं अर्थ
(Definition and Meaning of Sociological Perspective)

कुछ विद्वानों ने समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य या दृष्टिकोण को इस प्रकार से परिभाषित किया है : **थियोडोरसन** एवं **थियोडोरसन** ने बताया है, "मूल्य, विश्वास, अभिवृत्ति एवं अर्थ व्यक्ति को सन्दर्भ एवं दृष्टिकोण उपलब्ध कराते हैं जिनके अनुसार वह परिस्थिति का निरीक्षण या अवलोकन करता है, परिप्रेक्ष्य कहलाता है।" थियोडोरसन एवं थियोडोरसन के अनुसार परिप्रेक्ष्य एवं सन्दर्भ परिधि एक-दूसरे से निकट रूप से सम्बन्धित हैं और परिप्रेक्ष्य को ठीक से समझने के लिए सन्दर्भ-परिधि को जान लेना भी आवश्यक है। आपने लिखा है, "किसी बिन्दु के दृष्टिकोण, मानदण्ड या अवधारणाओं की व्यवस्था को लेकर कोई व्यक्ति या समूह अपने अनुभव, ज्ञान तथा व्याख्याओं को संगठित करता है, उसे ही सन्दर्भ-परिधि कहा जाता है।" व्यक्ति के मूल्य तथा सामाजिक प्रतिमान (जनरीतियाँ, प्रथाएँ, रूढ़ियाँ, परम्पराएँ, संस्थाएँ) सामाजिक परिस्थिति में उसके अवलोकनों एवं निर्णयों को प्रभावित करते हैं, इन्हें ही सन्दर्भ-परिधि कहते हैं।

जी. ए. लुण्डबर्ग ने बताया है कि हमारी स्थापित आदतों की व्यवस्था ही सन्दर्भ-परिधि के निर्माण में योग देती हैं। आदतों की व्यवस्थाओं को स्पष्ट करते हुए आपने बताया है कि ये लोक-भाषा में होती हैं तथा इन्हें विश्वास, सिद्धान्त या जीवन-दर्शन के नाम से पुकारा जाता है। स्पष्ट है कि परिप्रेक्ष्य मानव द्वारा अपने अध्ययन के उद्देश्यों, सीमाओं एवं सुविधाओं को ध्यान में रखते हुए निर्मित किया गया दृष्टिकोण है।

इलोय चिनोय का मानना है कि किसी भी विषय का परिप्रेक्ष्य उसमें प्रयुक्त होने वाली अवधारणाओं से ज्ञात किया जा सकता है। आपका कहना है कि किसी भी विषय या विज्ञान को समझने के लिए यह जान लेना आवश्यक

है कि उसमें किन-किन मौलिक अवधारणाओं का प्रयोग किया जाता है। यदि हम इन अवधारणाओं को समझ लें तो उस विज्ञान की प्रकृति एवं परिप्रेक्ष्य का जानना हमारे लिए आसान हो जायेगा।

नोट

गुडे एवं **हॉट** का मानना है कि किसी भी घटना, स्थिति या वस्तु का अलग-अलग प्रकार से अध्ययन किया जा सकता है। आपने बताया है कि किसी भी विषय या विज्ञान की परिभाषा, अध्ययन का क्षेत्र, इसकी प्रकृति, सिद्धान्त, अवधारणाएँ आदि उसके परिप्रेक्ष्य को तय करती हैं। प्रत्येक विज्ञान में घटना के सभी पक्षों पर ध्यान केन्द्रित नहीं करके केवल एक पक्ष पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। सभी वैज्ञानिक अपने-अपने विषय के विशिष्ट परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखते हुए किसी एक ही घटना या तथ्य का अध्ययन करते हैं और ज्ञान की वृद्धि में योग देते हैं।

समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य को प्रमुखत: दो भागों में बांटा गया है **: प्रथम,** समाजशास्त्रीय समाज, समूह, सामाजिक अन्त:क्रियाओं, सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक व्यवहार, सामाजिक संरचना, सामाजिक व्यवस्था और इनमें होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन करते हैं। वे यह पता लगाने का प्रयास करते हैं कि इन परिवर्तनों से सामाजिक व्यवस्था, सहयोग, एकीकरण, संगठन, आदि घटते हैं या बढ़ते हैं। वे इस दृष्टि से भी अध्ययन करते हैं कि इनसे कहीं अव्यवस्था, विघटन, असन्तोष, तनाव, संघर्ष आदि तो नहीं बढ़ रहे हैं।

द्वितीय, समाजशास्त्री सामाजिक प्रघटनाओं के अलावा अन्य सभी घटनाओं, तथ्यों या वस्तुओं का अध्ययन समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से करते हैं। वे यह पता लगाने का प्रयत्न करते हैं कि ये अन्य घटनाएँ, तथ्य या वस्तुएँ मानव समाज, समूह, सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक संगठन तथा सामाजिक व्यवहार को किस प्रकार प्रभावित करते हैं। अध्ययन के इस पक्ष पर अनेक समाजशास्त्रियों विशेषत: इलोय, चिनोय, लुण्डबर्ग, गुडे एवं हॉट, आदि ने ज़ोर दिया है।

अब हम यहाँ समाजशास्त्र से घनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाले सामाजिक विज्ञानों जैसे राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, इतिहास, मनोविज्ञान और मानवशास्त्र के दृष्टिकोण या परिप्रेक्ष्य को समझने का प्रयत्न करेंगे और साथ ही यह जानने का प्रयास करेंगे कि वे समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य से किस प्रकार भिन्नता रखते हैं।

राजनीतिशास्त्र की मुख्य रुचि सत्ता के अध्ययन में है। इस शास्त्र के द्वारा राज्य तथा राजकीय प्रशासन के अध्ययन पर विशेष जोर दिया जाता है। राजनीतिशास्त्र संगठित मानव सम्बन्धों का अध्ययन करता है और ये सामाजिक सम्बन्धों का ही एक अंग हैं। **राजनीतिशास्त्री** वस्तु या घटना का अध्ययन इस दृष्टिकोण से करेगा कि उसका शक्ति-सम्बन्धों, सरकार एवं विभिन्न राजनीतिक दलों पर क्या प्रभाव पड़ेगा। जहाँ राजनीतिशास्त्री शक्ति-सम्बन्धों और सरकार को अपने अध्ययन के लिए विशेषत: चुनता है, वहाँ समाजशास्त्री राजनीतिक व्यवहार में रुचि लेता है, जैसे वोट देने सम्बन्धी व्यवहार में, विभिन्न राजनीतिक मामलों के बारे में सामान्य अभिवृत्तियों और मूल्यों में, राजनीतिक आन्दोलनों एवं ऐच्छिक संगठनों की सदस्यता तथा निर्णय लेने की प्रक्रिया आदि में। समाजशास्त्र में सभी प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है। समाजशास्त्र सरकार सहित विभिन्न संस्थाओं के अन्तर्सम्बन्धों के अध्ययन पर जोर देता है जबकि राजनीतिशास्त्र सरकार के अन्तर्गत चलने वाली प्रक्रिया के अध्ययन से सम्बन्धित है। कई ऐसे विषय हैं जिनका राजनीतिशास्त्रियों एवं समाजशास्त्रियों दोनों ने अध्ययन किया है, किन्तु उनके परिप्रेक्ष्य में भिन्नता रही है।

अर्थशास्त्र के अन्तर्गत मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं या व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। अर्थशास्त्र को वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन एवं वितरण का अध्ययन भी कहा जाता है। इस शास्त्र के द्वारा व्यक्ति के धन के उत्पादन व वितरण और उपभोग से सम्बन्धित व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। धन से सम्बन्धित मानवीय क्रियाओं या गतिविधियों को प्रमुखता देने का कारण यह है कि धन आवश्यकताओं एवं इच्छाओं की पूर्ति का प्रमुख साधन है। **अर्थशास्त्री** किसी वस्तु का अध्ययन आर्थिक दृष्टिकोण से करेगा, वह यह पता लगाने की कोशिश करेगा कि वह वस्तु कितने में खरीदी और कितने में बेची गयी तथा उससे बेचने वाले को क्या लाभ या हानि हुई। अर्थशास्त्रियों की आर्थिक घटनाओं के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करने की क्षमता अपूर्ण होती है और इसका कारण यह है कि वे व्यक्तिगत प्रेरणाओं या प्रयोजनों तथा संस्थात्मक बाधाओं जैसे कारकों को आवश्यक महत्त्व नहीं दे पाते हैं। समाजशास्त्री अपने विशिष्ट ज्ञान के आधार पर इनका अध्ययन करने में विशेषत: सक्षम हैं। समाजशास्त्री यह भी

देखते हैं कि वस्तुओं की मांग, पूर्ति और कीमत पर प्रतिष्ठा, परम्परा और मूल्यों का क्या प्रभाव पड़ता है, उत्पादन और प्रोत्साहन का क्या सम्बन्ध है आदि।

इतिहास घटनाओं के क्रम को बताता है, भूतकाल की विशिष्ट घटनाओं का वर्णन करता है, उन घटनाओं के कार्य-कारण सम्बन्धों की विवेचना करता है। दूसरे शब्दों में, इतिहास उस समय-क्रम का पता लगाने का प्रयत्न करता है जिसमें विभिन्न घटनाएँ घटित हुईं। व्यवहार का समय क्रमानुसार व्यवस्थित अध्ययन ही इतिहास है। **इतिहासकार** उस क्रम का पता लगाने का प्रयत्न करता है जिसमें विभिन्न घटनाएँ घटित हुईं। दूसरी ओर, समाजशास्त्री एक ही समय में घटित होने वाली घटनाओं के मध्य पाये जाने वाले सम्बन्ध को प्रकट करने में रुचि लेता है। जहाँ इतिहासकार अपने को भूतकाल के अध्ययन तक सीमित रखते हैं, वहाँ समाजशास्त्री समकालीन घटनाओं के अध्ययन को महत्त्व देते हैं। इतिहासकार विभिन्न कालों में संस्थात्मक स्वरूपों जैसे भूस्वामित्व या परिवार में स्त्री-पुरुषों के सामाजिक सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तनों में रुचि नहीं रखते। इस प्रकार के संस्थात्मक स्वरूपों में होने वाले परिवर्तनों और सम्बन्धों पर समाजशास्त्री अपना ध्यान विशेषत: केन्द्रित करते हैं।

नोट

मनोविज्ञान को मस्तिष्क या मानसिक क्रियाओं का विज्ञान माना गया है। जिस प्रकार से समाजशास्त्र का केन्द्रीय विषय समाज और सामाजिक व्यवस्था है, उसी प्रकार से मनोविज्ञान का केन्द्रीय विषय व्यक्तित्व (Personality) है। मनोविज्ञान की रुचि व्यक्ति में है न कि उसकी सामाजिक परिस्थिति में। मनोविज्ञान में संवेगों, प्रेरकों, चालकों, प्रत्यक्ष बोध (Perception), सीखना आदि का अध्ययन किया जाता है जो व्यक्ति को एक निश्चित प्रकार से व्यवहार करने को प्रेरित करते हैं। ये मानसिक प्रक्रियाएँ ही व्यक्तित्व व्यवस्था का निर्माण करती हैं। **मनोवैज्ञानिक** व्यक्तित्व के अध्ययन पर विशेष जोर देते हैं और समाजशास्त्री समाज की सामाजिक व्यवस्था (Social System) के अध्ययन पर। समाजशास्त्र यह जानने का विशेषत: प्रयत्न करता है कि एक समाज में लोग किस प्रकार व्यवहार करते हैं, वह व्यवहार उन लोगों की संस्कृति, उनके सामाजिक संगठन और उनकी परिस्थिति आदि कारकों से कितना प्रभावित होता है तथा साथ ही उस समाज में उस व्यवहार को किस रूप में संगठित किया जाता है। जनमत, भीड़-व्यवहार जैसे दंगे, राजनीति या धर्म के क्षेत्र में जन-आन्दोलन आदि के अध्ययन में समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के बीच का अन्तर समाप्त हो जाता है।

मानवशास्त्र विश्व के किसी भी भाग में निवास करने वाले आदिम मानव के जीवन के सभी पक्षों का अध्ययन करता है। जब हम मानवशास्त्र पर संस्कृति के विज्ञान के रूप में विचार करते हैं तो उस समय मानवशास्र और समाजशास्त्र एक-दूसरे के काफी निकट आ जाते हैं। जहाँ मानवशास्त्र आदिम मानव का अध्ययन करता है, वहाँ समाजशास्त्र अधिक उन्नत सभ्यताओं का। मानवशास्त्री समाजों का अध्ययन उनके समग्र रूप में या उनके विभिन्न पहलुओं को ध्यान में रखते हुए करते हैं, परन्तु समाजशास्त्री किसी समाज के भागों का अध्ययन करते हैं। वे साधारणत: कुछ संस्थाओं जैसे परिवार या किसी प्रक्रिया जैसे सामाजिक गतिशीलता आदि का अध्ययन करते हैं। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि विभिन्न विज्ञानों का अपना-अपना परिप्रेक्ष्य, दृष्टिकोण और अध्ययन का क्षेत्र एवं विषय-वस्तु है। समाजशास्त्र का भी अपना परिप्रेक्ष्य, दृष्टिकोण और अध्ययन-क्षेत्र है। अब हम यहाँ उसी पर चर्चा करेंगे।

समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य (Sociological Perspective)

समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य के अन्तर्गत समाजशास्त्री सामाजिक क्रियाओं, सामाजिक समूहों सामाजिक सम्बन्धों, समूहों, संस्थाओं, व्यवहारों, सामाजिक व्यवस्था, अव्यवस्था, परिवर्तन, आदि सभी के अध्ययन को सम्मिलित करते हैं। समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में सामाजिक घटनाओं का वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन किया जाता है, उन्हें कार्य-कारण के सन्दर्भ में देखा जाता है। इस प्रकार से समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य की प्रकृति वैज्ञानिक है। समाजशास्त्री किसी भी ऐसी संस्था को अपने अध्ययन के अन्तर्गत सम्मिलित कर लेते हैं जो किसी अन्य विषय के अध्ययन-क्षेत्र में नहीं आती हो। यदि कोई विषय-वस्तु या संस्था महत्त्वपूर्ण है तथा उसका अध्ययन किसी अन्य शास्त्र के अन्तर्गत नहीं किया जाता है तो समाजशास्त्र उसके अध्ययन का दायित्व अपने पर ले लेता है। समाजशास्त्र द्वारा नये-नये विषयों या क्षेत्रों को अपने अध्ययन में सम्मिलित करने का मुख्य कारण यह है कि समाजशास्त्री सामाजिक क्रिया की व्यवस्थाओं और उनके अन्त:सम्बन्धों के अध्ययन से सामान्यत: सम्बन्धित होता है। इसी के फलस्वरूप वह

नोट

मानव के सामाजिक जीवन के सभी पहलुओं के अध्ययन में रुचि रखता है, चाहे उनका अध्ययन किसी शास्त्र विशेष के अन्तर्गत आता हो या नहीं आता हो।

समाजशास्त्र अन्य सभी वैज्ञानिक दृष्टिकोणों या परिप्रेक्ष्य के समान इस मान्यता को लेकर चलता है कि प्रकृति में सभी जगह **व्यवस्था** (Order) है जिसका पता लगाया, वर्णन किया और समझा जा सकता है। इसी प्रकार समाजशास्त्र मनुष्य के सामाजिक जीवन में व्याप्त व्यवस्था को खोजने तथा वर्णन और व्याख्या करने का प्रयत्न करता है। इंकल्स ने लिखा है कि समाज में व्यक्ति सैकड़ों-हजारों प्रकार की क्रियाएँ प्रतिदिन करते हैं, लेकिन उनसे कोई व्यवस्था उत्पन्न नहीं होती, बल्कि उन क्रियाओं में एक व्यवस्था पायी जाती है। इस व्यवस्था का ही परिणाम है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्रियाएँ इस प्रकार करता है कि दूसरों के क्रियाएँ करने और लक्ष्यों को प्राप्त करने में बाधा उपस्थित नहीं होती है, यहाँ तक कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के उद्देश्यों की पूर्ति को सरल बनाता है। समाजशास्त्र का मुख्य ध्यान यह स्पष्ट करने पर रहता है कि ऐसा क्यों होता है, विभिन्न व्यक्तियों की अगणित व्यक्तिगत क्रियाओं में समन्वय से सामाजिक जीवन का प्रवाह कैसे चलता रहता है?

समाजों में समय-समय पर **अव्यवस्था** (Disorder) भी देखने को मिलती है। प्रत्येक समाज के जीवन में कोई न कोई ऐसा समय मिल जाता है जब वहाँ लड़ाई-झगड़े दंगे, गृह-युद्ध, हिंसा, अपराध आदि की घटनाएँ काफी बढ़ गयीं। ये घटनाएँ सामाजिक जीवन में व्यवस्था के बजाय अव्यवस्था की स्थिति को व्यक्त करती हैं। व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों ही प्रकार के जीवन में कुछ ऐसी शक्तियाँ कार्य करती रहती हैं जो व्यवस्था बनाये रखने और उसको स्थायित्व प्रदान करने में योग देती हैं। साथ ही कुछ ऐसी शक्तियाँ भी मौजूद रहती हैं जो अव्यवस्था, संघर्ष या विघटन में योग देती हैं। इनमें मौलिक दशा के रूप में व्यवस्था को माना गया है। बिना किसी न किसी प्रकार की व्यवस्था के मनुष्य का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जायेगा। समाजशास्त्र सामाजिक जीवन में व्याप्त व्यवस्था के साथ-साथ अव्यवस्था का अध्ययन भी करता है। समाजशास्त्र में व्यवस्था, अव्यवस्था तथा व्यवस्थित और अव्यवस्थित परिवर्तन का अध्ययन सम्मिलित है। **समाजशास्त्र सामाजिक व्यवस्थाओं में होने वाले परिवर्तनों का वर्णन और विश्लेषण भी करता है।** साथ ही यह उन मौलिक प्रक्रियाओं को भी स्पष्ट करता है जिनसे एक सामाजिक व्यवस्था एक स्थिति से दूसरी में, संगठन की स्थिति में पहुँचती है। **किंग्सले डेविस** ने बताया है कि मौलिक रूप में समाजशास्त्री की रुचि समाजों की व्यवस्थाओं (Systems) के रूप में है और बिना प्रकारों पर ध्यान दिये सामाजिक सम्बन्धों में है। **समाजशास्त्र अपना ध्यान उस तरीके पर केन्द्रित रखता है जिससे समाज अपनी एकता और निरन्तरता प्राप्त करते हैं तथा साथ ही उस तरीके पर भी जिससे वे बदलते हैं।**

समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य को समझाने की दृष्टि से अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जैसे फुटबाल का अध्ययन। इसका अध्ययन अलग-अलग विज्ञानवेत्ता अपने-अपने विज्ञान के दृष्टिकोण से करेंगे। भौतिकशास्त्री, प्राणिशास्त्री, वनस्पतिशास्त्री, अर्थशास्त्री, आदि का दृष्टिकोण एक-दूसरे से भिन्न होगा। समाजशास्त्र खेल के मैदान में सामाजिक सम्बन्धों की दृष्टि से, प्राथमिक समूह, सहयोग, संघर्ष, प्रतिस्पर्धा के दृष्टिकोण से, विभिन्न खिलाड़ियों की प्रस्थिति और भूमिका के रूप में और समग्र रूप में अलग-अलग खिलाड़ियों की क्रियाओं के आधार पर पायी जाने वाली व्यवस्था के रूप में फुटबाल पर विचार करेगा। यही समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य है। यह एक विशेष दृष्टिकोण है जो अन्य विज्ञानों के दृष्टिकोण से भिन्न है। समाजशास्त्री इसी दृष्टिकोण को लेकर विभिन्न वस्तुओं या घटनाओं का अध्ययन करता है यही कारण है कि आज कला का समाजशास्त्र, संगीत का समाजशास्त्र, धर्म का समाजशास्त्र, ज्ञान का समाजशास्त्र, परिवार का समाजशास्त्र, आदि पाये जाते हैं। समाजशास्त्री विशेष दृष्टिकोण से सामाजिक प्रघटना को देखता और उसका अध्ययन तथा विश्लेषण करता है। समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में एक ओर ध्यान सामाजिक सम्बन्धों पर केन्द्रित किया जाता है और दूसरी ओर यह देखने का प्रयास किया जाता है कि किसी वस्तु या प्रघटना का हमारे सामाजिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है। यहाँ पता लगाने का प्रयत्न किया जाता है कि सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक संस्थाओं, सामाजिक समूहों, सामाजिक मूल्यों, सामाजिक प्रस्थिति और भूमिका, सामाजिक प्रक्रिया, सामाजिक नियन्त्रण, समग्र रूप में समाज में व्याप्त व्यवस्था और अव्यवस्था तथा इनमें होने वाले परिवर्तनों को विभिन्न प्रघटनाएँ किस प्रकार से प्रभावित करती हैं। यही समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य है। अन्य सामाजिक विज्ञानों के परिप्रेक्ष्य के सन्दर्भ में उपर्युक्त विवेचन से समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य स्वत: ही स्पष्ट है।

यह परिप्रेक्ष्य राजनीतिशास्त्री, अर्थशास्त्री, इतिहासकार, मनोवैज्ञानिक, मानवशास्त्री आदि के परिप्रेक्ष्य से भिन्न है। समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य को प्रमुखतः दो भागों में बांटा जा सकता है :

(*i*) वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य, (*ii*) मानवतावादी परिप्रेक्ष्य।

नोट

समाजशास्त्र के सन्दर्भ में जब हम परिप्रेक्ष्य (Perspective) की बात करते हैं तो इसका तात्पर्य यह है कि इसके अध्ययन में विश्लेषण की इकाई को एक विशेष दृष्टि से देखा जाए। किसी भी घटना के अस्तित्व एवं गतिविधि से सम्बन्धित कई आयाम हो सकते हैं। घटना का अवलोकन करने वाला अध्ययनकर्ता इनमें से किसी विशिष्ट आयाम पर ध्यान केन्द्रित करता है और शेष को नज़र-अन्दाज कर देता है। उसकी यह प्रवृत्ति ही उसके विशेष परिप्रेक्ष्य को बतलाती है। समाजशास्त्र में विश्लेषण की इकाइयाँ, समाज एवं उसके व्यवहार के भिन्न-भिन्न रूप होते हैं। इनके विश्लेषण के लिए अध्ययन की इकाई के चारों ओर कई परिप्रेक्ष्यों का विकास होता है। अध्ययनकर्ता किसी विशेष परिप्रेक्ष्य को अपनाते हुए समाज, सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक व्यवहारों तथा सामाजिक प्रघटनाओं को समझने का प्रयास करता है।

यदि हम समाजशास्त्रियों के कार्यों एवं विचारों पर दृष्टि डालें तो पता चलेगा कि कुछ ने अपने अध्ययनों में वैज्ञानिक पद्धतियों का सावधानीपूर्वक प्रयोग किया। तथ्यों को ठीक उसी रूप में चित्रित किया जिस रूप में वे हैं, उनका ठीक से वर्गीकरण किया तथा निष्कर्ष प्रस्तुत किये। कुछ ने अपनी अन्तर्दृष्टि पर निर्भर रहते हुए समाज के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिख डाला तथा अनेक सामान्यीकरण कर डाले। इस प्रकार के अध्ययनों में वैज्ञानिक पद्धति का कहीं भी सहारा नहीं लिया गया, ये आनुभविक प्रमाणों पर आधारित नहीं थे। एलेक्स इन्कल्स (Alex Inkeles) ने ठीक ही लिखा है कि वैज्ञानिक इस मामले में विभाजित रहे हैं कि क्या समाजशास्त्र विज्ञान हो सकता है, इसकी पद्धतियाँ सहानुभूतिपूर्ण समझ की होनी चाहिए या नियन्त्रित प्रयोग की, क्या समाजशास्त्री को सिद्धान्त रचना करनी चाहिए या तथ्यों की खोज करनी चाहिए, क्या समाजशास्त्र राजनीतिक दृष्टि से संलग्न होना चाहिए या उसे मूल्य-स्वतन्त्र होना चाहिए। इन प्रश्नों के सम्बन्ध में समाजशास्त्री जो कुछ निर्णय लेते हैं, उसका समाजशास्त्रीय जांच के प्रकार पर गहरा प्रभाव पड़ता है। स्पष्ट है कि समाजशास्त्र के परिप्रेक्ष्य के सम्बन्ध में समाजशास्त्रियों में मत-भिन्नता रही है। समाजशास्त्र में दो परिप्रेक्ष्यों की प्रधानता रही है **: प्रथम,** वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य (Scientific Perspective) की तथा **द्वितीय,** मानवतावादी या मानवीय परिप्रेक्ष्य (Humanistic Perspective) की; इन दोनों ही परिप्रेक्ष्यों पर हम यहाँ विचार करेंगे।

(1) समाजशास्त्र का वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य (Scientific Perspective of Sociology)

समाजशास्त्र के जन्मदाता **फ्रांस के ऑगस्त कॉम्ट** ने समाजशास्त्रीय विश्लेषण में वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य का सहारा लिया। स्पेन्सर, इस्माइल दुर्खीम, मैक्स वेबर, परेटो एवं पारसन्स आदि समाजशास्त्रियों ने भी वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य को ही अपनाया। इन विद्वानों का मानना था कि मानवीय व्यवहार कुछ वैज्ञानिक नियमों तथा प्रविधियों के अनुसार सम्पन्न होता है। लोग समान परिस्थितियों में समान रूप से ही व्यवहार करते हैं। उनका यह भी मानना था कि मानवीय आचरण में कार्य-कारण का सम्बन्ध पाया जाता है तथा इसके सम्बन्ध में पूर्वानुमान या भविष्यवाणी की जा सकती है। दुर्खीम द्वारा अपनाया गया अध्ययन का तरीका वैज्ञानिक था जिसके प्रमुख कारण थे—समस्या को परिभाषित करना, यह परिकल्पना करना या उपकल्पना बनाना कि समस्या को कैसे हल किया जाए, इस उपकल्पना की जांच करना एवं परिणामों तथा निकाले गये निष्कर्षों का विश्लेषण करना। दुर्खीम ने अपने अध्ययन में कारण तथा कार्य पर विशेष जोर दिया जो उसके द्वारा अपनाये गये वैज्ञानिक दृष्टिकोण का स्पष्ट प्रमाण है। मैक्स वेबर के अनुसार, सामाजिक विज्ञान मानव के ऐच्छिक तथा अनैच्छिक कार्यों का अध्ययन करने के लिए वैज्ञानिक विधि का सहारा लेते हैं।

रॉबर्ट के. मर्टन (Robert K.Merton) ने बताया है कि समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य को वैज्ञानिक स्वरूप प्राप्त करने हेतु विज्ञान की प्रमुख विशेषताओं को मान्यता देनी होगी। **टॉलकॉट पारसन्स** (Talcott Parsons) ने अपनी वैज्ञानिक पृष्ठभूमि के कारण अपने समाजशास्त्रीय अध्ययनों में वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य को ही अपनाया। आपने प्राकृतिक विज्ञानों एवं सामाजिक विज्ञानों में अन्तर करते हुए बताया कि विषय-वस्तु की दृष्टि से ये एक-दूसरे से भिन्न हैं, परन्तु आपने सामाजिक विज्ञानों में प्राकृतिक विज्ञानों में प्रयुक्त सामान्य पद्धतियों को कार्य में लेने पर जोर दिया।

पारसन्स की मान्यता थी की अवधारणाओं तथा सैद्धान्तिक व्यवस्थाओं को आनुभविक रूप से प्रमाणित किया जाना चाहिए और उनकी इसी मान्यता ने उन्हें, प्रत्यक्षवादी (Positivist) बना दिया।

नोट

वर्तमान काल के भी कुछ ऐसे समाजशास्त्री हुए हैं जिन्होंने समाजशास्त्र में वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य को अपनाया। उदाहरण के रूप में, जैटरवर्ग ने बताया है कि समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रतिपादन में नियमों को उसी प्रकार कठोरता से लागू किया जाना चाहिए जिस प्रकार गणितज्ञ अपने गणना सम्बन्धी सिद्धान्तों की खोज करने में करते हैं। अनेक समाजशास्त्री यह मानते हैं कि समस्त सामाजिक घटनाएँ एवं मानवीय व्यवहार वैज्ञानिक रूप में संचालित होते हैं। इनमें कार्य-कारण का सम्बन्ध पाया जाता है, इनके पीछे कुछ नियम होते हैं। इन नियमों को ध्यान में रखकर ही समाज में इच्छित परिवर्तन लाये जा सकते हैं। वैज्ञानिक पद्धतियों को काम में लेते हुए आनुभविक आधार पर प्राप्त तथ्यों से सामान्यीकरण किये जा सकते हैं, मानवीय व्यवहार के सम्बन्ध में भविष्यवाणी की जा सकती है।

समाजशास्त्र के विकास पर ध्यान देने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इसमें वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य को अपनाते हुए अनेक आनुभविक अध्ययन किये गये तथा कई सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये। सोरोकिन ने बताया है कि 1952 से 1965 के बीच समाजशास्त्र के क्षेत्र में असंख्य अनुसन्धान कार्य हुए तथा तथ्य विश्लेषण व आनुभविक अनुसन्धान हेतु नवीन पद्धतियों का विकास हुआ। कहने का तात्पर्य यह है कि इस समय समाजशास्त्र में पद्धतिशास्त्र पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया गया जिसकी **बर्जर** ने आलोचना की और बताया कि समाजशास्त्री अपने विषय से दूर चले गये और वे मानव समाज के अध्ययन पर पूरी तरह ध्यान देने के बजाय पद्धतिशास्त्र की बारीकियों में उलझ गये। धीरे-धीरे विज्ञानवाद तथा वैज्ञानिक समाजशास्त्र के विरुद्ध आवाज उठने लगी। यह सोचा जाने लगा कि समाजशास्त्र के अध्ययन के लिए वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया जाना चाहिए या सहानुभूति तथा 'वर्सटेहन' नामक नई व्यक्तिपरक पद्धतियों का। क्या समाजशास्त्र में विशुद्ध सिद्धान्त निर्माण पर ही जोर देना चाहिए या समाज की समस्याओं के प्रति भी जागरूक एवं चिन्तित होना चाहिए। इसी समय समाजशास्त्र में एक नवीन परिप्रेक्ष्य का विकास हुआ जिसे मानवतावादी या मानवीय परिप्रेक्ष्य कहते हैं।

(2) समाजशास्त्र का मानवीय या मानवतावादी परिप्रेक्ष्य (Humanistic Perspective of Sociology)

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में परिपक्व औद्योगिक व्यवस्था की नवीन परिस्थितिों एवं समस्याओं के फलस्वरूप समाजशास्त्र का रूप परिवर्तित हुआ। अमेरिकी समाजशास्त्र में मनोवैज्ञानिक तत्व को प्रधानता देते हुए मनुष्य को इच्छा, भावना, उद्देश्य एवं बुद्धि के रूप में परिभाषित किया गया। वहाँ लोगों को नयी व्यावसायिक संरचना के लिए तैयार रहने की प्रेरणा दी गयी और उन सामाजिक समस्याओं की ओर लोगों का ध्यान खींचा गया जो औद्योगीकरण, नगरीकरण तथा प्रवास के कारण उत्पन्न हुईं। इस बदलते हुए सामाजिक परिवेश ने समाजशास्त्र में मानवीय परिप्रेक्ष्य के विकास में योग दिया। यह मानवीय परिप्रेक्ष्य समाजशास्त्र में उन उपागमों की ओर संकेत करता है जो समाज को इसमें रहने वाले लोगों के दृष्टिकोण में समझना चाहते हैं। यह परिप्रेक्ष्य समाजशास्त्र के परम्परागत प्रत्यक्षवादी या वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के विपरीत है। समाजशास्त्र में वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य को सर्वप्रथम चुनौती यूरोप में पिछली शताब्दी के अन्त में डिल्थे (Dilthey) द्वारा आनुभविक परम्परा के विरोध में दी गई। यह चुनौती सामाजिक विज्ञानों में आनुभविक तथा प्रत्यक्षवादी परम्पराओं को दी गयी जिसमें समाजशास्त्र में कॉम्ट तथा दुर्खीम भी शामिल हैं।

अमेरिका में डिल्थे से मिलता-जुलता दृष्टिकोण चार्ल्स कूले का विशेषत: प्रथम विश्व-युद्ध के बाद बना। अमेरिका में समाजशास्त्र को प्रत्यक्षवादी के बजाय आनुभविक दृष्टिकोण से परिभाषित किया गया। अपनी आनुभविक कमियों को पूर्ण करने के लिए समाजशास्त्र तथ्य एकत्रित करने में लग गया अर्थात् उस समय बहुत-से सिद्धान्त (Theories) थे, लेकिन 'तथ्य' (Facts) बहुत थोड़े थे। अत: 1920 से 1940 के बीच आनुभविक समाजशास्त्रीय गतिविधि काफी तेज थी। परिवारों, समुदायों, सामाजिक परिवर्तन, अपराध एवं बाल-अपराध, विचलित व्यवहार, जनसंख्या आदि से सम्बन्धित अनेक अध्ययन किये गये। इस समय वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के अनुरूप ऑगबर्न, चैपिन, बर्नार्ड तथा राइस ने प्रयोगों, नियन्त्रित क्षेत्रीय अध्ययनों, तथ्यों की सांख्यिकीय समीक्षा आदि पर जोर दिया। इसके विपरीत थामस, पार्क, लिण्ड्स आदि ने मानवतावादी वैयक्तिक अध्ययन तथा सहभागिक अवलोकन उपागमों पर

नोट

विशेष ध्यान दिया, लेकिन फिर भी इनके अध्ययन प्रमुखत: तथ्यों पर ही आधारित थे। इसी समय नव-प्रत्यक्षवाद (Neo-positivism) का बेन, लुण्डबर्ग तथा हार्ट आदि ने समर्थन किया। इन्होंने वस्तुपरक माप, प्रचालनता तथा निगमनात्मक सिद्धान्त (Deductive theory) पर जोर दिया। इस नव प्रत्यक्षवाद का विरोध यूरोप के मानववादियों जैसे मैनहीम तथा गुरविच आदि ने किया।

वास्तव में, पिछले कुछ दशकों में विज्ञानवादिता पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया गया। उसी की प्रतिक्रिया के रूप में मानवीय परिप्रेक्ष्य उभर कर सामने आया। मानवीय परिप्रेक्ष्य को लेकर चलने वाले समाजशास्त्रियों ने उन वर्गों, व्यक्तियों एवं समूहों के अध्ययन पर जोर दिया जो काफी समय से उपेक्षित रहे हैं तथा जिन्हें व्यवस्था द्वारा कोई संरक्षण नहीं मिल पाया है। ऐसे उपेक्षित लोगों के अध्ययन के बिना समाजशास्त्रीय ज्ञान अधूरा ही रहेगा। यहाँ लोगों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया गया है कि जहाँ समाजशास्त्र में अधिकांश लोगों का अध्ययन महत्त्वपूर्ण है, वहीं उपेक्षित लोगों, वर्गों एवं समूहों आदि का अध्ययन भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। अत: इस परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखते हुए आगे बढ़ने वाले समाजशास्त्रियों का कहना है कि वैयक्तिक पक्षों का अध्ययन किया जाना चाहिए।

मानविकी परिप्रेक्ष्य में वस्तुपरक (Objective) अध्ययन की बजाय विषयपरक (Subjective) अध्ययन पर जोर दिया गया। समाज के बजाय वैयक्तिक अध्ययन को अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया। मानविकी परिप्रेक्ष्य विज्ञानों में प्रयुक्त पद्धतियों, आंकड़ों के गणनात्मक पक्ष तथा वस्तुपरकता को सामाजिक यथार्थ (Social Reality) को ठीक से समझने में बाधक मानता है। कई बार सामाजिक यथार्थ वस्तुपरक (Objective) नहीं होकर विषयपरक (Subjective) होता है जिसे वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य को अपनाकर समझना सम्भव नहीं है, उसे तो मानविकी परिप्रेक्ष्य में ही सही रूप से समझा जा सकता है। जड़-पदार्थों का अध्ययन तो वस्तुपरकता के साथ किया जा सकता है, किन्तु सामाजिक प्रघटनाओं का अध्ययन पूर्ण वस्तुपरकता के साथ करना सम्भव नहीं है क्योंकि मनुष्य एक संवेदनशील प्राणी है, उसकी भावनाओं, विचारों आदि का प्रभाव तो सामाजिक घटनाओं पर किसी-न-किसी रूप में पड़ता ही है। वह किसी तथ्य या घटना को क्या अर्थ देता है, उसे किस रूप में समझता है, इसका अध्ययन में बहुत महत्त्व है। अत: यहाँ सामाजिक यथार्थ को समझने हेतु बोध या समझ (Understanding) पर विशेष बल दिया जाताहै।

समाजशास्त्र का मानविकी परिप्रेक्ष्य ऐसे अध्ययनों का पक्षधर नहीं है जो व्यवस्था (Establishment) के पोषक हैं। चूंकि व्यवस्था उपेक्षित लोगों के अध्ययन में बाधक है, अत: इस परिप्रेक्ष्य के अन्तर्गत व्यवस्था का विरोध किया जाता है। इसका लक्ष्य समाज में उन मिथ्याओं को सामने लाना या उजागर करना है जिनका आशय लेकर व्यवस्था, मूल्य, संस्था आदि अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं। इस परिप्रेक्ष्य के अन्तर्गत तो विशेष समाज, विशेष समूह, विशेष वर्ग अथवा विशेष व्यक्ति के अध्ययन को महत्त्वपूर्ण माना जाता है। मैक्स वेबर की वर्सटेहेन (Verstehen) पद्धति मानविकी समाजशास्त्र की ही एक पद्धति है जिसमें बोध या समझ पर विशेष ज़ोर दिया जाता है।

मानवीय परिप्रेक्ष्य को ठीक से समझने के लिए मानववाद को समझ लेना भी आवश्यक है। मानववाद शब्द पर हमें सैद्धान्तिक, पद्धतिशास्त्रीय तथा सक्रियतावादी दृष्टिकोण से विचार करना है। सैद्धान्तिक दृष्टि से यह (मानववाद) समाजशास्त्र की मानववादी विषय-वस्तु पर ज़ोर देता है जिसमें जटिल तथा परिवर्तनीय राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमियों के अर्थों एवं मूल्यों पर ध्यान दिया जाता है। पद्धतिशास्त्रीय दृष्टि से मानवीय परिप्रेक्ष्य में विश्वास करने वाले विज्ञान की कठोर अति संयम वाली पद्धति को अनावश्यक मानते हैं, उसे लाभदायक नहीं समझते तथा अधिक ढीले रूप में संयुक्त पद्धतियों जैसे सहभागिक अवलोकन तथा प्रघटनाशास्त्रीय उपागमों का समर्थन करते हैं जो सामाजिक जीवन तथा अन्य प्रघटनाओं में गुणात्मक अन्तर को मान्यता देते हैं। ऐसा मानने वालों में गारफिंकल, लेसर तथा स्ट्रास, जोवर्ग तथा नेट आदि के नाम प्रमुख हैं। इस नवीन परिप्रेक्ष्य के अन्तर्गत यह भी माना जाने लगा कि समाजशास्त्र 'मानव दशा' के अनुरूप प्रासंगिक होना चाहिए। मानविकी दृष्टिकोण में विश्वास करने वालों का कहना है कि मनुष्य समाज के लिए सामाजिक प्राणी नहीं है बल्कि प्राणी के लिए है।

मानववादी समाजशास्त्रियों में वे लोग आते हैं जो स्वयं को काफी संवेदनशील मानव, अवलोकनकर्ता, भागीदार तथा पूर्णत: बुद्धिजीवी मानते हैं। इसके अनुसार समाजशास्त्रियों का प्रमुख दायित्व अपने आपको दिन-प्रतिदिन के मामलों समस्याओं में लगाना है, चाहे वे मामले (समस्याएँ) नैतिक राजनीतिक या सौन्दर्यबोध से सम्बन्धित हों। ये

लोग समाजशास्त्र के लिए ऐसे ही मामलों–समस्याओं की प्रासंगिता पर जोर देते हैं। मानववादी प्रमुख जोर दैनिक घटनाओं में सम्मिलित होने पर देते हैं, जैसे विद्यार्थियों के जीवन में भागीदार बनने पर, अपनी गन्दी बस्तियों को संगठित करने के गरीबों के प्रयत्नों में, या किसी उभरते हुए सामाजिक आन्दोलन में या सैन्य बल पर अधिक खर्च करने के विरोध-स्वरूप प्रदर्शन में भाग लेने पर। मानविकी परिप्रेक्ष्य में नैतिक तटस्थता को ठीक नहीं माना जाता।

नोट

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मानवीय परिप्रेक्ष्य वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के विपरीत परिप्रेक्ष्य है। इसमें वैज्ञानिक पद्धति के अति संयम और नैतिक निष्पक्षता को मान्यता नहीं दी गयी है। इसमें दिन-प्रतिदिन की छोटी-छोटी घटनाओं पर ध्यान दिया जाता है। इसमें उपेक्षित एवं शोषित लोगों तथा कमज़ोर वर्गों के अध्ययन पर जोर दिया जाता हैं इन लोगों के अध्ययन के बिना समाजशास्त्रीय ज्ञान अधूरा ही रहेगा। इस परिप्रेक्ष्य की सहायता से ही सामाजिक यथार्थ (Social Reality) को सही रूप में समझा जा सकता है। इसमें सहभागिक अवलोकन पद्धति अर्थात् घटनाओं में अध्ययनकर्ताओं की भागीदारी को विशेषत: उपयुक्त माना जाता है।

समाजशास्त्र की मानविकी परिप्रेक्ष्य की विशेषताएँ

समाजशास्त्र के मानविकी परिप्रेक्ष्य की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

1. मानविकी परिप्रेक्ष्य वैज्ञानिकवाद, प्रत्यक्षवाद, आनुभविकता, गणनात्मक तथ्यों आदि पर अधिक जोर दिये जाने के विरोध स्वरूप अस्तित्व में आया। यह वैज्ञानिक पद्धति की कठोरता के विरुद्ध है।
2. सामाजिक यथार्थ को ठीक से समझने हेतु मानविकी परिप्रेक्ष्य में वस्तुनिष्ठ (objective) अध्ययन के बजाय विषयनिष्ठ (Subjective) अध्ययन पर ज्यादा बल दिया जाता है। इसका कारण यह है कि वस्तुनिष्ठ अध्ययन में प्रत्येक प्रकार की सामाजिक घटना का सभी पहलुओं से अध्ययन करना सम्भव नहीं है। अत: यहाँ सामाजिक यथार्थ के अन्तर्निहित अर्थ या बोध (Understanding) को विशेष महत्त्व दिया जाता है।
3. मानविकी परिप्रेक्ष्य में यह माना जाता है कि सामाजिक यथार्थ स्थिर नहीं है, उसे निर्मित और पुन:निर्मित किया जा सकता है। इस कार्य को वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य अपनाकर नहीं बल्कि मानविकी परिप्रेक्ष्य अपनाकर ही किया जा सकता है।
4. मानविकी परिप्रेक्ष्य में उपेक्षित वर्ग, शोषित वर्ग, महिलाओं आदि के अध्ययन पर जोर देकर समाजशास्त्रीय ज्ञान के सही उपयोग की महत्ता को दर्शाया गया है।
5. इस परिप्रेक्ष्य में सब प्रकार के पूर्वाग्रहों या पूर्व-स्थापित मान्यताओं से अध्ययनकर्ता अपने आपको मुक्त रखता है ताकि नव-निर्मित सामाजिक यथार्थ की निष्पक्षता का अध्ययन और परीक्षण किया जा सके।
6. मानविकी परिप्रेक्ष्य में केवल समाज के अध्ययन पर ही जोर नहीं दिया जाता बल्कि व्यक्ति के अध्ययन को विशेष महत्त्व दिया जाता है क्योंकि व्यक्ति ही समाज का निर्माता है।
7. मानविकी परिप्रेक्ष्य में सामाजिक प्रतिमानों को प्रतिमानात्मक (normative) के बजाय अर्थ-प्रतिमान के सन्दर्भ में समझने पर जोर दिया जाता है। यहाँ यह देखा जाता है कि लोग विभिन्न परिस्थितियों में सामाजिक प्रतिमानों का स्वयं क्या अर्थ लगाते हैं और उनका किस प्रकार उपयोग करते हैं।
8. मानविकी परिप्रेक्ष्य में स्वयं व्यवस्था और साथ ही व्यवस्था के पोषकों के प्रति विरोधी दृष्टिकोण अपनाया जाता है।
9. इस परिप्रेक्ष्य में अध्ययन हेतु ऐसी पद्धति का सहारा लिया जाता है जो वास्तविकता के अधिक निकट हो, जैसे सहभागिक अवलोकन, डायरियों, पत्रों, आत्मकथाओं एवं जीवनियों आदि का।

मानविकी (मानवीय) परिप्रेक्ष्य के अन्तर्गत सामाजिक यथार्थ के अध्ययन के प्रमुख उपागम

मानविकी (मानवीय) परिप्रेक्ष्य के प्रमुख उपागम निम्नलिखित हैं :

(*i*) एथनोमैथोडोलॉजी, (*ii*) प्रघटनाशास्त्र, (फिनोमिनोलॉजी), (*iii*) आमूल परिवर्तनवादी उपागम, (*iv*) प्रतीकात्मक अन्त:क्रिया।

नोट

(*i*) नृजाति पद्धतिशास्त्र (Ethnomethodology)

यह उपागम समाजशास्त्र में सामाजिक यथार्थ (Social reality) को समझने में नया आयाम प्रस्तुत करता है। इस उपागम ने समाजशास्त्र में कई परम्परागत विचारधाराओं को चुनौती दी है। सर्वप्रथम **गारफिंकल** ने अपनी पुस्तक **'स्टडीज इन एथनोमैथोडोलॉजी'** में इस उपागम को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया। यह उपागम समाजशास्त्र में सामाजिक यथार्थ (Social reality) को समझने में नया आयाम प्रस्तुत करता है। इसमें सामाजिक यथार्थ का निकटता से तथा प्रत्यक्ष रूप में अध्ययन सम्भव है। यह उपागम मानवीय व्यवहार के उन पक्षों के अध्ययन पर ध्यान केन्द्रित करता है जो व्यक्ति के जीवन की दिन-प्रतिदिन की सामान्य क्रियाओं से सम्बन्धित हैं। इस उपागम में निम्नलिखित तीन पक्षों के अध्ययन पर जोर दिया जाता है : (*i*) दिन-प्रतिदिन की सामान्य क्रियाएँ, (*ii*) भाषा का सामाजिक पक्ष, (*iii*) सामाजिक प्रतिमानों का वह पक्ष जो कि व्यक्ति अपने व्यवहार में काम लेता है।

एथनोमैथोडोलॉजी के प्रवर्तक सामाजिक संरचना को प्रदत्त नहीं मानकर परिवर्तनशील प्रघटना मानते हैं। इस उपागम में उस सामाजिक यथार्थ के अध्ययन पर जोर दिया जाता है जिसका निर्माण सामाजिक अन्त:क्रिया के माध्यम से होता है। इस उपागम में व्यक्ति की प्रस्थिति के बजाय उसके भूमिका अदा करने की विशिष्टता अधिक महत्त्वपूण र्ा है। अत: इसकी सहायता से सामाजिक यथार्थ को अधिक उत्तमता के साथ समझा जा सकता है। इस उपागम में प्रश्नावली तथा अनुसूची जैसी अप्रत्यक्ष अध्ययन-पद्धतियों का प्रयोग नहीं कर सहभागिक अवलोकन, डायरियों, आत्मकथाओं आदि प्रविधियों को काम में लाया जाता है। इस उपागम में वस्तुपरक अध्ययन पद्धति, आंकड़ों के गणनात्मक पक्ष तथा सर्वेक्षण प्रणाली को महत्त्व नहीं देकर व्यक्तिपरक (Subjective) अध्ययन, अर्थात् बोध (Understanding) पर विशेष जोर दिया जाता है। इसमें संचार (Communication) अध्ययन का महत्त्वपूर्ण भाग होता है। संचार के लिए लोग भाषा का प्रयोग करते हैं, लेकिन यहाँ भाषा के व्याकरणीय अर्थ पर ध्यान नहीं देकर उसके सामाजिक पक्ष को समझने पर बल दिया जाता है। इस उपागम में सामाजिक प्रतिमानों के व्यावहारिक पक्ष पर ज्यादा जोर दिया जाता है अर्थात् यह देखा जाता है कि व्यक्ति सामाजिक प्रतिमानों को व्यवहार में कैसे लाते हैं। यह उपागम सामाजशास्त्र में वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य को चुनौती देने और मानवीय परिप्रेक्ष्य के महत्त्व को बढ़ाने में सहायक रहा है।

(*ii*) प्रघटनाशास्त्र (Phenomenology)

सामाजिक प्रघटना को समझने हेतु प्रघटनाशास्त्र दर्शन का आश्रय लेता है। इस उपागम में प्रघटना की विषय-वस्तु एवं अध्ययनकर्ता को अलग-अलग बताया गया और कहा गया है कि ये दोनों एक ही नहीं हैं। इस उपागम में अनुभवों को दो स्तरों पर समझने का प्रयत्न किया गया है, प्रथम, सम्मिलित अनुभव (shared experience) तथा द्वितीय, विशिष्ट अनुभव (unique experience) के रूप में। प्रथम प्रकार के अनुभवों के आधार पर सामान्यीकरण किये जा सकते हैं जबकि विशिष्ट अनुभव प्रत्येक व्यक्ति के पृथक्-पृथक् होते हैं। इस उपागम में सामाजिक प्रघटना के अध्ययन हेतु इडियोटिक रिडेक्शन (जड़मति रूपान्तरण) पर बल दिया जाता है। इस उपागम के अनुसार सामाजिक प्रघटना का अध्ययन उस रूप में किया जाना चाहिए जिस रूप की कोई विशिष्ट पहचान किसी स्थिति या परिस्थिति अथवा संरचना विशेष की वजह से होती हो। यदि उसे (सामाजिक प्रघटना) उस स्थिति, परिस्थिति या संरचना विशेष से पृथक् कर दिया जाये तो उसका रूप ही परिवर्तित हो जाता है। फिर उस सामाजिक प्रघटना की पहचान ही कठिन हो जाती है।

(*iii*) आमूल परिवर्तनवादी उपागम (Radical Approach)

आमूल परिवर्तनवादी समाजशास्त्र प्रमुखत: एवं प्रौद्योगिकी के प्रभाव से जनित सामाजिक स्थिति के विरोध स्वरूप उत्पन्न हुआ। यह उपागम व्यवस्था का विरोधी एवं परिवर्तन का समर्थक है। रेडिकल अर्थात् आमूल परिवर्तनवादी विचारधारा 1967 में अमेरिकन सोशियोलॉजिकल एसोसिएशन की वार्षिक बैठक में उभरकर सामने आयी। युद्ध या संघर्ष को आमूल परिवर्तनवादी विचारधारा का आधार माना गया और यह स्पष्ट किया गया कि इसी के माध्यम से परिवर्तन सम्भव है। इस विचारधारा के समर्थकों का कहना था कि समाजशास्त्र में शोषित, उपेक्षित, दलित या कमजोर वर्ग के लोगों के अध्ययन पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। इस वर्ग के लोगों को कभी भी व्यवस्था

का संरक्षण नहीं मिला। इन लोगों का अध्ययन करके समाजशास्त्र ज्ञान का सही उपयोग कर सकता है। आमूल परिवर्तनवादी विचारधारा के समर्थक अमेरिका के समाज में होने वाले भेदभावों तथा सब प्रकार के शोषण के विरुद्ध अपनी आवाज उठाते रहे हैं। वहाँ इस विचारधारा ने विद्यार्थियों, हब्शियों तथा बुद्धजीवियों को काफी प्रभावित किया है। मानववादी परिप्रेक्ष्य के अन्तर्गत आमूल परिवर्तनवादी उपागम का काफी महत्त्व है।

(*iv*) प्रतीकात्मक अन्तःक्रिया (Symbolic Interaction)

यह अन्तःक्रिया का ऐसा स्वरूप है जिसमें कुछ संकेतों, प्रतीकों, चिन्हों आदि का प्रयोग किया जाता है। इस उपागम में व्यक्ति अथवा समूह की भाषा, हाव-भाव या भाव-भंगिमाओं को संचार एवं पारस्परिक अन्तःक्रिया का प्रमुख आधार माना जाता है। इसमें भाषा के व्याकरण या शब्दकोश में उल्लेखित अर्थ को महत्त्व नहीं दिया जाता बल्कि सामाजिक पक्ष पर विशेष ध्यान दिया जाता है। इसमें भाषा के सामाजिक पक्ष को समझने पर जोर दिया गया है।

उपर्युक्त उपागमों से समाजशास्त्र का मानवीय परिप्रेक्ष्य स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है। इन सब उपागमों का विकास प्रमुखतः विज्ञानवादिता या वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के विरोध में हुआ। वर्तमान में समाजशास्त्र में इन दोनों ही उपागमों का अपना-अपना महत्त्व बना हुआ है।

निष्कर्ष—जैसे ही समाजशास्त्र 1970 से आगे बढ़ता है, एक प्रश्न उठता है कि क्या मौजूदा मानवीय-प्रत्यक्षवादी ध्रुवीकरण जारी रहेगा या मानवीय परिप्रेक्ष्य की भूमिका बहुत साधारण हो जायेगी। इस सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं है कि प्रत्यक्षवाद, औपचारिकता तथा गणितीय समाजशास्त्र तेजी से बढ़ रहे हैं। ऐसी पुस्तकों का प्रकाशन जारी है, जिनमें पुरानी व नवीन ऐसी गणनात्मक प्रविधियों का उल्लेख है जो कम्प्यूटर प्रौद्योगिकी के अनुरूप हैं। राष्ट्रीय तथा क्षेत्रीय गोष्ठियों में गणितीय समाजशास्त्र, मॉडल-निर्माण, सिद्धान्त-संरचना आदि पर विचार-विमर्श होता है। प्रत्यक्षवादी समाजशास्त्र का अस्तित्व काफी कुछ बना रहेगा और इसे समाजशास्त्र के एक प्राकृतिक विज्ञान होने के परम्परागत दृष्टिकोण का समर्थन भी मिलता ही रहेगा। इसका कारण यह है कि आज औद्योगिक प्रौद्योगिकी (Industrial Technology) की मांग इसी दिशा में हैं।

मानववादी परिप्रेक्ष्य से सम्बन्धित समाजशास्त्रियों का प्रभाव भी जारी रहेगा और यह बात इस आधार पर कही जा सकती है कि महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों एवं पाठ्य-पुस्तकों में गुणात्मक पद्धति पर जोर दिया गया है। इसके अलावा समाजशास्त्र की कई राष्ट्रीय व क्षेत्रीय स्तर की गोष्ठियों में स्त्रियों, गरीबों, काले लोगों तथा अन्य नृजातीय अल्पसंख्यकों पर विचार किया जाता है। मानववादी समाजशास्त्र का अस्तित्व बना रहेगा, सम्भवतः एक प्रभावी अल्पसंख्यक के रूप में। ऐसा दो कारणों से सम्भव हो सकेगा प्रथम, मानव व्यवहार के सम्बन्ध में परम्परागत मानववादी विचारों से तथा द्वितीय, यूरोप तथा अमेरिका में आमूल परिवर्तनवादी तथा मार्क्सवाद की निरन्तर शक्ति से।

ऐसी सम्भावना है कि निकट भविष्य में वैज्ञानिक एवं मानववादी दोनों ही परिप्रेक्ष्यों का महत्त्व बना रहेगा। किसी एक परिप्रेक्ष्य की दूसरे पर पूर्ण विजय की सम्भावना नहीं है। एक की दूसरे पर विजय का परिणाम तो यह होगा कि एक ही सिद्धान्त-पद्धति (Theory-Method) तथा मूल्य-विचारधारा (Value-Ideology) सम्पूर्ण समाजशास्त्र को आच्छादित कर देगी। एक अच्छा लक्षण यह है कि आज अधिकतर समाजशास्त्री प्रत्यक्षवादी या मानववादी विवाद से पृथक् रहकर अपने-अपने परिप्रेक्ष्य के अनुरूप सीमित क्षेत्र में अध्ययन-कार्य में लगे हुए हैं।

1.10 समाजशास्त्र की प्रकृति एवं महत्त्व (Nature and Importance of Sociology)

कुछ विद्वान समाजशास्त्र को विज्ञान मानते हैं, जबकि कुछ इसे अध्ययन की मानवीय शाखा समझते हैं। आज भी समाजशास्त्रियों में इस सम्बन्ध में मत-भिन्नता पायी जाती है कि समाजशास्त्र विज्ञान है या नहीं अथवा क्या यह कभी विज्ञान भी बन सकता है। **ऑगस्त कॉम्ट** (Auguste Comte) समाजशास्त्र को सदैव एक विज्ञान मानते रहे हैं और आपने तो इसे 'विज्ञानों की रानी' की संज्ञा दी। वास्तव में किसी विषय का विज्ञान होना या विज्ञान माना जाना प्रतिष्ठा-सूचक था। अतः कुछ समाजशास्त्री समाजशास्त्र को विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहते थे। ऐसा प्रयत्न करने वाले विद्वानों में दुर्खीम, मैक्स वेबर तथा परेटो आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

समाजशास्त्र को विज्ञान नहीं मानने वाले विद्वानों का कहना है कि यह विज्ञान कैसे हो सकता है, जबकि इसके पास कोई प्रयोगशाला नहीं है, जब यह अपनी विषय-सामग्री मापने में समर्थ नहीं है और जब यह भविष्यवाणी भी नहीं कर सकता है। साथ ही उनका यह भी कहना है कि सामाजिक प्रघटनाओं की स्वयं की कुछ ऐसी आन्तरिक सीमाएँ हैं जो समाजशास्त्र को एक विज्ञान का दर्जा दिलाने में बाधक हैं। यही बात अन्य सामाजिक विज्ञानों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। इस सम्बन्ध में **बॉटोमोर** ने लिखा है, "सामाजिक विज्ञानों की वैज्ञानिक प्रकृति के विरुद्ध एक सबल तर्क यह दिया गया है कि ये विज्ञान प्राकृतिक नियम से मिलती-जुलती कोई चीज पैदा नहीं कर पाये हैं।" समाजशास्त्र के सम्बन्ध में कुछ थोड़े से समाजशास्त्रियों का कहना है कि इसे एक पृथक् अनुशासन या विषय मानने के बजाय इतिहास या राजनीतिशास्त्र की शाखा मानना ज्यादा उपयुक्त है। **सी. डब्ल्यू. मिल्स** ने समाजशास्त्र को विज्ञान मानने की अपेक्षा एक क्राफ्ट (Craft) मानने का तर्क दिया है। **राबर्ट बीरस्टीड** का कहना है, "समाजशास्त्र का उचित स्थान केवल विज्ञानों में ही नहीं है, वरन् मानवीय मस्तिष्क को स्वतन्त्र बनाने वाले कला के विषयों में भी है।" स्पष्ट है कि समाजशास्त्र की प्रकृति के सम्बन्ध में विवाद पाया जाता है। कुछ लोग इसे विज्ञान मानते हैं, जबकि कुछ अन्य ऐसा नहीं मानते। ऐसी दशा में समाजशास्त्र की वास्तविक प्रकृति को समझने के लिए अर्थात् यह कहने के लिए कि यह विज्ञान है अथवा नहीं, सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि 'विज्ञान' शब्द के अर्थ को भली-भांति समझ लिया जाय। तत्पश्चात् यह निर्णय करना सरल हो जायेगा कि विज्ञान की कसौटी पर समाजशास्त्र खरा उतरता है अथवा नहीं।

क्या समाजशास्त्र एक विज्ञान है (Is Sociology a Science)

समाजशास्त्र एक विज्ञान है क्योंकि इसमें वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया जाता है, अवलोकन विधि की सहायता से तथ्य एकत्रित किये जाते हैं, उन्हें व्यवस्थित और क्रमबद्ध किया जाता है, पक्षपात रहित होकर निष्कर्ष निकाले जाते हैं तथा सिद्धान्तों का निर्माण किया जाता है। **समाजशास्त्र को विज्ञान मानने के प्रमुख आधार या कसौटियां निम्नलिखित हैं :**

1. **समाजशास्त्रीय ज्ञान का आधार वैज्ञानिक पद्धति है**—समाजशास्त्र तथ्यों के संकलन के लिए वैज्ञानिक पद्धति को काम में लेता है। मूर्त और अमूर्त सामाजिक तथ्यों के अध्ययन के लिए समाजशास्त्र विभिन्न वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग करता है। उदाहरण के रूप में, समाजशास्त्रीय ज्ञान प्राप्त करने या तथ्य एकत्रित करने हेतु समाजमिति (Sociometry), अवलोकन पद्धति, अनुसूची अथवा प्रश्नावली पद्धति, सामाजिक सर्वेक्षण पद्धति, वैयक्ति जीवन अध्ययन पद्धति, सांख्यिकीय पद्धति, साक्षात्कार पद्धति, ऐतिहासिक पद्धति आदि का प्रयोग किया जाता है। इनमें से एकाधिक पद्धतियों को काम में लेते हुए सामाजिक घटनाओं का अध्ययन किया जाता है। वैज्ञानिक पद्धति के विभिन्न चरणों का उल्लेख इसी अध्याय के पहले किया जा चुका है। उन्हीं चरणों से गुजरकर समाजशास्त्रीय ज्ञान/सामाजिक तथ्य प्राप्त किये जाते हैं।
2. **समाजशास्त्र में अवलोकन द्वारा तथ्यों को एकत्रित किया जाता है**—समाजशास्त्र को विज्ञान मानने का एक अन्य आधाार अनुसन्धानकर्ता द्वारा तथ्यों के संकलन हेतु प्रत्यक्ष निरीक्षण और अवलोकन करना है। समाजशास्त्र में काल्पनिक या दार्शनिक विचारों को कोई स्थान नहीं दिया जाता। इसमें तो अध्ययनकर्ता स्वयं घटना-स्थल पर पहुँचकर घटनाओं का निरीक्षण और तथ्यों का संकलन करता है। यदि समाजशास्त्री को बाल-अपराध अथवा वेश्यावृत्ति की समस्या का अध्ययन करना है या भीड़ व्यवहार के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करनी है तो वह इनसे सम्बन्धित तथ्यों को स्वयं घटनाओं का अवलोकन करते हुए एकत्रित करेगा।
3. **समाजशास्त्र में तथ्यों का वर्गीकरण एवं विश्लेषण किया जाता है**—असम्बद्ध या बिखरे हुए आंकड़ों या तथ्यों के आधार पर कोई वैज्ञानिक निष्कर्ष निकालना सम्भव नहीं है। सही निष्कर्ष निकालने के लिए यह आवश्यक है कि प्राप्त तथ्यों को व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध किया जाय। इनके लिए तथ्यों को समानता के आधार पर विभिन्न वर्गों में बांटा जाता है। यह कार्य वर्गीकरण के अन्तर्गत आता है। इसके पश्चात् तथ्यों का सावधानीपूर्वक विश्लेषण किया जाता है। समाजशास्त्र को विज्ञान मानने का एक प्रमुख कारण यह है कि इसमें सही निष्कर्षों तक पहुँचने के लिए तथ्यों का वर्गीकरण एवं विश्लेषण किया जाता है।

4. **समाजशास्त्र में 'क्या है' का उल्लेख किया जाता है**—अन्य शब्दों में समाजशास्त्र में वास्तविक घटनाओं की विवेचना की जाती है। यह शास्त्र इस बात पर विचार नहीं करता कि क्या अच्छा है और क्या बुरा है अथवा क्या होना चाहिए और क्या नहीं होना चाहिए। यह तो घटनाओं या तथ्यों का यथार्थ चित्रण करता है, वे जिस रूप में हैं, उनका ठीक वैसा ही चित्रण करता है। यह शास्त्र तो 'क्या है' का ही उल्लेख करता है। उदाहरण के रूप में, यह संयुक्त परिवार प्रथा या जाति-व्यवस्था का प्राप्त तथ्यों के आधार पर ठीक उसी रूप में उल्लेख करता है जिस रूप में वे हैं न कि यह बताने का प्रयत्न कि वे अच्छी हैं या बुरी।
5. **समाजशास्त्र में कार्य-कारण सम्बन्धों की विवेचना की जाती है**—समाजशास्त्र 'क्या है' का वर्णन करके ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता है। इसमें तो घटनाओं, तथ्यों और विभिन्न समस्याओं के कार्य-कारण सम्बन्ध ों को जानने का प्रयत्न किया जाता है। यह शास्त्र तो किसी घटना या समस्या के पीछे कारणों की खोज करता है। यह तो यह मानकर चलता है कि कोई भी घटना जादुई चमत्कार से घटित नहीं होकर कुछ विशिष्ट कारणों से घटित होती है जिनका पता लगाना समाजशास्त्री का दायित्व है। **कार्ल मार्क्स** का वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त एवं दुर्खीम का आत्महत्या का सिद्धान्त कार्य-कारण के सह-सम्बन्ध को स्पष्ट करते हैं।
6. **समाजशास्त्र में सिद्धान्तों की स्थापना की जाती है**—समाजशास्त्र में कार्य-कारण सम्बन्धों की विवेचना की जाती है। तथ्यों या घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्ध ज्ञात किये जाते हैं, वर्गीकरण तथा विश्लेषण किया जाता है और तत्पश्चात् सामान्य निष्कर्ष निकाले जाते हैं। इन निष्कर्षों के आधार पर ही समाजशास्त्रीय सिद्धान्त या वैज्ञानिक नियम बनाये जाते हैं।
7. **समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की पुनर्परीक्षा सम्भव है**—समाजशास्त्र भी भौतिकशास्त्र या रसायनशास्त्र के समान अपने सिद्धान्त या नियमों की परीक्षा एवं पुनर्परीक्षा करने में सक्षम है। इस शास्त्र में वैज्ञानिक पद्धति की सहायता से तथ्य एकत्रित किये जाते हैं और इस पद्धति से प्राप्त तथ्यों की प्रमुख विशेषता यही है कि इनकी प्रामाणिकता की जांच की जा सकती है। समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की जांच करना वास्तव में सम्भव है। उदाहरण के रूप में, तथ्यों के आधार पर प्राप्त इस निष्कर्ष की कि टूटे परिवार बाल-अपराध के लिए काफी सीमा तक उत्तरदायी हैं, अलग-अलग स्थानों पर परीक्षा और पुनर्परीक्षा की जा सकती है।
8. **समाजशास्त्र के सिद्धान्त सार्वभौमिक** (Universal) **हैं**—समाजशास्त्र वैज्ञानिक पद्धति को काम में लेता हुआ जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है, वे सार्वभौमिक प्रकृति के होते है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि परिस्थितियाँ समान रहें तो समाजशास्त्रीय सिद्धान्त विभिन्न समाजों और कालों में खरे उतरते हैं। उदाहरण के रूप में, यह सिद्धान्त सार्वभौमिक रूप से ठीक पाया गया है कि पारिवारिक विघटन सामाजिक विघटन पर आधारित है।
9. **समाजशास्त्र में भविष्यवाणी** (Prediction) **करने की क्षमता है**—समाजशास्त्र इस कारण भी विज्ञान माना जाता है कि यह 'क्या है' के आधार पर 'क्या होगा' बताने में अर्थात् भविष्यवाणी करने में समर्थ है। अन्य शब्दों में, इस शास्त्र में अपने वर्तमान ज्ञान-भण्डार के आधार पर भविष्य की ओर संकेत करने की क्षमता है। समाज में वर्तमान में होने वाले परिवर्तन को ध्यान में रखकर समाजशास्त्र यह बता सकता है कि भविष्य में समाजिक व्यवस्था का रूप क्या होगा, जाति-व्यवस्था किस रूप में रहेगी तथा परिवारों के कौन से प्रकार विशेष रूप से पाये जायेंगे। समाजशास्त्र के मौजूदा ज्ञान के आधार पर कहा जा सकता है कि प्राकृतिक विज्ञानों के समान यह भी भविष्यवाणी करने में काफी सीमा तक समर्थ है।

उपर्युक्त सभी आधारों पर यह कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र एक विज्ञान है, इसमें विज्ञान के सभी आवश्यक तत्व मौजूद हैं। इसकी प्रकृति वैज्ञानिक है।

समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति के विरुद्ध कुछ आपत्तियाँ
(Some Objections Against the Scientific Nature of Sociology)

कुछ विचारकों की मान्यता है कि प्राकृतिक विज्ञानों का लक्ष्य 'कारण सम्बन्धी व्याख्या' प्रस्तुत करना है, जबकि सामाजिक-सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक विज्ञानों का लक्ष्य अर्थ का 'निवर्चन' (Interpretation) करना या उसे समझाना है। वे समाजशास्त्र को विज्ञान मानने से इन्कार करते हैं, इसकी वैज्ञानिक प्रकृति पर आपत्ति उठाते हैं। उनके द्वारा उठायी गयी आपत्तियाँ इस प्रकार हैं :

1. **वैषयिकता (तटस्थता) का अभाव** (Lack of Objectivity)–वैषयिकता तथा तटस्थता का अर्थ पक्षपात-रहित अध्ययन से है। समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति के विरुद्ध एक तर्क यह दिया जाता है कि यह प्राकृतिक विज्ञानों के समान अपनी अध्ययन-वस्तु का वस्तुनिष्ठता के साथ अध्ययन नहीं कर सकता है। इसका कारण यह दिया जाता है कि समाजशास्त्र जिस समाज, जाति, परिवार, धर्म, सामाजिक संस्थाओं, सामाजिक समस्याओं, सामाजिक मूल्यों आदि का अध्ययन करता है, वह स्वयं भी इनमें भागीदार होता है, इनका एक अंग होता है। अत: इन सबके वस्तुनिष्ठ अध्ययन में उसकी स्वयं ही रुचि, रुझान, पूर्वाग्रह तथा व्यक्तिगत विचार बाधक हैं। इसी कारण समाजशास्त्र को एक विज्ञान नहीं माना जाता सकता।

मूल्यांकन–यह तो सही है कि जितनी वैषयिकता या तटस्थता प्राकृतिक विज्ञानों में पायी जाती है उतनी समाजशास्त्र में नहीं पायी जाती है, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि समाजशास्त्र में वैषयिकता का अभाव है। आज समाजशास्त्र ने भी ऐसी पद्धतियों का विकास कर लिया है जिनकी सहायता से व्यक्तिगत पक्षपात को अध्ययन में बाधक बनने से रोका जाता है। इसके उपरान्त भी यदि कोई व्यक्ति अपने अध्ययन में स्वयं की रुचि, इच्छा-अनिच्छा या पक्षपात को महत्त्व देता है तो उनके द्वारा निकाले गये निष्कर्षों को किसी रूप में वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता।

2. **सामाजिक घटनाओं की जटिलता** (Complexity of Social Phenomena)–समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति के विरुद्ध एक आपत्ति यह उठायी जाती है कि समाजशास्त्र सामाजिक प्रघटनाओं का अध्ययन करता है जो काफी जटिल हैं। एक ही सामाजिक प्रघटना अनेक कारणों से घटित होती है और उन सभी कारणों और उनमें से प्रत्येक के सापेक्षिक महत्त्व को निर्धारित करना बहुत कठिन है। समाजशास्त्र के लिए जटिल सामाजिक सम्बन्ध ों और मानवीय व्यवहार का वैज्ञानिक तरीके से अध्ययन करना बहुत कठिन है क्योंकि इनके पीछे अनेक कारक होते हैं जो समय-समय पर बदलते रहते हैं। इसके विपरीत भौतिक विज्ञानों में घटनाओं का अध्ययन करते हुए उनके विभिन्न कारणों को पृथक् किया और प्रत्येक के सापेक्षिक महत्त्व का पता लगाया जा सकता है। सामाजिक प्रघटनाओं की जटिल प्रकृति के सम्बन्ध में **लुण्डबर्ग** ने लिखा है, "मानव समूह व्यवहार से सम्बन्धित एक वास्तविक विज्ञान होने के लिए सम्भवत: एक सबसे बड़ी बाधा इसकी अध्ययन-वस्तु की जटिलता है।" सामाजिक प्रघटनाओं की जटिलता और परिवर्तनशीलता के कारण ही कई विद्वान समाजशास्त्र को विज्ञान मानने से इन्कार करते हैं।

मूल्यांकन–जटिलता किसी भी अध्ययन-वस्तु के विज्ञान कहलाने में बाधक नहीं है यदि अनुसन्धानकर्ता वैज्ञानिक प्रवृत्ति (Scientific Attitude) को बनाये रखते हुए वैज्ञानिक पद्धति को काम में लेते हुए अध्ययन करे। कोई भी घटना या वस्तु उसी समय तक जटिल मालूम पड़ती है जब तक कि उसके सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी या ज्ञान नहीं हो। एक विदेशी भाषा हमारे लिए बहुत जटिल हो सकती है यदि हमें उसके सम्बन्ध में कोई भी ज्ञान नहीं है, परन्तु उसे सीख लेने और उसके सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने लेने पर जटिलता दूर हो जायेगी।

3. **सामाजिक घटनाओं की गतिशील प्रकृति** (Dynamic Nature of Social Phenomena)–समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति के विरुद्ध एक आपत्ति यह उठायी जाती है कि सामाजिक घटनाओं की प्रकृति गतिशील है अर्थात् ये बदलती रहती हैं। अत: इनके अध्ययन के आधार पर वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नहीं है।

मूल्यांकन–यद्यपि यह बात सही है कि सामाजिक घटनाओं की प्रकृति गतिशील है, परन्तु साथ ही यह भी सही है कि भौतिक और प्राकृतिक घटनाओं में होने वाले परिवर्तनों के उपरान्त भी जब उनका वैज्ञानिक तरीके से अध्ययन किया जा सकता है तो ऐसी कोई बात नहीं है कि सामाजिक घटनाओं के क्षेत्र में ऐसा नहीं किया जा सके। साथ ही यह किसी भी दृष्टि से तर्कसंगत नहीं है कि परिवर्तित होने वाली घटनाओं का अध्ययन करने वाला शास्त्र विज्ञान नहीं हो सकता।

4. **सामाजिक घटनाओं में सार्वभौमिकता का अभाव** (Lack of University in Social Phenomena) – समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति के विरुद्ध एक आपत्ति यह उठायी जाती है कि सामाजिक घटनाओं में सार्वभौमिकता, एकरूपता या समानता का अभाव पाया जाता है तथा सामाजिक घटनाओं की कोई भी दो इकाइयाँ पूर्णत: एक-दूसरे के समान नहीं होतीं। प्रत्येक स्थान पर सामाजिक घटनाएँ एक-दूसरे से भिन्नता लिए हुए होती हैं। इसके विपरीत प्राकृतिक घटनाओं में सार्वभौमिकता पायी जाती हैं।

मूल्यांकन–एकरूपता के अभाव के आधार पर घटनाओं का वैज्ञानिक पद्धति से अध्ययन नहीं किये जा सकने की बात अपने आप में तर्कहीन हैं समाज में समानताएँ और भिन्नताएँ दोनों ही पायी जाती हैं, अत: यह कहना गलत है कि सामाजिक घटनाओं में सार्वभौमिकता और एकरूपता का पूर्णत: अभाव पाया जाता है। इसके अलावा समाजशास्त्री भी अन्य वैज्ञानिकों के समान वैज्ञानिक पद्धति के माध्यम से तथ्यों को एकत्रित करता है और उनके आधार पर निष्कर्ष निकालता है। ऐसी स्थिति में यह कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र एक विज्ञान है।

5. **सामाजिक घटनाओं की माप में कठिनाई** (Difficulty in Measurement of Social Phenomena) – समाजशास्त्र को विज्ञान नहीं मानने वालों का कहना है कि सामाजिक घटनाओं की प्रकृति अमूर्त है, गुणात्मक है। अपनी इस प्रकृति के कारण ही सामाजिक घटनाओं को नापा-तोला नहीं जा सकता। इसके विपरीत प्राकृतिक विज्ञानों में नाप-तोल सम्भव है। सामाजिक घटनाओं के सम्बन्ध में निकाले गये अधिकतर निष्कर्ष अनुमान एवं अवलोकन पर ही आधारित होते हैं। अत: उनमें वैज्ञानिकता का अभाव होता है।

मूल्यांकन–समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति के विरुद्ध उपर्युक्त आरोप सही नहीं है। सर्वप्रथम तो विज्ञान के लिए माप आवश्यक तत्व नहीं है, केवल एक सहायक तत्व है। फिर समाजशास्त्र ने भी ऐसी प्रविधियों का विकास कर लिया है जिनकी सहायता से सामाजिक घटनाओं की माप काफी सीमा तक सम्भव है। इसके अलावा जैसे-जैसे किसी विषय से सम्बन्धित ज्ञान के क्षेत्र का विस्तार होता जाता है, उसके साथ ही साथ वह विषय गुणात्मक से अधिकाधिक परिमाणात्मक होता जाता है, अर्थात् उसमें अपनी विषय-सामग्री को मापने की क्षमता बढ़ती जाती है। यही बात समाजशास्त्र के सम्बन्ध में सही है। अत: समाजशास्त्र को विज्ञान नहीं मानना अतार्किक है।

6. **कार्य-कारण सम्बन्ध का अभाव** (Lack of Cause and Effect Relationship)–वैज्ञानिक सदैव यह जानने में रुचि रखते हैं कि कोई वस्तु ऐसी क्यों है अर्थात् वे किसी घटना या कार्य के कारण जानने का प्रयत्न करते हैं किसी भी ज्ञान को विज्ञान कहलाने के लिए उसमें कारणता सम्बन्धी गुण का होना आवश्यक है, यह जानना जरूरी है कि किसी कार्य या घटना के पीछे क्या-क्या कारण हैं। समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति के विरुद्ध आपत्ति यही उठायी जाती है कि इसमें कार्य-कारण सम्बन्ध का अभाव पाया जाता है। स्वयं ऑगस्ट कॉम्ट ने समाजशास्त्र में प्रघटना के अन्तरंग कारणों की खोज को अस्वीकार किया है।

मूल्यांकन–उपर्युक्त आरोप सही नहीं है। आज समाजशास्त्र कार्य-कारण सम्बन्धों का अध्ययन करने की स्थिति में है। मैकाइवर तथा दुर्खीम आदि ने समाजशास्त्र में कार्य-कारण सम्बन्ध की खोज पर विशेष जोर दिया है। दुर्खीम का तो कहना है कि प्रत्येक कार्य (Effect) का सदैव ही एक ही सम्बन्धित कारण होता है।

7. **समाजशास्त्र में प्रयोगशाला नहीं है** (No Laboratory in Sociology)–समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति के विरुद्ध एक प्रमुख आरोप यह लगाया जाता है कि इसके पास भौतिक या प्राकृतिक विज्ञानों के समान अपनी कोई प्रयोगशाला नहीं है जिसमें नियन्त्रित दशाओं में अध्ययन किया जा सके। साथ ही यह भी कहा जाता है कि प्रयोगशाला के अभाव में प्राप्त निष्कर्षों को प्रामाणिक नहीं माना जाता सकता है। **गार्नर** ने लिखा है कि सामाजिक समस्याओं का हल करने तथा अपनी जिज्ञासा को सन्तुष्ट करने के लिए हम समुदाय के किसी एक भाग को हाथ में नहीं ले सकते। उसे विभिन्न दृष्टिकोणों से नहीं देख सकते और न ही उसे भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में रख सकते हैं। स्पष्ट है कि सामाजिक घटनाओं का अध्ययन किसी निश्चित एवं नियन्त्रित प्रयोगशाला में सम्भव नहीं है। भीड़ व्यवहार का अध्ययन करने, विवाह-विच्छेद की वास्तविक स्थिति का पता लगाने, पारिवारिक क्षेत्र में तनावों को ज्ञात करने, सास-बहू के आपसी मन-मुटाव और अपराधियों का अध्ययन करने हेतु किसी प्रयोगशाला में नियन्त्रित परिस्थितियाँ पैदा नहीं की जा सकतीं। ऐसी स्थति में यह कहा जाता है कि समाजशास्त्र द्वारा प्राप्त निष्कर्ष अनुमानों पर आधारित होते हैं और इसी कारण समाजशास्त्र को विज्ञान नहीं माना जा सकता।

नोट

मूल्यांकन–यह बात सही है कि अन्य भौतिक या प्राकृतिक विज्ञानों के समान समाजशास्त्र के पास कोई बन्द कमरे वाली प्रयोगशाला नहीं है। इसका यह अर्थ तो नहीं लगाया जा सकता कि समाजशास्त्र में प्रयोगशाला पद्धति का प्रयोग नहीं किया जा सकता। **गिलिन** और **गिलिन** ने लिखा है, "प्रयोगशाला पद्धति सूक्ष्म या यथार्थ अवलोकन की एक सामान्य प्रणाली मात्र है।" समाजशास्त्र में अवलोकन विधि को काम में लेते हुए तथ्य एकत्रित किये जाते हैं। साथ ही समाजशास्त्र की विषय-सामग्री इस प्रकार की है कि उसे बन्द कमरे या प्रयोगशाला में रखकर अध्ययन करना सम्भव नहीं है। किसी संन्यासी, डाकू और अपराधी का अध्ययन तो उसके चारों ओर की स्वाभाविक परिस्थितियों में ही किया जा सकता है न कि किसी बन्द कमरे में। यह कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र की प्रयोगशाला समाज ही है।

8. **समाजशास्त्र भविष्यवाणी करने में असमर्थ है** (Sociology is Incapable to Prediction)–समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति के विरुद्ध एक आपत्ति यह उठायी जाती है कि यह भविष्यवाणी करने में असमर्थ है। इसके नियम सार्वभौमिक रूप से सत्य नहीं हैं जिन्हें सभी समाजों और कालों में लागू जा सके। इसके विपरीत प्राकृतिक और भौतिक विज्ञानों के नियम सार्वभौमिक रूप से सत्य होते हैं। उदाहरण के रूप में, अग्नि में हाथ देने पर वह जलेगा ही। इसी प्रकार पानी में कागज डालने पर वह गलेगा ही। यह बात सभी स्थानों और कालों के लिए सत्य है। समाजशास्त्रीय नियमों में निश्चयपूर्वक भविष्यवाणी करने की क्षमता का अभाव पाया जाता है। यदि एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को गाली देता या थप्पड़ लगाता है तो उसकी प्रतिक्रिया के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ भी कहना कठिन है। इसका कारण यह है कि उसकी प्रतिक्रिया अनेक कारणों पर निर्भर करती है। वह गाली का जवाब गाली से और थप्पड़ का जवाब मारपीट से दे सकता है और यह भी सम्भव है कि वह शान्त ही रहे। विशेष प्रकार की प्रतिक्रिया उसकी पारिवारिक पृष्ठभूमि, उसकी शिक्षा-दीक्षा, उसके विचारों, भावनाओं, आदर्शों, मूल्यों, सामाजिक पर्यावरण आदि पर निर्भर करती है। यह भी कहा जाता है कि सामाजिक घटनाओं में हर समय परिवर्तन होते रहते हैं, अत: परिवर्तनीय घटनाओं के आधार पर भविष्यवाणी करना कैसे सम्भव है। सामाजिक प्रघटनाएँ इतनी अनिश्चित और परिवर्तनशील होती हैं और साथ ही सामाजिक नियम इतने अपूर्ण और सीमित होते हैं कि उनके आधार पर कोई भविष्यवाणी करना बड़ा कठिन है। यदि कोई भविष्यवाणी कर भी दी जाय तो उसका सत्य सिद्ध होना और भी कठिन है।

मूल्यांकन–समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति के विरुद्ध लगाये गये उपर्युक्त आरोप निराधार हैं। भविष्यवाणी करने की सीमित योग्यता न केवल समाजशास्त्र में बल्कि प्राकृतिक तथा भौतिक विज्ञानों तक में पायी जाती है। उन विज्ञानों के द्वारा निकाले गये कई निष्कर्ष सत्य नहीं होते, कई भविष्यवाणियाँ गलत प्रमाणित होती हैं। पूर्वानुमान या भविष्यवाणी करने की सीमित क्षमता के बावजूद भी जब अन्य सभी विषयों को विज्ञान माना जा सकता है तो समाजशास्त्र को विज्ञान मानने में किसी प्रकार की कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। फिर समाजशास्त्र भी वैज्ञानिक पद्धति की सहायता से प्राप्त तथ्यों के आधार पर ऐसे नियम प्रतिपादित करता जा रहा है जो समाजशास्त्री की भविष्यवाणी करने की क्षमता में दिनों-दिन वृद्धि कर रहे हैं। अत: यह कहा जा सकता है कि भाविष्यवाणी करने की क्षमता समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति में कोई बाधा नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति के विरुद्ध लगाये गये आरोप निराधार हैं। समाजशास्त्र एक विज्ञान है और उसकी प्रकृति वैज्ञानिक है। इतना अवश्य है कि समाजशास्त्र उतना निश्चित विज्ञान नहीं है जितने निश्चित प्राकृतिक या भौतिक विज्ञान हैं। इसी कारण समाजशास्त्र को व्यावहारिक विज्ञान नहीं मानकर एक विशुद्ध या सैद्धान्तिक विज्ञान माना जाता है। **स्टीवर्ट** एवं **ग्लिन** ने लिखा है कि समाजशास्त्र में वे सभी विशेषताएँ पायी जाती हैं जो एक विज्ञान के लिए आवश्यक हैं। ये विशेषताएँ हैं–(*i*) ज्ञान में वृद्धि, (*ii*) वैज्ञानिक विधि द्वारा ज्ञान का संचय, (*iii*) सामान्य नियमों का प्रतिपादन, (*iv*) नियमों की व्यावहारिकता, (*v*) नियमों की सहायता से अपने अध्ययन-क्षेत्र का विस्तार। ये सभी विशेषताएँ समाजशास्त्र में भी मौजूद हैं, अत: यह भी एक विज्ञान है। और इसकी प्रकृति वैज्ञानिक है।

नोट

समाजशास्त्र की वास्तविक प्रकृति (Real Nature of Sociology)

सामाजशास्त्र कैसा विज्ञान है, इसकी वास्तविक प्रकृति क्या है आदि प्रश्नों का उत्तर **राबर्ट बीरस्टीड** ने इस प्रकार दिया है :

1. समाजशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है न कि प्राकृतिक विज्ञान।
2. समाजशास्त्र एक निरपेक्ष या वास्तविक विज्ञान है, न कि आदर्शात्मक विज्ञान।
3. समाजशास्त्र एक विशुद्ध विज्ञान है न कि व्यावहारिक विज्ञान।
4. समाजशास्त्र एक अमूर्त विज्ञान है न कि मूर्त विज्ञान।
5. समाजशास्त्र एक सामान्यीकरण विज्ञान है न कि विशेषीकरण विज्ञान।
6. समाजशास्त्र एक तार्किक और साथ ही अनुभवात्मक विज्ञान है।
7. समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान है, न कि विशेष विज्ञान।

इन दोनों ही सम्प्रदायों से सम्बन्धित विद्वानों ने समाजशास्त्र को अपने-अपने दृष्टिकोण से परिभाषित किया है, परन्तु आज अधिकांश समाजशास्त्री समाजशास्त्र को एक सामान्य विज्ञान मानते हैं। इनके अनुसार, समाजशास्त्र में उन घटनाओं के अध्ययन पर जो दिया जाता है जो सभी मानवीय अन्त:क्रियाओं में सामान्य हैं। ऐसी सभी घटनाओं का अध्ययन करने के कारण ही समाजशास्त्र को एक सामान्य विज्ञान माना गया है।

इन सभी बिन्दुओं पर सविस्तार विचार अध्याय 1 (समाजशास्त्र की परिभाषा, क्षेत्र तथा विषय-वस्तु) में **'समाजशास्त्र के बारे में बीरस्टीड के विचार'** शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है। इस विवेचना से स्वत: ही स्पष्ट है कि समाजशास्त्र की प्रकृति वैज्ञानिक है, समाजशास्त्र एक विज्ञान है। यहाँ हम **पाल एच. लेंडिस** के शब्दों में पुन: कह सकते हैं कि **विज्ञान, विज्ञान ही है चाहे वह भौतिकशास्त्र में हो या समाजशास्त्र में।**

समाजशास्त्र का महत्त्व : भारत के विशेष सन्दर्भ में (Importance of Sociology with Special Reference to India)

भारत जैसे विकासशील देश में समाजशास्त्र के अध्ययन का विशेष महत्त्व है ; जहाँ एक ओर अनेक सामाजिक समस्याएँ पायी जाती हैं और दूसरी ओर जहाँ देश को विभिन्न विकास योजनाओं के माध्यम से प्रगति की ओर आगे बढ़ाना है। यहाँ एक प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि जब समाजशास्त्र एक विशुद्ध विज्ञान है, एक सैद्धान्तिक विज्ञान है, तब इसके ज्ञान की व्यावहारिक उपयोगिता क्या है। इसका उत्तर यही है कि किसी भी विषय या विज्ञान की सैद्धान्तिक उपलब्धियों या बौद्धिक परिणामों का लाभ समाज को अवश्य मिलता है। यही बात समाजशास्त्र के सम्बन्ध में भी सही है। समाजशास्त्र के महत्त्व को विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं :

1. **सम्पूर्ण मानव समाज के बारे में वैज्ञानिक ज्ञान प्रदान करने में सहायक** (Helpful in Providing Scientific Knowledge about entire Human Society)–समाजशास्त्र एक सामान्य सामाजिक विज्ञान है जो अपने को किसी एक विशिष्ट समाज के अध्ययन तक ही सीमित नहीं रखता। इसके द्वारा तो विभिन्न समाजों के अध्ययन के आधार पर व्यवस्थित ज्ञान संकलित किया जाता है। यह ज्ञान सम्पूर्ण मानव समाज को समझने में योग देता है। साथ ही समाजशास्त्र तेजी से बदलते हुए जटिल समाजों की गतिविधियों एवं सामाजिक संरचनाओं के सम्बन्ध में भी वैज्ञानिक ज्ञान प्रदान करता है। समाजशास्त्रीय ज्ञान के आधार पर व्यक्ति का दृष्टिकोण व्यापक बनता है। वह समाजशास्त्र के अध्ययन से अपने रीति-रिवाजों, परम्पराओं, संस्थाओं एवं व्यवहार के तरीकों को ही सर्वश्रेष्ठ नहीं मानकर अन्य समाजों के तौर-तरीकों या जीवन की विधि को भी समान रूप से महत्त्व देता है। इससे विश्व-शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग बढ़ाने में भी सहायता मिलती है। विभिन्न समाजों के सम्बन्ध में प्राप्त ज्ञान, व्यक्ति को सामाजिक प्राणी बनाने में सहायता करता है, व्यक्तित्व के समुचित विकास में योग देता है। समाजशास्त्र के अध्ययन से व्यक्ति को समाज के उद्देश्यों व आदर्शों को समझने में मदद मिलती है और वह उनकी प्राप्ति में योग

भी दे पाता है। इसके अलावा जटिल समाजों को समझने और सामाजिक नीतियों को सफलतापूर्वक लागू करने के लिए भी समाज के सम्बन्ध में वैज्ञानिक जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है। समाज जितना बड़ा होगा और उसमें जितने अधिक विभेद होंगे–जाति, प्रजाति, धर्म, भाषा, प्रान्तीयता आदि के आधार पर जितने ज्यादा अन्तर होंगे, उतनी ही समाज के सम्बन्ध में वैज्ञानिक जानकारी की अधिक आवश्यकता रहेगी। यह जानकारी विभिन्न प्रकार की समस्याओं को समझने, उन्हें हल करने तथा समाज-सुधार में मदद देगी। इस प्रकार समाजशास्त्र के अध्ययन का इस दृष्टि से विशेष महत्त्व है कि यह सम्पूर्ण मानव समाज को समझने में योग देता है।

2. **नवीन सामाजिक परिस्थितियों से अनुकूलन करने में सहायक** (Helpful in Adjustment with New Social Situations)–समाजशास्त्र बदलती हुई परिस्थितियों में व्यक्ति के अनुकूलन को सरल बनाता है। समाजशास्त्रीय ज्ञान व्यक्ति को अपने को और दूसरों को उत्तमता के साथ समझने में योग देता है। व्यक्ति विभिन्न समूह एवं समाजों के तुलनात्मक अध्ययन से प्राप्त ज्ञान की सहायता से बदलती हुई परिस्थितियों में आसानी से समायोजन कर पाता है। समाजशास्त्र व्यक्ति को विभिन्न समूहों, संघों, संस्थाओं और समुदायों के सम्बन्ध में ज्ञान प्रदान करता है और साथ ही सामाजिक जीवन को प्रभावित करने वाली विभिन्न दशाओं से उसे परिचित कराता है। इसके अलावा समाजशास्त्र बदलते हुए सामाजिक मूल्यों, आदर्शों, विश्वासों तथा व्यवहार के नये-नये तरीकों के सम्बन्ध में भी ज्ञान प्रदान करता है। इसी समाजशास्त्रीय ज्ञान की सहायता से व्यक्ति समझ पाता है कि समाज में परिवर्तन किस प्रकार से और क्यों होते हैं ? यह सब जानकारी व्यक्ति के नवीन परिस्थितियों के साथ अनुकूलन में सहायक है जिसके अभाव में व्यक्ति का जीवन विघटित हो सकता है।

3. **समाज में सह-अस्तित्व की भावना का प्रसार करने में सहायक** (Helpful in Extending the Feeling of Co-existence)–समाजशास्त्रीय ज्ञान सह-अस्तित्व की भावना के प्रसार में सहायक है। यह शास्त्र विभिन्न व्यक्तियों, समूहों, समुदायों, समाजों और संस्कृतियों के सम्बन्ध में वैज्ञानिक आधार पर ज्ञान प्रदान करता है। साथ ही यह भी बतलाता है कि मूलरूप में संसार के सभी मानव मेधावी मानव (Homo Sapiens) की सन्तान हैं। अत: किसी एक प्रजाति को अन्य प्रजातियों से श्रेष्ठ या हीन नहीं माना जा सकता। मानव-मानव के बीच पाये जाने वाले अन्तर मूलत: पर्यावरण सम्बन्धी और व्यक्तित्व के विकास सम्बन्धी अन्तरों का परिणाम है। समाजशास्त्रीय ज्ञान के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि प्रजातीय श्रेष्ठता का सिद्धान्त अवैज्ञानिक और भ्रामक है। प्रत्येक व्यक्ति और समूह को इस संसार में रहने और अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं के अनुरूप अपना जीवन बिताने का पूरा-पूरा अधिकार है। भारत जैसे विविधतापूर्ण देश में अनेक धर्मों, जातियों, प्रजातियों, सम्प्रदायों तथा प्रान्तों के लोग साथ-साथ रहते हैं जिनमें कई बार संघर्ष भी होते हुए दिखाई देते हैं। समाजशास्त्र इन अन्तरों के बावजूद भी व्यवहार के ऐसे सामान्य ढंग खोज निकालने में प्रयत्नशील रहा है जो सबको समान रूप से मान्य हों। साथ ही इन सबके सम्बन्ध में वैज्ञानिक जानकारी उपलब्ध कराके समाजशास्त्र ने सहिष्णुता एवं सह-अस्तित्व की भावना के विकास में योग दियाहै।

4. **परम्पराओं के अध्ययन में योग** (Helpful in Studying Traditions)–किसी भी समय की सामाजिक संरचना और व्यवस्था विभिन्न प्रकार के नियमों एवं परम्पराओं पर आधारित होती है। ये नियम और परम्पराएँ व्यक्तियों के व्यवहारों को निर्देशित करती और आचरणों को दिशा देती हैं। समाज विशेष के सामाजिक संगठन को समझने की दृष्टि से वहाँ प्रचलित जनरीतियों, रूढ़ियों और अन्य विविध प्रकार की परम्पराओं को ठीक प्रकार से जानना आवश्यक है। समाजशास्त्र का इस दृष्टि से विशेष महत्त्व है कि इसके द्वारा सामाजिक परम्पराओं का अध्ययन किया जाता है। प्रसिद्ध भारतीय समाजशास्त्री **प्रो. ध ुर्जटी प्रसाद मुखर्जी** ने तो यहाँ तक माना है कि समाजशास्त्र परम्पराओं का अध्ययन है। इसी आधार पर आपने बताया है कि हम उन सामाजिक परम्पराओं का अध्ययन करें जिनसे हमने जन्म लिया है और जिनमें हमारा जीवन व्यतीत होता है। भारतवर्ष में, जो कि एक अति प्राचीन देश है, जिसकी अपनी काफी पुरानी संस्कृति है, परम्पराओं के अध्ययन की विशेष महत्ता है। समाजशास्त्र एक ऐसा सामाजिक विज्ञान

है जो हमारे देश को विभिन्न कालों की परम्पराओं और उनमें होने वाले परिवर्तनों के सम्बन्ध में जानकारी उपलब्ध कराता है। यह जानकारी भारतीय समाज और संस्कृति को समझने में विशेष उपयोगी है।

नोट

5. **राष्ट्रीय एकता में सहायक** (Helpful in National Unity)–आज भारत राष्ट्र के सम्मुख राष्ट्रीय एकता की समस्या एक प्रमुख समस्या है। आज राष्ट्र जाति, प्रजाति, भाषा, धर्म, प्रान्त आदि के आधार पर विभिन्न छोटे-छोटे स्वार्थ-समूहों में विभक्त है। व्यक्ति सम्पूर्ण राष्ट्र या समाज के दृष्टिकोण से नहीं सोचकर अपनी जाति, भाषा या प्रान्त के दृष्टिकोण से सोचता है। परिणामस्वरूप देशवासियों में संकीर्ण दृष्टिकोण पाया जाता है। समाजशास्त्र जातिवाद, भाषावाद, सम्प्रदायवाद, क्षेत्रवाद, आदि के सम्बन्ध में भी यथार्थ जानकारी प्रदान कर व्यक्ति को उदारवादी दृष्टिकोण अपनाने में योग देता है। साथ ही समाजशास्त्र भिन्न-भिन्न समाजों की जनरीतियों, परम्पराओं, संस्थाओं, आदि को समझने में भी सहायता करता है। यह ज्ञान पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण का अन्त करने, व्यक्ति को संकीर्णताओं से छुटकारा दिलाने, उसके दृष्टिकोण को व्यापक बनाने, बन्धुत्व की भावना को विकसित करने, सामाजिक, सांस्कृतिक और भावात्मक एकीकरण करने और राष्ट्रीय एकता को बढ़ाने में योग देता है।

6. **सामाजिक समस्याओं को हल करने में सहायक** (Helpful in solving Social Problems) –आधुनिक जटिल समाजों के सामाजिक संगठनों के जटिल होने अर्थात् जाति, वर्ग, समूह, धर्म, परिवार, राजनीति, आदि के क्षेत्र में विभेदों के बढ़ जाने से अन्त:क्रियाएँ पहले की तुलना में काफी बढ़ गयी हैं। इसके साथ ही साथ आज समाजों में विभिन्न प्रकार की समस्याएँ दिखायी पड़ने लगती हैं। इन समस्याओं को ठीक से समझने के लिए प्रत्येक समाज के सामाजिक संगठन के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है। यह जानकारी समाजशास्त्र ही प्रदान करता है।

   आधुनिक जटिल समस्याओं को केवल आर्थिक या राजनीतिक या एकांगी दृष्टिकोण को अपनाकर नहीं समझा जा सकता। समस्याएँ चाहे आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक या नैतिक किसी भी प्रकार की क्यों न हों, उनके पीछे कुछ सामाजिक कारक पाये जाते हैं, उनके लिए कुछ सामाजिक दशाएं उत्तरदायी हैं। उन सामाजिक दशाओं या कारकों को समझकर ही विभिन्न समस्याओं से छुटकारा प्राप्त किया जा सकता है। इस कार्य में समाजशास्त्र काफी योग देता है। आज भारत में बेकारी, निर्धनता, मद्यपान, जातिवाद, अस्पृश्यता, प्रान्तीयता, भाषावाद, भिक्षावृत्ति, बाल-विवाह, विधवा-विवाह निषेध आदि अनेक समस्याएं पायी जाती हैं। इन्हें व्यक्तिगत प्रयत्नों से नहीं सुलझाया जा सकता है। इन समस्याओं की प्रकृति और कारकों को जानने तथा उनके निराकरण के उपाय सुझाने के लिए समाजशास्त्रीय अध्ययनों की नितान्त आवश्यकता है। इनके अभाव में न तो किसी भी सामाजिक समस्या को वैज्ञानिक आधार पर सही परिप्रेक्ष्य में समझा और न ही उनका निराकरण किया जा सकता है।

7. **व्याधिकीय सामाजिक समस्याओं के निराकरण में सहायक** (Helpful in solving Pathological Social Problems)–वर्तमान समय में अनेक व्याधिकीय समस्याएँ समाज रूपी शरीर को रोग-ग्रस्त किये हुए हैं। आज समाज में अपराध, बाल-अपराध, श्वेतवसन अपराध, आत्महत्या, चोरी, डकैती, काला बाजारी, व्यभिचार, आदि अनेक व्याधिकीय समस्याएँ पायी जाती हैं। समाजशास्त्री अपने विशिष्ट ज्ञान के आधार पर इन समस्याओं के कार्य-कारण सम्बन्धों का पता लगाने में सफल हुए हैं। उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि इन समस्याओं का मूल कारण सामाजिक पर्यावरण जा समाज की अस्वस्थ सामाजिक परिस्थितियाँ हैं। जब तक इन अस्वस्थ परिस्थितियों को नहीं सुधारा जाता, तब तक व्याधिकीय समस्याओं से छुटकारा प्राप्त करना सम्भव नहीं है। आज समाजशास्त्रीय ज्ञान के विकास के फलस्वरूप ही समाजशास्त्र की एक विशेष शाखा अपराधशास्त्र का विकास हो पाया है। अब समाजशास्त्र ने यह स्पष्ट कर दिया है कि अपराधी जन्मजात नहीं होते बल्कि सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों द्वारा बनाये जाते हैं। अत: अपराध से घृणा की जानी चाहिए न कि अपराधी से। अपराधियों को सामाजिक रोगियों के रूप में माना जाने लगा है जिनको सुधारने की आवश्यकता है। समाजशास्त्र की महत्ता इसी से स्पष्ट है कि समाजशास्त्र अपराधी और व्याधिकीय समस्याओं को समझने में वैज्ञानिक दृष्टि प्रदान करता है।

नोट

8. **श्रम समस्याओं के निराकरण में सहायक** (Helpful in solving Labour Problems)—विश्व के विभिन्न राष्ट्रों में औद्योगीकरण तेजी के साथ बढ़ता जा रहा है। आज भारत जैसा कृषि-प्रधान समाज भी औद्योगीकरण की दिशा में आगे बढ़ रहा है। औद्योगिक समाजों में पूंजीपति और श्रमिक वर्ग के बीच तनाव और संघर्ष की स्थिति पायी जाती है। पूंजीपति और श्रमिक वर्ग के हित एक-दूसरे से टकराते हैं। आज औद्योगिक क्षेत्रों में अनेक समस्याएं पायी जाती हैं, जैसे हड़ताल, घेराव, तालाबन्दी, श्रमिक तनाव, काम की अस्वास्थ्यकर दशाएँ, मालिक और मजदूर के झगड़े, उचित मजदूरी की समस्या, कार्यशील महिलाओं की समस्याएँ, आदि। जब तक इन समस्याओं को हल नहीं किया जाता तब तक औद्योगिक क्षेत्र में न तो उत्पादन ही बढ़ाया जा सकता और न ही राष्ट्र को समृद्धिशाली बनाया जा सकता है। इन समस्याओं को समझने और इनके निराकरण में समाजशास्त्र महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। यही कारण है कि आज समाजशास्त्र (Industrial Sociology) का विकास हुआ है। आज भारत में अनेक श्रम-कल्याण सम्बन्धी योजनाएँ चल रही हैं। इन योजनाओं का सफल क्रियान्वयन बहुत कुछ समाजशास्त्रीय ज्ञान पर निर्भर करता है। औद्योगिक क्षेत्र में समाजशास्त्र का महत्त्व इसी से स्पष्ट है कि आज श्रम कल्याण अधिकारी के रूप में औद्योगिक समाजशास्त्र के विद्यार्थियों को प्राथमिकता दी जाती है।

9. **ग्रामीण पुनर्निमाण में सहायक** (Helpful in Rural Reconstruction)—देश की अधिकांश जनसंख्या (74.2 प्रतिशत) आज भी ग्रामों में निवास करती है और ग्राम पिछले करीब 55 वर्षों के नियोजित प्रयत्नों के बावजूद आज भी अनेक समस्याओं से ग्रस्त हैं। ग्रामों में निर्धनता, बेकारी, कृषि का पिछड़ापन, परम्परागत पेशों पर निर्भरता, ऋणग्रस्तता, जातिवाद, ऊँच-नीच, अस्पृश्यता, अन्धविश्वास बाल-विवाह, पर्दा-प्रथा आदि आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक समस्याएँ पायी जाती हैं। इन सब ग्रामीण समस्याओं को उस समय तक नहीं सुलझाया जा सकता जब तक कि ग्रामीण सामाजिक संरचना का समाजशास्त्रीय ढंग से अध्ययन नहीं किया जाता। ग्रामीण समाज के सम्बन्ध में वैज्ञानिक जानकारी प्राप्त करके ही इन समस्याओं की प्रकृति को समझा और इनका निराकरण किया जा सकता है। यही कारण है कि समाजशास्त्र की एक शाखा के रूप में ग्रामीण समाजशास्त्र का महत्त्व दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। समाजशास्त्रीय ज्ञान के आधार पर ग्रामीणों की सामाजिक-सांस्कृतिक परम्पराओं को जानकर ही ग्रामीण पुनर्निर्माण की विभिन्न योजनाओं को सफल बनाया जा सकता है स्पष्ट है कि ग्रामीण पुनर्निर्माण की दृष्टि से समाजशास्त्र की भूमिका काफी महत्त्वपूर्ण है।

10. **नगरीय विकास में सहायक** (Helpful in Urban Development)—वर्तमान समय में औद्योगीकरण की तेज गति के कारण नगरीकरण की प्रक्रिया भी काफी तेजी से चल रही है। शिक्षा, मनोरंजन, चिकित्सा-सुविधा, कचहरी, उद्योग-धन्धे और विभिन्न सुविधाएँ ग्रामीणों को नगरों की ओर आकर्षित करती जा रही हैं। परिण ाामस्वरूप नगरों की जनसंख्या तेजी से बढ़ रही है। जिस गति से औद्योगीकरण और नगरीकरण होता जा रहा है, उसके साथ-साथ विशेषत: नगरों के स्वस्थ और सन्तुलित विकास की समस्या उठ खड़ी हुई है। आज नगरों में अनेक समस्याएं पायी जाती हैं, जैसे घनी बस्तियाँ, भीड़-भाड़युक्त वातावरण, मद्यपान, जुआ, अपराध, बाल-अपराध, भिक्षावृत्ति, वेश्यावृत्ति आदि। वर्तमान में नगरों का भौतिक विकास तो तेजी से साथ होता जा रहा है, परन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से नगर पिछड़ते जा रहे हैं, नैतिकता का ह्रास होता जा रहा है। परिणामस्वरूप नगरों में सांस्कृतिक पिछड़ (Cultural Lag) की स्थिति पायी जाती है जो विभिन्न प्रकार के असन्तुलनों एवं संघर्षों के लिए उत्तरदायी है। इन सब समस्याओं के निराकरण एवं स्वस्थ आधार पर नगरीय विकास के लिए समाजशास्त्रीय ज्ञान का लाभ उठाना अत्यन्त आवश्यक है। यही कारण है कि आज समाजशास्त्र की एक शाखा के रूप में नगरीय समाजशास्त्र (Urban Sociology) का महत्त्व बढ़ता ही जा रहा है।

11. **जनजातीय समस्याओं के उन्मूलन और जनजातीय-कल्याण में सहायक** (Helpful in solving Tribal Problems and in Tribal Welfare)—भारत में जनजातीय या आदिवासी लोगों की जनसंख्या 2001 की जनगणना के अनुसार 8.43 करोड़ है। इनमें से अधिकतर लोग घने जंगलों या पहाड़ी क्षेत्रों में रहते हैं। ये सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक दृष्टिकोण से काफी पिछड़े हुए हैं। ये लोग

आधुनिक सुख-सुविधाओं का लाभ अपनी अज्ञानता एवं निर्धनता के कारण नहीं उठा पाये हैं। इन लोगों की अपनी विशिष्ट प्रकार की समस्याएँ भी हैं। इन्हें सुलझाये बिना इनके जीवन को किसी भी प्रकार उन्नत नहीं किया जा सकता। भारत सरकार जनजातीय समस्याओं के निराकरण और इन लोगों के कल्याण के लिए काफी प्रयत्नशील है। प्रयत्नों की सफलता के लिए आवश्यक है कि जनजातीय समाजों का समाजशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन किया जाये, इनके खान-पान, रहन-सहन, रीति-रिवाज, परम्परा, विश्वास अर्थात् समग्र रूप में विभिन्न जनजातियों की संस्कृतियों को समझा जाये। यह कार्य समाजशास्त्रियों के द्व ारा ही किया जा सकता है। इस दिशा में डॉ. जी. एस. घुरिये, डॉ. डी. एन. मजूमदार, प्रो. एस. सी. दुबे तथा अनेक अन्य समाजशास्त्रियों एवं मानवशास्त्रियों के द्वारा विशेष अध्ययन किये गये हैं। स्पष्ट है कि जनजातीय समस्याओं के निराकरण और जनजातीय कल्याण में समाजशास्त्र का विशेष योगदान है।

12. **सामाजिक नियोजन में सहायक** (Helpful in Social Planning)–अनेक समाजशास्त्रियों ने अपने अध्ययनों के आधार पर यह स्पष्ट कर दिया है कि आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए सामाजिक नियोजन नितान्त आवश्यक है। सामाजिक नियोजन के अन्तर्गत प्रयास के चार क्षेत्र साधारणत: सम्मिलित किये जाते हैं : (*i*) मूलभूत सामाजिक सेवाओं जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य तथा आवास सुविधाओं का विकास, (*ii*) ग्रामीण एवं नगरीय कल्याण तथा न्यूनतम आवश्यक सुविधाओं की व्यवस्था को सम्मिलित करते हुए समाज-कल्याण, (*iii*) समाज के दलित एवं कमजोर वर्गों का कल्याण और (*iv*) सामाजिक सुरक्षा। आज सामाजिक नियोजन सामाजिक परिवर्तन का एक प्रमुख साधन है। सामाजिक नियोजन की सफलता के लिए समाज की सामाजिक संरचना, विभिन्न समूहों, संस्थाओं, प्रथाओं, मूल्यों परम्पराओं, विश्वासों एवं धर्म का ज्ञान आवश्यक है। यह ज्ञान समाजशास्त्र ही प्रदान करता है। समाजशास्त्र यह बताता है कि भारत जैसे प्रजातान्त्रिक देश में लोगों को नवीनता या परिवर्तनों को अपनाने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता, शिक्षा और प्रचार के माध्यम से प्रेरित किया जा सकता है।

13. **पारिवारिक जीवन को सफल बनाने में सहायक** (Helpful in making Family Life a Success) –परिवार समाज की मूलभूत इकाई है और सामाजिक संगठन की दृष्टि से इसका विशेष महत्त्व है। परिवार के क्षेत्र में आज अनेक परिवर्तन हो रहे हैं। साथ ही आधुनिक परिवार के सामने वर्तमान में कई प्रकार की समस्याएँ हैं। आज बहुत से परिवारों में तनाव, संघर्ष और विवाह-विच्छेद तक की समस्याएँ पायी जाती हैं। वर्तमान में पारिवारिक नियमों, आदर्शों एवं मूल्यों में भी परिवर्तन आ रहा है। अब प्रेम-विवाह और अन्तरजातीय-विवाह भी होने लगे हैं। इन सबके सम्बन्ध में जब तक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार नहीं किया जाता, जब तक न तो पारिवारिक समस्याओं से छुटकारा प्राप्त किया जा सकता है और न ही पारिवारिक जीवन को सुखी और सफल बनाया जा सकता है। इन सबके बारे में वैज्ञानिक ज्ञान प्रदान करने का कार्य समाजशास्त्र ही करता है। परिवार की सफलता बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करती है कि इसके सदस्य अपनी भिन्न-भिन्न प्रस्थितियों के अनुरूप कहाँ तक भूमिकाएँ निभाते हैं, कहाँ तक अपने कर्तव्यों का पालन करते हैं। यदि वे परिवार में अपनी भूमिकाएँ ठीक से नहीं निभा पाते हैं, तो वे अपने विशिष्ट समाज के सन्दर्भ में भी अपने दायित्वों के प्रति उदासीनता बरत सकते हैं। सुखी और उत्तरदायी सामाजिक जीवन के लिए सफल पारिवारिक जीवन नितान्त आवश्यक है। पारिवारिक क्षेत्र में व्यक्ति को उसकी प्रस्थिति और भूमिका सम्बन्धी ज्ञान प्रदान करने में समाजशास्त्र महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

14. **प्रजातन्त्र को सफल बनाने में समाजशास्त्र का योगदान** (Contribution of Sociology in making Democracy a Success)–प्रजातन्त्र समानता पर आधारित है, परन्तु आज विश्व के प्रत्येक देश में वर्ग, जाति, प्रजाति, धर्म, भाषा, संस्कृति आदि के आधार पर अनेक भेदभाव या सामाजिक दूरी पायी जाती है। एक ही देश में मनुष्य-मनुष्य के बीच विभिन्न आधारों पर ऊंच-नीच की दीवारें पायी जाती हैं। परिण ाामस्वरूप संकीर्णताएँ पनपती हैं, व्यक्ति अपने संकुचित समूह हित में सोचता है, न कि व्यक्ति-व्यक्ति और सम्पूर्ण राष्ट्र के हित में। ऐसे समाजों में प्रजातान्त्रिक व्यवस्था की सफलता में कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। भारत जैसे प्रजातान्त्रिक देश में भी प्रजातन्त्र के मार्ग में अनेक बाधाएँ हैं। यहाँ जाति, प्रजाति, ध र्म, भाषा, प्रान्त, आदि के आधार पर अनेक भेदभाव पाये जाते हैं। यहाँ जातिवाद, सम्प्रदायवाद, भाषावाद,

नोट

क्षेत्रवाद और प्रान्तीयता देश की भावात्मक एकता में बहुत बड़ी बाधा है। इस भावात्मक एकता के अभाव में प्रजातन्त्र का सफल होना बहुत कठिन है। समाजशास्त्रीय ज्ञान संकीर्णताओं को कम करने और मानव-मानव के बीच ऊँच-नीच की दीवार को समाप्त करने में योग देता है, भावात्मक एकता को सम्भव बनाता है। इसका कारण यह है कि समाजशास्त्र यह मानकर चलता है कि उपर्युक्त सभी भेदभाव मानव-निर्मित हैं, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक पर्यावरण की देन हैं। मूल रूप में समाजशास्त्र समाज को एक प्राकृतिक घटना मानता है। यह ज्ञान प्रजातान्त्रिक व्यवस्था को सफल बनाने में काफी सहायक है।

15. **समाजशास्त्र का व्यावसायिक एवं व्यावहारिक महत्त्व** (Occupational and Applied Importance of Sociology)–समाजशास्त्र का व्यावहारिक महत्व दिनों-दिन बढ़ता ही जा रहा है। आज समाजशास्त्री की सामाजिक इंजीनियर और सामाजिक चिकित्सक के रूप में भूमिका काफी प्रमुख होती जा रही है। सामाजिक इंजीनियर के रूप में सामाजिक नियोजन और विकास योजनाओं के निर्माण और क्रियान्वयन में समाजशास्त्री आजकल प्रमुख भूमिका निभा रहे हैं। यही कारण है कि नियोजक, प्रशासक, समाज-कल्याण अधिकारी, श्रम अधिकारी, प्रोबेशन और पैरोल अधिकारी, खण्ड विकास अधिकारी आदि पदों पर चुनाव में समाजशास्त्र के विद्यार्थियों को प्राथमिकता दी जाती है। मानसिक चिकित्सक के रूप में समाजशास्त्री सामाजिक समस्याओं के सूक्ष्म अवलोकन, विश्लेषण और उनके निराकरण में अपने विशिष्ट ज्ञान के आधार पर महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। **बीरस्टीड** ने लिखा है, "व्यापार, सरकार, उद्योग, नगर नियोजन, प्रजाति सम्बन्धों, सामाजिक कार्य, सर्वेक्षण, प्रशासन एवं सामुदायिक जीवन के अन्य क्षेत्रों में ऐसे समाजशास्त्रियों की मांग खास तौर से बढ़ती जा रही है जो अनुसन्धान कार्य में पूर्णत: प्रशिक्षित हैं।" अब समाजशास्त्र सैद्धान्तिक दृष्टि से काफी परिपक्व हो चुका है और व्यावसायिक एवं व्यावहारिक क्षेत्र में इसका महत्त्व काफी बढ़ता ही जा रहा है। अब समाजशास्त्र का प्रयोग कालेजों और विश्वविद्यालयों के बाहर भी काफी किया जाने लगा है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारत की सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में यहाँ समाजशास्त्र के अध्ययन का विशेष महत्त्व है।

1.11 समाजशास्त्र का अन्य सामाजिक विज्ञानों से सम्बन्ध (Relationship between Sociology with Other Social Sciences)

विज्ञानों को प्रमुखत: दो श्रेणियों में बांटा गया है–(*i*) प्राकृतिक विज्ञान (Natural Sciences) तथा (*ii*) सामाजिक विज्ञान (Social Sciences)। प्राकृतिक विज्ञानों में भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, जीवशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र आदि आते हैं जबकि सामाजिक विज्ञानों में अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, दर्शनशास्त्र, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, मानवशास्त्र आदि। प्राकृतिक विज्ञानों के अन्तर्गत भौतिक जगत या उससे सम्बन्धित घटनाओं का अध्ययन किया जाता है जबकि सामाजिक विज्ञानों में मानवीय क्रियाओं, समाज और सामाजिक घटनाओं का। विभिन्न सामाजिक विज्ञानों में से प्रत्येक के द्वारा समाज-जीवन के किसी न किसी पहलू का अध्ययन किये जाने के कारण उन सभी में पारस्परिक सम्बन्ध का होना स्वाभाविक ही है। जहाँ तक समाजशास्त्र का अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ सम्बन्ध का प्रश्न है, यह कहा जा सकता है कि इन सभी में पारस्परिक आदान-प्रदान का सम्बन्ध है। समाजशास्त्र अन्य सामाजिक विज्ञानों से और सामाजिक विज्ञान समाजशास्त्र से बहुत कुछ ग्रहण करते हैं। विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होने के बावजूद समाजशास्त्र का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। समाज-जीवन से सम्बन्धित बहुत-सी ऐसी बातें या विषय हैं, जैसे–समाज की संरचना, संस्थाएँ, सामाजिक नियन्त्रण, सामाजिक परिवर्तन, हित, प्रतिस्पर्धा, सामाजिक अन्त:क्रिया, संघर्ष, प्रगति, समूह, सम्पर्क, भीड़, अपराध आदि जिनका अध्ययन केवल समाजशास्त्र ही करता है।

प्रत्येक सामाजिक विज्ञान समाज के एक विशिष्ट पहलू का अध्ययन करता है, सम्पूर्ण समाज का नहीं, लेकिन समाज को पूर्णत: पृथक्-पृथक् भागों में नहीं बांटा जा सकता, उसे तो समग्रता या सम्पूर्णता में ही समझा जा सकता है और यह कार्य समाजशास्त्र करता है। इतना हमें अवश्य मानना पड़ेगा कि प्रत्येक सामाजिक विज्ञान समाज

नोट

और मानवीय क्रियाओं का एक विशेष दृष्टिकोण से अध्ययन करता है, प्रत्येक का अपना एक विशिष्ट ध्यानबिन्दु (Focus) होता है। इस दृष्टि से प्रत्येक सामाजिक विज्ञान की अपनी-अपनी विशिष्ट विषय-वस्तु या अध्ययन-सामग्री है और प्रत्येक ने अपनी विशेष अध्ययन-पद्धतियाँ भी विकसित की हैं। यहाँ हमें यह भी ध्यान में रखना है कि सामाजिक जीवन के विशेष पहलू का अध्ययन करने वाले प्रत्येक सामाजिक विज्ञान को विशेष सामाजिक विज्ञान (Special Social Science) और सामाजिक जीवन के सभी पहलुओं का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अध्ययन करने वाले समाज-विज्ञान (समाजशास्त्र) को सामान्य सामाजिक विज्ञान (General Social Science) कहा गया है।

समाजशास्त्र के अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ सम्बन्धों को लेकर विद्वानों में कुछ मतभेद पाया जाता है। कुछ विद्वान केवल समाजशास्त्र को ही समाज का एकमात्र विज्ञान मानते हैं, कुछ समाजशास्त्र को अन्य सामाजिक विज्ञानों के समन्वय का परिणाम मानते हैं, जबकि कुछ इसे अन्य सामाजिक विज्ञानों के समान एक पृथक् विज्ञान के रूप में महत्ता प्रदान करते हैं। **यहाँ समाजशास्त्र के अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ संबंधों के बारे में कुछ प्रमुख विद्वानों के विचारों पर ध्यान देना उपयुक्त रहेगा।**

ऑगस्ट कॉम्ट के विचार (Views of Auguste Comte)

फ्रेंच विद्वान ऑगस्ट कॉम्ट ने समाजशास्त्र के अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ किसी भी प्रकार के सम्बन्ध को अस्वीकार किया है। आपने अन्य सामाजिक विज्ञानों के अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं किया है। आपका कहना है कि समाज एक समग्रता है और इस कारण सामाजिक प्रघटनाओं को अलग-अलग भागों में विभाजित नहीं किया जा सकता। अत: एक ही विज्ञान के द्वारा उनका पूर्णता में अध्ययन किया जाना चाहिए। इस कार्य को अकेला समाजशास्त्र ही कर सकता है, कोई भी अन्य सामाजिक विज्ञान नहीं। कोई भी अन्य सामाजिक विज्ञान समाज के किसी एक विशेष पहलू का अध्ययन करके समाज के सम्बन्ध में किसी वास्तविक निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकता। केवल समाजशास्त्र ही समाज का समग्र रूप में वैज्ञानिक अध्ययन करके समाजिक जीवन और विभिन्न सामाजिक प्रघटनाओं के संबंध में प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध करा सकता है। अन्य सामाजिक विज्ञानों का न केवल अध्ययन-क्षेत्र ही सीमित है, बल्कि उनका दृष्टिकोण भी काफी संकुचित है। समाज को सम्पूर्णता या समग्रता (Totality) में देखने के कारण समाजशास्त्र का दृष्टिकोण व्यापक है और अध्ययन-क्षेत्र काफी विस्तृत है। ऑगस्ट कॉम्ट ने तो राजनीतिशास्त्र एवं अर्थशास्त्र आदि को सामाजिक विज्ञान ही मानने से इन्कार किया है। अत: उनके अनुसार समाजशास्त्र और अन्य सामाजिक विज्ञानों के बीच किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध होने का प्रश्न ही नहीं उठता। कॉम्ट के अनुसार एकमात्र समाज विज्ञान (समाजशास्त्र) ही समाज के समुचित रूप को लेकर प्राकृतिक विज्ञानों के समान अध्ययन करता है एवं समाज के विषय में पूर्ण सत्य तक पहुँचता है। परिणामस्वरूप समाजशास्त्र का अन्य विशेष सामाजिक विज्ञानों से संबंधित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। आपने समाजशास्त्र को ही एकमात्र महान एवं आधुनिक सामाजिक विज्ञान माना है। आपने तो राजनीति विज्ञान आदि को समाजशास्त्र विरोधी तक माना है क्योंकि विज्ञान सदैव सामाजिक धारणाओं पर ही आधारित नहीं होते।

अन्य सामाजिक विज्ञानों से संबंधित विद्वानों ने ही नहीं बल्कि अनेक समाजशास्त्रियों तक ने भी केवल समाजशास्त्र को ही सामाजिक घटनाओं का समग्रता में अध्ययन करने वाला विज्ञान मानने पर जोर देने के कॉम्ट के विचार की कटु आलोचना की है। विभिन्न समाज-वैज्ञानिकों की मान्यता है कि समाजशास्त्र अन्य सामाजिक विज्ञानों से घनिष्ठ रूप से संबंधित है। केवल समाजशास्त्र आज के आधुनिक जटिल समाजों का पूरी तरह से अध्ययन करने में समर्थ नहीं है। आज के विशेषीकरण के इस युग में समाज-जीवन के विभिन्न पक्षों का अध्ययन करने के लिए अन्य सामाजिक विज्ञानों के महत्त्व और सभी के बीच पारस्परिक संबंधों को स्वीकार करना ही पड़ेगा। आज समाज-जीवन के विभिन्न पक्ष सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि एक-दूसरे से इस प्रकार घुले-मिले हैं कि किसी का भी पूर्ण पृथक्करण में अध्ययन नहीं किया जा सकता।

स्पेन्सर के विचार (Views of Spencer)

हरबर्ट स्पेन्सर, कॉम्ट के समान समाजशास्त्र को एक स्वतंत्र विज्ञान न मानकर विभिन्न सामाजिक विज्ञानों का समन्वय मानते हैं। आपने समाज के विभिन्न पक्षों का अध्ययन करने वाले सभी सामाजिक विज्ञानों जैसे–अर्थशास्त्र,

नोट

राजनीतिशास्त्र, मनोविज्ञान, इतिहास आदि के अस्तित्व और महत्त्व को स्वीकार किया है। आपके अनुसार विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के परिणामों (निष्कर्षों) को समाजशास्त्र ही समाज के एक सामान्य सिद्धान्त (A General Theory of Society) के रूप में समन्वित करता है। समाजशास्त्र की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपलब्धि व्यापक एवं विविधतापूर्ण सामग्री को समन्वित करना है ताकि समाज को समग्रता में देखा और समझा जा सके। इस विचार को अमेरिका व अन्य देशों में भी स्वीकार किया गया। इस बात को स्माल नामक विज्ञान का समर्थन भी प्राप्त हुआ।

स्पेन्सर ने सावयवी सिद्धान्त (Organic Theory) के आधार पर यह समझाने का प्रयत्न किया है कि समाजशास्त्र अन्य सामाजिक विज्ञानों के समन्वय का परिणाम है। जिस प्रकार विभिन्न अंगों या इकाइयों से शरीर का निर्माण होता है और जिस प्रकार ये अंग एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से संबंधित होते हैं, उसी प्रकार समाज रूपी शरीर का निर्माण भी विभिन्न अंगों से हुआ है, जो एक-दूसरे से न केवल संबंधित हैं बल्कि साथ ही पारस्परिक रूप से प्रभावित भी करते हैं और एक-दूसरे पर आश्रित भी हैं। समाज के विभिन्न अंगों में आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि गतिविधियां आती हैं जिनका विशेष सामाजिक विज्ञानों के द्वारा अध्ययन किया जाता है। इन सामाजिक विज्ञानों के निष्कर्षों के समन्वय से ही समाज रूपी शरीर को समग्रता में समझा जा सकता है और इसी प्रयत्न के फलस्वरूप समाजशास्त्र का विकास हुआ है। अत: समाजशास्त्र और अन्य सामाजिक विज्ञानों में घनिष्ठ संबंध का पाया जाना स्वाभाविक ही है। साथ ही स्पेन्सर ने प्रत्येक सामाजिक विज्ञान के पृथक् अस्तित्व को उसी रूप में स्वीकार किया है जिस प्रकार शरीर का भाग होते हुए भी प्रत्येक अंग अपना पृथक् अस्तित्व रखता है, प्रत्येक अपना विशिष्ट कार्य करता है। आपने प्रत्येक सामाजिक विज्ञान को समाजशास्त्र के निर्माण में एक-एक इकाई के रूप में स्वीकार किया है। आज **अधिकांश विद्वान स्पेन्सर के इस विचार से सहमत नहीं हैं कि समाजशास्त्र अन्य सामाजिक विज्ञानों का समन्वय मात्र है।** वास्तव में समाजशास्त्र की अपनी विशिष्ट विषय समाग्री है, अपना पृथक् दृष्टिकोण है, अपना अलग अस्तित्व है।

वार्ड के विचार (Views of Lester Ward)

आप समाजशास्त्र को एकमात्र सामाजिक विज्ञान नहीं मानते (कॉम्ट की भांति) और न ही आप इसे अन्य सामाजिक विज्ञानों का समन्वय मात्र समझते हैं (स्पेन्सर की भांति)। आप समाजशास्त्र को अन्य सामाजिक विज्ञानों के समान एक स्वतंत्र विज्ञान मानते हैं और इसे समानता का दर्जा प्रदान करते हैं। वार्ड की मान्यता है कि समाजशास्त्र विशेष सामाजिक विज्ञानों का समन्वय नहीं है बल्कि उनसे मिलकर बना एक मिश्रण (Compound) है। विभिन्न सामाजिक विज्ञान समाजशास्त्र नामक नवीन विज्ञान के निर्माण में विभिन्न इकाइयाँ हैं, लेकिन इन इकाइयों के समाजशास्त्र के रूप में एकीकृत (Integrate) होने पर इनका पृथक् अस्तित्व समाप्त हो जाता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार रासायनिक इकाइयों का किसी मिश्रण के रूप में। इन सभी विशेष सामाजिक विज्ञानों के मिश्रण से बनने वाली नवीन वस्तु (समाजशास्त्र) इनमें से प्रत्येक विज्ञान से भिन्न और साथ ही इनसे उच्च स्तर की है। जिस प्रकार चाय अनेक वस्तुओं—पानी, शक्कर, चाय-पत्ती, दूध आदि से बना एक पेय पदार्थ है जिसमें प्रत्येक निर्मायक इकाई अपना स्वतंत्र अस्तित्व खो देती है और इन सबसे भिन्न एक अलग वस्तु बन जाती है, ठीक इसी प्रकार विभिन्न सामाजिक विज्ञानों से मिलकर समाजशास्त्र एक मिश्रण के रूप में नवीन स्वतंत्र विषय बन जाता है जिसकी अपनी पृथक् विषय-वस्तु है।

वार्ड की यह मान्यता सही नहीं है कि समाजशास्त्र विभिन्न रासायनिक पदार्थों के योग या मिश्रण की भांति है जिसमें अन्य सभी विशेष सामाजिक विज्ञान अपना अस्तित्व खो देते हैं। वास्तविकता यह है कि प्रत्येक सामाजिक विज्ञान पारस्परिक रूप से एक-दूसरे को प्रभावित करते हुए भी अपने-अपने स्वतंत्र अस्तित्व को बनाये हुए हैं।

डॉ. मोटवानी (Dr. Kewal Motwani) ने वार्ड के विचारों से सहमति प्रकट करते हुए उन्हीं के समान विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के योग से निर्मित एक नवीन वस्तु के रूप में समाजशास्त्र को माना है।

गिडिंग्स के विचार (Views of Giddings)

आपने समाजशास्त्र को समाज का समग्र रूप में या सम्पूर्ण समाज का अध्ययन करने वाला विज्ञान माना है। आपने समाजशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र को काफी विशाल एवं विस्तृत माना है। आपके अनुसार समाजशास्त्र न तो अन्य सामाजिक विज्ञानों का योग है और न ही समन्वय। इसका तो अपना एक पृथक् दृष्टिकोण है, अलग विषय-समाग्री

एवं अध्ययन-क्षेत्र है। यह विशिष्ट घटनाओं का ही अध्ययन न करके अन्य सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में प्रवेश करके उनसे संबंधित विषय-सामग्री का अपने दृष्टिकोण से अध्ययन भी करता है। आपने समाजशास्त्र को अन्य सामाजिक विज्ञानों का आधार माना है। आपके अनुसार सभी सामाजिक विज्ञान समाजशास्त्र के ही अंग हैं। इस दृष्टि से यह विषय अन्य की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण है। आज अन्य सामाजिक विज्ञानों को समाजशास्त्र से कम महत्त्वपूर्ण मानने का औचित्य नहीं है। प्रत्येक विज्ञान का अपना-अपना महत्त्व है जो न तो किसी अन्य सामाजिक विज्ञान से कम और न ही किसी से ज्यादा है।

नोट

सोरोकिन के विचार (Views of Sorokin)

आपने समाजशास्त्र को विशेष या स्वतंत्र विज्ञान न मानकर एक सामान्य विज्ञान माना है। आपके अनुसार समाजशास्त्र सामाजिक जीवन की सामान्य घटनाओं का अध्ययन करने वाला विज्ञान है। इसके द्वारा सामाजिक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया जाता है। अध्ययन-सामग्री की दृष्टि से समाजशास्त्र अन्य विज्ञानों से सहायता प्राप्त करता है। साथ ही यह शास्त्र विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के बीच संबंध स्थापित करने और उन्हें पूर्णता प्रदान करने में योग देता है। आपकी मान्यता है कि समाजशास्त्र और अन्य सामाजिक विज्ञानों के बीच संबंध घनिष्ठ पाया जाता है। ये एक-दूसरे से काफी कुछ लेते-देते हैं, इनमें पारस्परिक निर्भरता काफी पायी जाती है। स्वयं सोरोकिन ने बताया है कि समाजशास्त्र अन्य सामाजिक विज्ञानों का जनक (जन्मदाता) नहीं है, बल्कि उसी तरह का एक स्वतंत्र विज्ञान है, जिस तरह अन्य सामाजिक विज्ञानों का स्वतंत्र अस्तित्व है। स्पष्ट है कि सोरोकिन के अनुसार समाजशास्त्र और अन्य सामाजिक विज्ञानों का समान महत्त्व है। यही बात **बार्न्स** एवं **बेकर** के इस कथन से व्यक्त होती है, ''समाजशास्त्र अन्य सामाजिक विज्ञानों की न तो गृहस्वामिनी है और न ही दासी, बल्कि यह तो अन्य विज्ञानों की बहन है।'' इस प्रकार समाजशास्त्र को अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ समानता का दर्जा दिया गया है। इतना अवश्य है कि अन्य सामाजिक विज्ञानों की आयु समाजशास्त्र की तुलना में कुछ अधिक है, परन्तु फिर भी प्रभाव की दृष्टि से समाजशास्त्र काफी महत्त्वपूर्ण विज्ञान है।

विद्वानों के उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि समाजशास्त्र और अन्य सामाजिक विज्ञानों के बीच घनिष्ठ संबंध है।

समाजशास्त्र का अन्य सामाजिक विज्ञानों से संबंध (Relation of Sociology with other Social Sciences)

समाजशास्त्र और अन्य सामाजिक विज्ञानों के बीच पाये जाने वाले संबंध की विवेचना हम निम्नलिखित प्रकार से कर सकते हैं :

1.11.1 समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र (Economics and Sociology)

अर्थशास्त्र के अन्तर्गत मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं या आर्थिक व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। अर्थशास्त्र को वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन एवं वितरण का अध्ययन भी कहा गया है। इस शास्त्र के द्वारा धन के उत्पादन एवं वितरण और उपभोग से संबंधित व्यक्ति के व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। धन से संबंधित मानवीय क्रियाओं या गतिविधियों को अर्थशास्त्र में प्रमुखता देने का कारण यह है कि धन आवश्यकताओं या इच्छाओं की पूर्ति का प्रमुख साधन है। **समाजशास्त्र** के अन्तर्गत मनुष्य की सामाजिक क्रियाओं या गतिविधियों का अध्ययन किया जाता है। यह शास्त्र प्रथा, परम्परा, रूढ़ि, संस्था, संस्कृति, सामाजिक संबंधों के विभिन्न स्वरूपों, सामाजिक प्रक्रियाओं, सामाजिक प्रतिमानों, सामाजिक संरचनाओं तथा विभिन्न प्रकार के समूहों में विशेष रूप से रुचि रखता है। समाजशास्त्र समग्र रूप में मानवीय व्यवहार एवं समाज को समझने का प्रयास करता है।

इन दोनों शास्त्रों के संबंधों के बारे में **सिल्वरमैन** ने लिखा है कि सामान्य कार्यों या लक्ष्यों के लिए इसे (अर्थशास्त्र) समाजशास्त्र नामक पितृ विज्ञान (Parent Science) की, जो सभी सामाजिक संबंधों के सामान्य सिद्धान्तों का अध्ययन करता है, एक शाखा माना जा सकता है। **थॉमस** के अनुसार, अर्थशास्त्र वास्तव में समाजशास्त्र के व्यापक विज्ञान की एक शाखा है। ये दोनों शास्त्र मानव और उसकी क्रियाओं का अध्ययन करते हैं। इतना अवश्य है कि अर्थशास्त्र में मानव की आर्थिक क्रियाओं का जबकि समाजशास्त्र में सामाजिक जीवन के सभी पक्षों का अध्ययन किया जाता है। इस आधार पर कुछ विद्वानों ने अर्थशास्त्र को समाजशास्त्र की एक शाखा माना है, लेकिन

वास्तविकता यह है कि ये दोनों अपने-अपने अध्ययन-क्षेत्र और विषय-सामग्री की दृष्टि से स्वतंत्र विज्ञान हैं, किसी को भी किसी से कम या ज्यादा महत्त्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। ये दोनों सामाजिक विज्ञान घनिष्ठ रूप से एक-दूसरे से संबंधित हैं। यही कारण है कि अनेक विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र दोनों का एक ही विभाग हुआ करता था। इसके अलावा बहुत से विद्वान अर्थशास्त्री होने के साथ-साथ समाजशास्त्री भी हुए हैं। कॉम्ट, जे.एस. मिल, पैरेटो, वेबलिन, कार्ल मार्क्स, मैक्स वेबर, महात्मा गांधी, आदि विद्वानों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से यह स्पष्टत: सिद्ध कर दिया है कि ये दोनो विज्ञान एक-दूसरे के पूरक हैं; इनका पृथक्-पृथक् रूप में अध्ययन नहीं किया जा सकता। व्यक्ति की सामाजिक क्रियाओं और व्यवहार पर आर्थिक परिस्थितियों का और आर्थिक क्रियाओं एवं व्यवहार पर सामाजिक परिस्थितियों का निश्चित रूप से प्रभाव पड़ता है। ये दोनों शास्त्र एक-दूसरे के अध्ययन को व्यापकता और साथ ही निश्चितता प्रदान करने में भी सहायता करते हैं। इन दोनों शास्त्रों के एक-दूसरे पर पड़ने वाले प्रभावों के संबंध में **मैकाइवर** ने लिखा है कि आर्थिक घटनाएँ सदैव सभी प्रकार की सामाजिक आवश्यकताओं एवं क्रियाओं के द्वारा निर्धारित होती हैं और बदले में स्वयं भी निरन्तर सभी प्रकार की सामाजिक आवश्यकताओं तथा क्रियाओं का पुनर्निर्धारण, सृष्टि, संगठन एवं रूपान्तरण करती रहती हैं। वास्तव में समाज विशेष की परम्पराएँ, प्रथाएँ, संस्थाएँ तथा लोक विश्वास आर्थिक क्रियाओं को काफी प्रभावित करते हैं और स्वयं आर्थिक क्रियाएँ सामाजिक संरचना को बहुत कुछ प्रभावित करती हैं।

नोट

आज अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र कुछ ऐसी समस्याओं का अध्ययन करते हैं जो एक-दूसरे के क्षेत्र के अन्तर्गत आती हैं; जैसे, औद्योगीकरण, नगरीकरण, श्रम समस्याएँ, श्रम-कल्याण, बेकारी, निर्धनता, ग्रामीण समस्याएँ, ग्रामीण पुनर्निर्माण आदि। इन पर जब तक आर्थिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टिकोणों से विचार नहीं किया जाता तब तक न तो इन्हें ठीक से समझा जा सकता और न ही इन्हें हल किया जा सकता है। अनेक समस्याएँ जैसे, अपराध, वेश्यावृत्ति, बेकारी, निर्धनता आदि अर्थिक कारकों से काफी प्रभावित हैं, परन्तु इनके सामाजिक कारक भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। अनेक अच्छी-से-अच्छी योजनाएँ इसलिए असफल रही हैं कि मानवीय और सामाजिक कारकों को समझने का प्रयत्न नहीं किया गया, उनकी अवहेलना की गयी। मैक्स वेबर, कार्ल मार्क्स आदि विद्वानों ने अपने अध्ययनों के माध्यम से यह स्पष्ट कर दिया है कि आर्थिक और सामाजिक कारकों में घनिष्ठ संबंध पाया जाता है। अब तो अर्थशास्त्र समाजशास्त्र के अनेक सिद्धांतों का प्रयोग करने लगा है। वर्तमान में अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र में दिन-प्रतिदिन सहयोग बढ़ता ही जा रहा है।

अन्तर (Difference)

उपर्युक्त विवरण से हमें यह नहीं समझ लेना चाहिए कि समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र में किसी प्रकार कोई भेद या अन्तर नहीं है। इन दोनों में निम्नलिखित अन्तर पाये जाते हैं:

1. समाजशास्त्र में प्रमुखत: सामाजिक संबंधों का जबकि अर्थशास्त्र में आर्थिक संबंधों का अध्ययन किया जाता है।
2. समाजशास्त्र में सामाजिक जीवन के सभी पक्षों का जबकि अर्थशास्त्र में मानव जीवन के केवल आर्थिक पक्षों का अध्ययन किया जाता है।
3. समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान है जबकि अर्थशास्त्र एक विशिष्ट विज्ञान है।
4. समाजशास्त्र का दृष्टिकोण समाजशास्त्रीय और काफी व्यापक है जबकि अर्थशास्त्र का दृष्टिकोण आर्थिक और तुलनात्मक दृष्टि से सीमित है।
5. समाजशास्त्र की प्रकृति समूहवादी और अर्थशास्त्र की व्यक्तिवादी है।
6. समाजशास्त्र एक व्यवहारात्मक विज्ञान (Behavioural Science) है अर्थात् इसमें विभिन्न समूहों से संबंधित व्यक्तियों की अन्त:क्रियाओं के अध्ययन पर विशेष जोर दिया जाता है। अर्थशास्त्र एक व्यवहारात्मक विज्ञान नहीं है। इसमें मनुष्य के आर्थिक व्यवहार के अध्ययन पर अभी तक ज्यादा ध्यान नहीं दिया गया है। जब कुछ अर्थशास्त्री आर्थिक क्रियाओं का संस्थात्मक संदर्भ में अध्ययन करने में रुचि लेने लगे हैं।

7. दोनों शास्त्रों की अध्ययन पद्धतियों में भी अन्तर पाया जाता है। समाजशास्त्र में सामाजिक सर्वेक्षण पद्धति, वैयक्तिक जीवन अध्ययन पद्धति, अवलोकन पद्धति, समाजमिति (Sociometry) आदि का प्रयोग किया जाता है जबकि अर्थशास्त्र में आगमन और निगमन पद्धतियों का।
8. समाजशास्त्र के नियम सार्वभौमिक एवं स्वतंत्र हैं। इनके द्वारा घटनाओं को उनके वास्तविक रूप में चित्रित किया जाता है। अर्थशास्त्र के नियम पूर्णत: स्वतंत्र नहीं होते, उनके साथ ये शब्द जुड़े रहते हैं–'अन्य बातों के समान रहने पर' (Other things being equal)। इनमें प्रत्येक घटना का संबंध आर्थिक कारक के साथ जोड़ा जाता है।

1.11.2 समाजशास्त्र एवं इतिहास (History and Sociology)

समाजशास्त्र और इतिहास के बीच घनिष्ठ संबंध है। इन दोनों शास्त्रों की विषय-वस्तु में खास अन्तर नहीं होकर दृष्टिकोण में अन्तर है। **इतिहास** भूतकाल की विशिष्ट घटनाओं का वर्णन करता है, उन घटनाओं के कार्य-कारण संबंधों की विवेचना करता है। भूतकाल के संबंध में ज्ञान के अभाव में न तो हम वर्तमान को भली-भांति समझ सकते हैं और न ही भविष्य को। इतिहास उस समय-क्रम (Time-Sequence) का पता लगाने का प्रयत्न करता है जिसमें विभिन्न घटनाएँ घटित हुईं। इतिहास के द्वारा प्रारम्भ से लेकर अभी तक के समय के मानव के जीवन की प्रमुख घटनाओं का चित्रण किया जाता है। इस दृष्टि से इतिहास अतीत या भूतकाल की घटनाओं का क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित अध्ययन है। **समाजशास्त्र** अतीत की पृष्ठभूमि में वर्तमान समाज का अध्ययन है। यही कारण है कि इतिहास अतीत का समाजशास्त्र और समाजशास्त्र समाज का वर्तमान इतिहास कहलाता था। किसी समय इतिहास राजा-महाराजाओं, प्रमुख तारीखों व युद्धों की कहानी था, परन्तु अब इसके द्वारा सामाजिक घटनाओं का आलोचनात्मक विवरण प्रस्तुत किया जाता है। ये सामाजिक घटनाएँ समाजशास्त्र से संबद्ध हैं। इतिहास विभिन्न युगों के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन का अध्ययन है। समाजशास्त्र ऐतिहासिक अध्ययनों से प्राप्त सामग्री के आधार पर वर्तमान युग के सामाजिक जीवन को समझने का प्रयास करता है।

समाजशास्त्र और इतिहास दोनों ही सभ्यता एवं संस्कृति का अध्ययन करते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि इतिहासकार इनका अध्ययन समय-क्रम के अनुसार करता है जबकि समाजशास्त्री वर्तमान समय की सभ्यता एवं संस्कृति का। इन दोनों ही शास्त्रों के द्वारा संघर्ष, क्रान्ति एवं युद्ध का अध्ययन किया जाता है, परन्तु भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से। इतिहास इनका अध्ययन विशिष्ट घटना के रूप में करता है जबकि समाजशास्त्र सामाजिक प्रक्रिया के रूप में या सामाजिक विघटन के सामूहिक प्रकार के रूप में। समाजशास्त्री संघर्ष, क्रांति एवं युद्ध के कारणों एवं परिणामों की विवेचना भी करता है।

ये दोनों शास्त्र एक-दूसरे पर काफी निर्भर हैं, एक-दूसरे से बहुत कुछ ग्रहण करते हैं। प्रसिद्ध समाजशास्त्री ऑगस्ट कॉम्ट एवं स्पेन्सर, आदि के अध्ययनों पर इतिहास की स्पष्ट छाप झलकती है। समाजशास्त्रीय अध्ययनों में इतिहास द्वारा प्राप्त सामग्री—सामाजिक तथ्यों एवं सूचनाओं का काफी प्रयोग किया जाता है। समाजशास्त्रियों को अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन तथा अवधारणाओं व प्रारूपों के निर्माण में इतिहास द्वारा प्रस्तुत सामग्री से काफी सहायता मिलती है, जैसा कि दुर्खीम के 'श्रम-विभाजन के सिद्धांत' एवं 'आत्म-हत्या के सिद्धांत' से स्पष्ट है। मैक्स वेबर द्वारा भी समाजशास्त्रीय अध्ययनों में ऐतिहासिक सामग्री का काफी प्रयोग किया गया है। समाजशास्त्र में इतिहास के प्रभाव के फलस्वरूप ही **'ऐतिहासिक समाजशास्त्र'** (Historical Sociology) का विकास हो सका। इसी प्रकार समाजशास्त्र के प्रभाव के परिणामस्वरूप इतिहास से **'सामाजिक इतिहास'** (Social History) का विकास हो सका। जी.जी. कौल्टन, जेकब बुर्कहार्ट, टायनबी आदि इतिहासकारों ने **सामाजिक इतिहास** लिखा जो सामाजिक संबंधों, सामाजिक प्रतिमानों, रूढ़ियों तथा महत्त्वपूर्ण संस्थाओं के क्रमिक विकास से संबंधित है। दूसरी ओर कुछ प्रमुख समाजशास्त्रियों जैसे, मैक्स वेबर, गिन्सबर्ग, रेमण्ड एरो, सिगमण्ड-डायमण्ड, रोबर्ट बेला आदि ने ऐतिहासिक समस्याओं पर समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विचार कर **ऐतिहासिक समाजशास्त्र** के विकास में अपूर्व योग दिया। अब दोनों ही शास्त्र एक-दूसरे की अध्ययन पद्धतियों का उपयोग समाज एवं सामाजिक घटनाओं को समझने में करने लगे हैं।

नोट

अन्तर (Difference)

फिर भी इन दोनों में कुछ अन्तर पाये जाते हैं जो इस प्रकार हैं:

1. इतिहास विशेष विज्ञान है जिसका संबंध ऐतिहासिक घटनाओं से है। समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान है जिसका संबंध सभी प्रकार के संबंधों से है।
2. इतिहास का संबंध प्रमुखत: भूतकाल के साथ है जबकि समाजशास्त्र का वर्तमान के साथ।
3. इतिहास मूर्त का और समाजशास्त्र अमूर्त का अध्ययन है। **पार्क** ने लिखा है कि इतिहास मानव अनुभव और मानव प्रकृति का मूर्त और समाजशास्त्र अमूर्त विज्ञान है।
4. इतिहास विशिष्ट घटनाओं का अध्ययन करता है जबकि समाजशास्त्र विभिन्न घटनाओं के आधार पर सामान्यीकरण (Generalization) करता है। **बीरस्टीड** ने लिखा है कि इतिहास अपने को समान घटनाओं में भिन्नताओं का पता लगाने में लगाता है जबकि समाजशास्त्र अपने को विभिन्न घटनाओं में समानताओं का पता लगाने में।
5. ऐतिहासिक अध्ययन प्रमुखत: विवरणात्मक होते हैं जबकि समाजशास्त्रीय अध्ययन विश्लेषणात्मक।
6. इतिहास में विवरणात्मक एवं ऐतिहासिक पद्धति का जबकि समाजशास्त्र में वैज्ञानिक, विश्लेषणात्मक एवं तुलनात्मक पद्धतियों का प्रयोग किया जाता है।
7. इतिहास की घटनाओं का परीक्षण एवं पुनर्परीक्षण नहीं हो सकता क्योंकि ये घटनाएँ सामान्यत: एक बार घटित होती हैं। समाजशास्त्र में निष्कर्षों का परीक्षण और पुनर्परीक्षण संभव है। इसी आधार पर इतिहास की अपेक्षा समाजशास्त्र को अधिक प्रामाणित विज्ञान माना गया है।

1.11.3 समाजशास्त्र तथा मनोविज्ञान (Psychology and Sociology)

समाजशास्त्र और मनोविज्ञान एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से संबंधित हैं। सामाजिक मनोविज्ञान ने तो समाजशास्त्र और मनोविज्ञान को और भी निकट ला दिया है। **मनोविज्ञान** को मस्तिष्क या मानसिक प्रक्रियाओं का विज्ञान माना गया है। जिस प्रकार समाजशास्त्र का केन्द्रीय विषय समाज और सामाजिक व्यवस्था (Society and Social System) है, उसी प्रकार मनोविज्ञान का केन्द्रीय विषय व्यक्तित्व (Personality) है। मनोविज्ञान की रुचि व्यक्ति में है, न कि उसकी सामाजिक परिस्थितियों में। यह शास्त्र मानसिक तत्वों जैसे, ध्यान, कल्पना, स्नायु प्रणाली, बुद्धि, भावना, स्मृति, मस्तिष्क की स्वाभाविकता एवं विकृति आदि का अध्ययन करता है। इस शास्त्र के द्वारा मनुष्य के मानसिक विचारों एवं अनुभवों का अध्ययन एवं विश्लेषण किया जाता है। मनोविज्ञान प्रमुखत: व्यक्ति के व्यवहार का अध्ययन करता है; इसमें उन मानसिक प्रक्रियाओं जैसे, संवेगों (Emotions), प्रेरकों (Motives), चालकों (Drives), प्रत्यक्ष बोध (Perception), बोधीकरण (Congnition), सीखना (Learning) आदि का अध्ययन किया जाता है जो व्यक्ति को एक निश्चित प्रकार से व्यवहार करने के लिए प्रोत्साहित करती हैं। व्यक्ति में ये मानसिक प्रक्रियाएँ संगठित रूप में एक निश्चित प्रतिमान का निर्माण करती हैं जिसे व्यक्तित्व कहते हैं। व्यक्तित्व व्यवस्था (Personality System) का अध्ययन करना मनोविज्ञान का प्रमुख कार्य है।

समाजशास्त्र सामाजिक व्यवस्था (Social System) का अध्ययन है। इनमें सामाजिक संबंधों, सामाजिक प्रक्रियाओं, समूहों, संस्थाओं, प्रथाओं, परम्पराओं, सामाजिक मूल्यों, सामाजिक संरचना, सामाजिक परिवर्तन आदि का अध्ययन किया जाता है। इन्हीं से मिलकर सामाजिक परिस्थिति बनती है। समाजशास्त्र व्यक्ति के बजाय प्रमुखत: इसी सामाजिक परिस्थिति का अध्ययन करता है।

मनोविज्ञान और समाजशास्त्र का संबंध व्यक्ति और समाज के संबंध के साथ जुड़ा हुआ है। व्यक्ति और समाज के संबंध के बारे में तीन प्रकार के दृष्टिकोण या मत पाये जाते हैं: (*i*) प्रथम मत के मानने वाले समाज के बजाय व्यक्ति को ज्यादा महत्त्व एवं प्राथमिकता देते हैं। **फ्रायड** तथा **जे.एस.** मिल इस मत के जानने वालों में प्रमुख हैं। इन्होंने वैयक्तिक इच्छाओं, संवेगों एवं उद्देश्यों को सामाजिक संबंधों एवं संस्थाओं का आधार माना है। समाज के बजाय व्यक्ति को प्रधानता देने के कारण ही ये विद्वान मनोविज्ञान को प्रमुख विज्ञान और समाजशास्त्र को उसकी एक शाखा मानते हैं। (*ii*) द्वितीय मत के मानने वाले व्यक्ति के बजाय समाज को अधिक महत्त्व एवं प्राथमिकता

नोट

देते हैं। इस मत के समर्थकों में आगस्ट कॉम्ट एवं दुर्खीम आदि प्रमुख हैं। इन्होंने समाज का आधार व्यक्ति को न मानकर उनके बीच होने वाली अन्तर्क्रियाओं (Interactions) को माना है। इन्होंने व्यक्ति से पृथक् समाज की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार किया है। वे तो व्यक्ति को समाज की देन मात्र मानते हैं। समाज को प्रधानता देने के कारण ही ये मनोविज्ञान के बजाय समाजशास्त्र को प्रमुख विज्ञान मानते हैं। इनके अनुसार मनोविज्ञान समाजशास्त्र की एक शाखा मात्र है। (*iii*) तृतीय मत के मानने वाले न तो व्यक्ति को और न ही समाज को एक-दूसरे की तुलना में अधिक महत्त्व और प्राथमिकता देते हैं। इस मत के अन्तर्गत उपर्युक्त दोनों मतों का समन्वय देखने को मिलता है। इस मत से संबंधित विद्वान जैसे मैक्स वेबर, गिन्सबर्ग, डिल्थे, मैकाइवर आदि व्यक्ति और समाज को एक-दूसरे का पूरक मानते हैं। जब व्यक्ति और समाज दोनों का ही समान महत्त्व है अर्थात् दोनों में से कोई भी कम या अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है तो व्यक्ति से संबंधित शास्त्र मनोविज्ञान और समाज से सम्बन्धित शास्त्र समाजशास्त्र में से किसी को भी एक-दूसरे की तुलना में अधिक महत्त्व एवं प्राथमिकता नहीं दी जा सकती। वास्तव में ये दोनों शास्त्र एक-दूसरे से काफी कुछ ग्रहण करते हैं। आधुनिक अधिकांश समाज-वैज्ञानिक इसी तीसरे मत से सहमत हैं।

व्यक्ति के मानसिक विचार और अनुभव जिसका मनोविज्ञान में अध्ययन किया जाता है, इस दृष्टि से सामाजिक हैं कि इन पर सामाजिक पर्यावरण एवं व्यक्तियों की अन्त:क्रियाओं का प्रभाव पड़ता है। साथ ही विभिन्न व्यक्तियों की अन्त:क्रियाएं और सामाजिक पर्यावरण जिनका समाजशास्त्र में अध्ययन किया जाता है, मानसिक प्रक्रियाओं का परिणाम या फल हैं। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि मानसिक प्रक्रियाएँ सामाजिक परिस्थितियों से और सामाजिक परिस्थितियाँ मानसिक प्रक्रियाओं से काफी प्रभावित होती हैं। अत: समाजशास्त्र और मनोविज्ञान दोनों एक-दूसरे से न केवल संबंधित बल्कि एक-दूसरे के लिए आवश्यक भी हैं। इन दोनों विज्ञानों का संबंध उस समय और भी घनिष्ठ मालूम पड़ता है जब हम **सामाजिक मनोविज्ञान** की अध्ययन-वस्तु पर विचार करते हैं। **क्लाइनबर्ग** ने लिखा है, ''सामाजिक मनोविज्ञान को उस विज्ञान के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो व्यक्ति के व्यवहार का अन्य व्यक्तियों से संबंधित होने के रूप में अध्ययन करता है। यह (सामाजिक मनोविज्ञान) सामूहिक परिस्थितियों में व्यक्ति से संबंधित है।'' सामाजिक मनोविज्ञान में व्यक्ति (मनोविज्ञान की अध्ययन-वस्तु) और समाज (समाजशास्त्र की अध्ययन-वस्तु) दोनों की व्याख्या की जाती है। मनोविज्ञान व सामाजिक मनोविज्ञान का केन्द्रीय विषय मनुष्य है जो समाज विशेष का सदस्य है। अत: मनोविज्ञान, सामाजिक मनोविज्ञान एवं समाजशास्त्र तीनों ही घनिष्ठ रूप से संबंधित हैं।

व्यक्ति के मानसिक तत्त्वों या लक्षणों की अवहेलना करके सामाजिक संबंधों एवं सामाजिक परिस्थितियों को ठीक से नहीं समझा जा सकता। साथ ही सामाजिक संबंधों और सामाजिक परिस्थितियों की अवहेलना करके वैयक्तिक लक्षणों एवं व्यक्तित्व के विकास को भी ठीक से नहीं जाना जा सकता। व्यक्ति के व्यक्तित्व के निर्माण तथा उसके अनुभव एवं व्यवहार के प्रतिमान का आधार केवल उसकी शारीरिक एवं मानसिक क्षमताएँ तथा आवश्यकताएँ ही नहीं होकर सामाजिक परिस्थितियाँ भी हैं। अन्य लोगों के साथ अन्त:क्रिया करते हुए ही व्यक्ति बहुत कुछ सीखता है, अनुभव प्राप्त करता है और व्यवहार करता है। समाज, सभ्यता और संस्कृति के बीच ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण और विकास होता है। इस प्रकार वैयक्तिक भावनाओं, उद्वेगों, प्रवृत्तियों तथा अन्य मानसिक लक्षणों का अध्ययन मनोविज्ञान, सामाजिक संबंधों एवं परिस्थितियों का अध्ययन समाजशास्त्र तथा सामाजिक परिस्थितियों के बीच व्यक्ति के व्यवहार-प्रतिमानों, अनुभवों एवं व्यक्तित्व का अध्ययन सामाजिक मनोविज्ञान करता है। स्पष्ट है कि सामाजिक मनोविज्ञान, मनोविज्ञान व समाजशास्त्र को जोड़ने का कार्य करता है।

समाजशास्त्र और मनोविज्ञान के पारस्परिक संबंधों के विषय में **मैकाइवर** व **पेज** ने लिखा है, ''समाजशास्त्र विशेष रूप से मनोविज्ञान को सहायता देता है जिस प्रकार मनोविज्ञान समाजशास्त्र को विशेष सहायता देता है।" मनोविज्ञान मानसिक क्रियाओं को समझने के लिए समाजशास्त्रीय ज्ञान का प्रयोग करता है। साथ ही सामाजिक व्यवहारों, सम्बन्धों, अन्त:क्रियाओं आदि को जानने के लिए समाजशास्त्री को मनोवैज्ञानिक खोजों पर निर्भर रहना पड़ता है। व्यक्ति और समाज इतने घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित और एक-दूसरे के पूरक हैं कि किसी को भी अन्य की तुलना में कम या अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। यही बात मनोविज्ञान एवं समाजशास्त्र के घनिष्ठ सम्बन्ध के विषय में है अर्थात् ये दोनों घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं।

अन्तर (Difference)

यद्यपि समाजशास्त्र और मनोविज्ञान एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं, परन्तु इन दोनों में निम्नलिखित भिन्नताएँ भी पायी जाती हैं :

नोट

1. मनोविज्ञान का सम्बन्ध व्यक्ति की मानसिक प्रक्रियाओं से है, व्यक्तित्व-व्यवस्था से है जबकि समाजशास्त्र का सम्बन्ध समाज, सामाजिक प्रक्रियाओं एवं सामाजिक व्यवस्था से है। मनोविज्ञान में एक ही व्यक्ति की विभिन्न क्रियाओं के अन्त:सम्बन्धों का, जबकि समाजशास्त्र में कई व्यक्तियों के बीच होने वाली अन्त:क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है।
2. मनोविज्ञान का अध्ययन-क्षेत्र समाजशास्त्र की तुलना में सीमित है। मनोविज्ञान व्यक्ति की मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है। यह व्यक्ति के जीवन के मानसिक पहलु से सम्बन्धित है। समाजशास्त्र सम्पूर्ण समाज का अध्ययन करता है, व्यक्तियों के सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक अन्त:क्रिया और मोटे रूप में सम्पूर्ण सामाजिक जीवन का अध्ययन करता है। इस प्रकार मनोविज्ञान एक विशेष सामाजिक विज्ञान है जबकि समाजशास्त्र एक सामान्य सामाजिक विज्ञान है।
3. मनोविज्ञान और समाजशास्त्र में अध्ययन-वस्तु के अलावा दृष्टिकोण का भी अन्तर है। व्यक्ति की मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करने के कारण मनोविज्ञान का दृष्टिकोण वैयक्तिक है। सम्पूर्ण समाज का अध्ययन करने के कारण समाजशास्त्र का दृष्टिकोण वैयक्तिक न होकर सामाजिक है। मनोविज्ञान में व्यक्ति के व्यवहार को वैयक्तिक कारकों के आधार पर जबकि समाजशास्त्र में सामाजिक कारकों के आधार पर समझाने का प्रयत्न किया जाता है।
4. इन दोनों शास्त्रों की अध्ययन पद्धतियों में भी भिन्नता पायी जाती है। मनोविज्ञान में **प्रमुखतः** मनोवैज्ञानिक परीक्षण एवं निरीक्षण तथा प्रयोगात्मक पद्धति (Experimental Method) का प्रयोग विशेषत: किया जाता है। समाजशास्त्र में वैयक्तिक जीवन अध्ययन पद्धति, ऐतिहासिक पद्धति, संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक पद्धति, समाजमिति (Sociometry), सांख्यिकीय पद्धति आदि का प्रमुखत: प्रयोग किया जाता है, यद्यपि कभी-कभी इसमें प्रयोगात्मक पद्धति का प्रयोग भी किया जाता है, परन्तु बहुत कम।

1.11.4 समाजशास्त्र एवं राजनीतिशास्त्र (Political Science and Sociology)

समाजशास्त्र एवं राजनीतिशास्त्र के बीच घनिष्ठ संबंध है। कुछ समय पूर्व तक राज्य और समाज में कोई भेद नहीं किया जाता था और इसी कारण समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र एक ही विषय के अन्तर्गत आते थे। 18वीं एवं 19वीं शताब्दी में राज्य और समाज में अन्तर किया जाने लगा तथा राज्य का अध्ययन राजनीतिशास्त्र के द्वारा और समाज, परिवार, धर्म एवं कानून आदि का समाजशास्त्र के द्वारा किया जाने लगा।

राजनीतिशास्त्र की रुचि, प्रमुखत: सत्ता (Power) के अध्ययन में है। इस शास्त्र के द्वारा राज्य तथा राजकीय प्रशासन के अध्ययन पर विशेष जोर दिया जाता है। राजनीतिशास्त्र संगठित मानव संबंधों (राजनीतिक संबंधों) का अध्ययन करता है और ये संबंध सामाजिक संबंधों का ही एक अंग है। **गार्नर** ने लिखा है कि राजनीतिशास्त्र केवल एक ही प्रकार के मानव संबंध, राज्य से संबंधित है जबकि समाजशास्त्र सब प्रकार के सामाजिक संबंधों से। व्यक्ति का राजनीतिक जीवन और सामाजिक जीवन एक-दूसरे से इतना घुला-मिला है कि न तो राजनीतिशास्त्र के द्वारा और न ही समाजशास्त्र के द्वारा उसका पूर्णता से अध्ययन किया जा सकता है। दोनों शास्त्रों के लिए एक-दूसरे का सहयोग अत्यंत आवश्यक है। दोनों ही एक-दूसरे के ज्ञान का उपयोग अपने-अपने क्षेत्र में करते हैं। **गिडिंग्स** ने लिखा है कि प्रत्येक राजनीतिशास्त्री, समाजशास्त्री और प्रत्येक समाजशास्त्री राजनीतिशास्त्री होता है। आपके अनुसार **समाजशास्त्र के प्राथमिक सिद्धांतों से अपरिचित लोगों को राज्य के सिद्धांतों को पढ़ाना उसी प्रकार बेकार है जिस प्रकार ऐसे व्यक्तियों को ज्योतिष (Astronomy) पढ़ाना जिन्होंने न्यूटन के सिद्धांत (Law of Motion) को नहीं सीखा हो।** कहने का तात्पर्य यह है कि राजनीतिशास्त्र के प्रारंभिक सिद्धांतों को समझने के लिए समाजशास्त्रीय ज्ञान अत्यंत आवश्यक है। ये दोनो शास्त्र एक-दूसरे पर काफी निर्भर हैं। **गिलक्राइस्ट** ने बताया है कि राजनीतिशास्त्र में हमें मानव संबंधों के उन तथ्यों और सिद्धांतों को अवश्य ही ग्रहण करना होगा

जिनका अध्ययन और प्रतिपादन करना समाजशास्त्र का दायित्व है। समाजशास्त्र व्यक्ति को सामाजिक प्राणी और राजनीतिशास्त्र उसे अच्छा नागरिक बनाने का प्रयत्न करता है। वर्तमान में तो इन दोनों शास्त्रों का संबंध इतना बढ़ गया है कि परिणामस्वरूप समाजशास्त्र की एक नवीन शाखा **'राजनीतिक समाजशास्त्र'** (Political Sociology) का विकास हुआ है। पिछले करीब पचास वर्षों में समाजशास्त्री राजनीतिक व्यवहार (Political Behaviour) संबंधी अनुसंधानों में विशेष रुचि लेने लगे हैं। अब राजनीतिक-वैज्ञानिक का ध्यान भी इस ओर गया है।

समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में काफी आदान-प्रदान होता है। राजनीतिशास्त्र मनुष्य को एक राजनीतिक प्राणी मानता है, परन्तु वह राजनीतिक प्राणी क्यों और कैसे बना, यह जानकारी समाजशास्त्र ही प्रदान करता है। **बार्न्स** ने इन दोनों शास्त्रों में आदान-प्रदान के संबंधों को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि **समाजशास्त्र तथा आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत के संबंध में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि राजनीतिक सिद्धांत में पिछले तीस वर्षों में होने वाले अधिकांश परिवर्तन समाजशास्त्र द्वारा सुझाये गये और बताये गये मार्ग या ढंग के अनुसार हुए हैं।** अब तो समाजशास्त्रीय सिद्धांतों एवं पद्धतियों का राजनीतिशास्त्र में काफी प्रयोग होने लगा है। वास्तव में राजनीतिक व्यवहार को समझने के लिए, उदाहरण के रूप में मतदान-प्रतिमान या मतदान-व्यवहार को जानने के लिए सामाजिक तथ्यों, विभिन्न सामाजिक संस्थाओं जैसे, जाति प्रणाली, संयुक्त परिवार प्रणाली, वर्ग-भेद, स्त्रियों की स्थिति आदि के संबंध में जानकारी आवश्यक है। प्रामाणिक आधार पर यह जानकारी हमें समाजशास्त्र से ही मिल सकती है। सामाजिक व्यवस्था और संगठन पर राज्य के कार्यों का काफी प्रभाव पड़ता है। राज्य के द्वारा पारित कानून प्रथाओं, रूढियों, संस्थाओं और मूल्यों को काफी प्रभावित करते हैं। हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 तथा अनेक अन्य अधिनियमों ने सामाजिक जीवन और लोगों के व्यवहार को अनेक रूपों में प्रभावित किया है। **गिलक्राइस्ट** के शब्दों में, हम कह सकते हैं कि दोनों विज्ञानों की यथार्थ सीमाओं को दृढ़ता के साथ परिभाषित नहीं किया जा सकता। वे कभी-कभी एक-दूसरे की सीमा में प्रवेश करते हैं, लेकिन (फिर भी दोनों में) उनमें स्पष्ट सामान्य भेद है।

अन्तर (Difference)

समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में निम्नलिखित अंतर पाये जाते हैं:

1. समाजशास्त्र समाज के सभी पक्षों का अध्ययन करता है जबकि राजनीतिशास्त्र अपने को प्रमुखत: औपचारिक संगठनों में व्याप्त सत्ता (Power) के अध्ययन तक सीमित रखता है।
2. समाजशास्त्र विभिन्न संस्थाओं जिनमें सरकार (Government) भी शामिल है, के परस्पर-संबंध पर जोर देता है जबकि राजनीतिशास्त्र सरकार के भीतर चलने वाली प्रक्रियाओं पर।
3. समाजशास्त्र सभी प्रकार के सामाजिक संबंधों का अध्ययन करता है जबकि राजनीतिशास्त्र सामाजिक संबंधों के एक भाग-संगठित संबंधों, विशेषत: राजनीतिक संबंधों का अध्ययन करता है।
4. समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान है जबकि राजनीतिशास्त्र एक विशेष विज्ञान है।
5. समाजशास्त्र सामाजिक नियंत्रण के औपचारिक एवं अनौपचारिक सभी प्रकार के साधनों के अध्ययन में रुचि रखता है, जबकि राजनीतिशास्त्र उन औपचारिक साधनों के अध्ययन में जिन्हें राज्य की अभिमति प्राप्त है, जैसे कानून में रुचि रखता है।
6. समाजशास्त्र वर्तमान स्थिति का यथार्थ चित्रण करता है, न कि क्या होना चाहिए का। राजनीतिशास्त्र एक आदर्शात्मक विज्ञान (Normative Science) के रूप में क्या होना चाहिए पर जोर देता है। यह शास्त्र बताता है कि भविष्य में राज्य की नीतियां क्या होनी चाहिए, सरकार का रूप कैसा होना चाहिए आदि।
7. इन दोनों विज्ञानों के बीच पाये जाने वाले अन्तर को स्पष्ट करने की दृष्टि से गिलक्राइस्ट ने लिखा है कि समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है, राजनीतिशास्त्र राज्य या राजनीतिक समाज का। समाजशास्त्र मनुष्य का एक सामाजिक प्राणी के रूप में अध्ययन करता है और क्योंकि राजनीतिक संगठन सामाजिक संगठन का एक विशेष प्रकार है, इसलिए राजनीतिशास्त्र समाजशास्त्र की बजाय अधिक विशिष्ट विज्ञान है।

नोट

8. समाजशास्त्र एक व्यवहारात्मक विज्ञान (Behavioural Science) है, परन्तु राजनीतिशास्त्र व्यवहारात्मक विज्ञान की श्रेणी में नहीं आता, परन्तु अब राजनीतिशास्त्र में व्यक्ति के राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन करने की प्रवृत्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है।
9. दोनों शास्त्रों की अध्ययन-पद्धतियों में भी काफी अन्तर पाया जाता है। समाजशास्त्र में सामाजिक सर्वेक्षण पद्धति, वैयक्तिक जीवन अध्ययन पद्धति, अवलोकन और साक्षात्कार पद्धति, समाजमिति आदि का प्रयोग किया जाता है जबकि राजनीतिशास्त्र में आगमन और निगमन पद्धतियों (Inductive and Deductive Methods) का। अब राजनीतिशास्त्र भी समाजशास्त्र में प्रयुक्त पद्धतियों को काम में लेने लगा है।
10. समाज का विकास राज्य के पहले हुआ और इस दृष्टि से समाजशास्त्र राजनीतिशास्त्र की तुलना में अधिक प्राचीन है। इतना अवश्य है कि समाजशास्त्र का एक विज्ञान के रूप में विधिवत अध्ययन राजनीतिशास्त्र के बाद में शुरू हुआ।

1.11.5 समाजशास्त्र एवं मावनशास्त्र (Anthropology and Sociology)

सामाजिक मानवशास्त्र और समाजशास्त्र एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से संबंधित हैं। संबंधों की इसी घनिष्ठता के कारण इनमें कोई स्पष्ट विभाजक रेखा खींचना संभव नहीं है। **इवान्स प्रिचार्ड** की तो मान्यता है कि सामाजिक मानवशास्त्र को समाजशास्त्रीय अध्ययनों की एक शाखा माना जा सकता है, वह शाखा जो प्रमुखत: अपने को आदिम समाजों के अध्ययन में लगाती है। जब लोग समाजशास्त्र शब्द का प्रयोग करते हैं तो साधारणतया उनके मस्तिष्क में सभ्य समाजों की विशिष्ट समस्याओं के अध्ययन होते हैं। **कीसिंग** ने लिखा है कि सामाजिक मानवशास्त्र और समाजशास्त्र के बीच निकट संबंध है, दोनों प्रबल रूप से समूह-व्यवहार (Group behaviour) के वैज्ञानिक सामान्यीकरणों से संबंधित हैं। **क्रोबर** ने समाजशास्त्र और मानवशास्त्र के बीच पाये जाने वाले घनिष्ठ संबंधों के आधार पर ही इन्हें जुड़वां बहिनें माना है। **हॉबल** के अनुसार विस्तृत अर्थों में समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र एक ही हैं, समान हैं। मानवशास्त्र के तीन भागों—भौतिक मानवशास्त्र (Physical Anthropology), प्रागैतिहासिक मानवशास्त्र (Prehistioric Anthropology) तथा सामाजिक मानवशास्त्र (Social Anthropoligy) में से समाजशास्त्र सामाजिक मानवशास्त्र के अत्यंत निकट है।

दोनों ही विज्ञानों के द्वारा समाजों का अध्ययन किया जाता है। इतना अवश्य है कि सामाजिक मानवशास्त्र के द्व ारा विशेषत: आदिम समाजों (Primitive Societies) का अध्ययन किया जाता है जबकि समाजशास्त्र के द्व ारा आधुनिक जटिल सभ्य समाजों का। सामाजिक मानवशास्त्र में समाजों का उनकी संपूर्णता में अध्ययन किया जाता है। सामाजिक मानवशास्त्री आदिम लोगों की अर्थव्यवस्था का, उनके परिवार और नातेदारी संगठनों का, उनकी प्रौद्योगिकी (Technology) तथा कलाओं का सामाजिक व्यवस्थाओं के भागों के रूप में अध्ययन करता है। दूसरी ओर समाजशास्त्री पृथक्-पृथक् समस्याओं का जैसे विवाह-विच्छेद, वेश्यावृत्ति, अपराध, श्रमिक-असंतोष आदि का अध्ययन करता है।

सामाजिक मानवशास्त्री सरल और छोटे आदिम समाजों का अध्ययन कर समाजशास्त्री को आधुनिक जटिल सभ्य समाजों को समझने में सहायता पहुँचाता है। **क्लुखौन** (Kluckhohn) के अनुसार मानवशास्त्र व्यक्ति के सामने ऐसा दर्पण (Mirror) प्रस्तुत करता है जिसमें वह अपने को अपनी असंख्य (असीमित) विविधता (Variety) में देख सकते हैं। स्पष्ट है कि मानवशास्त्री समाजशास्त्री को मानव की प्रकृति को अधिक उत्तमता के साथ समझने में योग देता है। समाजशास्त्री आधुनिक जटिल समाजों में विशिष्ट समस्याओं का अध्ययन कर मानवशास्त्री के लिए अनेक उपकल्पनाएँ (Hypotheses) प्रस्तुत करता है। विस्तृत अर्थों में समाजशास्त्र मानव समाजों के संबंध में सैद्धांतिक ज्ञान का एक सामान्य पुंज (Body) है। सैद्धांतिक ज्ञान के इस पुंज का आदिम सामाजिक जीवन के साथ घनिष्ठ संबंध पाया जाता है। समाजशास्त्र के सैद्धांतिक ज्ञान का उपयोग आदिक सामाजिक जीवन को अधिक उत्तमता के साथ समझने में किया जाता है। दुर्खीम ने अपने समाजशास्त्रीय अध्ययनों के द्वारा सामाजिक घटनाओं की तह या मूल में पाये जाने वाले सामाजिक कारण को ढूंढ निकाला। आपने विविध घटनाओं का कारण स्वयं समाज को माना है। अनेक अंग्रेज मानवशास्त्रियों ने दुर्खीम की समाजशास्त्रीय उपकल्पनाओं का प्रयोग मानवशास्त्रीय अध्ययनों में किया है।

नोट

संस्कृति के विज्ञान के रूप में मानवशास्त्र समाजशास्त्र के काफी निकट है। किसी भी समाज के संबंध में यथार्थ जानकारी प्राप्त करने के लिए उस समाज की संस्कृति को समझना अत्यंत आवश्यक है और इसके लिए समाजशास्त्र को मानवशास्त्र से सहायता लेनी होगी। साथ ही मानवशास्त्र को संस्कृति की उत्पत्ति और विकास को जानने के लिए समाजशास्त्र द्वारा अध्ययन की जाने वाली सामाजिक अन्त:क्रियाओं एवं सामाजिक संबंधों की व्यवस्था से परिचित होना पड़ेगा। संस्कृति के विकास में योग देने वाले कारकों की जानकारी समाजशास्त्र ही करता है। समाजशास्त्र सामाजिक अन्त:क्रियाओं का अध्ययन करता है और इन अन्त:क्रियाओं के परिणामस्वरूप ही किसी समाज की संस्कृति की उत्पत्ति और विकास होता है। स्पष्ट है कि दोनों विज्ञान एक-दूसरे पर काफी निर्भर हैं। **बाटोमोर** ने भारत के संदर्भ में समाजशास्त्र एवं मानवशास्त्र के बीच पाये जाने वाले घनिष्ठ संबंध को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि भारतीय समाज न तो आदिम समाजों के समान पूरी तरह से पिछड़ा हुआ है और न ही औद्योगिक समाजों के समान पूर्णत: विकसित। ऐसे समाजों में, जिनका कि भारत एक ज्वलन्त उदाहरण है, समाजशास्त्र व मानवशास्त्र के मध्य अधिक अंतर कोई अर्थ नहीं रखता है। भारत में समाजशास्त्रीय अन्वेषण, चाहे वे जाति-व्यवस्था से संबंधित हों, ग्राम-समुदायों से अथवा औद्योगीकरण की विधि तथा उसके प्रभाव आदि से, समाजशास्त्रियों या मानवशास्त्रियों द्वारा किये जाते हैं तथा किये जाने चाहिए। इस प्रकार बाटोमोर ने इन दोनों विषयों के बीच किसी प्रकार के विभाजन को अनावश्यक माना है।

अन्तर (Difference)

इन दोनों विज्ञानों में यद्यपि घनिष्ठ संबंध पाया जाता है, परन्तु दोनों एक नहीं हैं, दोनों में कुछ महत्त्वपूर्ण अन्तर हैं जो इस प्रकार हैं:

1. इनमें विषय-क्षेत्र की दृष्टि से अन्तर पाया जाता है। मानवशास्त्र प्रमुखत: आदिम समाजों का अध्ययन करता है जबकि समाजशास्त्र सभ्य समाजों का।
2. इन दोनों में पद्धति संबंधी अन्तर भी पाया जाता है। मानवशास्त्र में प्रमुखत: 'सहभागी अवलोकन पद्धति' (Participant Observation Method) का प्रयोग किया जाता है। मानवशास्त्री को जिस आदिम समुदाय का अध्ययन करना होता है, वह उसमें जाकर बस जाता है, साल दो साल उसी समुदाय में रहता है और प्रत्यक्ष अवलोकन द्वारा उस समुदाय के लोगों का गहन अध्ययन करता है। दूसरी ओर समाजशास्त्री को निदर्शन (Sampling) की समस्या का सामना करना पड़ता है, उसे अनुसूची या प्रश्नावली आदि बनाकर सूचनाएं एकत्रित करनी पड़ती हैं तथा प्रलेखों एवं सांख्यिकीय पद्धति का सहारा लेना पड़ता है।
3. समाजशास्त्र का एक ओर सामाजिक दर्शन के साथ, तो दूसरी ओर नियोजन के साथ घनिष्ठ संबंध पाया जाता है। **इवान्स प्रिचार्ड** ने लिखा है कि समाजशास्त्र केवल इस बात का पता लगाने की कोशिश ही नहीं करता है कि संस्थाएँ कैसे कार्य करती हैं बल्कि यह भी बतलाता है कि उन्हें कैसे कार्य करना चाहिए, कैसे परिवर्तित होना चाहिए, जबकि मानवशास्त्र अपने को इस प्रकार के विचारों से दूर रखता है।
4. इन दोनों विज्ञानों में एक अन्य अंतर यह है कि मानवशास्त्र समाजों का उनके संपूर्ण रूप में या समग्रता में अध्ययन करता है, उनसे संबंधित सभी पहलुओं के संबंध में जानकारी प्राप्त करता है। समाजशास्त्र अक्सर किसी समाज के भागों (Parts) का अध्ययन करता है और सामान्यत: किसी संस्था विशेष या किसी प्रक्रिया आदि में रुचि लेता है।
5. मानवशास्त्री अधिकतर छोटे आत्म-निर्भर समूह या समुदाय का जबकि समाजशास्त्री बड़े या व्यापक और अवैयक्तिक संगठनों तथा सामाजिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है।

1.11.6 समाजशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र (Philosophy and Sociology)

समाजशास्त्र और दर्शनशास्त्र एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। **सेलर्स** (R. W. Sellers) के अनुसार दर्शनशास्त्र एक व्यवस्थित विचार या चिन्तन के माध्यम से संसार और स्वयं (मनुष्य) की प्रकृति के बारे में पूर्ण जानकारी प्राप्त करने का निरन्तर प्रयत्न है। इस प्रकार दर्शनशास्त्र संसार और मनुष्य की प्रकृति को समझने का एक प्रयत्न है और इस प्रयत्न में समाजशास्त्र काफी योग देता है। दर्शनशास्त्र में तर्क एवं कल्पना का प्रमुख रूप

नोट

से सहारा लिया जाता है। तर्क एवं कल्पना के आधार पर ही जनरीतियों, प्रथाओं, रूढ़ियों व परम्पराओं का विकास हुआ है और इन सब का अध्ययन समाजशास्त्र करता है। दर्शनशास्त्र सामाजिक आदर्शों एवं मूल्यों का अध्ययन करता है। समाजशास्त्र इनका अध्ययन सामाजिक पृष्ठभूमि में करता है। समाजशास्त्र सामाजिक आदर्शों एवं मूल्यों को ध्यान में रख कर ही समूह या समाज में व्यक्ति के व्यवहार का मूल्यांकन करता है। **मैकाइवर** ने समाजशास्त्र में सामाजिक मूल्यों के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि बिना मूल्यों (Values) के समाज को नहीं समझा जा सकता। **ऑगस्ट कॉम्ट** की मान्यता है कि समाजशास्त्र का दृष्टिकोण वैज्ञानिक होने के साथ-साथ कल्याणकारी भी होना चाहिए तथा इसके लिए उसे सामाजिक मूल्यों (Social Values) का सहारा लेना पड़ेगा जो कि प्रमुखत: दर्शनशास्त्र का अध्ययन विषय है। दर्शनशास्त्र को सामाजिक परिस्थितियों की प्रकृति को समझने के लिए समाजशास्त्र से और समाजशास्त्र को सामाजिक घटनाओं की प्रकृति को जानने के लिए दर्शनशास्त्र से सहायता प्राप्त करना आवश्यक है।

दर्शनशास्त्र की एक शाखा सामाजिक-दर्शनशास्त्र (Social Philosophy) समाजशास्त्र और दर्शनशास्त्र को जोड़ने का काम करती है। सामाजिक दर्शनशास्त्र का कार्य सामाजिक जीवन में परम मूल्यों (Ultimate Values) की व्याख्या और उन्हें इस प्रकार प्रस्तुत करना है कि वे विभिन्न व्यक्तियों के व्यवहारों को प्रभावित कर सकें। दर्शनशास्त्र का सम्बन्ध प्रमुखत: उन सामाजिक आदर्शों एवं मूल्यों से है जिन्हें वह सामाजिक जीवन में उतारना चाहता है। समाजशास्त्र चाहता है कि सामाजिक आदर्श और मूल्य सामाजिक जीवन में प्रभावपूर्ण ढंग से लागू किये जा सकें अर्थात् व्यक्तियों का व्यवहार इनके अनुरूप हो सके। यहीं ये दोनों विज्ञान एक-दूसरे के निकट हैं। दुर्खीम ने विश्वासपूर्वक कहा है कि अन्य सामाजिक विज्ञानों की तुलना में समाजशास्त्र दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में सर्वाधिक सहायता प्रदान करता है। साथ ही आपने यह भी बताया है कि समाजशास्त्रीय ज्ञान के विकास में दर्शनशास्त्र का प्रभाव सदैव बना रहेगा। स्पष्ट है कि समाजशास्त्र और दर्शनशास्त्र एक-दूसरे के पूरक हैं, दोनों घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं।

अन्तर (Difference)

उपर्युक्त दोनों विज्ञानों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी इनमें निम्नलिखित अन्तर हैं :

1. दर्शनशास्त्र की तुलना में समाजशास्त्र एक नवीन विज्ञान है। दर्शनशास्त्र तुलनात्मक दृष्टि से एक पुराना विज्ञान है।
2. समाजशास्त्र का अध्ययन क्षेत्र विस्तृत है जबकि दर्शनशास्त्र का सीमित है।
3. समाजशास्त्र एक सामान्य सामाजिक विज्ञान है जबकि दर्शनशास्त्र एक विशेष सामाजिक विज्ञान है।

1.11.7 समाजशास्त्र एवं समाजकार्य (Social-work and Sociology)

इसमें कोई सन्देह नहीं कि समाजशास्त्र और समाज-कार्य (सामाजिक कार्य) के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है, परन्तु साथ ही यह भी सही है कि समाज-कार्य को सन्तोषजनक ढंग से परिभाषित नहीं किया गया है। **प्रो. सुशील चन्द्र** ने समाज-कार्य का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है, "समाज-कार्य सार्वजनिक या वैयक्तिक प्रयत्न द्वारा की जाने वाली वह गतिशील गतिविधि [क्रिया-कलाप (Activity)] है जिसे सामाजिक नीति को इस दृष्टि से कार्य रूप देने के लिए अपनाया गया है ताकि लोगों के रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाया और सामाजिक विकास के किसी भी स्तर वाले समाज के व्यक्ति, परिवार एवं समूह का सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक कल्याण किया जा सके।" **हालेन क्लार्क** (Halen Clarke) ने लिखा है, "समाज कार्य, ज्ञान तथा निपुणता के मिश्रण से निर्मित व्यावसायिक सेवा का एक प्रकार है जो एक तरफ व्यक्ति को अपनी आवश्यकताओं को सामाजिक वातावरण में पूरा करने में मदद देने का और दूसरी तरफ, जहाँ तक सम्भव हो, उन बाधाओं को दूर करने का प्रयत्न करता है जो लोगों को श्रेष्ठतम जिसके कि वे योग्य हैं, को प्राप्त करने में कठिनाई पैदा करती हैं।" उपर्युक्त दोनों परिभाषाओं से पता चलता है कि समाज-कार्य (*i*) व्यक्ति और समूह की आवश्यकताओं एवं कल्याण से सम्बन्धित है तथा (*ii*) यह सामाजिक वातावरण से उत्पन्न समस्याओं को हल करने का प्रयत्न है ताकि व्यक्ति, समूह और समुदाय अपनी क्षमताओं को ठीक से काम में ले सकें। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि समाज-कार्य वह वैयक्तिक या सार्वजनिक गतिविधि है जिससे लोगों का जीवन-स्तर ऊंचा उठ सके और व्यक्ति, परिवार तथा समूह

नोट

का सभी दृष्टियों से कल्याण हो सके। समाज-कार्य को व्यावसायिक सेवा के एक प्रकार के रूप में भी परिभाषित किया गया है ताकि व्यक्तियों की सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा किया जा सके और उनके उद्देश्यों की प्राप्ति में रुकावट डालने वाली बाधाओं को दूर किया जा सके।

जहाँ तक इन दोनों (समाजशास्त्र और समाज-कार्य) में सम्बन्ध का प्रश्न है, यह कहा जा सकता है कि जहाँ समाजशास्त्र एक विशुद्ध विज्ञान (Pure Science) है, वहाँ समाज-कार्य एक व्यावहारिक विज्ञान (Applied Science) है। समाज-कार्य को समाजशास्त्र का व्यावहारिक पक्ष माना गया है। समाज-कार्य के एक विषय के रूप में विकास के लिए प्रमुखत: समाजशास्त्र ही उत्तरदायी है। इस नवीन व्यावहारिक विज्ञान को विकसित करने में समाजशास्त्रियों, जैसे हेण्डरसन, बोगार्डस, लिंडमेन, ओडम, गिलिन, सदरलैण्ड, वुड आदि का काफी योगदान रहा है। समाजशास्त्रीय अवधारणाओं एवं सिद्धान्तों को व्यवहार में प्रयोग में लाने का श्रेय समाज-कार्य में लगे विद्वानों और कार्यकर्ताओं को है। समाजशास्त्रीय ज्ञान और अनुसन्धानों के आधार पर प्राप्त निष्कर्षों का समाज-कार्य के क्षेत्र में बहुत प्रयोग किया गया है। समाज-कार्य के लक्ष्यों की प्राप्ति में समाजशास्त्रीय ज्ञान काफी सहायक रहा है। समाज-कार्य से सम्बन्धित लोगों का कार्यक्षेत्र व्यक्ति, परिवार, समूह और समुदाय है, इनकी आवश्यकताओं की पूर्ति और इनका कल्याण है। इन्हें समझने में समाजशास्त्र काफी सहायता प्रदान करता है। जब तक व्यक्तियों के आपसी सम्बन्धों सामाजिक प्रक्रियाओं और समूह संरचनाओं को ठीक से नहीं समझ लिया जाता, तब तक समाज-कार्य अपने लक्ष्यों की प्राप्ति ठीक से नहीं कर सकता। इन सभी के सम्बन्ध में यथार्थ जानकारी प्रदान करने में समाजशास्त्र सहायक है।

समाजशास्त्रीय ज्ञान का व्यवहारिक क्षेत्र में प्रयोग कर समाज-कार्य सामाजिक समस्याओं को दूर करने में योग देता है। साथ ही समाज-कार्य के प्रयोग में आने वाली विभिन्न पद्धतियों, जैसे—सामाजिक वैयक्तिक अध्ययन (Social Case Work), सामाजिक समूह कार्य (Social Group Work), सामुदायिक संगठन (Community Organization), सामाजिक क्रिया (Social Action), सामाजिक कार्य प्रशासन (Social Work Administration), आदि का विकास मूल रूप में समाजशास्त्र की अध्ययन-पद्धतियों के रूप में ही हुआ है। इस प्रकार समाज-कार्य क्षेत्र में समाजशास्त्र का काफी योगदान है। साथ ही समाज-कार्य के अन्तर्गत विभिन्न क्षेत्रों में चल रही गतिविधियों या कार्यों के अनुभव व्यावहारिक ज्ञान के रूप में समाजशास्त्र के लिए काफी उपयोगी हैं। स्पष्ट है कि इन दोनों विज्ञानों में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

अन्तर (Difference)

समाजशास्त्र और समाज-कार्य में प्रमुख अन्तर निम्नलिखित हैं :

1. समाजशास्त्र एक विशुद्ध एवं सैद्धान्तिक विज्ञान है जबकि समाज-कार्य एक व्यवहारिक विज्ञान है।
2. समाजशास्त्र का लक्ष्य सामाजिक घटनाओं एवं समस्याओं के कार्य-कारण सम्बन्धों का पता लगाकर यथार्थ (वास्तविक) स्थिति का चित्रण करना है जबकि समाज-कार्य का लक्ष्य समस्याओं को हल करना है।
3. समाजशास्त्र समग्र रूप में समाज का अध्ययन है जबकि समाज-कार्य व्यक्ति, समूह और समुदाय के विकास के मार्ग में आने वाली बाधाओं और इन्हें दूर करने के प्रयत्नों से सम्बन्धित है।

1.11.8 समाजशास्त्र एवं भूगोल (Geography and Sociology)

समाजशास्त्र और भूगोल पूर्णतया दो पृथक् विषय मालूम पड़ते हैं, परन्तु इन दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है। भौगोलिक पर्यावरण का सामाजिक जीवन पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। **मैकाइवर** और **पेज** के अनुसार, भौगोलिक पर्यावरण में वे दशाएँ आती हैं जो प्रकृति (Nature) मनुष्य के लिए उपलब्ध कराती है। इसमें अपनी सभी भौतिक विशेषताओं और प्राकृतिक स्रोतों—भूमि का वितरण तथा पानी, पहाड़ एवं मैदान, खनिज एवं पेड़-पौधे, पशु तथा जलवायु और अन्तरिक्षीय शक्तियों सहित जो पृथ्वी पर अपना असर डालती और मनुष्य के जीवन को प्रभावित करती है, भूमि की सतह आती है। समाजशास्त्र में सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक प्रक्रियाओं, समूहों, संरचनाओं, प्रथाओं, रूढ़ियों, संस्थाओं, विश्वासों और संस्कृति का अध्ययन किया जाता है। इन दोनों विज्ञानों में पारस्परिक निर्भरता काफी पायी जाती है। भौगोलिक पर्यावरण और परिस्थितियां समाज और सामाजिक जीवन को विभिन रूपों में प्रभावित करती

हैं। भौगोलिक पर्यावरण का व्यक्तियों के रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा, बोल-चाल, रीति-रिवाज, विश्वास, संस्कृति आदि पर काफी प्रभाव पड़ता है। अलग-अलग क्षेत्रों में इन सबमें पायी जाने वाली भिन्नता का कारण प्राकृतिक पर्यावरण व भौगोलिक परिस्थितियों का अन्तर ही है। समाजशास्त्र के अन्तर्गत अध्ययन किये जाने वाले रीति-रिवाजों, प्रथाओं, रूढ़ियों, विश्वासों, धर्म एवं संस्कृति आदि को समझने के लिए भौगोलिक या प्राकृतिक पर्यावरण को समझना आवश्यक है। कुछ भूगोलशास्त्रियों और समाजशास्त्रियों की तो यहाँ तक मान्यता है कि भौगोलिक पर्यावरण ही समाज के आकार एवं स्वरूप को निर्धारित करता है। भौगोलिक पर्यावरण के सामाजिक जीवन पर व्यापक प्रभाव के कारण ही वर्तमान में समाजशास्त्र में भौगोलिक सम्प्रदाय (Geographical School) का विकास हुआ है। अपनी विषय-सामग्री को समझने की दृष्टि से समाजशास्त्री के लिए भौगोलिक पर्यावरण की जानकारी आवश्यक है। इसके बिना वह सामाजिक परिस्थितियों को ठीक से नहीं समझ सकता।

भूगोल पर समाजशास्त्र का काफी प्रभाव देखने को मिलता है। यही कारण है कि भूगोल की एक नयी शाखा 'मानव भूगोल' (Human Geography) का विकास हो पाया है। इसका कार्य प्राकृतिक परिस्थितियों एवं मानवीय व्यवहारों के बीच पाये जाने वाले पारस्परिक सम्बन्धों को ज्ञात करना है। समाज, सामाजिक जीवन और संस्थाओं सम्बन्धी अपने विशेष ज्ञान के आधार पर समाजशास्त्र भूगोल को मानव समाज के लिए अधिक लाभकारी बनाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि दोनों विज्ञानों में निकट का सम्बन्ध है, पारस्परिक निर्भरता है।

अन्तर (Difference)

समाजशास्त्र एवं भूगोल में निम्नलिखित अन्तर हैं :

1. समाजशास्त्र में सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है जबकि भूगोल में प्राकृतिक पर्यावरण का।
2. समाजशास्त्र की विषय-सामग्री समाज है जबकि भूगोल की भौगोलिक परिस्थितियां।
3. समाज के सभी पहलुओं का अध्ययन करने के कारण समाजशास्त्र का क्षेत्र भूगोल की तुलना में व्यापक है।
4. समाजशास्त्र की अध्ययन-पद्धतियाँ भूगोल की अध्ययन-पद्धतियों से भिन्न हैं।

1.11.9 समाजशास्त्र एवं अपराधशास्त्र (Criminology and Sociology)

अपराधशास्त्र के अन्तर्गत अपराध का अध्ययन किया जाता है जबकि समाजशास्त्र के अन्तर्गत समाज का। अपराध और समाज इतने घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं कि इन दोनों का अध्ययन करने वाले विषयों—अपराधशास्त्र और समाजशास्त्र में निकट का सम्बन्ध होना स्वाभाविक ही है। अपराधशास्त्र में सामाजिक परिस्थितियों को ध्यान में रखकर ही अपराध का अध्ययन किया जाता है और इन परिस्थितियों का ज्ञान समाजशास्त्र से ही प्राप्त होता है। अब तो यह सिद्ध हो चुका है कि अपराधी जन्मजात नहीं होते। वे तो सामाजिक पर्यावरण की देन हैं। अपराधी-व्यवहार को जानने तथा इनके पीछे छिपे कारणों का पता लगाने की दृष्टि से आवश्यक है कि समाज की प्रकृति को समझा जाए और सामाजिक परिस्थितियों का ज्ञान प्राप्त किया जाए। इसके लिए अपराधशास्त्र पर निर्भर रहना पड़ेगा।

अपराध प्रमुखतः राज्य के कानूनों का उल्लंघन है, उन्हें तोड़ना है। अन्य शब्दों में, कानून-विरोधी कार्य को ही अपराध कहा जाता है। अपराधशास्त्र इन अपराधी कानूनों का अध्ययन भी करता है, लेकिन इन कानूनों को समझने के लिए हमें समाजशास्त्र में अध्ययन की जाने वाली प्रथाओं, रूढ़ियों, परम्पराओं और सामाजिक मूल्यों का अध्ययन करना होगा क्योंकि इन्हीं के आधार पर तो कानूनों का निर्माण होता है। साथ ही समाजशास्त्र यह भी बताता है कि जो कानून प्रथा के विपरीत होंगे, उनके उल्लंघन की सम्भावना ज्यादा रहेगी। इस अपराध एवं अपराधी-कानूनों के सम्बन्ध में काफी मात्रा में आवश्यक जानकारी हमें समाजशास्त्र से ही मिलती है। समाजशास्त्र ने तो न्यायशास्त्र एवं दण्डशास्त्र को भी प्रभावित किया है। अपराधी के दण्ड का निर्धारण और उसे दण्डित करने के सम्बन्ध में समाजशास्त्रीय ज्ञान का उपयोग दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है। अपराधी के प्रति मानवतावादी दृष्टिकोण अपनाकर उसके सुधार का प्रयत्न वास्तव में न्यायशास्त्र की ही देन है। इस प्रकार स्पष्ट है कि ये दोनों शास्त्र एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं।

अन्तर (Difference)

इन दोनों शास्त्रों में निम्नलिखित अन्तर पाये जाते हैं :

1. समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक प्रक्रियाओं और सामाजिक व्यवहारों का अध्ययन है जबकि अपराधशास्त्र केवल अपराध और अपराधी-व्यवहार का।
2. समाजशास्त्र का क्षेत्र इस दृष्टि से व्यापक है कि इसके द्वारा सम्पूर्ण समाज का, सामाजिक जीवन के सभी पहलुओं का अध्ययन किया जाता है जबकि अपराधशास्त्र में केवल एक पहलू-अपराधी व्यवहार का। इस दृष्टि से अपराधशास्त्र का क्षेत्र समाजशास्त्र की तुलना में सीमित है।
3. समाजशास्त्र एक विशुद्ध एवं सैद्धान्तिक विज्ञान है। यह 'क्या है' का वर्णन करता है न कि 'क्या होना चाहिए' का। अपराधशास्त्र अपराध से सम्बन्धित तथ्यों का पता लगाने और कारणों को मालूम करने का प्रयत्न करता है, परन्तु साथ ही यह क्या होना चाहिए' का अध्ययन भी करता है। इसका उद्देश्य अपराधी व्यवहार या कानूनों के उल्लंघन को रोकना तथा अपराधी को सुधारना है। इस दृष्टि से यह एक आदर्शात्मक विज्ञान (Normative Science) है।

नोट

सभी सामाजिक विज्ञान एक-दूसरे के पूरक हैं (All Social Sciences are Complimentary to one Another)

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि समाजशास्त्र और अन्य सामाजिक विज्ञानों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है। ये सभी विज्ञान एक-दूसरे के पूरक हैं, आपस में एक-दूसरे का सहयोग करते हैं। समाज एक समग्रता है और इसी कारण जीवन के विभिन्न पक्षों को एक-दूसरे से पूर्णत: पृथक् नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में समाज के विभिन्न पक्षों या पहलुओं का अध्ययन करने वाले सामाजिक विज्ञानों को एक-दूसरे से पूरी तरह पृथक् करना सम्भव नहीं है। इन विभिन्न सामाजिक विज्ञानों में न केवल आदान-प्रदान का सम्बन्ध ही है बल्कि ये एक-दूसरे के पूरक भी हैं। एक का ज्ञान दूसरे विषय को समझने में मदद भी करता है। ये सभी सामाजिक विज्ञान एक-दूसरे से मदद लेते और देते हैं क्योंकि इन सबका उद्देश्य प्रमुखत: समाज के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करते हुए उसे समग्र रूप में या सम्पूर्णता में समझना है। अब तो इन विज्ञानों के बढ़ते हुए पारस्परिक सम्बन्धों के कारण ही विभिन्न विषयों के अध्ययन में अन्तरशास्त्रीय उपागम पद्धति (Inter-disciplinary Approach) का प्रयोग किया जाने लगा है।

विभिन्न सामाजिक विज्ञानों की विषय-वस्तु में बहुत कुछ समानता होते हुए भी इनके अध्ययन के दृष्टिकोणों में भिन्नता पायी जाती है। उदाहरण के रूप में, अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री और राजनीतिशास्त्री निर्धनता, बेकारी, ग्रामीण पुनर्निर्माण (Rural Reconstruction), नियोजित सामाजिक परिवर्तन, पंचवर्षीय योजना, विकास कार्यक्रम जैसे समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम (IRDP), स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना (SGSY) आदि का सामान्य रूप से अध्ययन करते हैं, परन्तु प्रत्येक विषय से सम्बन्धित समाज-वैज्ञानिक का दृष्टिकोण अन्य विषयों के समाज-वैज्ञानिकों से भिन्न होता है। अर्थशास्त्री उपर्युक्त बातों अथवा समस्याओं का अध्ययन आर्थिक दृष्टिकोण से करेगा जबकि समाजशास्त्री और राजनीतिशास्त्री, समाजशास्त्रीय और राजनीतिशास्त्रीय दृष्टिकोण से। अर्थशास्त्री बेकारी या निर्धनता पर विशुद्ध आर्थिक दृष्टिकोण से विचार करेगा। समाजशास्त्री बेकारी या निर्धनता के आर्थिक कारकों एवं परिणामों के अलावा सामाजिक कारकों पर विचार करेगा और साथ ही यह बताने की कोशिश भी करेगा कि इन समस्याओं के बने रहने से सामाजिक विघटन को किस प्रकार प्रोत्साहन मिलेगा। राजनीतिशास्त्र इनका अध्ययन इस दृष्टिकोण से करेगा कि ये समस्याएँ जन-साधारण को कहाँ तक प्रभावित करती हैं, इनका मतदाताओं पर क्या प्रभाव पड़ता है, क्या ये सरकार के पतन का कारण बन सकती हैं? इनको हल करना राज्य या कल्याण ाकारी सरकार का प्रमुख दायित्व भी है। अर्थशास्त्री और राजनीतिशास्त्री अब यह महसूस करने लगे हैं कि लोगों के विकास की अच्छी से अच्छी योजना उस समय तक हल नहीं हो सकती जब तक कि उसको बनाने और लागू करने में लोगों का सक्रिय सहयोग प्राप्त नहीं कर लिया जाता और साथ ही जब तक मानवीय कारकों (Human Factors) अर्थात् लोगों की प्रथाओं, परम्पराओं, संस्थाओं, विश्वासों और संस्कृति का पूरा-पूरा ध्यान नहीं रखा जाता। अत: यह कहा जा सकता है कि विभिन्न सामाजिक वैज्ञानिक एक-सी विषय-वस्तु का अध्ययन करते हुए भी अपना-अपना विशिष्ट दृष्टिकोण रखते हैं। दृष्टिकोण की इसी भिन्नता के कारण विभिन्न सामाजिक विज्ञानों में घनिष्ठ सम्बन्ध के बावजूद कुछ अन्तर पाये जाते हैं। यहाँ इतना बता देना आवश्यक है कि सभी सामाजिक

विज्ञानों में समाजशास्त्र की केन्द्रीय स्थिति है क्योंकि यह समाज का समग्र रूप में अध्ययन करता है जबकि अन्य सामाजिक विज्ञान इसके किसी एक पक्ष का। अन्त में हम यही कह सकते हैं कि सभी सामाजिक विज्ञानों की अपनी-अपनी पृथक् स्वतन्त्र सत्ता है, यद्यपि ये एक-दूसरे के पूरक हैं और इनमें काफी आदान-प्रदान होता है।

नोट

1.12 सारांश (Summary)

- समाजशास्त्र 'समाज' का ही विज्ञान या शास्त्र है। इसके द्वारा समाज या सामाजिक जीवन का अध्ययन किया जाता है। इस नवीन विज्ञान को जन्म देने का श्रेय फ्रांस के प्रसिद्ध विद्वान **ऑगस्त कॉम्ट** (Auguste Comte) को है।
- **क्यूबर** (J.F. Cuber) के अ.नुसार, "समाजशास्त्र को मानव सम्बन्धों (Human relationships) के वैज्ञानिक ज्ञान की शाखा के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।"
- **इंकल्स** कहते हैं कि ''समाजशास्त्र परिवर्तनशील समाज का अध्ययन करता है, इसलिए समाजशास्त्र के अध्ययन की न तो कोई सीमा निर्धारित की जा सकती है और न ही इसके अध्ययन क्षेत्र को बिल्कुल स्पष्ट रूप से परिभाषित किया जा सकता है।''
- प्रत्येक विज्ञान या घटनाओं एवं तथ्यों को देखने समझने का एक अपना नजरिया होता है, एक दृष्टिकोण होता है, एक सन्दर्भ परिधि होती है, उसे ही उस विज्ञान का परिप्रेक्ष्य (Prespective) कहा जाता है।
- अठारहवीं शताब्दी के यूरोप की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं बौद्धिक परिस्थितियों ने समाजशास्त्र के उद्‌भव और विकास में विशेष योग दिया। अब राज्य व समाज की उत्पत्ति में दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त में विश्वास कम हुआ और इनकी उत्पत्ति में मानवीय प्रयत्नों को महत्त्वपूर्ण माना गया।
- सन् 1838 में ऑगस्त कॉम्ट ने उपर्युक्त प्रस्तावित विज्ञान को 'सोशियोलॉजी' नाम दिया। यह लैटिन के 'सोश्यस' तथा ग्रीक के 'लोगस' शब्द से मिलकर बना है जिसका अर्थ होता है—समाज का विज्ञान या शास्त्र। इसे ही हिन्दी में समाजशास्त्र कहा गया।
- विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होने के बावजूद समाजशास्त्र का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। प्रत्येक सामाजिक विज्ञान समाज के एक विशिष्ट पहलू का अध्ययन करता है, सम्पूर्ण समाज का नहीं।

1.13 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. समाजशास्त्र से क्या समझते हैं? समाजशास्त्र की परिभाषा दें।
2. समाजशास्त्र के उद्‌भव एवं विकास का वर्णन करें।
3. भारत में समाजशास्त्र के विकास तथा विकास की प्रवृत्तियों की व्याख्या करें।
4. समाजशास्त्र के क्षेत्र का वर्णन करें।
5. समाजशास्त्र की विषय-वस्तु या विषय-सामग्री से क्या तात्पर्य है? वर्णन करें।
6. समाजशास्त्र की विषय-सामग्री सामाजिक संबंध है। सत्यापित करें।
7. समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य से आप क्या समझते हैं? वर्णन करें।
8. समाजशास्त्र की प्रकृति एवं महत्त्व को समझाएँ।
9. समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र में क्या संबंध हैं? इनके अंतरों को स्पष्ट करें।
10. समाजशास्त्र तथा मनोविज्ञान के संबंधों का वर्णन करें।
11. समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में संबंध होते हुए भी ये एक-दूसरे से भिन्न हैं कैसे? स्पष्ट करें।

1.14 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

नोट

पुस्तकें

1. समाजशास्त्र के सिद्धांत–*राधिका गोयल, सुरभि।*
2. समाजशास्त्र का परिचय–*वीरेन्द्र प्रकाश, पंचशील प्रकाशन।*
3. समाजशास्त्र के सिद्धांत–*जी.आर. मदान।*
4. समाजशास्त्र–धर्मेन्द्र कुमार, टाटा मैकग्रॉ हिल।
5. समाजशास्त्र : एक व्यवस्थित अध्ययन–जॉन्सन, हैरी एम., एलाइड पब्लिशर्स।

नोट

इकाई–2: समाजशास्त्र की प्रारंभिक अवधारणाएँ (Basic Concepts of Sociology)

संरचना (STRUCTURE)

2.1 उद्देश्य (Objectives)
2.2 प्रस्तावना (Introduction)
2.3 समाज का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Society)
2.4 समाज की विशेषताएँ (Characteristics of Society)
2.5 मानव तथा पशु समाज की विशेषताएँ (Characteristics of Human and Animal Society)
2.6 समुदाय (Community)
2.7 संघ या समिति (Association)
2.8 संस्था (Institution)
2.9 सामाजिक समूह (Social group)
2.10 सामाजिक संरचना का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Social Structure)
2.11 सामाजिक संरचना की विशेषताएँ (Characteristics of Social Structure)
2.12 सामाजिक संरचना के प्रमुख रूप (Principal Types of Social Structure)
2.13 सामाजिक संरचना के स्तर (Levels of Social Structure)
2.14 सामाजिक प्रस्थिति (Social Status)
2.15 सारांश (Summary)
2.16 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
2.17 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

2.1 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे :

- समाज एवं समाज की विशेषताओं को समझने में;
- समुदाय, समिति तथा संस्था को समझने में;
- सामाजिक समूह तथा सामाजिक प्रस्थिति को समझने में।

2.2 प्रस्तावना (Introduction)

समाज, समाजशास्त्र में केन्द्रीय महत्त्व का शब्द है। इसे समझे बिना समाजशास्त्र को समझना कठिन है। समाजशास्त्र, समाज का विज्ञान है। अत: समाज, समाजशास्त्र की सबसे महत्त्वपूर्ण अवधारणा है। यद्यपि हममें से सभी इस शब्द से परिचित है परन्तु इसके जिस अर्थ से हम परिचित हैं वह अर्थ समाजशास्त्रीय अर्थ से भिन्न है।

सामान्य बोलचाल की भाषा में हम समाज शब्द का प्रयोग सभी प्रकार के मानव समूहों के लिए करते हैं। उदाहरण स्वरूप यदि किसी कक्षा के विद्यार्थियों से पूछा जाए कि वे किस समाज के सदस्य हैं, तो प्राप्त होने वाले कुछ उत्तर निम्नानुसार होंगे–

1. "मैं हिन्दू (या मुस्लिम या ईसाई) समाज का सदस्य हूँ।" (यहाँ समाज से अभिप्राय सम्प्रदाय से है।)
2. "मैं ब्राह्मण (या क्षत्रिय या वैश्य या हरिजन) समाज का सदस्य हूँ।" (यहाँ समाज से अभिप्राय वर्ण से है।)
3. "मैं विद्यार्थी (या व्यापारी) समाज का सदस्य हूँ।" (समाज यहाँ पर वर्ग बोधक है।)
4. "मैं भारतीय समाज का सदस्य हूँ।" (समाज से यहाँ तात्पर्य राष्ट्रीयता से है।)
5. "मैं मराठी (या बंगाली या गुजराती) समाज का सदस्य हूँ।" (समाज को यहाँ पर विशेष प्रकार की भाषा का प्रयोग करने वाले मनुष्यों के समूह के रूप में व्यक्त किया गया है।)
6. "मैं विदर्भ (या राजस्थानी या पंजाबी या दक्षिण भारतीय या उत्तर भारतीय) समाज का सदस्य हूँ।" (यहाँ समाज शब्द का प्रयोग, एक क्षेत्र या प्रदेश विशेष से मूलतः आए हुए मनुष्यों के समूह के लिये किया गया है।)

2.3 समाज का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Society)

उपरोक्त उदाहरणों से यह स्वतः ही प्रतिपादित होता है कि साधारण बोलचाल की भाषा में समाज शब्द का प्रयोग, भिन्न-भिन्न प्रकार के समूहों को प्रकट करने के लिए किया जाता है। समाजशास्त्र, समाज का विज्ञान है।

अतः यदि हम समाज के उपरोक्त अर्थों को यहां प्रतिस्थापित कर दें, तब समाजशास्त्र किसका विज्ञान होगा? समाज विषयक अनिश्चितता और भ्रांति को दूर करने के लिए ही समाजशास्त्री, समाज को मनुष्यों का समूह नहीं मानते हैं। समाज को परिभाषित करने के लिए समाजशास्त्रियों ने उस भावना या तथ्य को आधार माना है, जिसके कारण समूह के सदस्य स्वयं को एक समाज का होना निरूपित करते हैं। इस तथ्य भावना या आधार को हम एक उदाहरण के द्वारा भली-भांति ज्ञात कर सकते हैं।

समस्त ब्राह्मण वर्ण के व्यक्ति स्वयं को ब्राह्मण समाज का सदस्य कहते हैं। किसी क्षत्रिय को ब्राह्मण समाज की या ब्राह्मण को क्षत्रिय समाज की सदस्यता प्रदान नहीं की जाती है। इसका कारण यह है कि समस्त ब्राह्मण न केवल एक जाति के हैं, बल्कि उनमें परस्पर (सगे, माने हुए या जाति बंधु के रूप में) सम्बन्ध भी है। उनका ऐसा सम्बन्ध किसी क्षत्रिय से नहीं है। इसीलिये वे क्षत्रिय को अपने समाज की सदस्यता प्रदान नहीं करेंगे। यही कारण है कि क्षत्रिय, वैश्य, ब्राह्मण आदि भी अपने वर्ण की सदस्यता अन्य वर्णों के सदस्यों को प्रदान नहीं करेंगे। अतः वर्ण समाज के निर्माण के लिए "वर्ण के सदस्यों में किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध होना" आवश्यक है। एक सम्प्रदाय, एक वर्ग, राष्ट्रीय समूह, भाषाई समूह, प्रादेशिक समूह आदि के सदस्य भी इसी प्रकार के वास्तविक या काल्पनिक सम्बन्धों से सम्बन्धित होने के आधार पर ही स्वयं को उस समाज का सदस्य निरूपित करते हैं। इस दृष्टि से हम निर्विवाद रूप से कह सकते हैं कि मनुष्यों के सभी प्रकार के समूहों के सदस्यों में किसी न किसी प्रकार के सम्बन्ध अवश्य ही पाये जाते हैं जिनके आधार पर उनमें संगठन या समूह बनाने की भावना का उदय होता है। समूहों के संगठन के लिए सम्बन्धों की इस अनिवार्यता को आधार मानकर समाजशास्त्री, समाज की परिभाषा "मनुष्यों (या समूह के सदस्यों) के बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों की व्यवस्था के रूप में करते हैं (न कि मनुष्यों की संख्या, समूह, एकत्रीकरण या झुण्ड के रूप में)।" समूहों का आकार या विशेषता इस परिभाषा को प्रभावित नहीं करती है। अतः यह परिभाषा मनुष्यों के सभी प्रकार के समूहों के लिए उपयुक्त है तथा समाज के वास्तविक रूप को प्रकट करती है।

विभिन्न समाजशास्त्रियों ने 'समाज' की भिन्न-भिन्न विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए उसे अपने-अपने ढंग से परिभाषित करने का प्रयास किया है। कुछ प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित है–

1. **गिडिंग्स** (Giddings)—"समाज स्वयं एक संघ है, एक संगठन है, औपचारिक सम्बन्धों का एक योग है, जिसमें सहयोगी व्यक्ति परस्पर आबद्ध हैं।"
2. **गिन्सबर्ग** (Ginsberg)—"समाज मानवीय सम्बन्धों का सम्पूर्ण जाल है।"

नोट

3. **कूले** (C.H. Cooley)—"समाज स्वरूपों या प्रक्रियाओं का जटिल ढांचा है जो एक-दूसरे की अन्त:क्रियाओं के कारण जीवित है तथा वृद्धि करता है। सम्पूर्ण व्यवस्था इस प्रकार संगठित है कि एक भाग पर पड़ने वाला प्रभाव अन्य भागों को भी प्रभावित करता है।"
4. **लेपियर** (Lapiere)—"समाज मनुष्यों के समूह का नाम नहीं है, वरन् यह समूह के मनुष्य के अन्त: सम्बन्धों की जटिल व्यवस्था है।"
5. **फेयरचाइल्ड** (H.P. Fairchild)—"समाज मानवों का एक समूह है, जो अपने विभिन्न प्रमुख हितों की पूर्ति के लिए परस्पर सहयोग प्रदान करते है, अनिवार्य रूप से स्वयं को बनाये रखने व स्वयं की निरन्तरता के लिए।"
6. **मैकाइवर और पेज** (MacIver and Page)—"समाज व्यवहारों और प्रणालियों, प्रभुत्व और सहयोग, समूहों और श्रेणियों, मानव व्यवहार के नियन्त्रणों और स्वाधीनता का एक विधान है।"
7. **गिलिन** (Gillin)—"समाज तुलनात्मक दृष्टि से सबसे अधिक स्थाई समूह है, जो कि सामान्य स्वार्थ, सामान्य भू-भाग, सामान्य प्रकार का रहन-सहन और सामान्य पारस्परिक सहयोग या अपनत्व की भावना रखता है, जिसके आधार पर वे अपने को बाहर से पृथक् करते हैं।"
8. **र्यूटर** (Reuter)—"समाज एक अमूर्त शब्द है, जो समूह के दो या दो से अधिक सदस्यों के बीच स्थित पारस्परिक सम्बन्धों की जटिलता का बोध करता है।"

2.4 समाज की विशेषताएँ (Characteristics of Society)

समाज की समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विवेचना कर लेने पर अब हम सरलतापूर्वक समाज की विशेषताओं का उल्लेख कर सकते हैं। कुछ प्रमुख विशेषताएं निम्नानुसार हैं–

1. समाज सम्बन्धों की व्यवस्था है, न कि मनुष्यों का समूह–साधारणत: मनुष्यों के समूह को समाज कह कर सम्बोधित किया जाता है। स्त्री-समाज और पुरुष-समाज का प्रचलन इसी अर्थ में है। यह सच भी है कि एक-एक मिलकर बहुत से मनुष्यों के योग से समाज बनता है किन्तु एक या कुछ एक व्यक्ति समाज नहीं होते हैं बल्कि समाज तो अनेकानेक मनुष्यों के सम्बन्धों की एक व्यवस्था है।

2. समाज अमूर्त है–अमूर्त का अर्थ है कि जिसका कोई ठोस आकार न हो अर्थात् जो स्थान न घेरती हो, जिसका कोई आकार न हो, जिसको स्पर्श न किया जा सके, जिसे उठाया अथवा रखा न जा सके। सम्बन्ध इस दृष्टिकोण से अमूर्त होते हैं। समाज चूँकि सम्बन्धों की व्यवस्था है तथा सम्बन्ध अमूर्त होते हैं इसलिए समाज भी अमूर्त है। हम मनुष्यों के समूह, परिवार के सदस्यों आदि को देख सकते हैं, परन्तु उनके बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों को नहीं।

3. समाज में समानता और विविधता पाई जाती है–समाज, यद्यपि सम्बन्धों की व्यवस्था है, परन्तु सम्बन्ध ों का विकास मनुष्यों की पारस्परिक जागरूकता, पारस्परिक सम्पर्क और अन्तर्क्रियाओं के फलस्वरूप होता है। इस दृष्टि से हम समाज की कल्पना मनुष्यों के बिना नहीं कर सकते हैं। मनुष्यों में पाई जाने वाली समानताएँ व उनसे उत्पन्न अन्तर्क्रियाएँ समाज को जन्म देती हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि समाज में असमानता या विविधता होती ही नहीं है। सत्य तो यह है कि सभी समाज में समानताओं के साथ-साथ असमानताएँ भी परिलक्षित होती हैं। परिलक्षित कुछ प्रमुख समानताएँ और विविधताएँ निम्नानुसार हैं–

(अ) **समाज में परिलक्षित समानताएँ–**प्रजातीय दृष्टि से मानव-मानव एक समान होने के कारण ही उनमें पारस्परिक जागरूकता पाई जाती है। सभी मनुष्य बुद्धियुक्त है, इसी कारण वे एक दूसरे के विचारों को समझते हैं तथा पारस्परिक सहयोग करते है। सभी मनुष्यों की मूलभूत आवश्यकताएँ एक समान हैं। मानवीय सीमाएँ या दोष भी सभी में समान हैं पशु जैसी मूल प्रवृत्तियाँ (जैसे स्वार्थ, लोभ, क्रोध, मोह, अहंकार, परिश्रम से मन चुराने की प्रवृत्ति आदि) भी सब में समान रूप में विद्यमान रहती हैं।

इनके अतिरिक्त समाज में प्रचलित रीति-रिवाज, जनरीतियाँ, रूढ़ियाँ, प्रथाएँ, भाषा, धर्म, आदर्श भी सभी के लिए एक जैसे पाये जाते हैं। इसीलिए सदस्यों के व्यवहारों में समरूपता पाई जाती है। इस प्रकार समाज में अनेक रूपों में समानताएँ परिलक्षित होती हैं।

(ब) समाज में परिलक्षित असमानताएँ—इन समानताओं के बावजूद समाज में अनेक असमानताएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं। स्तरीकरण के कारण समाज में अनेक समूह-उपसमूह पाये जाते हैं। आवश्यकताओं की भिन्नता के कारण भी अनेक समूह पाये जाते हैं। इन समूहों से सम्बन्धित संस्थाएँ (कार्यविधियाँ, नियम आदि) भी भिन्न होती हैं। समाज में सभी सदस्यों की समाजिक स्थिति व भूमिकाएँ भी एक समान न होकर, भिन्न-भिन्न होती है। आयु भेद, लिंग भेद, शारीरिक शक्ति, बौद्धिक प्रतिभा, गुण, व्यक्तिगत रुचियों, कार्यक्षमता आदि के आधार पर भी समाज के सदस्यों में असमानताएँ परिलक्षित होती हैं। समाज में घटित होने वाले अपराध, असहयोग, संघर्ष, प्रतिस्पर्धा, आत्महत्या आदि भी इस तथ्य पर प्रकाश डालते हैं कि समाज में समानताएँ ही नहीं, असमानताएँ भी रहती हैं।

(स) असमानता की अपेक्षा समानता अधिक—यह सत्य है कि समाज में समानताएँ और असमानताएँ दोनों ही पाई जाती है, परन्तु असमानताओं की अपेक्षा समानताएँ अधिक प्रभावशाली होती हैं। यदि असमानताएँ अत्यधिक बढ़ जाएँ तब समाज संगठित नहीं रह सकता। इसीलिए प्रत्येक समाज, सदस्यों में समरूपता का विकास करने के साथ-साथ असमानताओं को भी नियंत्रित करने के लिए नियंत्रणात्मक व्यवस्था का विकास करता है।

4. समाज में सहयोग और संघर्ष पाया जाता है—समाज अर्थात् समाजिक सम्बन्धों की व्यवस्था मनुष्यों की, अन्तर्क्रियाओं के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। मनुष्यों की अन्तर्क्रियाओं को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—सहयोगात्मक अन्तर्क्रियाएँ और असहयोगात्मक अन्तर्क्रियाएँ। हम ऐसे किसी भी समाज की कल्पना नहीं कर सकते, जिसके सदस्यों में सहयोग ही सहयोग हो। सत्य तो यह है कि प्रत्येक समाज में चाहे वह कितना ही छोटा व सरल क्यों न हो, किसी न किसी रूप में सहयोग की भावना भी अवश्य ही पायी जाती है। अब हम देखें कि समाज में किस प्रकार सहयोग और असहयोग पाया जाता है—

(अ) समाज में सहयोग—सहयोग से तात्पर्य एक साथ या मिलजुल कर कार्य करने से है। जब दो या दो अधिक व्यक्ति परस्पर संयुक्त होकर किसी कार्य को सम्पादित करते हैं, तब इसे सहयोग कहा जाता है। इस प्राण ी जगत में सर्वश्रेष्ठ प्राणी होने पर भी मनुष्य सर्वाधिक असहाय और असुरक्षित है। इसका प्रमुख कारण मानव की असीमित आवश्यकताएँ है। मानव की सम्पूर्ण दिनचर्या किसी न किसी आवश्यकता की पूर्ति के प्रयास में ही व्यतीत होती है। सीमित शक्ति, सीमित साधन और आवश्यकताओं की त्वरित पूर्ति की अनिवार्यता के कारण किसी भी एक व्यक्ति के लिए यह सम्भव नहीं होता कि वह स्वयं अपनी समस्त आवश्यकताओं को पूर्ण कर ले। इसीलिए समाज में स्तरीकरण, श्रम विभाजन, श्रम का विशेषीकरण और अन्तर्निभरता, विभिन्न स्थितियाँ, भूमिकाएँ, अधिकारिता, नियंत्रणात्मक व्यवस्था आदि पाई जाती हैं। इसके माध्यम से सभी व्यक्ति परस्पर सहायता कर आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं और सुरक्षित रहते हैं।

(ब) समाज में असहयोग और संघर्ष—प्रत्येक समाज अपने सदस्यों में समानताएँ विकसित कर उनमें सहयोग की प्रवृत्ति को विकसित करने का प्रयास करता है। फिर भी कुछ व्यक्ति पूर्णत: सामाजिक नहीं बन पाते हैं। उनकी पाशविक प्रवृत्तियों जैसे स्वार्थ, लोभ, क्रोध, मोह, अहंकार, परिश्रम से जी चुराने की प्रवृत्ति आदि को भी समाज पूरी तरह नियंत्रित नहीं कर पाता है। ऐसे व्यक्ति सामाजिक हित की अपेक्षा व्यक्तिगत हित को अधिक महत्त्व देते हैं। यह स्थिति समाज में असहयोग या संघर्षों को जन्म देती है। इसके अतिरिक्त समाज में सदैव किसी न किसी मात्रा में ऐसी दशाएँ या कारक विद्यमान रहते हैं, जो समाज को परिवर्तित होने के लिए प्रेरित करते हैं। इससे परम्परावादी और परिवर्तनवादियों में असहयोग और संघर्ष उत्पन्न होता है। वैचारिक, चारित्रिक, नैतिक, आध्यात्मिक, राजनैतिक असमानताएँ भी असहयोग और संघर्ष के लिए उत्तरदायी होती हैं।

(स) असहयोग और संघर्ष की अपेक्षा सहयोग की प्रधानता—यह सत्य है कि संघर्ष से सर्वथा मुक्त किसी समाज की कल्पना करना निरर्थक है। परन्तु, यह भी सत्य है कि सभी समाज असहयोग और संघर्ष की दशाओं को न्यूनतम करने का प्रयास करते हैं। यदि ऐसा न हो तो असहयोग और संघर्ष इस चरम अवस्था तक पहुँच जायेंगे कि अन्तत: सम्पूर्ण मानव जाति और उसके साथ उसका समाज भी नष्ट हो जायेगा। अत: समाज में असहयोग की अपेक्षा सहयोग की मात्रा अधिक पाई जाती है।

5. पारस्परिक जागरूकता–समाज में सदस्यों के बीच, एक दूसरे के अस्तित्व, आवश्यकताओं, सीमाओं, सम. ानताओं और असमानताओं, सहयोग की अनिवार्यता, कार्य पद्धतियों और रीति रिवाजों, समूहों और संस्थाओं आदि के प्रति जागरूकता पाई जाती है।

नोट

6. समाज मानवीय अन्तर्क्रियाओं का क्षेत्र है–प्रत्येक व्यक्ति समाज में जन्म लेता है, जीवनयापन करता है और मृत्यु को प्राप्त होता है। इस प्रकार समाज में ही उसके व्यक्तित्व का विकास होता है। वह शक्ति अर्जित करता है तथा उसका समाजीकरण होता है। उसकी स्थिति और भूमिका का निर्धारण भी होता है। इस प्रकार उसकी समस्त क्रियाएँ और अन्तर्क्रियाएँ समाज में ही सम्पादित होती हैं।

7. समाज एक अखण्ड व्यवस्था नहीं है–समाज यद्यपि सम्बन्धों की व्यवस्था है, परन्तु इस सम्बन्धों का विकास रीति-रिवाजों और कार्यविधियों, अधिकारिता और पारस्परिक सहयोग, अनेक समूहों और उपसमूहों, मानव व्यवहार के नियंत्रण की विधियों और उन्हें प्राप्त स्वाधीनताओं के द्वारा होता है। इस प्रकार यह सब मिलकर समाज को आकार प्रदान करते हैं।

8. पारस्परिक निर्भरता–कोई भी मनुष्य अन्य मनुष्यों से सर्वथा स्वतंत्र रहकर अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता। वस्तुत: पारस्परिक निर्भरता के कारण ही व्यक्ति एक दूसरे के सम्पर्क में आकर मिलजुल कर कार्य (क्रियाएँ) करते हैं, जिससे सम्बन्धों का विकास होता है। इस प्रकार समाज में मनुष्यों के बीच अन्योन्याश्रित प्रवृत्ति पाई जाती है।

9. समाज एक जटिल व्यवस्था है–समाज का स्वरूप सरल नहीं है। समाज का विकास किसी एक या कुछ सम्बन्धों के द्वारा नहीं होता है। इसमें मनुष्यों के सभी प्रकार के सम्बन्ध सम्मिलित रहते हैं। समाज में समानता के साथ असमानता तथा सहयोग के साथ असहयोग या संघर्ष भी पाया जाता है। समाज स्वयं तो अमूर्त है, परन्तु इसमें अनेक समूह और उपसमूह रहते हैं। इन सभी कारणों से समाज का स्वरूप सरल नहीं वरन् जटिल होता है।

10. समाज परिवर्तनशील है–समाज जड़ नहीं चेतन है। भौगोलिक दशाएँ, जनसंख्यात्मक कारक, प्रौद्योगिकी कारक, आर्थिक कारक, सांस्कृतिक कारक आदि में परिवर्तनों के कारण कोई भी समाज एक जैसी दशा में न रहकर परिवर्तित होता रहता है।

2.5 मानव और पशु समाज की विशेषताएँ (Characteristics of Human and Animal Society)

(अ) मानव समाज की प्रमुख विशेषताएँ

सामाजिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानव समाज की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएं हैं–

1. मानव समाज एक मशीन है–प्रसिद्ध समाजशास्त्री **पैरेटो** ने अपनी रचना में इस बात को घोषित किया है कि मानव समाज एक मशीन के समान है। जिस प्रकार एक जटिल मशीन में तरह-तरह के छोटे-बड़े पुर्जे और विविध अंग होते है उसी प्रकार मानव समाज में भी इसके अनेक अंग होते है। ये छोटे-छोटे अंग प्रत्येक समाज में एक व्यक्ति की इकाई जैसे, परिवार, पड़ोस, विवाह समुदाय, समितियाँ आदि के नाम से प्रख्यात है। इन सभी छोटी-छोटी इकाइयों का समाज के संगठन में महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावशाली स्थान होता है। इनमें से किसी एक छोटे से अंग के टूट जाने से जिस प्रकार सम्पूर्ण समाज पर प्रभाव पड़ता है उसी प्रकार पैरेटो के अनुसार एक भीषण विशालकाय मशीन में एक बाल जैसे पुर्जे के टूट जाने से सारी मशीन बेकार हो जाती है।

2. मानव समाज सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था है–समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों (Sociology theories) पर लिखने वाले विद्वानों का मत है कि मानव समाज के पास "संस्कृति नाम की भी एक विशेषता है।" इसके कारण यह अन्य समाजों से भिन्न है। उदाहरण के लिये, पशुओं का भी एक समाज है लेकिन उसके पास भाषा, कला, साहित्य, वेशभूषा, धर्म, संगीत जैसे तत्व नहीं है। मानव समाज की यह विशेषता है कि इसके पास सब कुछ है। मानव समाज की विशेषता के सम्बन्ध में विचार व्यक्त करते हुए प्रबुद्ध समाजशास्त्री **किंगसले डेविस** (K. Davis) ने अपनी पुस्तक **"मानव समाज"** में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि **'मानव और पशु में अन्तर**

संस्कृति के आधार पर किया जा सकता है। संस्कृति के कारण ही मानव का बौद्धिक स्तर पशुओं से ऊँचा होता है, बोलचाल की भाषा का रूप निखरा होता है तथा सामाजिकता का तत्व अधिक होता है।' वे आगे और भी लिखते है **"मानव समाज की अद्वितीय प्रकृति का द्योतक यदि कोई एक कारक है तो वह यह कि वह अकेला है, जिसके पास संस्कृति है। यहीं से उसके और अन्य विशिष्ट रूप आगे बढ़ते हैं, उसकी बुद्धिमता, उसका भाषण, उसका सामाजिक जीवन, यह सब संस्कृति से संचालित है। इस प्रकार संस्कृति एक अद्वितीय प्रकार का अधिकार है जो सम्पूर्ण मानव जीवन में उसकी क्रियाओं में व्यक्ति की अद्वितीयता की विशेषता है।"**

3. मानव समाज मानव-सम्बन्धों का संगठन है—प्रसिद्ध समाजशास्त्री **पारसन्स** (Parsons) भी समाज के प्रबुद्ध विचारक हैं। उन्होंने लिखा है कि **"समाज की परिभाषा मानव सम्बन्धों की पूर्ण जटिलताओं के रूप में की जा सकती है। जहाँ तक कि साध्य-साधन का सम्बन्ध है वह मानव सम्बन्धों पर आधारित है।"** पारसन्स के इन शब्दों से यह पता चलता है कि समाज की सम्पूर्ण व्यवस्था में व्यक्ति के परस्पर सामाजिक सम्बन्धों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। समाज व्यवस्था का यह सम्बन्ध साध्य और साधन है। इसका तात्पर्य यह है कि समाज की व्यवस्था व्यक्तियों के सम्बन्धों हेतु सम्बन्धों के द्वारा बनायी जाती है।

4. मानव समाज एक जैविकीय इकाई है—पशु समाजों के समान मानव समाज का भी एक जैविकीय आधार है इसीलिये प्राणिशास्त्र में जब जैविकीय संरचना का ज्ञान करना होता है तो पशुओं को चीर-फाड़ कर देखा जाता है। अत: मानव समाज की जैविकीय स्थिति पशु समाज के समान प्रजनन, ज्ञान तथा आशा-निराशा, सुख-दुख, भय तथा क्रोध आदि वैज्ञानिक प्रवृत्तियों की तरह होती है। यदि इस दृष्टि से मानव समाज में कोई विशिष्टता होती है तो वह निम्नलिखित है–

1. मानव समाज के पास सुव्यवस्थित और केन्द्रीय चेतना संहिता है।
2. मानव में सीधे खड़े होने की स्थिति है।
3. मनुष्य के पास वाणी है।
4. अन्य शारीरिक विशेषताएँ हैं।

निम्न विभिन्नताओं का आशय है कि मनुष्य में अन्य जीवधारियों की तुलना में सोचने और विचारने की क्षमता अधिक है। मानव को सर्दी-गर्मी से शरीर के रक्षार्थ कृत्रिम साधनों की खोज करनी पड़ती है।

(ब) पशु समाज की प्रमुख विशेषताएँ (Chief Characteristics of Animal Society)

समाज दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम, मानव समाज जिस पर हम विचार कर चुके हैं। द्वितीय पशु समाज होता है। इस समाज का निर्माण कैसे होता है? पशु व अन्य जीवधारियों को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु समूह का निर्माण करना पड़ता है। इससे उनमें सामूहिक जीवन के तत्व विकसित हो जाते हैं। इस प्रकार पशुओं में भी समाज तथा सामाजिक व्यवस्था होती है। उनमें भी सामाजिक सम्बन्ध तथा वंश परम्परा पायी जाती है। इस कारण पशु समाज की प्रकृति जैवीय-सामाजिक (Bio-social) है।

1. पशु समाज एक जैवीय सामाजिक व्यवस्था है—इस मत के प्रस्तुतकर्ता प्रोफेसर के. डेविस हैं। इन्होंने पशु समाज को एक जैवीय-सामाजिक व्यवस्था के नाम से सम्बोधित किया है। उन्होंने लिखा है **"प्रत्येक जीवधारी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिये ऐसी सामाजिक व्यवस्था स्थापित करते हैं जिसका आधार वंशानुक्रम होता है।" इस दृष्टि से पशु समाज को दो भागों में बाँटा जा सकता है।**

(क) एककोशीय जीवधारियों का समाज—एककोशीय जीवधारियों का समाज वह होता है जिसमें शारीरिक दृष्टिकोण से समरूपता होती है। उनको देखकर ऐसा लगता है कि वे सब एक अवयव ही हैं। ऐसे जीवों में पोखरों में पाई जाने वाली 'हरी शैवाल' नामक जीव होता है जो परस्पर जुड़े पाये जाते हैं। इन शैवाल जीवधारियों में समाज व्यवस्था होने के साथ-साथ श्रम विभाजन, सहयोग, एकीकरण की भावना आदि तत्व भी पाये जाते हैं।

(ख) बहुकोषीय जीवधारियों का समाज—ऐसे जीवधारियों के समाज में शारीरिक निकटता के स्थान पर मान. सिक निकटता पाई जाती है। उदाहरण—चींटी, मधुमक्खी, दीमक, मछलियाँ, सर्प, मगर, बन्दर और कुत्ते आदि का समाज बहुकोषीय जीवधारियों का समाज होता है।

नोट

चींटी, मधुमक्खी तथा दीमक में तो एक रानी होती है जो प्रजनन का कार्य करती है। व्यवहार करने की इनमें जन्मजात प्रकृति होती है। इसके सम्बन्ध में **गिलिन** ने स्पष्ट लिखा है कि **"व्यक्ति के रूप में प्रत्येक चींटी और मधुमक्खी ऐसी प्रतीत होती है मानो वह अपने व्यवहार को जन्म से ही सीखी और पैदा हुई हो, अर्थात् व्यवहार करने का उसे सहज ज्ञान है।"** अतः मानव समाज की भाँति बहुकोषीय जीवधारी समाज में बच्चों को व्यवहार करने की शिक्षा देने की आवश्यकता नहीं होती है।

2. पशु समाज में सामाजिक व्यवहार होता है—पशुओं तथा अन्य जीवधारियों में ऐसे कई उदाहरण देखने को मिलते हैं जिनमें उनकी रचनात्मक क्रियाएँ स्पष्ट रूप से दिखायी देती हैं। दीमक अपने निवास स्थान की सफाई और सारा निर्माण तथा सुरक्षा के लिये प्रसिद्ध है। चींटियों में श्रम-विभाजन होता है उनमें अनुशासन, एक भाँति भोजन तथा परस्पर सम्पर्क स्थापित करते हुए काम का एक क्रम पाया जाता है। ऐसे अनेक पशु समाज भी हैं जिनमें सामूहिक कार्य की आदत एवं व्यवहार पाया जाता है।

3. पशु समाज में सामाजिक जीवन होता है—पशु समाज भी जीवन के महत्त्व से अवगत हैं। ऐसे अनेक पशु हैं जिनको हम अपने दैनिक जीवन में सामूहिक प्रतिक्रियाएँ करते हुए देखते हैं। एक मुहल्ले में किसी अजनबी पशु या मानव को देखकर सब कुत्तों का एक साथ भौंकना एक ऐसा उदाहरण है जो सामूहिकता की प्रवृत्ति का द्योतक है। पशु समाज इस बात को ठीक तरह से समझता है कि अकेले में अपनी आवश्यकताओं की पूति करना असम्भव है। इसलिए पशु समाज में संघ और टोलियाँ होती हैं। उनके भी प्रादेशिक तथा स्थानीय संगी-साथी होते हैं। पशु समाज यह समझता है कि सामूहिक प्रयत्नों से कार्य-क्षमता में अभिवृद्धि होती है। इससे कार्य शीघ्र और सरल होता है। इस दृष्टि से मानव समाज के अनुरूप पशु-समाज भी स्थायी वस्तुओं का निर्माण करता है। वे अपने निवास स्थान, सुरक्षा स्थान जैसे घोंसले व अन्य प्रकार की गुफा, बिल आदि बनाते हैं और उनमें रहते हैं।

मानव तथा पशु समाज में अन्तर (Difference between Human and Animal Society)

1. मानव समाज में विविधता, समरूपता दोनों होती है—मानव समाज की प्रकृति पर विचार प्रस्तुत करते हुए प्रसिद्ध समाजशास्त्री मैकाइवर और पेज ने यह स्पष्ट किया है कि मानव समाज में समानता और भेद दोनों ही सन्निहित है। परिवार की रचना को लीजिए। इसमें दो विषमलिंगीय व्यक्ति संगठित होते हैं। इसके साथ-साथ पति-पत्नी के रूप में इन दोनों प्राणियों में परस्पर सादृश्यता भी होती है। **गिडिंग्स** ने कहा है कि समाज का आधार सजातीयता की भावना है और यह सजातीयता की भावना चीटियों तथा मधुमक्खियों की भाँति ही मनुष्यों के सामाजिक सम्बन्धों तक ही सीमित रहती है। इस प्रकार मानव समाज में भिन्नता समानता के अधीन है। समाज में श्रम-विभाजन है। पहले सहयोग है बाद में विभाजन है। लोग असमान कार्यों के करने में परस्पर सहयोगी बनते हैं। इस प्रकार संगठन और विघटन साथ-साथ चलते हैं। समानता के समान विविधताओं का आधार मानव समाज में जाति, गोत्र, प्रजाति व जाति रक्त और रंग आदि के आधार पर होती है। यह सामाजिक समरूपता ही होती है। वे शारीरिक समरूपता के कारण ही परस्पर आबद्ध होकर सामूहिक व सामाजिक जीवन व्यतीत करने के लिए एकत्रित होते हैं। अतः मानव और पशु समाज में सबसे अधिक मौलिक अन्तर यही है कि पशु समाज एक ही प्रकार का जीवनयापन समरूपता के आधार पर करते हैं। बन्दर, चींटी तथा मच्छर अपने में सबके समान जीवनयापन करते हैं जबकि मानव समाज विविधताओं से परिपूर्ण है।

2. मानव समाज में परिवर्तन की गति तीव्र होती है—मानव समाज गतिशील है। इसमें परिवर्तन की गति तीव्र होती है। ऐसा बतलाया जाता है मानव समाज में प्रतिपल परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन सामाजिक संस्थाओं के माध्यम से मानव संस्कृति में कम्पन उपस्थित कर उसमें गति लाता है। इस प्रकार मानव संस्कृति का घेरा घूमता रहता है। पशु समाज में परिवर्तन के लिये लेशमात्र की सम्भावना नहीं होती है। उनका जीवन वंशानुक्रम में संचालित होता है। शारीरिक दृष्टि से भी परिवर्तन दीर्घकाल के बाद आता है। लेकिन जहाँ तक पशु, कीट समाजों में व्यवहारों का परिवर्तन है वह नहीं के बराबर होता है। चीटियाँ, हजारों वर्ष पहले भी पंक्ति बनाकर चलती थीं, आज भी

नोट

उनका यही हाल है। अतः पशु समाज सामाजिक दृष्टि से गतिहीन है जबकि मानव समाज में प्रतिपल गतिशीलता पाई जाती है। मानव समाज में परिवर्तन लाने के लिए अनेक माध्यम हैं। मनुष्यों के व्यवहारों में परिवर्तन लाने के लिए शिक्षा, अनुनय, दबाव, बन्धन और सजा, पारितोषिक, प्रशंसा आदि ऐसे तत्व हैं, जिनमें वान्छित परिवर्तन किये जा सकते हैं। पशु समाज के पास ऐसा न तो कोई माध्यम है और न ही विचार के लिए विकसित मस्तिष्क ही। इसलिए पशु समाज अैर मानव समाज में परिवर्तन की तीव्रता के आधार पर भी अन्तर रेखा खींची जा सकती है।

3. मानव समाज के पास संस्कृति है–मानव और पशु समाज में परस्पर भिन्नताओं का एक यह भी प्रमुख आधार है कि मानव समाज के पास संस्कृति होती है। पशु समाज संस्कृतिहीन है। इस सम्बन्ध में **किंग्सले डेविस** (K. Devis) ने स्पष्ट लिखा है–**"संस्कृति के आधार पर मानव समाज और पशु समाज में अन्तर किया जा सकता है। मानव-समाज अपनी संस्कृति के कारण ही पशु समाज की तुलना में मानसिक दृष्टि से ऊँचा है। उसके पास साहित्य, कला, भाषा आदि अनेक गुण हैं।"** मानव समाज में संस्कृति के विभिन्न तत्व हैं। उसमें प्रथाएँ, जनरीतियाँ, परम्परायें, आदर्श, मूल्य, रूढ़ियाँ तथा संस्थाएँ होती हैं। मानव समाज के समान खाने-पीने, बातचीत करने, चिन्तन पद्धति, कला, सृष्टि दर्शन एवं साहित्य सृजन की अपनी मान्यताएँ हैं जो पशु समाज में नहीं पाई जाती हैं। त्यौहार, संस्कार, पर्व, भाषा, जाति, रंग आदि जितने भी विभेदीकरण आधार हैं वे सब मानव कृत हैं।

4. मानव समाज अपनी यौन इच्छाओं पर नियन्त्रण रखता है–यदि कामशास्त्र की दृष्टि से भी हम मनुष्य और पशु समाज की तुलना करें तो दोनों में भिन्नता पायेंगे। मनुष्य में **'काम'** नियन्त्रित होता है जबकि पशुओं में 'काम' की स्वच्छन्दता पायी जाती है। मानव समाज में **'काम तृप्ति'** के लिए समाज द्वारा मान्य विवाह संस्कार और अन्य अनेक प्रतिमान होते हैं। मनुष्य हर किसी के साथ **'काम'** की सन्तुष्टि नहीं कर सकता। वह विवाह जैसे वैध और मान्य तरीके के माध्यम से ही **'काम'** की संतुष्टि कर सकता है। लेकिन पशुओं में देखा जाता है कि वे जब चाहे, जहाँ चाहे किसी भी पशु के साथ स्वच्छन्दतापूर्वक **'काम'** सन्तुष्टि कर सकते हैं।

5. मानव समाज के पास भाषा है–भाषा एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा वह अपने विचारों को दूसरों तक पहुँचाता है। वैसे पशुओं में भी बोलने की क्षमता होती है किन्तु वे अपने विचारों और भावनाओं को दूसरे तक नहीं पहुँचा सकते हैं। इसका कारण यह है कि मनुष्य का जबड़ा सन्तुलित और जीभ पतली होती है। पशुओं की जीभ मोटी होने के कारण वे इसे आसानी से घुमा नहीं सकते हैं। बोलने की क्षमता का सीधा सम्बन्ध मस्तिष्क के विकास से है। यही कारण है कि कम बुद्धि वाले व्यक्ति किसी बात को अच्छी तरह नहीं समझ पाते हैं जबकि बुद्धिमान व्यक्ति शीघ्र ही समझ जाते हैं। इसके साथ ही पशु समाज अपनी भाषा में परिवर्तन नहीं कर सकता है जबकि मनुष्य अपनी भाषा में मधुर और प्रभावपूर्ण ढंग से परिवर्तन कर सकता है।

6. मानव समाज में आदर्शात्मक नियन्त्रण होता है–मानव समाज में पशु समाज की तुलना में अधिक सामाजि. कता की अनुभूति होती है। मानव पशु के समान इतना स्वार्थी नहीं है कि वह अपनी आवश्यकताओं की तुष्टि तथा उद्देश्य अपने सामने रखता हो। इस दृष्टि से वह अधिक सामाजिक है। मानव समाज के पास प्रथायें, रूढ़ियाँ, आदर्श, समितियाँ, संस्थाएँ, मूल्य, प्रतिमान आदि ऐसे तत्व होते हैं जो व्यक्ति को समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से समाज की अनुभूति और सामाजिक हितों की वृद्धि के लिए संकुचित करते हैं। इसके व्यवहार में पि. रवर्तन लाने के ये प्रमुख माध्यम हैं। इन माध्यमों से वांछित व्यवहार और क्रियाएँ प्राप्त की जा सकती हैं। व्यक्ति की स्वच्छन्दताओं में इनके द्वारा आदर्शात्मक नियन्त्रण रखा जा सकता है।

पशु समाज सामाजिक और सांस्कृतिक विरासत से वंचित रहता है। एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को उस समाज में जो बातें हस्तान्तरित होती हैं वे अधिकांशतः प्रकृति में जैवीय होती हैं। इसलिए पशु के व्यवहार पर वातावरण का प्रभाव नहीं डाला जा सकता। उसका न तो सामाजीकरण किया जा सकता है और न ही आदर्शात्मक नियन्त्रण ा। **किंग्सले डेविस** ठीक कहता है कि **"इस तरह मनुष्य समाज के पास न केवल तथ्यात्मक व्यवस्था होती है वरन् एक नैतिक व्यवस्था भी होती है और साधारणतया ये दोनों एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं।"** अतः मनुष्य समाज में लक्ष्य प्राप्ति के नियंत्रण होने के कारण यह पशु समाज से भिन्न है।

7. मानव समाज में पारस्परिक चेतना अधिक होती है–पशु समाज में सामाजिक सम्बन्धों की स्पष्ट, स्थायी, निरन्तर, घनिष्ठ एवं परस्पर प्रभावपूर्ण व्यवस्था का न होना भी भिन्नता का आधार है। सामाजिक सम्बन्धों की इन

नोट

विशिष्टताओं का प्रमुख आधार पारस्परिक चेतना है। तात्पर्य यह है कि सम्बन्ध स्थापित करने वाले जीवधारी एक दूसरे के सामने देखें, परस्पर मानसिक प्रतिक्रियाएँ करें और इन प्रतिक्रियाओं का प्रभाव एक दूसरे पर डालें तो वे सम्बन्ध परस्पर प्रतीतिपूर्ण होंगे। मानवीय सम्बन्ध में पारस्परिक चेतना की यह सम्पूर्ण प्रक्रिया मनुष्य में विकसित मस्तिष्क होने के कारण स्पष्टतया होती है और परिणामस्वरूप जो सम्बन्ध स्थापित होते हैं वे स्थायी एवं स्पष्ट होते हैं। पशु समाज में मानसिक शक्ति का अत्यन्त निम्न स्तर होने के कारण इसके सम्बन्धों की परस्पर प्रभावपूर्ण चेतना का होना असम्भव है। उसमें अपने समझने के सम्बन्ध होते हैं, परस्पर प्रतीति भी होती है, लेकिन उसमें प्रभावपूर्ण स्थिति का इसलिए अभाव रहता है कि इस प्रतीति में मानसिक अन्तःक्रिया का अभाव रहता है। इसलिए पशु समाज में सम्बन्ध पारस्परिक चेतनाविहीन होते हैं। पारस्परिक चेतना से मानव समाज में परस्पर अभिज्ञान इतना विस्तृत होता है कि एक ही क्षण में पारस्परिक सामाजिक स्थिति, सामाजिक स्तर के तत्व तथा अन्य विभेदीकरण के आधारों का भी भास होता है। इसी कारण मानव व्यवहारों में पारस्परिक चेतना पशु समाज की तुलना में अति श्रेष्ठ है। उपरोक्त आधारों पर हम यह कह सकते हैं कि मानव समाज और पशु समाज में पाये जाने वाले अन्तर मुख्यतया सांस्कृतिक है। मानव के पास संस्कृति है जबकि पशुओं में संस्कृति का अभाव है। इसी आधार पर व्यक्ति को अपनी **"संस्कृति का प्रतिरूप"** (Replica of the culture) कहा गया है।

पशु समाज का वर्गीकरण और लक्षण

पशु समाज को निम्न प्रकार से तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है–

(क) नर वानरों का समाज, (ख) स्तनधारी, जीवधारियों का समाज, (ग) कीड़ों और चीटियों का समाज।

(क) नर वानरों के समाज के लक्षण

अधिकांश विद्वानों का कहना है कि मनुष्यों का विकास नर वानरों से ही हुआ है। इस प्रकार के जीवधारियों में बिना पूंछ के पशुओं को सम्मिलित किया जाता है। गोरिल्ला तथा चिम्पान्जी आदि को सम्मिलित किया जा सकता है। नर वानर समाज में निम्नलिखित बातें पाई जाती हैं–

1. **समझने की क्षमता**–नर वानर समाज के शरीर की बनावट मनुष्य के शरीर की बनावट के समान होती है। जिस प्रकार मनुष्य के मस्तिष्क में प्रत्येक परिस्थिति को समझने की पूर्ण क्षमता होती है ठीक उसी प्रकार नर वानरों में भी परिस्थिति को समझने की पूर्ण शक्ति एवं क्षमता होती है।
2. **निश्चित स्थिति**–नर वानर समाज में प्रत्येक प्राणी की एक निश्चित समूह स्थिति होती है। उस समाज में समूह का एक नेता होता है और उसकी आज्ञा तथा आदर्शों का सभी पालन करते हैं।
3. **नर और मादा का घनिष्ठ सम्बन्ध**–नर वानरों में बच्चों का पालन-पोषण बहुत दिनों तक किया जाता है। बच्चों का शैशव काल अधिक लम्बा होने के कारण नर और मादा एक साथ बहुत दिनों तक रहते हैं। इसलिए नर व मादा सम्बन्धों में घनिष्ठता पाई जाती है।
4. **बुद्धि की अधिकता**–नर वानर समाज में सभी सदस्य एक निश्चित भाषा के आधार पर अपने भाव एक दूसरे को समझाने का प्रयास करते हैं। इनमें बुद्धि भी अधिक होती है। इसलिए नर वानर समाज के बच्चे बहुत शीघ्र ही अपने माता-पिता से शिकार पकड़ना, जानवरों से बचना और पेड़ पर चढ़ना सीख जाते हैं।

(ख) स्तनपायी जीवधारियों के समाज के लक्षण

स्तनपायी प्राणियों में वे प्राणी सम्मिलित किये जा सकते हैं जो दूध पीकर बड़े होते हैं। इस प्रकार के प्राणियों में नर व मादा दोनों ही प्रकार के प्राणी पाये जाते हैं। गाय व बैल, हाथी व हथिनी, कुत्ता व कुतिया, घोड़ा, व घोड़ी आदि को इस श्रेणी में सम्मिलित किया जाता है, क्योंकि इनके बच्चे प्रायः दूध पीकर बड़े होते हैं किन्तु यह आवश्यक भी नहीं कि सभी के बच्चे दूध पीकर ही बड़े हों। इस समाज की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं–

1. **नर व मादा में विशेष अन्तर का अभाव**–स्तनपायी जीवधारियों की एक विशेषता यह है कि उनमें शारीरिक दृष्टि से नर व मादा के बीच आसानी से अन्तर दिखाई नहीं पड़ता। उन दोनों की शारीरिक बनावट, रूप-रंग, हाव-भाव में इतनी समानता पायी जाती है कि दूर से देखकर कोई भी व्यक्ति नर व मादा को पहचान नहीं सकता।

2. **सीमित आकार**–स्तनपायी जीवधारियों में मादा एक साथ इतने बच्चे नहीं देती जितने कीड़े मकोड़े देते हैं। इसलिये स्तनपायी जीवधारियों के समाज का आकार सीमित होता है। इसलिये इनके समाज का आकार भी छोटा ही होता है।
3. **अनुभव शून्यता**–स्तनपायी जीवधारी अपने पुराने अनुभवों को याद नहीं रखते। इसलिये कहा जाता है कि स्तनपायी समाज अनुभव शून्य होता है।
4. **अनुकूलनशीलता**–स्तनपायी जीवधारियों में पर्यावरण से अनुकूलन करने की क्षमता होती है। यदि कोई स्थान उनके जीवन के अनुकूल न हो तो वे दूसरे स्थान पर आकर अपने अनुकूल पर्यावरण बना लेते हैं।
5. **सम्बन्धों में स्थायित्व**–स्तनपायी, समाज में नर मादा और बच्चों के बीच सम्बन्धों में स्थायित्व पाया जाता है। नर व मादा उस समय तक एक दूसरे के साथ ही रहते हैं जब तक बच्चे बड़े न हो जायें और ठीक प्रकार से अपनी आजीविका स्वयं प्राप्त न कर सकें।

(ग) कीड़ों और चींटियों के समाज के लक्षण

रेंगकर चलने वाले कीड़ों, दीमकों, चींटियों और चिड़ियों को इस समाज में शामिल किया जाता है। इस समाज में निम्नलिखित लक्षण पाये जाते हैं–

1. **सामूहिक जीवन**–कीड़ों और चींटियों में समूह में रहने की आदत पाई जाती है। समूह में रहकर ही ये अपना भोजन एकत्र करते हैं।
2. **सहयोग**–इस समाज के जीवधारियों में पारस्परिक सहयोग उच्चकोटि का पाया जाता है।
3. **श्रम विभाजन**–इन जीवधारियों में श्रम विभाजन का सिद्धान्त देखने को मिलता है। चींटियों में भी रानी तथा श्रमिक चींटियों में भेद किया गया है।
4. **ऋतु ज्ञान**–ये जीवधारी ऋतुओं का विशेष ज्ञान रखते हैं और स्वयं अपनी रक्षा के साधन जुटा लेते हैं। प्रजनन की भी विशेष ऋतु होती है।
5. **पर्यावरण पर निर्भरता**–इस श्रेणी के जीवधारियों का अस्तित्व इनके पर्यावरण पर ही निर्भर है। यदि पर्यावरण थोड़ा-सा परिवर्तित हो जाये तो इनकी जीवन-लीला समाप्त हो जाती है।
6. **प्राकृतिक प्रवरण**–इस श्रेणी के जीवधारियों में प्रकृति प्रवरण का सिद्धान्त लागू होता है अर्थात् केवल वे ही प्राणी जीवित रहते हैं जो जीवन संघर्ष में विजयी रह सकें अथवा सबल हों।

किंग्सले डेविस (Kingsley Davis) ने मानव तथा पशु समाज का अन्तर स्पष्ट करने के लिये समाजों को तीन श्रेणियों में बांटा है–(अ) स्तनपायी समाज, जिसमें वह स्तनपायी जीवों और कीट-पतंगों में अन्तर स्पष्ट करता है; (ब) नर-वानर समाज, जिसमें वह उच्च स्तनधारी तथा निम्न स्तनधारी जीवों में अन्तर करता है; तथा (स) मानव समाज, जिसमें वह मानव तथा पशु समाज में अन्तर करता है।

'पशुओं में समाज तो होता है किन्तु संस्कृति नहीं' (Animals have Society but no Culture)

पशुओं में समाज तो पाया जाता है तथापि संस्कृति नहीं पाई जाती है। मानव के पास भाषा और प्रतीक होते हैं। इनके माध्यम से वह विचारों का आदान-प्रदान करता है। व्यक्ति ही भाषा का प्रयोग करने की क्षमता रखता है। यह व्यक्ति और पशु में सबसे बड़ा अन्तर है। भाषा के कारण वह ज्ञानी है और संस्कृति धारक और वाहक भी है। भाषा के माध्यम से वह ज्ञान और संस्कृति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाता है।

वस्तुत: भाषा और प्रतीकों के सहयोग से प्रत्येक समाज में बचपन से ही मनुष्यों को अनुभव का पुंज मिलता है और नवीन सांस्कृतिक व्यवस्था की स्थिरता तथा निरन्तरता संभव होती है। जहाँ तक पशुओं का सम्बन्ध है अधिकतर सीखना प्रयत्न और भूल से होता है और उनके कार्य सहज क्रिया के रूप में होते हैं। उनमें पिछली पीढ़ी के अनुभवों से लाभ उठाने की क्षमता नहीं पाई जाती है। संस्कृति में निर्णय और मूल्य सम्मिलित होते हैं। पशु में निर्णय करने की क्षमता नहीं होती है न उनमें मूल्य होते हैं। इसलिए उचित ही कहा गया है कि पशुओं में समाज तो होता है संस्कृति नहीं।

2.6 समुदाय (Community)

समुदाय मनुष्य के संगठित समूहों का नाम है जिसका निर्माण किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया जाता है। किसी-किसी छोटे या बड़े समूह के सदस्य जब साथ-साथ इस प्रकार रहते हैं कि वे किसी विशेष प्रकार के हित में भागीदार न होकर सामान्य जीवन की आधारभूत स्थितियों में भाग लेते हों तो ऐसे समुदाय को समुदाय कहा जाता है। समुदाय का लक्षण ऐसा है कि उसके भीतर एक मनुष्य का संपूर्ण जीवन व्यतीत किया जा सकता है। किसी व्यापारिक संगठन अथवा गिरजे में कोई अपना सम्पूर्ण जीवन नहीं व्यतीत कर सकता परन्तु एक जनजाति अथवा एक नगर के भीतर हममें से कोई भी सारा जीवन व्यतीत कर सकता है। अतः समुदाय की आधारभूत कसौटी यह है कि मनुष्य के समस्त सामाजिक सम्बन्ध उसके भीतर ही मिल जाएँ।

समुदाय की परिभाषा (Definition of Community)

समुदाय की व्याख्या विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से की है। **डासन** और **गैटिस** (Dawson & Gettys) के अनुसार, **"समुदाय का तात्पर्य भू-भाग की एक ऐसी इकाई है जिसमें जनसंख्या का निवास है और जिसके पास अपनी सामान्य तथा विशिष्ट संस्थाएँ हैं जिनके माध्यम से सामान्य जीवन संभव है।" लुमले** (Lumley) के अनुसार, समुदाय को लोगों के एक स्थानीय एकत्रीकरण के रूप में परिभाषित किया जा सकता है कि जिनके भिन्न और समान हित हैं और जिन्हें पूरा करने के लिए विभिन्न संस्थाएँ बनी हुई हैं। **मैकाइवर तथा पेज** का मत है कि जब कभी किसी छोटे-बड़े समूह के सदस्य इस प्रकार साथ-साथ रहते हैं कि उनका साथ रहना किसी विशेष प्रयोजन या स्वार्थ से न होकर सामान्य जीवन के कारण होता है तो ऐसे समूह को हम समुदाय कहते हैं।

समुदाय के प्राथमिक तत्व (Primary Elements of Community)

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि समुदाय में सामाजिक संलग्नता के कुछ अंश विद्यमान हों। समाज की ही भांति समुदाय के भी कुछ आधारभूत तत्व होते हैं :

(*i*) **निश्चित भू-भाग** (Definite locality)–व्यक्ति का कोई भी समूह तब तक समुदाय नहीं बन सकता जब तक उनके बसने के लिए एक निश्चित भू-भाग न हो। **मेंजर** (Manzer) ने लिखा है–**"एक समाज जो एक निश्चित भू-भाग में रहता है, एक समुदाय कहलाता है।" डेविस** (Davis) के अनुसार–**"समुदाय सबसे छोटा एक क्षेत्रीय समूह है जिसके अन्तर्गत सामाजिक जीवन के समस्त पहलू आ सकते हैं।"** इस तरह एक समुदाय सदा एक प्रादेशिक क्षेत्र में स्थित होता है। अधिकांश सुनिश्चित रूप से बसे हुए हैं और अपनी स्थानीय भूमि की स्थितियों से सुदृढ़ सूत्र में बँधे होते हैं। समुदाय की धारणा का यह महत्त्व बहुत कुछ इस बात में है कि वह सामाजिक संलग्नता और भौगोलिक क्षेत्र के मध्यवर्ती सम्बन्ध पर बल देता है। सभ्यता के कारण स्थानीय आवास और सामाजिक सम्बन्धों में आज चाहे जो भी परिवर्तन दृष्टिगत होते हों, फिर भी स्थानीय क्षेत्र में आधारभूत लक्षण की श्रेष्ठता में कोई संशय नहीं रह गया है।

(*ii*) **सामुदायिक भावना** (Community sentiments)–समुदाय का एक महत्त्वपूर्ण तत्व सामुदायिक भावना है। एक निश्चित भू-भाग में रहने से लोगों में 'हम की भावना' (We feeling) आ जाती है। यह 'हम की भावना' सामुदायिक भावना कहलाती है। इस सामुदायिक भावना के आधार पर ही हम उस समुदाय को अपना समझने लगते हैं। आज हम निश्चित भू-भाग में रहने वालों में सामाजिक संलग्नता का अभाव पाते हैं जिसके कारण उन्हें एक समुदाय की संज्ञा नहीं मिल पाती। समुदाय एक सामान्य जीवन का क्षेत्र है। उसमें सामान्य जीवन तो होगा ही, साथ ही जीवन पद्धति तथा सामान्य भूमि की सम्पत्ति में सहभागी होने का ज्ञान भी होगा।

(*iii*) **सामान्य जीवन** (Common life)–समुदाय के प्रत्येक व्यक्ति का जीवन प्रायः सामान्य होता है। इस कारण समुदाय के अन्तर्गत सामान्य रीति-रिवाज, सामान्य भाषा तथा सामान्य सांस्कृतिक पर्यावरण पाया जाता है।

(*iv*) **नियमों की एक सामान्य व्यवस्था** (A Common system of rules)–**गिन्सबर्ग** समुदाय के एक अन्य तत्व की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। वे कहते हैं कि समुदाय के संगठन पक्ष को हमें नहीं भूलना

चाहिए। समुदाय निश्चय ही एक संगठन है और उस संगठन को बनाये रखने के लिए तथा समुदाय के सदस्यों के व्यवहारों पर नियन्त्रण रखने के लिए आवश्यक है कि उस समुदाय में कुछ निश्चित नियमों की एक समान व्यवस्था भी हो।

समाज और समुदाय में समानताएँ (Similarities of Society and Community)

समाज और समुदाय में निम्नलिखित समानताएँ हैं–

1. समाज और समुदाय दोनों में पारस्परिक जागरूकता पाई जाती है।
2. समाज और समुदाय दोनों ही परिवर्तनशील हैं।
3. समाज व समुदाय दोनों का ही लगभग स्वत: विकास होता है।
4. समाज व समुदाय दोनों में ही सामाजिक सम्बन्ध पाये जाते हैं।
5. समाज व समुदाय दोनों में ही जनसमूह पाये जाते हैं।
6. समाज व समुदाय दोनों में विभिन्न समूह पाये जाते हैं।

समुदाय और समाज में अन्तर (Difference between Community and Society)

बाह्य रूप से यद्यपि दोनों में काफी समानता झलकती है तथापि उनमें अनेक मौलिक अन्तर भी हैं जो निम्नलिखित हैं–
(*i*) समाज बन्धनों का एक जाल है। समुदाय के लिए एक निश्चित भू-भाग का होना आवश्यक है। (*ii*) समाज अमूर्त है, समुदाय मूर्तिमान है। (*iii*) समाज के अन्तर्गत हम अनेक समुदाय को ले सकते हैं। समुदाय के अन्तर्गत ऐसा सम्भव नहीं है। समुदाय में केवल एक समाज सम्भव है। (*iv*) प्रत्येक समाज को समुदाय नहीं कहा जा सकता है। प्रत्येक समुदाय को समाज कहा जा सकता है। (*v*) समाज में 'हम की भावना' का होना आवश्यक नहीं है। समुदाय के लिए 'हम की भावना' का होना आवश्यक है। (*vi*) समाज को किसी निश्चित भू-भाग की आवश्यकता नहीं होती। समुदाय के लिए निश्चित भू-भाग का होना जरूरी है। (*vii*) समाज में संगठन और विघटन दोनों ही पाये जा सकते हैं। समुदाय में संगठन का होना आवश्यक है। (*viii*) समाज का निर्माण पहले हुआ है। समुदाय का निर्माण बाद में हुआ है। (*ix*) समाज में व्यक्ति अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत करता है। समुदाय में व्यक्ति के जीवन का एक अंश व्यतीत होता है। (*x*) समाज में अनेक उद्देश्य पाये जाते हैं। समुदाय का विशिष्ट उद्देश्य होता है। (*xi*) समाज में व्यक्तियों का जीवन सामान्य भी हो सकता है और विशिष्ट भी। समुदाय में सामान्यत: व्यक्तियों का जीवन सामान्य रहता है।

क्या आश्रम, बन्दीगृह समुदाय हैं? (Is Monastery, Prison a Community?)

क्या आश्रम एवं बंदीगृह समुदाय हैं? ये समुदाय हैं या नहीं, इसका निश्चय करने के लिए हमें इन्हें समुदाय के आवश्यक तत्वों की कसौटी पर कसना होगा। समुदाय के तीन आवश्यक तत्व हैं–एक निश्चित भू-भाग, मानव समूह एवं 'हम की भावना'। सामान्य जीवन भी समुदाय का एक आवश्यक तत्व है। एक आश्रम या एक बन्दीगृह में समुदाय के ये आवश्यक तत्व पाये जाते हैं। बन्दीगृह या आश्रम एक निश्चित भू-भाग पर बसा होता है, मानव समूह होता है और वे सामान्य जीवन भी व्यतीत करते हैं। उनके अन्दर 'हम की भावना' भी पाई जाती है। इस प्रकार हम उन्हें समुदाय मान सकते हैं। कुछ लोगों को इसमें आपत्ति है। उनका कहना है कि आश्रम या बन्दीगृह में सामान्य जीवन सीमित एवं प्रतिबंधित है, इसलिए उन्हें समुदाय नहीं कहना चाहिए। पर यह आपत्ति उचित नहीं है, क्योंकि प्रत्येक समुदाय में सामान्य जीवन समुदाय के नियमों के अनुसार सीमित होता है। हम आश्रम एवं बन्दीगृह को समुदाय मानेंगे?

क्या जाति एक समुदाय है? (Is Caste a Community?)

जाति में 'हम की भावना' तो अवश्य पायी जाती है, परन्तु निश्चित भू-भाग और सामान्य जीवन नहीं पाया जाता। जाति के सदस्य अनेक भागों में बिखरे हुए रहते हैं। सामान्य जीवन भी नहीं होता। एक बंगाली ब्राह्मण का रहन-सहन एवं रीति-रिवाज कश्मीरी ब्राह्मण से बिल्कुल भिन्न होता है। 'हम की भावना' भी उतनी मजबूत नहीं

होती। एक पंजाबी ब्राह्मण बंगाली ब्राह्मण की अपेक्षा वैश्य के प्रति अधिक अपनत्व की भावना प्रदर्शित करता है। अत: जाति को समुदाय कहना उचित न होगा।

क्या शरणार्थी समूह समुदाय है?

नोट

शरणार्थी समूह (refugee groups) या आवासी (immigrants) को भी हम समुदाय कह सकते हैं। ये लोग एक विशिष्ट भाषा बोलते हैं समान रीति रिवाजों का पालन करते हैं और एक-दूसरे के साथ सुख-दुख में हाथ बँटाते हैं। जहाँ कहीं भी ये एक निश्चित भू-भाग पर बस गए हैं, वहीं पर इनका समुदाय बन गया है।

पड़ोस और समुदाय (Neighbourhood and Community)

पड़ोस निश्चित रूप से एक समुदाय है। पड़ोस का एक निश्चित भू-भाग होता है, मानव समूह रहता है, उनमें 'हम की भावना' पायी जाती है और सामान्य जीवन भी व्यतीत करते हैं। पड़ोस के साथ सबसे अधिक 'हम की भावना' की तीव्रता पाई जाती है। पड़ोस एक प्रकार से परिवार ही होता है। इसे व्यक्ति अधिक महत्त्व देता है। पड़ोस समुदाय की सबसे प्रारम्भिक इकाई है। पड़ोस समुदाय का एक अंग या भाग है। पड़ोस एक छोटा समुदाय है। पड़ोस व्यक्ति के सामान्य जीवन, रहन-सहन एवं व्यक्तित्व के विकास पर गहरा प्रभाव डालता है।

ग्राम एवं नगर के पड़ोस के स्वरूप में बड़ा अन्तर होता है। ग्रामों में पड़ोस सामान्य जीवन का महत्त्वपूर्ण रंगमंच होता है, पर नगरों में पड़ोस का महत्त्व तुलनात्मक दृष्टि से कम रहता है। बहुत बड़े नगरों में तो पड़ोस का महत्त्व बिल्कुल समाप्त हो जाता है वहाँ पर तो प्राथमिक संबंध भी नहीं स्थापित हो पाते हैं। नगरों में पड़ोस को समुदाय नहीं कहा जा सकता क्योंकि उनमें सामुदायिक भावना नहीं पायी जाती।

मैकाइवर के विचार

मैकाइवर समुदाय को परिभाषित करते हुए लिखते हैं कि सामाजिक जीवन के उस क्षेत्र को समुदाय कहते हैं जिसमें सामाजिक समरसता के भाव कुछ सीमा तक विद्यमान हो। मैकाइवर ने समुदाय के प्रमुख आधारों को निम्नलिखित रूप में निरूपित किया है–

(1) स्थानीय क्षेत्र तथा (2) सामुदायिकता की भावना।

1. स्थानीय क्षेत्र–समुदाय का प्रमुख तत्व स्थानीय क्षेत्र है, अर्थात् एक समुदाय हमेशा एक प्रादेशिक या भौगोलिक क्षेत्र में स्थित होता है। अधिकतर समुदाय सुनिश्चित रूप से बसे हुए हैं और स्थानीय भूमि की दशाओं में सुदृढ़ सूत्र में बंधे होते हैं, यद्यपि आधुनिक वैज्ञानिक युग के परिवहन के साधनों और औद्योगीकरण की प्रक्रिया से स्थानीय एकता में कुछ सीमा तक शिथिलता आ गयी हैं। यह बात विशेष रूप से नगरीकरण की प्रक्रिया अथवा ग्रामीण क्षेत्रों में शहरी क्षेत्रों के प्रतिमानों में देख सकते हैं। सभ्यता के प्रसार के कारण चाहे, जो भी परिवर्तन दिखाई देते हों, किन्तु सामाजिक वर्गों की उत्पत्ति के रूप में 'स्थानीय क्षेत्र' का महत्त्व आज भी प्रासंगिक है।

स्थानीय क्षेत्र के तत्व

1. संकेन्द्रित जनसंख्या–जनसंख्या का संकेन्द्रण समुदाय का एक आवश्यक तत्व है। जनसंख्या के अधिक घने बसे क्षेत्र पृथ्वी के ऐसे क्षेत्र के समान होते हैं, जिनकी कुछ प्राकृतिक भौगोलिक दशाएँ विशिष्ट प्रकार की होती हैं, किन्तु ऐसा सदैव नहीं होता। अनेक समुदाय में सामाजिक क्रिया-कलापों के कुछ केंद्र होते हैं। यदि समुदाय छोटा है, तो यह केंद्र विभेदीकृत नहीं होता है और यदि समुदाय बड़ा हो तो यह अधिक विस्तृत और विभेदीकृत होता है।

2. स्थानीय परिस्थिति–स्थानीय दशा भी समुदाय को काफी-सीमा तक प्रभावित करती है। मानव पारिस्थितिकी शास्त्र मनुष्य के समंजन के प्रतिमानों को व्यक्त करता है, क्योंकि मनुष्य नगर अथवा गाँव के भीतर मिलने वाले विभिन्न प्रकार के पर्यावरणों में समुदाय के अस्तित्व का निर्माण करते हैं। समाजशास्त्रियों का एक वर्ग समुदाय के निर्माण में प्राकृतिक वनस्पति और खेती करने के प्रकारों और क्षेत्र के अनुकूल पशुओं के पालन की व्यवस्था तथा जलवायु-सम्बन्धी दशाओं जैसे कारकों के महत्त्व को मानता है। इनके अनुसार स्थानीय भौतिक पर्यावरण का प्रभाव सामाजिक जीवन पर विशेष रूप से पड़ता है। प्रत्येक समूह अपने सभी सदस्यों की अपनी विशिष्ट आवश्यकता के अनुसार एक पर्यावरण का निर्माण करता है। प्रत्येक समूह में नयी पीढ़ी की आयु बढ़ने के साथ-साथ उपर्युक्त विशिष्ट प्रक्रिया होती है। विभिन्न स्थानों के समूहों के बीच स्पष्ट एवं सूक्ष्म भिन्नताएँ अनेक

कारकों की परिवर्तनशील जटिल व्यवस्था का परिणाम है। ये सब संयुक्त होकर समूह को निकट लाने तथा निर्दिष्ट क्षेत्र से उसे संगठित बनाये रखते हैं।

3. समुदाय का बाह्य स्वरूप–प्रत्येक समुदाय अपने स्वरूप को व्यक्त करता है। एक परिसीमित प्रदेशों में बसे हुए नगरों को हम एक राष्ट्र नहीं कह सकते, क्योंकि एक देश में एक प्रधान नगर होता है, जिसकी एक राजध ानी होती है और प्रकार्यात्मक दृष्टि से विशेषीकृत क्षेत्र और नगर होते हैं और इनके बीच सम्पर्कों का जाल बुना होता है। नगर केवल परिवारों का एक संग्रह मात्र नहीं होता। अपितु यह एक व्यवस्था अथवा प्रतिमान होता है, जिसमें कुटुम्बों, पेशों और सभी प्रकार के विशेषीकृत की इकाइयों का समावेश होता है।

4. समुदाय की रचना प्राकृतिक विकास के रूप–संघ की तरह समुदाय का प्रतिमान साधारणतया नियोजित नहीं होता। इनका निर्धारण उन शक्तियों द्वारा होता है, जो निकट सम्बन्ध में आने पर कुछ लोगों के बीच में उत्पन्न होती है। ये शक्तियाँ प्रतियोगिता के लिए संघर्ष और अर्थव्यवस्था के लिए सहयोग जैसी शक्तियाँ हैं। इस प्रकार नगर का एक स्थानीय स्वरूप बन जाता है। इसके अतिरिक्त नगर की अपनी एक भौतिक आकृति या भौतिक विन्यास होता है, जो कि एक समुदाय का विशिष्ट रूप कहा जा सकता है। एक बड़े नगर की भौतिक रचना पर आधुनिक काल के आर्थिक और तकनीकी विकास के प्रभावों का प्रभाव पड़ा है। इसे एक प्राकृतिक रूप से विकसित समुदाय के रूप में आंशिक ही समझा जा सकता है।

प्राय: ऐसा होता है कि हम सामुदायिक क्रिया-कलापों के केंद्र के रूप में जब एक नये भवन का निर्माण करते हैं तो पता चलता है कि जिन लोगों के लिए इस भवन का निर्माण किया गया था वे उसका उपयोग ही नहीं करते। इसी प्रकार कभी-कभी जब हम जंगलों और पर्वतों के भूखण्डों को घेर कर उन्हें जनता के लिए आकर्षण और मनोरंजन का क्षेत्र बनाना चाहते हैं, तो प्राय: यह देखने में आता है कि जनता या तो उनकी उपेक्षा करती है अथवा उसका विनाश कर डालती है।

5. सामुदायिकता की भावना–मैकाइवर के अनुसार समुदाय का दूसरा प्रमुख तत्व सामुदायिकता की भावना है। प्राय: उन लोगों में सामुदायिक भावना का विकास पाया जाता है, जो सदस्य साथ-साथ रहते हैं, उनमें स्मृतियों, परम्पराओं और संस्थाओं की भावना मनुष्य के साथ-साथ रहने की आवश्यकता को बढ़ाती है। समाजीकरण की प्रक्रिया भी सामुदायिक भावना का निर्माण करती है। इस प्रक्रिया को व्यापक अर्थ में शिक्षा कह सकते हैं जो कि निर्देशों और सत्ता के माध्यम से सामाजिक सम्मान और आपत्ति के माध्यम से काम करती है। कोई भी मनुष्य अपने व्यक्तित्व की गहराइयों में अंकित इस प्रकार की सामुदायिक भावना के बिना बड़ा नहीं हो सकता।

"व्यक्ति की सामुदायिक भावना परोपकारवादी या परमार्थवादी होती है।" ये शब्द अहंवादी अथवा स्वा. र्थवादी शब्दों के विपरीत हैं।

सामुदायिक भावना के तत्व–मुख्य रूप से निम्नलिखित तत्व पाये जाते हैं–

1. **अहम की भावना**–'हम' की भावना से मनुष्य-मनुष्य में ऐक्य भाव उत्पन्न होता है ताकि जब वे सब लोग 'हम' शब्द कहते हैं तो उनमें किसी प्रकार के विभाजन का विचार नहीं होता। जहाँ कहीं भी मनुष्यों के सामान्य हित होते हैं वहाँ यह हम की भावना पायी जाती है और इस प्रकार सम्पूर्ण सामूहिक जीवन में इसे देखा जा सकता है।
2. **भूमिका की भावना**–भूमिका की भावना में प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करता है कि उसे कोई न कोई भूमिका अदा करना है और सामाजिक क्षेत्र में पारस्परिक आदान-प्रदान में उसे अपना प्रकार्य पूरा करना है।
3. **निर्भरता की भावना**–व्यक्ति समाज में अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए समुदाय पर निर्भर रहता है। इसी कारण उसमें निर्भरता की भावना का उदय होता है जिसके फलस्वरूप व्यक्ति में भौतिक निर्भरता की भावना होती है।

2.7 संघ या समिति (Association)

नोट

संघ का जन्म मानव की कुछ सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होता है। संघ समुदाय के अन्तर्गत एक संगठन है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री **गिन्सबर्ग (Ginsberg) के अनुसार**, "संघ सामाजिक प्राणियों के उस समूह को कहते हैं जो इस सत्य से एक दूसरे से सम्बन्धित रहते हैं कि वे किसी विशेष उद्देश्य की प्राप्ति के लिए एक समान संगठन को रखते हैं या स्थापित कर चुके हैं।"

गिडिंग्स (Giddings) का कथन है कि "संघ सामाजिक जीवन के संगठन या आकार-पक्ष के प्रतीक हैं जिसमें सामाजिक विधान की शिक्षा दी जाती है।"

मैकाइवर तथा पेज ने इस सम्बन्ध में लिखा है–"हम संघ की परिभाषा उस संगठित समूह की भाँति कर सकते हैं जो समान हितों की पूर्ति के लिए बनाया जाता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं का विश्लेषण करने पर हमें ज्ञात होता है कि संघ में इन तीनों बातों का समावेश रहता है– (*i*) संघ मनुष्यों का समूह है। (*ii*) यह संगठित होता है। (*iii*) इसके द्वारा समान हित या हितों की पूर्ति होती है। (*iv*) संघ के कार्य करने के कुछ नियम होते है और इनमें सहयोग की भावना पायी जाती है। संघ का एक निश्चित उद्देश्य होता है लेकिन उसका स्वभाव अस्थायी होता है।

संघ के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। राज्य, परिवार, कोर्ट, कॉलेज, कारखाना आदि। इन सबकी स्थापना जान-बूझ कर और संगठित रूप में एक या कुछ उद्देश्यों की पूर्ति के लिए की जाती है।

समिति की विशेषताएँ (Characteristics of Association)

समिति की कुछ प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

1. **व्यक्तियों का समूह** (Group of individuals)–समिति एक मूर्त संगठन है तथा इसका निर्माण कुछ व्यक्ति मिलकर करते हैं। व्यक्ति के बिना किसी भी समिति की कल्पना नहीं की जा सकती।
2. **निश्चित उद्देश्य** (Definite aim)–समिति का निर्माण सदैव एक या अनेक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किया जाता है। कुछ व्यक्ति अपने सामान्य हितों के आधार पर ही एक समिति को संगठित करते हैं। बिना उद्देश्य के समिति नहीं हो सकती।
3. **जानबूझ कर स्थापना** (Purposely established)–समिति का निर्माण जानबूझ कर किया जाता है। समुदाय की भाँति इसकी उत्पत्ति स्वत: नहीं होती। इसे व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं या उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जानबूझ-कर बनाता है। इस प्रकार समिति आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जानबूझ कर किया गया संगठित प्रयास है।
4. **एक निश्चित संगठन** (A definite organisation)–प्रत्येक समिति का एक निश्चित संगठन है। संगठन के अभाव में समिति अपने उद्देश्यों को पूरा करने में सफल नहीं होगी। संगठन से ही सहायता एवं सहयोग की भावना विकसित होती है।
5. **सामाजिक नियमों पर आधारित** (Based on social rules)–प्रत्येक समिति के अपने कुछ नियम या कानून होते हैं जिसकी सहायता से इसके सदस्यों के व्यवहार को नियमित तथा निर्देशित किया जाता है। ये नियम या कानून समाज द्वारा स्वीकृत होते हैं अर्थात् समाज के कानून के अन्तर्गत ही होते हैं समाज विरोधी कार्य के लिए बनाया गया संगठन समिति नहीं हो सकता। नियम विरुद्ध कार्य करने वाले को समिति से निकाला जा सकता है। ये नियम लिखित तथा अलिखित दोनों प्रकार के हो सकते हैं।
6. **ऐच्छिक सदस्यता** (Voluntary membership)–समिति की सदस्यता ऐच्छिक होती है अर्थात् यह व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर करती है कि वह किसी समिति का सदस्य बने या न बने। व्यक्ति अपनी रुचि या हित के अनुसार ही समिति की सदस्यता ग्रहण करता है तथा अपनी इच्छानुसार ही इसकी सदस्यता छोड़ भी देता है।
7. **अस्थायी प्रकृति** (Temporary nature)–समिति की प्रकृति अस्थायी होती है। समिति का निर्माण एक

या अनेक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किया जाता है। उद्देश्यों या आवश्यकताओं के पूरा होते ही समिति भंग हो जाती है तथा इसके सदस्य इसकी सदस्यता छोड़ देते हैं। इसीलिए इसकी प्रकृति अस्थायी होती है।

8. **औपचारिक संबंध** (Formal relation)–समिति के सदस्यों के मध्य परस्पर औपचारिक संबंध पाया जाता है। समिति के कुछ नियम तथा कानून होते हैं जिनके अन्तर्गत व्यक्ति को कार्य करना होता है। इन्हीं नियमों के अन्तर्गत व्यक्ति एक दूसरे से संबंध स्थापित करते हैं तथा केवल इतना ही संबंध रखते हैं जितना आवश्यकता पूर्ति के लिए आवश्यक होता है। एक साथ एक व्यक्ति अनेक समितियों का सदस्य होता है। इसलिए भी परस्पर घनिष्ठता का संबंध नहीं रख पाता।
9. **साध्य न होकर साधन** (Means and not an end)–समिति कुछ आवश्यकताओं या उद्देश्यों को पूरा करने के लिए संगठित की जाती है। अत: व्यक्ति समिति के माध्यम से ही अपने उद्देश्यों को पूरा करने का प्रयास करता है। इसीलिए हम कहते हैं कि समिति कुछ उद्देश्यों की पूर्ति का साधन मात्र है।
10. **नाम एवं प्रतीक** (Name and symbol)–समूह की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता इसका नाम एवं प्रतीक है। प्रत्येक समिति का अपना कोई न कोई नाम होता है तथा इसके कुछ प्रतीकात्मक संकेत या चिह्न भी होते हैं। अलग-अलग नाम से अलग-अलग स्थितियों का बोध होता है तथा नाम से ही पता चलता है कि समिति का संगठन किस उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया गया है। जैसे, जीवन बीमा निगम का प्रतीक जलते हुए चिराग के दोनों ओर हाथ है।

समिति का समाजशास्त्रीय महत्त्व (Sociological Importance of Association)

1. **व्यक्तित्व का विकास**–समिति के द्वारा व्यक्तित्व का विकास सम्भव है। मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह समाज की भलाई के लिए शारीरिक या मानसिक रूप से उन्नति करे। इसके आधार पर ही वह समाज का हितकारी अंग बन सकता है। समितियों में मनुष्य को सहयोग, सहानुभूति, भाईचारे की भावनायें आदि महत्त्वपूर्ण तत्व प्राप्त होते हैं। सनातन धर्म जैसी समितियाँ व्यक्तियों को धार्मिक उन्नति करवाने का प्रयास करती हैं। इससे व्यक्ति का समुचित रूप से विकास सम्भव होता है।
2. **श्रम विभाजन**–समिति समाज में श्रम-विभाजन के सिद्धान्तों पर कार्य करती है। इस कारण कार्य के विशेषकीरण का प्रादुर्भाव होता है। आज आधुनिक युग में विशेषीकरण का प्रगति के लिए विशेष महत्त्व है।
3. **सामाजिक संगठन**–समिति सामाजिक संगठन का एक महत्त्वपूर्ण अंग होती है। यदि समिति अपने उद्देश्य की पूर्ति करती रहती है तो सामाजिक व्यवस्था बनी रहती है जिससे समाज की प्रगति निर्धारित लक्ष्य की तरफ होती रहती है।
4. **समिति के कार्य को पूरा करने में सहयोग**–समिति में सभी सदस्य एक उद्देश्य या उद्देश्यों को लेकर प्रवेश करते हैं। इसीलिए सभी सदस्य समिति के कार्य को पूरा करने में सहयोग देते हैं।
5. **उद्देश्यों की प्राप्ति**–समिति का निर्माण सामाजिक व्यक्तियों की आवश्यकताओं एवं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है। समिति का सदस्य बन कर कोई भी व्यक्ति अपने उद्देश्यों को प्राप्त कर सकता है।
6. **व्यक्तियों में अच्छे गुणों का विकास**–समिति का निर्माण सद्भावना एवं सहयोग की भावना पर आधारित होता है। अत: समाज में व्यक्तियों के दिलों में अच्छे गुणों का विकास होता है, जो समाज की प्रगति के लिए आवश्यक है।

समिति के प्रकार (Types of Association)

समितियाँ निम्न प्रकार की होती हैं :

1. आर्थिक समितियाँ–मजदूर संघ, व्यावसायिक समितियाँ
2. राजनैतिक समितियाँ–काँग्रेस, जनता दल आदि
3. धार्मिक समितियाँ–ब्रह्म समाज, रामकृष्ण मिशन
4. शैक्षणिक समितियाँ–शिक्षा मण्डल, समाजशास्त्र परिषद्

5. मनोरंजनात्मक समितियाँ—क्लब, खेलकूद परिषद्
6. सामान्य कल्याण समितियाँ—आदिवासी कल्याण, हरिजन सेवक समाज

मैकाइवर तथा पेज ने भी समितियों का वर्गीकरण हितों (Interest) के आधार पर किया है जिसे हम निम्न तालिका से समझा सकते हैं।

नोट

हित (Interest)	समितियाँ (Associations)
I. अविशेषीकृत (Unspecialized)	वर्ग एवं जातीय संगठन, लिंग समूह, आयु समूह पितृसत्तात्मक परिवार आदि।
II. **विशेषीकृत** (Specialized)	
(अ) द्वैतीयक (सभ्यता संबंधी अथवा उपयोगितावादी)	
1. आर्थिक हित	व्यापारिक, औद्योगिक, वित्तीय तथा कृषि संबंधी संगठन, रोजगार संबंधी संगठन आदि
2. राजनैतिक हित	राज्य-नगरपालिका दल आदि
3. तकनीकी हित	तकनीक अनुसंधान एवं व्यावहारिक समस्याओं के समाधान हेतु निर्मित समितियाँ
(ब) मध्यस्थ शैक्षणिक हित	
(स) प्राथमिक (सांस्कृतिक)	स्कूल, विश्वविद्यालय अध्ययन समूह आदि
1. सामाजिक सम्पर्क या सहवास	क्लब,
2. स्वास्थ्य एवं मनोरंजन	खेलकूद, नृत्य, व्यायाम आदि से संबंधित
3. यौन तथा प्रजनन	परिवार
4. धर्म	चर्च-मठ आदि
5. सौन्दर्यात्मक हित, कला, संगीत साहित्य आदि	ललित कला केन्द्र
6. विज्ञान एवं दर्शन	विद्वत समाज

समिति और समुदाय (Association and Community)

समिति मनुष्यों का वह समूह है जो किसी एक उद्देश्य या उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु संगठित किया जाता है। समिति के लिए भू-भाग अनिवार्य नहीं है। समिति में सहयोगी भावना पर्याप्त है, हम की भावना की कोई आवश्यकता नहीं है। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि समिति (association), समुदाय (community) नहीं है। समिति समुदाय का एक संगठन मात्र है जो किसी उद्देश्य या उद्देश्यों की पूर्ति हेतु समुदाय के अन्तर्गत स्थापित की जाती है। **मैकाइवर तथा पेज** ने स्पष्ट लिखा है, "एक समिति एक समुदाय नहीं होती है, अपितु समुदाय के अन्तर्गत एक संगठन होती है।"

समिति और समुदाय में तुलना—

समानताएँ

समिति	समुदाय
1. समिति मनुष्यों का समूह है।	1. समुदाय मनुष्यों का समूह है।
2. समिति मूर्तरूप है।	2. समुदाय मूर्तरूप है।
3. सहयोग की भावना एक आवश्यक तत्व है।	3. इसमें सहयोग की भावना अत्यन्त आवश्यक है।

नोट

असमानताएँ

समिति	समुदाय
1. समिति की विचारपूर्वक स्थापना की जाती है।	1. समुदाय की स्थापना नहीं होती बल्कि स्वत: जन्म होता है।
2. इसका निर्माण किया जाता है।	2. इसका विकास होता है।
3. यह एक उद्देश्य या कुछ उद्देश्यों की पूर्ति हेतु की जाती है।	3. यह सम्पूर्ण सामान्य जीवन का आलिंगन करता है। यह स्थापित किन्हीं स्वार्थों या उद्देश्यों के कारण, स्थापित किया जाता है। इसमें सम्पूर्ण जीवन ही व्यतीत होता है।
4. इसकी सदस्यता ऐच्छिक होती है।	4. इसकी सदस्यता अनिवार्य होती है।
5. समिति समुदाय की तुलना में अस्थायी होती है।	5. समुदाय स्थायी होता है।
6. समिति के प्रति अपनत्व की भावना स्वार्थ में लिप्त होती है। स्वार्थ के पूर्ण होते ही हम उसे प्राय: भूल जाते हैं।	6. समुदाय के प्रति अपनत्व की भावना स्वार्थहीन होती है। वह नस-नस एवं रोम-रोम में समा जाती है।
7. समिति साधन है।	7. समुदाय साध्य है।
8. समिति समुदाय का एक भाग है। एक समुदाय में अनेक समितियाँ होती हैं।	8. समुदाय समिति के द्वारा अपने उद्देश्यों की पूर्ति करता है और साधन रूप में प्रयोग करता है।

समिति समुदाय नहीं (An Association is not a Community)

उपरोक्त विवेचन से **मैकाइवर** तथा **पेज** का कथन ठीक प्रतीत होता है कि "समिति समुदाय नहीं वरन् समुदाय के अन्तर्गत एक संगठन है।" समुदाय का क्षेत्र समिति की तुलना में अधिक व्यापक और विस्तृत होता है। सम. ुदाय के उदाहरण—ग्राम, नगर, राष्ट्र, जातियाँ, उपजातियाँ आदि। समिति के उदाहरण हैं—व्यापार के लिए कम्पनी, शिक्षा के प्रसार के लिए एक कमेटी, क्रिकेट, हाकी या फुटबाल के खेल को संगठित करने के लिए एक क्लब इत्यादि। इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि समिति समुदाय नहीं है वरन् समुदाय के अन्तर्गत एक संगठन है।

समुदाय एवं समाज में अन्तर

समाज में ही सामाजिक संबंध स्थापित किये जाते हैं तथा सामाजिक संबंध अमूर्त होते हैं। अत: समाज भी अमूर्त है परन्तु समाज की प्रमुख विशेषता व्यक्तियों की अनेकता है। जब तक समाज में व्यक्ति नहीं होंगे तो सामाजिक संबंध कौन स्थापित करेगा और किसके साथ? अत: अनेक व्यक्ति भी होने चाहिए। इन व्यक्तियों के संगठन को समुदाय कहते हैं। इन व्यक्तियों को देखा जा सकता है। इसलिए समुदाय मूर्त है। स्पष्ट है कि निश्चित भू-भाग पर बसे, हम की भावना से युक्त, सामान्य जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्तियों के सामुदायिक संगठन को समुदाय कहते हैं। जब हम इन व्यक्तियों का नहीं अपितु उनमें आपस में जो संबंध स्थापित होते हैं, उन संबंधों का वर्णन करने लगते हैं, जो कि अमूर्त होते हैं, तो उसे समाज कहते हैं। इसलिए समाज अमूर्त होता है। समाज, समुदाय नहीं हो सकता और समुदाय समाज नहीं हो सकता। इन दोनों में आधारभूत रूप से अन्तर है। यह अन्तर निम्न है :

समाज	समुदाय
1. समाज एक निश्चित भू-भाग पर नहीं बसा होता है।	1. जबकि समुदाय का आधार-भूत तत्व एक निश्चित भू-भाग है। यह निश्चित स्थान पर बसा होता है।
2. समाज में सामुदायिक भावना नहीं होती अपितु सहयोग और संघर्ष दोनों पाये जाते हैं।	2. सामुदायिक भावना समुदाय का प्राण है। बिना हम की भावना के समुदाय का अस्तित्व ही संभव नहीं है।
3. समाज सामाजिक संबंधों का जाल या ताना-बाना है।	3. समुदाय व्यक्तियों के संगठन का नाम है।

नोट

4. सामाजिक संबंध अदृश्य होने के कारण अमूर्त होते हैं।	4. समुदाय तो व्यक्तियों के संगठन को कहते हैं। अत: यह एक मूर्त संगठन होता है।
5. समाज अधिक विस्तृत होता है। अधिकतर समुदाय समाज के ही अन्तर्गत होते हैं। समाज पहले का होता है।	5. समुदाय के निर्माण एवं विकास की प्रक्रिया बाद में चलती है। यह बाद का संगठन होता है।
6. एक समाज में विभिन्न समुदायों का विकास संभव है। अधिकतर एक समाज में कई समुदायों के लोग रहते हैं।	6. परन्तु एक समुदाय में तो केवल एक ही समाज हो सकता है।
7. समाज की भौगोलिक सीमा निश्चित नहीं होती।	7. समुदाय के लिए निश्चित सीमा का होना परम आवश्यक है। यह समुदाय के निर्माण एवं विकास का एक प्रमुख आधार है।

समिति तथा समाज में अन्तर (Distinction between Association and Society)

समिति	समाज
1. समिति व्यक्तियों का समूह है।	1. समाज सामाजिक संबंधों का जाल है।
2. समिति अस्थायी होती है।	2. समाज लगभग स्थायी होता है।
3. समिति एक मूर्त संगठन है।	3. समाज अमूर्त संगठन है।
4. समिति में सहयोग की भावना पायी जाती है।	4. समाज में सहयोग और संघर्ष पाया जाता है।
5. समिति जान-बूझकर बनायी जाती है।	5. समाज का स्वत: विकास होता है।
6. समिति की सदस्यता ऐच्छिक होती है।	6. समाज की सदस्यता अनिवार्य होती है।
7. समिति निश्चित उद्देश्य की पूर्ति से संबंधित होती है।	7. समाज का उद्देश्य सामान्य होता है।
8. समिति एक कृत्रिम संगठन है।	8. समाज एक प्राकृतिक रूप से बना संगठन है।

2.8 संस्था (Institution)

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में ही रहता है और फलता-फूलता है। सामाजिक जीवन व्यतीत करने के लिए सामाजिक प्राणी के नाते उसकी कुछ आवश्यकताएँ अथवा हित (Interests) होते हैं। मानव हितों को मुख्य रूप से दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम, सामान्य हित (Common Interest) और द्वितीय विशिष्ट हित (Specific Interest)। सामान्य हितों की पूर्ति के लिए मनुष्य जिस संगठन को जन्म देता है उसे समुदाय कहते हैं और विशिष्ट हितों की पूर्ति से सम्बन्धित संगठन को संघ कहते हैं। इन दोनों हितों की पूर्ति के लिए मनुष्य द्वारा सामूहिक संगठन के निर्माण को संस्था कहते हैं। **बार्न्स** (H.E. Barnes) सामाजिक संस्थाओं का उल्लेख एक ऐसी सामाजिक रचना और यन्त्र के रूप में करता है जिसके द्वारा मानव समाज मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपेक्षित विविध कार्यकलापों का संगठन, निर्देशन और क्रियाशील करता है। इस सम्मत्ति के अनुसार परिवार, विवाह, राज्य, सरकार सभी संस्थाएँ हैं।

मैकाइवर के शब्दों में, ''संस्था एक ऐसा निश्चित संगठन होता है जो किसी विशेष स्वार्थ का अनुसरण करता है या एक विशेष ढंग से साधारण स्वार्थों का अनुसरण करता है।''

कूले के अनुसार, ''संस्था एक सामाजिक विरासत के रूप में निरन्तर चलने वाला व्यवस्थित संगठन है जो कुछ प्रस्तुत इच्छा या आवश्यकता की पूर्ति करता है।''

एडवुड के मतानुसार, ''संस्थाओं से तात्पर्य आपस में रहने के आचार-व्यवहार के तरीकों से है जिनको समुदाय की शक्ति द्वारा स्वीकृत, क्रमबद्ध और स्थापित किया गया है।''

बोगार्ड्स कहते हैं कि ''एक सामाजिक संस्था समाज का एक ढाँचा है जो मुख्य रूप से सुव्यवस्थित विधियों द्वारा लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संगठित किया जाता है।''

गिलिन और गिलिन के अनुसार, ''एक सामाजिक संस्था क्रियात्मक सांस्कृतिक प्रतिमानों का मेल है। (क्रिया, विचार, दृष्टिकोण और सांस्कृतिक उपकरण सहित) जिसमें एक निश्चित स्थिरता होती है और जो प्रस्तुत सामाजिक आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करती है।

उपर्युक्त परिभाषाओं का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि समाज प्रमुख मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कुछ निश्चित साधनों या कार्य प्रणालियों को निर्धारित करता है जिसे संस्था कहते है। गिलिन और गिलिन ने अपनी पुस्तक में संस्थाओं की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया है–

(*i*) सांस्कृतिक व्यवस्था की इकाई (Unit in the cultural system), (*ii*) अधिक स्थायित्व (Greater permanence), (*iii*) निश्चित उद्देश्य या उद्देश्य समूह (Well defined objective or objective), (*iv*) सांस्कृतिक उपकरण (Cultural Equipment), (*v*) प्रतीक (Symbol), (*vi*) परम्परा (Tradition)।

संस्था की विशेषताएँ

इन परिभाषाओं के आधार पर संस्था की सबसे प्रमुख विशेषताओं को निम्नलिखित रूप से स्पष्ट किया जा सकता है :

1. **नियमों की व्यवस्था**–संस्था की सबसे आधारभूत विशेषता अथवा पहचान यही है कि संस्था का तात्पर्य कभी व्यक्तियों के संगठन से नहीं होता बल्कि यह अनेक नियमों और कार्यवाहियों की एक व्यवस्था है। ये नियम अथवा कार्यविधियाँ अनेक विचारों, जनरीतियों, लोकाचारों, लिखित नियमों अथवा कानूनों के रूप में देखने को मिलती हैं। इसी दृष्टिकोण से गिलिन का कथन है कि ''संस्था सांस्कृतिक व्यवस्था की एक महत्त्वपूर्ण इकाई है।''
2. **अमूर्त प्रकृति**–उपर्युक्त विशेषता से ही स्पष्ट हो जाता है कि संस्था एक मूर्त संगठन नहीं है। संस्था का निर्माण अनेक नियमों और कार्यविधियों द्वारा होता है। नियमों तथा कार्यविधियों में हम जीवन व्यतीत करते हैं लेकिन उन्हें देख नहीं सकते हैं। इस कारण संस्था की प्रकृति सदैव अमूर्त होती है।
3. **सामूहिक स्वीकृति**–यदि नियमों की किसी व्यवस्था का निर्माण कुछ व्यक्ति अपने निजी स्वार्थों को पूरा करने के लिए कर लें तो इस व्यवस्था को संस्था नहीं कहा जा सकता। नियमों की कोई व्यवस्था संस्था तभी कहलाती है जब उसे सम्पूर्ण समूह अथवा समुदाय की स्वीकृति (Sanction) प्राप्त हो। उदाहरण के लिए संविधान एक संस्था है जिसके सभी कानून राज्य एवं विभिन्न समूहों द्वारा मान्य होते हैं।
4. **सुपरिभाषित उद्देश्य**–प्रत्येक संस्था के उद्देश्य पूर्णतया स्पष्ट और व्यावहारिक रूप से उपयोगी होते हैं। सभी संस्थाओं का कार्य एक विशेष समूह के व्यवहारों पर नियन्त्रण रखना तथा पारस्परिक संघर्षों की सम्भावना को दूर करना होता है। संस्था के ये उद्देश्य इतने स्थायी होते हैं कि नयी पीढ़ियों के जन्म के बाद भी इनकी उपयोगिता सदैव बनी रहती है।
5. **स्थायित्व**–समुदाय और समिति की अपेक्षा संस्था कहीं अधिक स्थायी होती है। इसका कारण यह है कि कार्य का कोई तरीका जब बहुत लम्बे समय तक उपयोगी प्रमाणित होता रहता है तभी वह संस्था का रूप ले पाता है। इसके उपरान्त वह व्यवहार संस्कृति का अंग बन जाता है और उसमें किसी भी प्रकार के परिवर्तन को उचित नहीं समझा जाता। यही कारण है कि एक समाज के आर्थिक और राजनीतिक जीवन में बहुत-से परिवर्तन हो जाने के बाद भी सामाजिक संस्थाओं के रूप में कोई परिवर्तन बहुत कठिनता से ही हो पाता है।
6. **प्रतीक**–प्रत्येक संस्था की विशेषताएँ इसके अनेक प्रतीकों द्वारा स्पष्ट हो जाती हैं। संस्था के प्रतीक भौतिक भी हो सकते हैं और अभौतिक भी। उदाहरण के लिए विवाह एक संस्था है तथा इसमें निहित भावनाओं को अनेक मंत्रों, हवन, वेदी, कलश तथा मण्डप जैसे प्रतीकों से अभिव्यक्त किया जाता है।
7. **सामूहिक घटना**–यद्यपि संस्था के निर्माण का विचार सबसे पहले एक व्यक्ति के मन में ही उत्पन्न होता है, लेकिन जब बहुत से व्यक्ति उस विचार अथवा कार्य के तरीके को उपयोगी समझने लगते हैं तभी

उसे एक संस्था का रूप मिल जाता है। इस प्रकार संस्था के विकास में सामूहिक प्रयत्नों का समावेश होने के कारण संस्था को एक 'सामूहिक घटना' कहा जाता है।

संस्था के उदाहरण

संस्था की प्रकृति को स्पष्ट करने के लिए यदि हम कुछ उदाहरणों की ओर संकेत करके चलें, तो इस धारणा को सफलतापूर्वक समझा जा सकता है। इस प्रकार विवाह, नौकरी के नियम, संविधान, उत्तराधिकार के नियम, परीक्षा-प्रणाली, आचार-संहिता आदि संस्था के उदाहरण हैं जबकि राजनीतिक दल, दुकान अथवा म्युनिसिपल कॉरपोरेशन को व्यक्तियों का संगठन होने के कारण संस्था नहीं कहा जा सकता। यदि हम 'विवाह' की विशेषताओं को देखें तो स्पष्ट हो जायेगा कि विवाह अनेक नियमों और कार्यविधियों की एक व्यवस्था है जिसका उपयोग परिवार की स्थापना करने के लिए किया जाता है। हम परिवार के सदस्य हो सकते हैं लेकिन विवाह के नहीं। इस प्रकार विवाह एक संस्था है जबकि परिवार एक समिति।

हम समितियों के सदस्य होते हैं संस्था के नहीं–

मैकाइवर और **पेज** का कथन है कि ''हम समितियों के सदस्य होते हैं, संस्था के नहीं।'' यह कथन समिति तथा संस्था की तुलनात्मक धारणा को स्पष्ट करने में बहुत अधिक सहायक है। यह कथन स्पष्ट करता है कि प्रत्येक वस्तु का एक मूर्त पहलू होता है और एक अमूर्त। कोई संगठन मूर्त इसलिए होता है कि कुछ व्यक्ति इस संगठन का निर्माण करते हैं और साथ ही यह अमूर्त इसलिए होता है कि अनेक नियमों तथा कार्यविधियों के द्वारा इस संगठन को स्थायी बनाये रखा जाता है। इस आधार पर **मैकाइवर** का कथन है कि ''यदि हम किसी वस्तु को एक संगठित समूह के रूप में लें तो इसे समिति कहा जायेगा लेकिन यदि किसी वस्तु को एक कार्य-प्रणाली के रूप में लिया जाये, तब वह एक संस्था होगी। समिति सदस्यता का बोध कराती है जबकि संस्था कार्य के किसी तरीके अथवा साधन का बोध कराती है।" इससे स्पष्ट हो जाता है कि एक मूर्त प्राणी के रूप में व्यक्ति किसी समिति का ही सदस्य हो सकता है, संस्था का नहीं। संस्था तो केवल व्यक्ति के कार्य को सरल बनाने तथा उसे व्यक्तिगत करने वाले कुछ नियमों तथा कार्य-विधियों की ओर ही संकेत करती है। इस तथ्य को निम्नलिखित उदाहरणों की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है।

1. हम एक परिवार को ले सकते हैं। यदि हम परिवार को माता-पिता, भाई-बहिन तथा दूसरे सदस्यों को समूह के रूप में देखें तो परिवार एक समिति है। इस समिति के कार्यों को अनेक परम्पराओं, घरेलू रीतियों, उत्तराधिकार के नियमों तथा विवाह-पद्धति के द्वारा व्यवस्थित रखा जाता है। इस प्रकार परम्पराएँ, घरेलू रीतियाँ, उत्तराधिकार के नियम तथा विवाह परिवार के अन्तर्गत विभिन्न संस्थाएँ हैं। स्पष्ट है कि उत्तराधिकार के नियम तथा वैवाहिक पद्धति परिवार को संगठित बनाये रखने का कार्य करते हैं।

एक समिति के रूप में परिवार के सदस्य हो सकते हैं। परिवार को संस्थाओं का सदस्य बनाना किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है। मनुष्य एक मूर्त प्राणी है इसलिए वह मनुष्यों के ही किसी संगठन का सदस्य हो सकता है।

2. दूसरे उदाहरण के रूप में कॉलेज और सरकार के लिए कहा जा सकता है। कॉलेज का एक रूप मूर्त है क्योंकि बहुत से शिक्षक, विद्यार्थी तथा कर्मचारी इसके सदस्य होते हैं और सदस्य के रूप में अनेक कार्यों द्वारा अपने उद्देश्यों को पूरा करते हैं। साथ ही कॉलेज का एक अमूर्त रूप भी है अर्थात् अनेक परम्पराएं, परीक्षा-प्रणाली तथा अनुशासन के नियम इसमें कार्य को व्यवस्थित बनाते हैं। कॉलेज का पहला रूप समिति है और दूसरा रूप संस्था। स्वाभाविक है कि एक समिति के रूप में ही हम कॉलेज के सदस्य हो सकते हैं। परीक्षा-प्रणाली अथवा अनुशासन के नियम हमारे कार्य को सरल बनाने के साधन हैं, हम इनके सदस्य नहीं हो सकते। इसी प्रकार अनेक प्रशासकीय अधिकारियों के संगठन के रूप में सरकार एक समिति है जबकि संविधान तथा आचार-संहिता इस समिति के अन्तर्गत दो मुख्य संस्थाएँ हैं। एक प्रशासनिक अधिकारी बनकर हम सरकार के सदस्य बन सकते हैं लेकिन संविधान अथवा आचार-संहिता के सदस्य नहीं बन सकते। इन सभी उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि समिति एक संगठन है जबकि संस्था एक साधन अथवा कार्य-प्रणाली होती है।

नोट

संस्था और संघ में अन्तर (Differences between Institution and Association)

1. समिति मनुष्य का समूह है संस्था कार्य के ढंगों की एक व्यवस्था है।
2. समिति मूर्त है, संस्था अमूर्त है।
3. समिति किसी विशिष्ट उद्देश्य अथवा उद्देश्यों की पूर्ति के लिए स्थापित की जाती है, संस्था धीरे-धीरे विकसित होती है।
4. समिति व्यक्तिगत कल्याण से सम्बन्धित होती है, संस्था सामूहिक कल्याण से।
5. समिति के नियम अनौपचारिक होते हैं, संस्था के नियम औपचारिक होते हैं। जिनका पालन आवश्यक होता है।
6. समिति अपेक्षाकृत अस्थायी होती है, संस्था अपेक्षाकृत स्थायी होती है।
7. समिति का संस्कृति के विकास में कोई योगदान नहीं होता लेकिन संस्थाओं द्वारा संस्कृति विकसित होती है।
8. समिति के प्रतीक भौतिक होते हैं जबकि संस्थाओं के प्रतीक अभौतिक एवं पारलौकिक होते हैं।

संस्था और समुदाय में अंतर (Differences between Institution and Community)

संस्था और समुदाय में मुख्य अन्तर अग्रलिखित हैं :

(*i*) संस्था प्रारम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है जबकि समुदाय में ऐसा कोई निश्चित उद्देश्य नहीं होता है। (*ii*) संस्था के ढाँचे में कार्यकर्ता, उत्सव और संस्कार, सामाजिक सम्बन्ध शामिल होते हैं जबकि समुदाय के ढाँचे में मनुष्यों का समूह, सामुदायिक भावना तथा सामाजिक सम्बन्ध सम्मिलित होते हैं। हमारे शहरी समाज (पाश्चात्य-समाज) में तिथि निश्चित करने के सम्बन्ध में वर्तमान अत्यन्त सुव्यवस्थित प्रणालियाँ (Dating) अथवा चलचित्र देखने और रेडियो के सुनने के सब स्थानों में प्रचलित कार्यों को ही लीजिए। कार्य-प्रणालियों के ये रूप निश्चित ही संघीय समूहों के कार्यों के प्राय: अंग होते हैं। वैसे ही कॉलेज की मित्र-मण्डली में तिथि निश्चित करना अथवा परिवार में रेडियो सुनना है। (*iii*) सामुदायिक संस्थाएँ अन्यान्य संघीय संस्थाओं के समान विचारपूर्वक स्थापना के कार्य का परिणाम नहीं है। **समनर** (Sumner) के शब्दों में, वे विधिकृत (Enacted) होने की अपेक्षा वर्द्धनशील हैं। सामुदायिक संस्थाओं को क्रमश: सामाजिक मान्यता प्राप्त हो जाती है, वे अधिष्ठान (Establishment) का रूप धारण कर लेते हैं। (*iv*) संस्था द्वारा एक नियम पद्धति का बोध होता है जबकि समुदाय मनुष्यों का समूह है। (*vii*) संस्था अमूर्त है, समुदाय मूर्त है।

2.9 सामाजिक समूह (Social Group)

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। इस सनातन सत्य का प्रतिपादन सर्वप्रथम प्राचीन यूनान के प्रसिद्ध राजनीतिक विच. ारक अरस्तू ने किया था। तब से आज तक इस कथन को अनेक मनीषियों ने दुहराया है और अब यह समाजशास्त्र का भी एक अंग बन गया है। मनुष्य के सामाजिक प्राणी का अर्थ है—मनुष्य का समाज में जन्म, कार्य एवं मृत्यु। समाज में ही रहकर मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता हुआ अपने श्रेय साधन को प्राप्त करता है। यही मनुष्य का सामाजिक जीवन कहलाता है।

मनुष्य का सामाजिक जीवन दो विरोधी प्रवृत्तियों का परिणाम है। इसमें एक प्रवृत्ति स्वार्थ की है जिसके अनुसार मनुष्य सदैव अपने हित को विचारता है। दूसरी प्रवृत्ति सामाजिक है जो प्रथम से कहीं अधिक प्रबल होती है। मनुष्य का जीवन काफी हद तक सामूहिक जीवन है। वह न केवल समूहों में रहता है बल्कि अपने सहयोगियों के साथ सदा नये समूहों का सृजन करता है। व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी समूहों का निर्माण करता है। इसका प्रयोग वह अल्पायु से ही करने लगता है। प्रारम्भ में वह शिशु के अनुरूप समूह बनाकर खेलता है और आगे चलकर स्कूल व कॉलेज में समूह बनाकर कार्य करता है।

समूह की परिभाषा (Definition of Group)

नोट

समूह व्यक्तियों का एक संकलन है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी रूप में एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। इसमें एक व्यक्ति दूसरे को प्रभावित करता है और स्वयं भी दूसरों से प्रभावित होता है। समूह की अवधारणा के स्पष्टीकरण के लिए कुछ परिभाषाओं का उल्लेख आवश्यक है।

1. **मैकाइवर और पेज** (Maciver and Page)–**मैकाइवर** तथा **पेज** के अनुसार, ''समूह से हमारा तात्पर्य लोगों के एक संगठन से है, जो कि एक-दूसरे से सामाजिक सम्बन्धों में गुंथे हैं।''
2. **आगबर्न और निमकॉफ** (Ogburn and Nimkoff)–आगबर्न तथा निमकॉफ ने समूह को पारिभाषित करते हुए यह उल्लेख किया है कि ''जब कभी दो या अधिक व्यक्ति एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हैं और एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं तो वे सामाजिक समूह को निर्मित करते हैं।''
3. **न्यूकाम्ब** (Newcomb)–न्यूकाम्ब के अनुसार, ''एक समूह में न्यूनाधिक ऐसे व्यक्ति होते हैं जो कुछ बातों में एक-दूसरे के साथ समान आदर्शों में हिस्सा बँटाते हैं और जिनके सामाजिक कार्य निकटतम रूप से एक-दूसरे के साथ बँधे होते हैं।''

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि समूह व्यक्तियों का एक संग्रह है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे के साथ सामाजिक सम्बन्धों से बँधा है। एक समूह के सदस्यों में समान सामाजिक मानदण्ड पाये जाते हैं। यहाँ ध्यान रखने योग्य यह बात है कि केवल व्यक्तियों के झुण्ड को ही समूह नहीं कहा जा सकता। इसके लिए अनिवार्य है कि वे एक-दूसरे पर अपना प्रभाव डालें। इसमें दो तथ्य कार्य करते हैं। प्रथम, सम्बन्धों की पारस्परिकता तथा द्वितीय एक दूसरे के प्रति जागरूकता। इस प्रकार एक सामाजिक समूह परस्पर सम्बन्धों की भूमिका अदा करते हुए लोगों का स्वयं से तथा दूसरों से एक परस्पर क्रिया की इकाई के रूप में माना हुआ समूह है।

समूहों का वर्गीकरण (Classification of Groups)

समूहों का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया गया है। इनमें निम्नलिखित वर्गीकरण मुख्य हैं–

1. **कूले का वर्गीकरण** (Cooley's Classification)–कूले ने समूहों के वर्गीकरण के पारस्परिक सम्बन्धों की घनिष्ठता को सर्वोपरि स्थान दिया है इस आधार पर उसने दो प्रकार का उल्लेख किया है–

(क) प्राथमिक समूह (Primary Group), (ख) द्वैतीयक समूह (Secondary Group)

(क) प्राथमिक समूह (Primary Group)

जिस समूह में आमने-सामने का सम्बन्ध होता है उसे प्राथमिक समूह कहते हैं और जिसमें परोक्ष सम्बन्ध होता है उसे द्वैतीयक समूह कहते हैं। परिवार, पड़ोस आदि प्राथमिक समूह के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं। प्राथमिक समूह के बारे में कूले का मत है कि ये साहचर्य तथा पारस्परिक सहयोग से युक्त होते हैं। इनके द्वारा व्यक्तियों की सामाजिक प्रवृत्ति और बुनियादी आदर्शों का निर्धारण होता है। उसने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है–''**प्राथमिक समूहों से मेरा तात्पर्य उन समूहों से है जिनकी प्रमुख विशेषता आमने-सामने के घनिष्ठ सम्बन्ध और सहयोग की भावना है। ये समूह कई प्रकार से प्राथमिक हैं किन्तु मुख्यतः इस अर्थ में कि वे व्यक्ति की सामाजिक प्रकृति और आदर्शों का निर्माण करने में मौलिक हैं। घनिष्ठ सम्बन्धों का परिणाम वैयक्तिकताओं का एक सामान्य सम्पूर्णता में एक प्रकार से घुल-मिल जाना है जिससे कम से कम बहुत से प्रयोजनों के लिए व्यक्ति का अपना अहं समूह का सामान्य जीवन और उद्देश्य हो जाता है।**''

इस परिभाषा से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राथमिक समूह के सदस्यों का एक-दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है और वे सहयोग की अभिवृत्ति प्रकट करते हैं। वे भावनात्मक रूप से परस्पर सम्बद्ध होते हैं। ये समूह प्राकृतिक ढंग से स्वयं संगठित हो जाते हैं। इनका संगठन औपचारिक होते हैं। ये मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त शक्तिशाली होते हैं। इन्हीं में व्यक्ति का समाजीकरण होता है और उसका चरित्र तथा व्यक्तित्व ढ़लता है। कुटुम्ब, समुदाय और समवयस्क समूह आदि व्यक्ति के प्रशिक्षण स्थल होता है। प्राथमिक समूहों में ही व्यक्ति की मनोवृत्तियाँ, आदतों, सामंजस्य की इच्छा तथा उसके आत्म-दृष्टिकोण, मनोभावों और मूल्यों आदि की नींव रखी जाती है। ये सामाजिक आदर्शों के जन्म स्थल हैं। संस्कृति के बीज इन्हीं में बोये जाते हैं और वे यहीं फलते-फूलते हैं। प्राथमिक समूह

नोट

के सदस्यों में परस्पर विश्वास की भावना होती है और उनमें दृढ़ आस्था होती है कि मूलतः वे सब समान हैं। इसमें उनमें अधिकतर सहयोग होता है। सम्बन्धों के घनिष्ठ और अनौपचारिक होने से सदस्य के व्यवहार अत्यन्त प्रभावकारी और प्रत्यक्ष रूप से नियन्त्रित होते हैं।

प्राथमिक समूह में कूले ने तीन को प्रमुख माना है–**परिवार, क्रीड़ा समूह** और **पड़ोस**। इन्हीं समूह में व्यक्ति की मानव-प्रकृति स्पष्ट होती है। इन तीनों प्राथमिक समूहों की प्रमुखतः दो विशेषतायें होती हैं। प्रथम, ये समूह सर्वत्र पाये जाते हैं चाहे एशिया हो या यूरोप, चाहे सभ्य समाज हो या असभ्य। द्वितीय, इन्हीं के द्वारा व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के निर्माण काल में इन्हीं तीनों समूहों में से होकर गुजरता है। इनमें से गुजरने से ही उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है।

कूले ने प्राथमिक समूहों को समाज व्यवस्था के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण माना है। इसका यह निष्कर्ष है कि प्राथमिक समूहों के द्वारा सामाजिक आदर्शों का जन्म होता है। इन आदर्शों की उत्पत्ति के लिए समान अनुभवों की आवश्यकता होती है। चूँकि इन आदर्शों के मूल में मनुष्य के समान अनुभव काम करते हैं इसलिए ये आदर्श सम्पूर्ण मानव समाजों में लगभग समान रूप से परिलक्षित होते हैं। उदाहरणार्थ, सेवा, निष्ठा, स्वतन्त्रता आदि प्राथमिक आदर्श प्रायः सभी समाजों में सामान्यतः देखने को मिलते हैं। इनको प्राथमिक समूहों के माध्यम से अर्जित किया जाता है।

प्राथमिक समूहों के उदाहरण (Examples of Primary Groups)

कूले ने सबसे महत्त्वपूर्ण तीन प्राथमिक समूहों का उल्लेख किया है–

1. परिवार (Family)
2. बच्चों के खेल समूह (Play Groups of Children)
3. पड़ोस या वयस्कों के समूह (Neighbourhood or Community Group of the elders)

मैकाइवर तथा पेज ने प्राथमिक समूह के निम्न उदाहरण दिए हैं–

1. परिवार (Family),
2. क्रीड़ा समूह (The Play Groupd),
3. मित्र मण्डली (The Group of Friends),
4. वार्तालाप समूह (The Gossip),
5. सहभागिता (Partnership),
6. स्थानीय भ्रातृत्व (The local brotherhood)
7. अध्ययन समूह (The Study of Group),
8. वंशीय परिषद् (The Tribal Council)

प्राथमिक समूहों के लक्षण (Characterstics of Primary Group)

प्राथमिक समूह के निम्नलिखित लक्षण होते हैं–

1. **सीमित आकार**–प्राथमिक समूह का आकार सीमित होता है। स्वयं कूले ने लिखा है कि प्राथमिक समूह के सदस्यों की संख्या 50-60 से अधिक नहीं होना चाहिए। कारण समूह का आकार जितना ही सीमित होगा, उसके सदस्यों के सम्बन्ध उतने ही घनिष्ठ होंगे। उनमें 'अहं' की भावना का विकास होगा। सभी एक-दूसरे को व्यक्तिगत रूप से जानते रहेंगे।
2. **पृष्ठभूमि की समरूपता**–प्राथमिक समूह के सदस्यों में न केवल कुछ सीमा तक अनुकूलन होना चाहिए, अपितु **अनुदान** एवं बाह्यशक्ति के समीप स्तरों पर रहना चाहिए। देने व लेने के लिए तथा योगदान के लिए हर व्यक्ति के पास कुछ न कुछ होना चाहिए वरना उसकी उत्पत्ति, उपस्थिति समूह को भाराक्रान्त कर देगी। इस प्रकार एक ऐसा स्तर होता है जिस पर हर समूह को रहना चाहिए और जो व्यक्ति उससे ऊपर या नीचे होगा वह समूहभागिता की प्रक्रिया में बाधा डाल देगा।
3. **सीमित स्वार्थ**–प्राथमिक समूह के लिए सदस्यों के बीच हितों की समानता व सीमितता का होना आवश्यक है। इससे घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने में सहायता मिलती है। समूह का केन्द्रीय हित उनके मन में प्रबल रहना चाहिए।
4. **भागीदार के हित की गहनता**–अभी-अभी वर्णित स्थितियों के भीतर कोई भी हित समूह प्रक्रिया में केन्द्रित व समृद्ध हो सकता है। न केवल दूसरों की उपस्थिति में प्रत्येक भागीदार सामान्य हित के निर्वाचन

में अपना योगदान रखता है बल्कि परोक्ष रूप में भी उसका योगदान है। साझेदारी के कारण हित नवीन महत्त्व, बल और मूल्य पाता है।

5. **प्राथमिक सम्बन्धों की सापेक्ष घनिष्ठता**–प्राथमिक समूह जीवन में दूसरों के साथ हमारे सम्बन्ध कुछ हद तक वैयक्तिक होते हैं। यहाँ हम सहानुभूति या विरोध का अथवा प्रेम या द्वेष का अनुभव करते हैं किसी भी अवस्था में हम अपने साथियों से पूर्ण मानव के रूप में भेंट करते हैं। उनसे सीधे सहयोग या संघर्ष करते हैं। इस सहानुभूतिपरक या भावुक सम्बन्धों का उनसे पृथक्करण कर सकते हैं जो बृहत्तर व अधिक औपचारिकता पूर्ण संगठित समूहों के लक्षण हैं।
6. **तुलनात्मक स्थिरता एवं सामाजिक नियंत्रण**–प्राथमिक समूह अन्य समूहों की तुलना में अधिक स्थिर एवं टिकाऊ होते हैं क्योंकि ये घनिष्ठ और प्रत्यक्ष सम्बन्धों द्वारा संगठित होते हैं। इसके अतिरिक्त, इन समूहों का कोई विशिष्ट उद्देश्य भी नहीं होता है। चूँकि ये समूह प्राथमिक सम्बन्धों द्वारा जुटे रहते हैं इसलिए इनके सदस्यों के व्यवहारों पर नियंत्रण भी रखा जाता है। ये नियन्त्रण स्वाभाविक होते हैं। जैसे पुरस्कार, निन्दा, अपमान आदि।

प्राथमिक समूह को प्राथमिक क्यों माना जाता है?
(Why Primary Group are regarded as Primary?)

प्राथमिक समूहों को समय एवं महत्त्व दोनों ही दृष्टिकोणों से प्राथमिकता प्राप्त है। समय के दृष्टिकोण से यह इसलिए प्राथमिक है कि बच्चा जन्म से ही इन समूहों में रहने के लिए विवश होता है। अनेक वर्षों तक तो परिवार ही उसके जीवन का आधार होता है। कुछ बड़ा होने पर वह बच्चों के समूहों और पड़ोस का सदस्य हो जाता है। महत्त्व के आधार पर ये इसलिए प्राथमिक हैं कि एक व्यक्ति अपनी बाल्यावस्था और प्रारम्भिक काल में केवल इन्हीं प्राथमिक समूहों का सदस्य रहता है। इसी कारण से अन्य समूहों की अपेक्षा ये समूह व्यक्ति के जीवन पर अत्यधिक प्रभाव डालते हैं। यदि हम कहें कि व्यक्ति जो कुछ होता है वह इन्हीं समूहों के कारण होता है, तो अनुचित न होगा। **कूले** के स्वयं के शब्दों में, ''वे अनेक दृष्टिकोणों से प्राथमिक हैं, परन्तु मुख्यतया इस कारण से कि वे व्यक्ति की सामाजिक प्रकृति तथा आदर्शों के निर्माण में आधारभूत हैं।''

प्राथमिक समूहों का महत्त्व (Significance of Primary Groups)

प्राथमिक समूहों का समाज में बहुत महत्त्व है। **ब्रूम** (Broom) ने इसके महत्त्व को स्पष्ट करते हुए लिखा है, ''प्राथमिक समूह व्यक्ति और समाज के बीच की सबसे महत्त्वपूर्ण कड़ी है। प्राथमिक समूह की सहायता से व्यक्ति को भावात्मक सुरक्षा प्राप्त होती है और इन्हीं के माध्यम से व्यक्ति अपने उच्चतर लक्ष्यों को प्राप्त कर पाता है।'' प्राथमिक समूह के महत्त्व को हम निम्न प्रकार से समझ सकते हैं–

1. **व्यक्तित्व के विकास में सहायक**–प्राथमिक समूह का सर्वाधिक महत्त्व इसलिए है कि ये व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में सबसे अधिक सहायक होते हैं। बच्चों में सेवा, श्रद्धा, न्याय, आकांक्षा, प्रेम सहयोग और सहानुभूति आदि के गुण परिवार और बालकों के खेल समूह और पड़ोस में रहकर ही प्राप्त होते हैं। प्राथमिक समूह के आधार पर ही उसके भावी जीवन का निर्माण होता है। **कूले** ने प्राथमिक समूहों को 'मानव प्रकृति की नर्सरी' (Nursery of human nature) कहा है।
2. **सामाजिक अनुकूलन में सहायक**–बच्चा सर्वप्रथम, परिवार, उसके बाद क्रीड़ा समूह, पड़ोस आदि के संसर्ग में आता है और उसके आदर्श, मनोवृत्ति, आदतों, रुचियों वार्तालाप के ढंग को देखता है और सीखता है। इससे सामाजिक अनुकूलन में उसे कठिनाई नहीं होती।
3. **संरक्षण प्रदान करते हैं**–प्राथमिक समूह व्यक्ति की क्षमता और रुचि का ध्यान रखते हुए उसके लक्ष्यों का निर्धारण करते हैं और इस प्रकार व्यक्ति को अधिकतम संरक्षण प्रदान करते हैं।
4. **मानसिक सन्तुष्टि प्रदान करता है**–जैसा कि हम स्पष्ट कर चुके हैं कि प्राथमिक समूह के सदस्यों में आमने-सामने के सम्बन्ध होते हैं। इस कारण व्यक्तियों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध विकसित होते हैं, आपस में बातचीत करते हैं, हँसी-मजाक करते हैं, स्नेह-दुलार करते हैं, दु:ख-सुख, अपने-पराये की बात करते

नोट

हैं। इससे सदस्यों में परस्पर आत्मीयता की भावना जागृत हो जाती है और मानसिक शांति तथा संतुष्टि प्राप्त होती है।

5. **मानवीय गुणों का विकास**–प्राथमिक समूहों के द्वारा ही बालक आचार व्यवहार, सहानुभूति, सहयोग, त्याग आदि गुणों को सीखता है। प्राथमिक समूह के द्वारा मानव का मानवीयकरण (Humanization) होता है। **कूले** के शब्दों में, ''पाशविक प्रेरणाओं का मानवीकरण करना ही प्राथमिक समूहों द्वारा की जाने वाली संभवतः सबसे बड़ी सेवा है।''
6. **सामाजिक नियन्त्रण के साधन**–प्राथमिक समूह व्यक्तियों पर समाज के नियन्त्रण स्थापित करते हैं जिससे समाज के संगठन को दृढ़ता मिलती है और समाज का कार्य सुचारू रूप से चलता है।
7. **व्यक्ति के कार्य शक्ति में वृद्धि करते हैं**–प्राथमिक समूह व्यक्ति के कार्य शक्ति में वृद्धि करते हैं। प्राथमिक समूह के सदस्य आपस में एक-दूसरे की समस्या को समझते हैं और उसका समाधान करते हैं। यह उनके कार्य करने में पारस्परिक एकता, उनकी कार्यक्षमता में वृद्धि करती है।
8. **स्वस्थ मनोरंजन प्रदान करते हैं**–प्राथमिक समूह अपने सदस्यों को स्वस्थ मनोरंजन प्रदान करते हैं। आधुनिक समाजों में व्यावसायिक मनोरंजन के अतिरिक्त व्यक्ति अपने परिवार पास-पड़ोस तथा खेल के समूह में ही अपने खाली समय को व्यतीत करते अपना मनोरंजन करता है।
9. **भावनात्मक सुरक्षा**–प्राथमिक समूह इस प्रकार का वातावरण बनाते हैं, जिनमें व्यक्ति अपने को भावनात्मक रूप से सुरक्षित समझता है। आधुनिक भौतिक समाजों में, जहाँ जीवन में कृत्रिमता और दिखावे की मात्रा में निरन्तर वृद्धि हो रही है, इस प्रकार के वातावरण की आवश्यकता होती है। प्राथमिक समूह प्रत्येक सुख-दु:ख में साथ देने का वायदा करके व्यक्ति को भावनात्मक रूप से सुरक्षित रखता है।
10. **संस्कृति का हस्तान्तरण**–प्राथमिक समूह संस्कृति के हस्तान्तरण में महत्त्वपूर्ण योगदान है। प्राथमिक समूह, समूह के साहित्य, रीति-रिवाजों, नियम, परम्पराओं, जनरीतियों आदि को सुरक्षित रखता है तथा अपने सदस्यों को उनकी जानकारी प्रदान करता है। साथ ही समूह के नैतिक पक्ष और उसके व्यावहारिक पक्ष की शिक्षा देकर समाज के संगठन को दृढ़ता प्रदान करता है।
11. **समाजीकरण में सहायक**–प्राथमिक समूह व्यक्ति को समाज में रहने की कला सिखाता है। इन समूहों में रहकर व्यक्ति समाज में प्रचलित रीति-रिवाजों का पालन करता है और उन सबका ज्ञान भी प्राप्त कर लेता है। इसलिए कहा जाता है कि प्राथमिक समूह व्यक्ति का समाजीकरण करता है।

निष्कर्ष–उक्त अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्राथमिक समूह से सम्बन्ध रखकर सदस्यों को वे लाभ प्राप्त होते हैं जो उनको स्वतन्त्र कार्य द्वारा प्राप्त नहीं हो सकते हैं। इनमें व्यक्ति अपने को सुरक्षित पाता है। जब उसके सामने कोई कठिनाई आती है तब समूह के दूसरे सदस्यों से उसको सहायता प्राप्त होती है। प्राथमिक समूहों की सदस्यता के फलस्वरूप ही सदस्यों में सम्पर्क और अन्त:क्रिया में घनिष्ठता होती है। इनका प्रकार्यात्मक महत्त्व (Functional Importance) है। व्यक्ति के अनुभव में इनका स्थान प्रथम है, समाज की ये प्रमुख इकाई हैं। सब प्रकार के सामाजिक जीवन का ये प्रथम रूप हैं। व्यक्ति समूहों में रहकर जीवन के संघर्ष में सफलता प्राप्त करने की तैयारी करता है।

(ख) द्वैतीयक समूह (Secondary Group)

राबर्ट वीर स्टीड का कहना है कि **''वे सभी समूह द्वैतीयक हैं जो प्राथमिक नहीं है।'' कूले** के मतानुसार ये वे समूह हैं जिनमें घनिष्ठता, प्राथमिक तथा अर्द्धप्राथमिक विशेषताओं का पूर्ण अभाव होता है। द्वैतीयक समूह के सदस्यों में कोई प्रत्यक्ष सम्पर्क नहीं होता। उनका एक-दूसरे पर पड़ने वाला प्रभाव अप्रत्यक्ष होता है और वातावरण के विभिन्न अभिकरणों द्वारा संचालित एवं क्रियान्वित होता है। राजनीतिक पार्टियाँ, श्रम-संघ, राष्ट्र आदि द्वैतीयक समूह के उदाहरण हैं। प्राथमिक समूहों की तुलना में ऐसे समूहों के अन्तर्गत भावात्मक बन्धन या तो होते नहीं या अत्यन्त क्षीण होते हैं। द्वैतीयक समूहों का संघटन बोधपूर्वक आयोजित होता है।

नोट

मनुष्य जन्म तो लेता है प्राथमिक समूहों में लेकिन ज्यों-ज्यों बड़ा होता है उसका सम्बन्ध द्वैतीयक समूहों से होने लगता है। द्वैतीयक समूहों की एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें पारस्परिक प्रेम व अपनत्व की भावना का अभाव होता है। इसके सदस्यों के सम्बन्ध अनुषंगिक होते हैं। वे काम करते हैं, साथ भी रहते हैं लेकिन आत्मीय की तरह नहीं। द्वैतीयक समूह की परिभाषा करते हुए **लैण्डिस** ने लिखा है–**''द्वैतीयक समूह उस शीत जगत का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसमें ग्रामीण समूह के माता-पिता के अनुसार, उनके बच्चे घर छोड़ने के बाद जाते हैं। द्वैतीयक समूह वे हैं जो अपने सम्बन्धों में अपेक्षाकृत आकस्मिक और अवैयक्तिक होते हैं, क्योंकि द्व ैतीयक समूह व्यक्ति पर कुछ विशेष माँगे ही रखते हैं। वे उसकी निष्ठा का केवल थोड़ा-सा भाग पाते हैं और आमतौर से उसका कुछ ही समय ध्यान चाहते हैं। उनमें सम्बन्ध आमतौर से परस्पर सहायक होने की अपेक्षा प्रतियोगी होते हैं।'' ऑगबर्न** और **निमकॉफ** कहते हैं–वे समूह जो घनिष्ठता के अभाव वाले अनुभवों के दाता हैं, द्वैतीयक समूह कहलाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्वैतीयक समूह में प्राथमिक समूहों जैसी स्वाभाविकता नहीं दिखलाई पड़ती। उसमें कृत्रिमता दिखाई पड़ती है। उसमें आपसी व्यवहार औपचारिक होते हैं।

द्वैतीयक समूह : उदाहरण (Secondary Group : Examples)

1. मनोरंजनात्मक समूह : उदाहरण–क्लब।
2. व्यावसायिक समितियां : उदाहरण–व्यापारी संघ।
3. सांस्कृतिक समूह : उदाहरण-जाति, वर्ग, राष्ट्र।
4. राजनैतिक समूह : उदाहरण–विधानसभा, संसद।
5. जैविकीय समूह : उदाहरण–लिंग, प्रजातियाँ।
6. आकस्मिक समूह : उदाहरण–भीड़, श्रोतागण।

द्वैतीयक समूह : विशेषताएँ (Secondary Groups : Characteristics)

1. **बड़ा आकार**–इनका आकार बड़ा होता है। बड़े आकार से तात्पर्य है कि इनके सदस्यों की संख्या अधिक होती है।
2. **अप्रत्यक्ष सम्बन्ध**–प्राथमिक समूहों में दोनों के सम्बन्ध प्रत्यक्ष और परोक्ष पाये जाते हैं। द्वैतीयक समूह का सम्बन्ध मुख्यत: अप्रत्यक्ष ही होता है। समाचार-पत्र, रेडियो आदि के माध्यम से यह सम्बन्ध स्थापित किया जाता है।
3. **अवैयक्तिक सम्बन्ध**–इन समूहों में व्यक्तियों के मध्य सम्बन्ध अवैयक्तिक होता है। यह भी सम्भव है कि समूह के सदस्य नित्य मिलें।
4. **घनिष्ठ सदस्यों का अभाव**–द्वैतीयक समूहों का आकार बड़ा पाया जाता है। यहाँ पाये जाने वाले सम्बन्ध क्षणिक, अस्थायी तथा स्पर्श करो और चले जाओ किस्म के होते हैं।
5. **उद्देश्यों का विशेषीकरण**–इन समूहों का निर्माण किन्हीं विशेष उद्देश्यों को सम्मुख रखकर किया जाता है।
6. **उद्देश्यों में भिन्नता**–द्वैतीयक समूहों के व्यक्तियों में विभिन्न प्रकार के उद्देश्य पाये जाते हैं।
7. **जानबूझकर स्थापना**–इस प्रकार के समूह जान-बूझ कर और सोच-समझ कर स्थापित किये जाते हैं।
8. **सम्बन्ध औपचारिक**–इन समूहों के सदस्यों में औपचारिक किस्म का सम्बन्ध पाया जाता है।
9. **प्रतिस्पर्धा पर जोर**–समूहों में व्यक्तियों की संख्या अधिक होती है और घनिष्ठता का अभाव पाया जाता है, ऐसी अवस्था में ''हम भावना'' विकसित नहीं होती और प्रतिस्पर्धी भावना विकसित हो जाती है।
10. **स्थानीय दूरी**–यहाँ आमने-सामने के घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं पाये जाते हैं। उनमें शारीरिक दूरी होती है।
11. **कम समय तक रहना**–ये समूह कम समय तक रहते हैं। प्राथमिक समूहों की तुलना में इनका जीवन छोटा होता है। इनके सदस्यों के सम्पर्क भी अस्थायी किस्म के पाये जाते हैं।

द्वैतीयक समूह शीत जगत का प्रतिनिधित्व करते हैं
(Secondary group Represent Cold World)

द्वैतीयक समूह के अर्थ एवं विशेषताओं से स्पष्ट है कि द्वैतीयक समूह में प्राथमिक समूह के समान घनिष्ठता, शारीरिक समीपता, वैयक्तिक सम्बन्ध, प्रेम, अनौपचारिकता, सद्भावना आदि गुणों का अभाव पाया जाता है। द्वैतीयक समूहों में व्यक्ति अपने स्वार्थों की पूर्ति की ओर ही ध्यान देता है और कोई किसी के सुख-दु:ख में शामिल होने को तैयार नहीं रहता है। इन समूहों के सदस्यों का व्यवहार कृत्रिम होता है। द्वैतीयक समूह के सदस्य में कोई आत्मीयता या अपनेपन की भावना नहीं पाई जाती है। उनके व्यवहार में एक अजीब 'शीतलता' (Coldness) होती है। इसलिए लैण्डिस (Landis) ने द्वैतीयक समूह को शीत जगत का प्रतिनिधि कहा है।

जब ग्रामीण समुदाय का बच्चा अपना घर छोड़कर शहर जाता है तो उसके माता-पिता यही सोचते हैं कि उनका बच्चा अब 'शीत जगत में' प्रवेश कर रहा है। इसका कारण स्पष्ट है गाँव में प्राथमिक समूहों, प्राथमिक सम्बन्धों एवं प्राथमिक नियन्त्रणों की प्रधानता रहती है, गाँव में उसका जीवन परिवार, पड़ोस, खेल के समूह, मित्र-मण्डली आदि प्राथमिक समूहों में व्यतीत होता है। जहाँ पर लोग एक-दूसरे से भली-भाँति परिचित होते हैं, एक-दूसरे के सुख-दु:ख में हाथ बंटाते हैं, एक-दूसरे के व्यवहार को नियन्त्रित करते हैं और एक-दूसरे के प्रति प्रेम, सहयोग और सद्भावना रखते हैं। इस प्रकार ग्रामीण समुदाय के लोगों के व्यवहार में शीतलता नहीं उष्णता (Warmth) पाई जाती हैं। इसलिए जब गाँव का व्यक्ति नगर में जाता है तो कहा जाता है कि वह शीत जगत में जा रहा है। अत: लेण्डिस ने ठीक कहा है कि द्वैतीयक समूह उस शीत जगत का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिसमें ग्रामीण समुदाय में माता-पिता के अनुसार उनके बच्चे घर छोड़ने के बाद जाते हैं।

समाज में द्वैतीयक समूह का महत्त्व (Importance of Secondary Group in Society)

आधुनिक युग में प्राथमिक समूहों की अपेक्षा द्वैतीयक समूहों का महत्त्व दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। समाज में द्वैतीयक समूह का महत्त्व निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है–

1. **सामाजिक परिवर्तन में सहायक**–परिवर्तन प्रकृति का सार्वभौमिक नियम है। कोई भी समाज परिवर्तन के बिना प्रगति नहीं कर सकता। प्राथमिक समूह परिवर्तनों पर रोक लगाकर समाज की प्रगति को अवरुद्ध करते हैं, जबकि द्वैतीयक समूह समाज में परिवर्तन को प्रोत्साहन देते हैं।
2. **व्यक्ति की योग्यताओं का विकास**–आज का युग श्रम विभाजन एवं विशेषीकरण का युग है। आज प्रत्येक व्यक्ति को अपने क्षेत्र में विशेष योग्यता प्राप्त करनी होती है। प्राथमिक समूह व्यक्ति को सामान्य ज्ञान तो दे देते हैं परन्तु विभिन्न विषयों के सम्बन्ध में व्यक्ति द्वैतीयक समूहों में ही विशेष ज्ञान प्राप्त करता है। अत: द्वैतीयक समूह व्यक्ति की क्षमताओं का विकास करके उसे विशेष योग्यता प्रदान करते हैं।
3. **आवश्यकता की पूर्ति**–आधुनिक जटिल समाजों में व्यक्तियों की आवश्यकताएँ इतनी विविध होती हैं कि उनकी पूर्ति केवल प्राथमिक समूह में ही सम्भव नहीं होती, बल्कि इनकी पूर्ति के लिए विशेषीकृत द्वैतीयक समूहों की आवश्यकता होती है, अत: समाज की सभी आवश्कताओं की पूर्ति द्वैतीयक समूहों में ही सम्भव होती है।
4. **सामाजिक नियन्त्रण**–आधुनिक जटिल समाजों के सदस्यों में अत्यधिक विषमता पाई जाती है। विभिन्न धर्मों, संस्कृतियों तथा प्रजातियों के व्यक्ति एक ही स्थान पर रहते हैं। इस पर प्रथाओं और परम्पराओं के द्वारा नियन्त्रण नहीं किया जा सकता, बल्कि इनके व्यवहारों को नियंत्रित करने के लिए पुलिस, न्यायालय तथा प्रशासनिक संगठन जैसे द्वैतीयक समूहों की आवश्यकता होती है।
5. **सामाजिक गतिशीलता को प्रोत्साहन**–द्वैतीयक सामाजिक समूहों में व्यक्ति की एक निश्चित स्थिति होती है, जिसके अनुरूप ही उसे अधिकार प्राप्त होते हैं। द्वैतीयक समूहों में व्यक्ति की इस स्थिति का निर्धारण उसकी योग्यता एवं कार्य क्षमताओं के आधार पर होता है और इनमें परिवर्तन आने पर व्यक्ति की समूह में स्थिति भी परिवर्तित हो जाती है। द्वैतीयक समूह व्यक्ति को अन्य स्थितियाँ प्राप्त करने के लिए प्रेरित करके सामाजिक गतिशीलता को बढ़ावा देते हैं।

नोट

प्राथमिक एवं द्वैतीयक समूहों में अन्तर (1989)
(Distinction Between Primary and Secondary Groups)

प्राथमिक समूह	द्वैतीयक समूह
1. ई.टी. हिलर (E.T. Hiler) के अनुसार प्राथमिक समूहों में व्यक्तियों के संबंध आंतरिक और वैयक्तिक होते हैं।	1. द्वैतीयक समूहों में व्यक्ति के सम्बन्ध बाह्य एवं अवैयक्तिक होते हैं।
2. प्राथमिक समूहों का प्रभाव सर्वव्यापी होता है।	2. द्वैतीयक समूहों का प्रभाव सर्वव्यापी नहीं होता है।
3. प्राथमिक समूहों के सम्बन्ध सदस्यों में एकीकरण की भावना उत्पन्न करते हैं तथा वे कुछ प्रतिबन्धों द्वारा नियंत्रित होते हैं।	3. द्वैतीयक समूहों के सम्बन्धों की प्रकृति स्वतंत्र होती है तथा उनमें एकीकरण की प्रकृति नहीं पायी जाती है।
4. प्राथमिक समूहों का आकार लघु होता है।	4. द्वैतीयक समूह विस्तृत होते हैं।
5. प्राथमिक समूह स्वत: विकसित होते हैं।	5. द्वैतीयक समूहों का विकास किया जाता है।
6. प्राथमिक समूहों के सदस्य आमने-सामने (Face to Face) के संबंधों से संबंधित होते हैं।	6. द्वैतीयक समूहों के सदस्य अप्रत्यक्ष संबंधों द्वारा संबंधित होते हैं।
7. प्राथमिक समूहों में लक्ष्य निश्चित नहीं होते।	7. द्वैतीयक समूह निश्चित लक्ष्यों को दृष्टि में रखकर ही विकसित किये जाते हैं।
8. प्राथमिक समूहों में व्यक्तिगत हित सामूहिक हित में विलीन रहते हैं।	8. द्वैतीयक समूहों में व्यक्तिगत हित विशेष महत्त्वपूर्ण होते हैं
9. प्राथमिक समूहों में पद अथवा सत्ता की अपेक्षा नहीं की जाती है।	9. द्वैतीयक समूह पद एवं सत्ता पर आधारित होते हैं।
10. कूले ने प्राथमिक समूहों को उतना ही प्राचीन माना है जितना मानव का सामाजिक जीवन।	10. द्वैतीयक समूह आधुनिकीकरण एवं औद्योगीकरण के फलस्वरूप विकसित होते हैं।
11. प्राथमिक समूहों की सदस्यता अनिवार्य होती है।	11. द्वैतीयक समूहों की सदस्यता ऐच्छिक होती हैं।

निष्कर्ष—यद्यपि प्राथमिक और द्वैतीयक समूहों में उपयुक्त अंतर पाये जाते हैं। लेकिन इन भेदों को स्थायी नहीं माना जा सकता क्योंकि समूह की प्रकृति ही स्थिर नहीं रह गयी है। वर्तमान में होने वाले परिवर्तन निश्चित रूप से समूह के सम्बन्धों को भी प्रभावित कर रहे हैं। आज परिवार में भी व्यक्तिगत स्वार्थ को विशेष महत्त्व दिया जा रहा है।

सामाजिक समूह की विशेषताएँ (Characteristics of Scoial Group)

समूह के उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर उसकी कुछ सामान्य विशेषताएँ बतायी जा सकती हैं। सामान्य विशेषताओं के आधार पर समूह की अवधारणा स्पष्ट होती है।

1. **सामाजिक समूह में अनेक व्यक्ति होते हैं** (Plurality of Individuals)—सामाजिक समूह में दो या दो से अधिक व्यक्ति होते हैं। इन व्यक्तियों में परस्पर अन्त:क्रिया होती है तथा ये मिल-जुलकर व्यवहार करते हैं। यह आवश्यक नहीं कि ये सभी व्यक्ति एक साथ रहते हों पर इनमें परस्पर संबंध अवश्य होता है।
2. **समूह में व्यक्तियों का विभाजन कार्यों के आधार पर होता है** (Division According to Work) —समूह के सभी सदस्य अलग-अलग कार्य करते हैं तथा अलग-अलग कार्य करते हुए समूह को पूर्णता प्रदान करते हैं। समूह के संगठन तथा सदस्यों की आवश्यकता से संबंधित जितने भी कार्य होते हैं उन्हें समूह के सदस्य आपस में बाँट लेते हैं तथा उसे सम्पादित करते हैं, जैसे—डॉक्टरों का समूह शरीर के पृथक्-पृथक् अंगों में विशेष योग्यता रखने के कारण उसका पृथक्-पृथक् इलाज करते हैं।
3. **समूह की एक निश्चित संरचना होती है** (A Definite Structure)—प्रत्येक समूह की एक निश्चित संरचना होती है जिसमें व्यक्तियों की स्थिति निश्चित होती है। इस संरचना में कार्यात्मक विभाजन पाया

जाता है। सदस्यों में ऊँच-नीच की भावना कार्यों की प्रकृति के आधार पर होती है। अस्पताल के सभी डॉक्टर एक समूह के सदस्य हैं पर उनके पद में ऊँच-नीच की भावना पायी जाती है।

नोट

4. **समूह के सदस्यों में सामान्य रुचि की भावना होती है** (Sense of Common interest)–समूह का निर्माण समान रुचि, स्वार्थ आदि के आधार पर होता है। इसके सदस्य सभी समान आवश्यकताओं से बँधे होते हैं। व्यक्ति समूह की सदस्यता वस्तुत: अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के उद्देश्य से ही ग्रहण करता है। मनुष्य केवल प्राथमिक समूह की सदस्यता आवश्यक रूप से ग्रहण करता है।

यह सत्य है कि मनुष्य अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए समूह का सदस्य बनता है, पर समूह का सदस्य बन जाने के बाद उसके नियम व कार्य प्रणाली में विश्वास प्रकट करता है तथा उन्हीं के अनुसार व्यवहार भी करता है। समूह के सदस्य समूह के अस्तित्व के सामने अपने अस्तित्व का महत्त्व नहीं देते हैं। समूह में शक्ति होती है। अत: व्यक्ति इसके नियमों के अनुसार ही व्यवहार करता है तथा इसके माध्यम से अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रयास करता है।

5. **समूह की सदस्यता ऐच्छिक होती है** (Membership is Voluntary)–प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी समूहों का सदस्य अवश्य होता है पर वह किन समूहों का सदस्य होगा तथा कितने समूहों का सदस्य होगा यह उसकी आवश्यकता और रुचि पर निर्भर करता है। व्यक्ति उसी समूह का सदस्य बनता है जिससे उसकी आवश्यकताएँ पूरी होने की संभावना होती है।
6. **समूह की एक निश्चित कार्यप्रणाली होती है** (A Definite Procedure)–प्रत्येक समूह में प्राय: आदर्श नियम होते हैं। इसके नियम लिखे हुए नहीं होते हैं। प्रत्येक सदस्य इन नियमों का पालन करते हुए व्यवहार करता है अत: इसकी कार्य प्रणाली निश्चित होती है। सदस्यों के व्यवहार पर नियंत्रण भी इन्हीं आदर्श नियमों के आधार पर लगता है। इससे व्यक्तियों में परस्पर कार्यात्मक संघर्ष नहीं होता।

समूह के कार्य (Functions of Social Group)

सामाजिक समूह को मानव जीवन की पोषिका कहा जाता है। ये मानव जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने में अत्यधिक सहायक होते हैं। समूहों के अभाव में मानव के व्यक्तित्व का विकास संभव नहीं है। ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि मानव समाज व संस्कृति को स्थिरता प्रदान करते हैं। मनुष्य का समाजीकरण इन्हीं के माध्यम से होता है। इनके द्वारा सामाजिक नियंत्रण का कार्य भी अत्यधिक प्रभावशाली ढंग से होता है।

ऑगबर्न तथा **निमकॉफ** के अनुसार, "समूह के अनुसार समूह के अन्तर्गत वे क्रियाएँ की जाती हैं जो सहायता, सहयोग, स्नेह, अनुकरण आदि से संबंधित हैं।" सामाजिक समूह के कार्य ही इसके महत्त्व हैं। समूह जिन कार्यों को करता है, वे मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा कल्याण से संबंधित होती हैं। समूह के कार्यों के आधार पर इसके निम्नलिखित महत्त्व हैं।

1. **मूल प्रवृत्तियों की सन्तुष्टि** (Satisfaction of Instincts)–मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समूह में रहकर अपनी आवश्यकताओं को पूरा करना चाहता है। मनुष्य में पशुओं की तरह मूलप्रवृत्तियाँ भी होती हैं। मनुष्य की मूल प्रवृत्तियाँ उसे समूह का सदस्य बनाती हैं तथा समूह में रहकर आवश्यकता पूर्ति की प्रेरणा देती हैं। समूह मूलप्रवृत्तियों को सन्तुष्ट कर मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास करता है।
2. **बालकों में सामाजिक व्यक्तित्व का निर्माण** (Development of Social Personality in Children)–बालक जन्म के समय पशुओं के शिशु के समान होता है। समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा ही वह सामाजिक प्राणी बनता है तथा अपने समाज व संस्कृति की विभिन्न परिस्थितियों के साथ समायोजन करता है। इससे समाज में स्थिरता आती है एवं मानव व्यक्तित्व का विकास होता है। परिवार, पड़ोस, खेल के साथी आदि बालक का सामाजिक प्राणी के रूप में विकास करते हैं तथा एक अच्छे समाज का निर्माण व संगठन करते हैं। समूह अपने सदस्यों को सामाजिक तथा सांस्कृतिक पर्यावरण से परिचित कराता है तथा इनसे संबंधित विभिन्न परिस्थितियों के साथ समायोजन की शिक्षा देता है।

नोट

3. **सामाजिक नियंत्रण का साधन** (Means of Social Control)–सामाजिक समूह नियंत्रण के प्राथमिक साधन होते हैं। ये मानव व्यवहार पर प्रभावकारी ढंग से नियंत्रण लगाते हैं। समूह व्यक्ति को समाज के अनुरूप व्यवहार करने के लिए अनौपचारिक तथा औपचारिक दोनों तरीकों से सफल होता है। सामाजिक समूह में सत्ता की भावना होती है अत: मनुष्य इसमें विश्वास रखता है तथा इसके नियमों के अनुरूप ही व्यवहार करता है। यदि व्यक्ति इनके अनुरूप व्यवहार नहीं करता तो समूह पुरस्कार एवं दण्ड द्वारा व्यक्ति से समाज के अनुरूप व्यवहार कराता है।
4. **सामाजिक संगठन में सहायक** (Helps in Social Organization)–सामाजिक संरचना का संगठन से अभिन्न संबंध है। समूह की एक निश्चित संरचना होती है अत: उसी के आधार पर इसका एक निश्चित संगठन भी होता है। सामाजिक संगठन दो भागों में विभक्त होता है–स्थिति और कार्य। समूह के सदस्य अपनी स्थिति के अनुसार कार्य करते हैं अत: समूह संगठित रहता है। समाज छोटे-छोटे समूहों में विभक्त रहता है अत: समूह के संगठित होने का अर्थ होता है समाज का संगठित होना।
5. **सांस्कृतिक गुणों का विकास करना** (Development of Cultural Traits)–सामाजिक समूह मनुष्य में एक ओर सांस्कृतिक गुणों का विकास करता है तो दूसरी ओर संस्कृति को बनाने और उसे विकसित करने में भी सहायता पहुँचाता है। मनुष्य की आवश्यकताएँ अनन्त होती हैं। व्यक्ति को इन्हें प्राप्त सांस्कृतिक साधनों के आधार पर ही पूरा करना पड़ता है। आवश्यकता और प्राप्त सांस्कृतिक साधनों में असमानता व्यक्ति को नये आविष्कारों को करने के लिए प्रेरणा देती है। समूह सांस्कृतिक विशेषताओं को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तान्तरित करने में भी सहायता पहुँचाता है।

हिन्दू संस्कृति की विशेषता वसुधैव कुटुम्बकम की है। यह मनुष्यों को उदार बनाती है तथा उनमें सहायता और सहयोग की भावना विकसित करती है। इससे मनुष्यों का अन्य व्यक्तियों से समायोजन सरल हो जाता है तथा सामूहिक रूप से व्यवहार करने की विशेषता विकसित होती है।

समूह के निर्माण के आधार (Bases of Group Formation)

मनुष्य सामाजिक समूह का सदस्य होता है और समूह में रहकर ही अपने कार्य करता है पर समाज में इनकी संख्या निश्चित नहीं होती कि मनुष्य कितने समूहों की सदस्यता ग्रहण करेगा। विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं के आधार पर इनकी संख्या निर्धारित होती है तथा पारस्परिक संबंधों के आधार पर इसकी प्रकृति। जन्म के आधार पर व्यक्ति परिवार का सदस्य होता है। एक स्थान पर रहने से पड़ोस, गाँव, नगर आदि का सदस्य होता है। समान रुचि के आधार पर क्रिकेट क्लब आदि के सदस्य बनते हैं। कक्षा में पढ़ना, दफ्तर में काम करना, एक देवी-देवताओं में विश्वास करना आदि समूह निर्माण के आधार बन सकते हैं। इसी प्रकार आयु के आधार पर बालक, वयस्क, प्रौढ़ आदि समूह, लिंग के आधार पर स्त्री, पुरुष आदि समूह का निर्माण होता है। राबर्ट वीर स्टीड ने इस प्रकार के समूहों की एक लम्बी सूची प्रस्तुत की है। जब तक व्यक्ति में ''मैं' की भावना (I feeling) का विकास होता है तो वह समूह का सदस्य नहीं बनता पर जब उसमें हम की भावना (We feeling) का विकास होता है तो वह समूह का सदस्य बन जाता है। समूह व्यक्ति में 'हम' की भावना भरता है तथा उसका विकास भी करता है। उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि समूह का निर्माण समानता के आधार पर होता है, जैसे–समान रुचि, समान मनोवृत्ति, समान शारीरिक विशेषताएँ, समान स्थान पर रहने वाले लोग, समान भाषा को बोलने वाले इत्यादि। समानता के आधार पर लोगों में हम की भावना का विकास होता है जो समूह के निर्माण और संगठन में सहायता देता है।

समूह और समाज में अन्तर (Difference between Group and Society)

समाज	समूह
1. अमूर्त अवधारणा है	1. मूर्त अवधारणा है।
2. सामाजिक सम्बन्धों पर आधारित है।	2. व्यक्तियों की संख्या पर आधारित है।
3. स्वाभाविक विकास होता है।	3. समूह का निर्माण किया जाता है।

नोट

4. सदस्यता अनिवार्य है।	4. सदस्यता ऐच्छिक है।
5. संगठित और असंगठित दोनों प्रकार का हो सकता है।	5. संगठन अनिवार्य शर्त है।
6. निश्चित उद्देश्य नहीं होता है। सामान्य उद्देश्य होते हैं।	6. निश्चित उद्देश्य होते हैं।
7. सहयोग और संघर्ष दोनों पाये जाते हैं।	7. सहयोग अनिवार्य शर्त है।
8. स्थायित्व पाया जाता है।	8. अस्थायी होते हैं।

समूह और संस्था में अन्तर (Difference between Group and Institution)

समूह	संस्था
1. व्यक्तियों का संग्रह है।	1. नियमों की एक व्यवस्था का नाम है।
2. निर्माण किया जाता है।	2. स्वाभाविक विकास होता है।
3. अस्थायी होते हैं।	3. तुलनात्मक रूप से स्थायी होती है।
4. मूर्त होते हैं।	4. संस्थायें अमूर्त होती हैं।

समूह और समुदाय में अन्तर (Difference between Group and Community)

समूह	समुदाय
1. निर्माण किया जाता है।	1. स्वत: जन्म लेते और विकसित होते हैं।
2. व्यक्ति विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति करता है।	2. सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं।
3. सदस्यता व्यक्ति की इच्छा पर आधारित होती है।	3. सदस्यता अनिवार्य होती है।
4. अपेक्षाकृत अस्थायी प्रकृति होती है।	4. अपेक्षाकृत स्थायी प्रकृति पाई जाती है।
5. समुदाय का एक भाग है।	5. यह समग्र इकाई है।

अन्तः समूह और बाह्य समूह (In Group and Out group)

समनर ने मानव व्यवहारों के आधार पर समूह को दो भागों में विभाजित किया है—

(*i*) **अन्त:समूह** (In Group)—अन्त:समूह की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए **समनर** ने लिखा है कि अन्त: समूह में व्यक्ति समूह विशेष के प्रति हम की भावना की अभिव्यक्ति करता है अर्थात् जब मनुष्य 'मैं', 'मेरा' आदि की भावना से प्रेरित होकर जिस समूह को इंगित करता है वह उस व्यक्ति का अन्त: समूह है। इस प्रकार 'मेरा' अथवा 'हम' के अन्तर्गत आने वाले सभी सदस्य जिस समूह का निर्माण करते हैं वह उन लोगों का अन्त: समूह है। अन्त:समूह के प्रति व्यक्ति समूह हित को विशेष महत्त्व प्रदान करता है। इसलिए अन्त: समूह के सदस्यों के मध्य अत्यधिक सहानुभूति पाई जाती है। इसका प्रमुख कारण 'समूह-अहम्' की भावना का विकास होता है। एक महाविद्यालय के खिलाड़ी परस्पर हम समूह अर्थात् अन्त:समूह की भावना से ओत-प्रोत होते हैं। इस कारण वे अन्य महाविद्यालय के खिलाड़ियों की तुलना में अपने एक अन्त:समूह का निर्माण करते हैं।

अन्त: समूह में आबद्ध व्यक्तियों में परस्पर अटूट विश्वास, प्रेम, एकता एवं अपना समझने की भावना का विशेष स्थान रहता है। इस प्रकार हम एक अन्त:समूह को 'हम समूह' भी कह सकते हैं। **समनर** ने भी इस बात को महत्त्व देते हुए लिखा है कि, ''हम समूह या अन्त:समूह वे समूह हैं, जिनके सदस्यों में हम का प्रयोग होता है। यहाँ सभी सदस्यों में शांति, व्यवस्था, कानून, सरकार और उद्योग में सम्बन्ध होते हैं। सभी बाहरी लोगों का बाह्य समूहों से उनका सम्बन्ध युद्ध और लूट के होते हैं, सिवाय उन सम्बन्धों के जिनमें इकरारों द्वारा संशोधन कर लिया हो।''

(*ii*) **बाह्य समूह** (Out Group)–'हम भावना' और 'सहानुभूति' के अभाव वाले समूह। जिस प्रकार अन्तः समूह के सदस्यों के मध्य अत्यधिक सहानुभूति और सौहार्द्रपूर्ण व्यवहार होते हैं, ठीक इसके विपरीत वे अन्य समूहों के सदस्यों के प्रति विरोधी भावना, प्रतिद्वन्द्विता, व्यंग्य, भय, सन्देह, घृणा, अरुचि, द्वेष आदि के भाव रखते हैं तथा उनके प्रति ये भाव प्रकट करते हैं। मैकाइवर के बाह्य समूह का दृष्टिकोण सदा शत्रु राष्ट्रों या परिवारों, श्रम संघों अथवा मालिक संघों, एवं राजनैतिक दलों आदि के रूप में उल्लेख किया जा सकता है। इस प्रकार के विरोधाभासी व्यवहार का प्रमुख कारण यह है कि बाह्य समूहों के सदस्यों के प्रति किसी प्रकार लोक विश्वासों (Stereo-types) का प्रभाव नहीं होता। ऐसे समूहों को श्रेणीबद्ध तथा बाह्य समझा जाता है। उन्हें वर्ग रूप में माना जाता है। सामाजिक दूरी, वर्णबद्धता तथा श्रेणी की भावनाओं का विकास होने से बाह्य समूह के प्रति घृणास्पद व्यवहार देखा जाता है। बाह्य समूह के लिए सदा उदासीनता की भावना व्याप्त रहती है। इस प्रकार समूह की अवधारणा अन्तः समूह की धारणा से ही विकसित है।''

इस प्रकार स्पष्ट है कि मानव व्यवहारों की दृष्टि से समनर ने समूह के इन दो स्वरूपों का उल्लेख किया है। इस वर्गीकरण के माध्यम से सामूहिक व्यवहार का अध्ययन किया जा सकता है। इसलिए **गिलिन** और **गिलिन** ने लिखा है, ''ये दो प्रकार के समूहों का अध्ययन सामूहिक संघर्ष की स्थितियों को समझने में बड़ा लाभदायक है। इनसे अनेक समस्याओं के आधारों का पता लगाया जा सकता है। व्यक्ति के सामाजीकरण की प्रक्रिया, सांस्कृतिक-परिवर्तन, सामाजिक-नियंत्रण और सामाजिक-समस्याओं आदि विषयों में इस अवधारणा का उपयोग किया जाता है।''

अन्तः समूह और बाह्य समूह में अन्तर (Distinction between In Group and Out-Group)

अन्तः समूह (In Group)	बाह्य समूह (Out-Group)
1. अन्तः समूहों में हम की भावना तथा अपनत्वपन पाया जाता है।	1. बाह्य समूह में 'हम की भावना' तथा अपनत्व का अभाव पाया जाता है।
2. सदस्यों के मध्य सम्बन्धों में घनिष्ठता एवं निकटता पाई जाती है।	2. सदस्यों के मध्य सम्बन्धों में दूरी पाई जाती है तथा घनिष्ठता का अभाव पाया जाता है।
3. अन्तः समूह में सदस्यों में एक-दूसरे के प्रति त्याग और सहानुभूति की उच्च भावना पाई जाती है।	3. त्याग और सहानुभूति का दिखावा किया जाता है।
4. अन्तः समूह के सदस्य एक-दूसरे के सुख-दुःख में भाग लेते हैं।	4. बाह्य समूह में सुख-दुःख का बाह्य रूप प्रकट होता है।
5. अन्तः समूह बड़े भी हो सकते हैं।	5. बाह्य समूह परिस्थिति के अनुसार छोटे भी हो सकते हैं।

समूह के कार्य

सामाजिक जीवन में समूह का विशेष महत्त्व है। समूह में रहने की इच्छा जो कि हमारी एक मूल प्रवृत्ति है, प्रत्येक व्यक्ति के लिए ही नहीं है, बल्कि इनका महत्त्व इसलिए भी है कि यह संस्कृति को स्थिरता प्रदान करते हैं। बिना समूह के समाज की कल्पना तक करना असम्भव है। अतः अपने व्यक्तिगत, सामाजिक व सांस्कृतिक उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु मनुष्य का समूह में रहना आवश्यक हो जाता है। किसी विद्वान ने लिखा है, ''व्यक्ति का जन्म वस्तुओं भरे भौतिक जगत में ही नहीं होता, बल्कि मनुष्यों और समूहों भरे सामाजिक जगत में होता है और प्रत्येक व्यक्ति और समूह के व्यवहार का स्थापित ढंग अपना ही होता है। इन्हीं लोगों और समूहों के साथ अन्यान्यक्रिया द्वारा व्यक्ति धीरे-धीरे मानवता और सामाजिकता की ओर अग्रसर होता है अर्थात् मानव बनता है और सामाजिक कहलाता है।'' चाहे इन समूहों का संगठन सरल और सीधा हो और चाहे जटिल और संकुचित, ऐसे ही समूहों की सदस्यता और साहचर्य द्वारा व्यक्ति की मूलभूत आवश्यकताएँ और उद्देश्य पूरे होते हैं।

गोल्डनर (Gouldner) ने सामाजिक समूह के महत्त्व को तीन आधारों पर स्पष्ट किया है–

(*i*) सामाजिक समूह व्यक्ति की मूल प्रवृत्तियों को सन्तुष्ट करते हैं।

(*ii*) सामाजिक समूह व्यक्ति का समाजीकरण कर सामाजिक प्राणी बनने में सहायता करते हैं।

(*iii*) सामाजिक समूह व्यक्ति में हम की भावना का विकास करते हैं तथा समाज को स्थिरता प्रदान करते हैं।

सामाजिक समूह के महत्त्व को हम निम्नलिखित बिन्दुओं में स्पष्ट कर सकते हैं–

1. **मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति**–प्रत्येक व्यक्ति में जन्म से ही कुछ मूल प्रवृत्तियाँ विद्यमान होती हैं, जिनका पूरा होना व्यक्ति के जीवन के लिए आवश्यक है। भूख, यौन इच्छा तथा सुरक्षा ऐसी ही मूलभूत आवश्यकताएँ हैं जिनकी संतुष्टि केवल समूहों में ही सम्भव होती हैं। व्यक्ति इन आवश्यकताओं को अकेला कभी भी पूरा नहीं कर सकता।
2. **व्यक्ति का समाजीकरण**–व्यक्ति जिस समय पैदा होता है, केवल एक जैवकीय प्राणी होता है। उस जैवकीय प्राणी को सामाजिक प्राणी बनाने की प्रक्रिया को ही समाजीकरण कहते हैं। यह कार्य समाज सामाजिक समूहों की सहायता से करता है। सामाजिक समूह व्यक्तियों को परिस्थितियों के अनुरूप व्यवहार करने की प्रेरणा देकर उसे सामाजिक जीवन में अनुकूलन करने योग्य बनाते हैं। परिवार ही सामाजिक जीवन की प्रारम्भिक पाठशाला है, जिसमें रहकर व्यक्ति सामाजिक जीवन के नियमों को सीखता है।
3. **सामाजिक नियन्त्रण**–जीवन के आरम्भ से अन्त तक विभिन्न समूह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति के व्यवहारों पर नियन्त्रण रखते हैं और एक समूह के सभी सदस्यों के व्यवहारों में समानता बनाये रखने का प्रयत्न करते हैं।
4. **संस्कृति का विकास**–सामाजिक समूह संस्कृति के स्थायित्व एवं विकास में योगदान देते हैं। समूहों में व्यक्तियों के सम्मुख नवीन समस्यायें आती रहती हैं, जिनके समाधान के लिए नवीन आविष्कारों की प्रेरण ा मिलती है और इससे संस्कृति का विकास होता है। सामाजिक समूह संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाने का कार्य करते हैं, जिससे समाज में संस्कृति की निरन्तरता बनी रहती है।
5. **सामाजिक संगठन का आधार**–किसी भी समाज में संगठन केवल उसी समय सम्भव है, जबकि सम्पूण ि सामाजिक संरचना छोटी-छोटी इकाइयों में विभाजित हो। सामाजिक समूह समाज की वे छोटी-छोटी इकाइयाँ हैं, जो पारस्परिक रूप से एक-दूसरे से सम्बद्ध रहकर एक व्यवस्थित समाज का निर्माण करती हैं।

परिवर्तित सन्दर्भ समूह (Shifting Reference Individual)–सन्दर्भ समूह के सम्बन्ध में एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि एक समूह-विशेष एक लम्बे काल तक कुछ व्यक्तियों के लिए सन्दर्भ समूह रहता है, लेकिन कालान्तर में किसी नये समूह के निर्माण से अथवा किसी विद्यमान समूह में वांछनीय परिवर्तन के कारण वह स्थायी रूप से चले आ रहे सन्दर्भ समूह का स्थान ले लेता है। उदाहरणत: एक विद्यालय जो कि विद्यार्थियों के लिए सन्दर्भ समूह के रूप में महत्त्वपूर्ण रहता आया है, एक नये व अच्छे मानदण्ड स्थापित करने वाले विद्यालय के खुल जाने से सन्दर्भ समूह की स्थिति को खो देता है। अत: नया विद्यालय अब छात्रों का सन्दर्भ समूह बन जाता है। शीघ्रगामी सामाजिक परिवर्तन की स्थिति में परिवर्तित सन्दर्भ समूह महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

संदर्भ व्यक्ति की अवधारणा (Concept of Reference Individual)–सन्दर्भ समूह के समान ही मर्टन ने सन्दर्भ व्यक्ति की अवधारणा को स्पष्ट किया है। सन्दर्भ व्यक्ति वह व्यक्ति होता है जिसके अनुरूप बनने की हमारी इच्छा रहती है। मान लीजिए, एक लड़का अपने प्रोफेसर 'अ' की तरह बनना चाहता है, तो इस स्थिति में प्रोफेसर 'अ' उसके सन्दर्भ व्यक्ति हुए। अक्सर सन्दर्भ व्यक्ति अपनी प्रस्थिति में सर्वश्रेष्ठ या आदर्श कार्य करने वाले होते हैं। किसी व्यक्ति को सन्दर्भ व्यक्ति की प्रस्थिति, उसका व्यवहार व उसकी कार्यकुशलता इतनी अधिक पसन्द आ सकती है कि वह वैसा ही बनना चाहता है। कुछ लड़के जिनकी फिल्मों में रुचि है, फिल्म अभिनेताओं को अपना सन्दर्भ व्यक्ति बना लेते हैं और उन अभिनेताओं की तरह ही वस्त्र पहनना, बातचीत करना, केश विन्यास करना तथा सामान्य जीवन में भी, उन जैसा व्यवहार करना आरम्भ कर देते हैं।

मर्टन ने सिर्फ सन्दर्भ व्यक्ति की चर्चा की है, किन्तु सन्दर्भ समूह की तरह सन्दर्भ व्यक्ति भी दो प्रकार के हो सकते हैं–1. सकारात्मक सन्दर्भ व्यक्ति (Positive Reference Individual) अर्थात् जिस व्यक्ति को हम पसन्द करते हैं और जिसकी तरह हम बनना चाहते हैं तथा 2. नकारात्मक सन्दर्भ व्यक्ति (Negative Reference Individual) अर्थात् वह व्यक्ति जिसे हम न तो चाहते हैं न जिसके समान अपने आपको बनाना चाहते हैं। उदाहरण के लिए, मुहल्ले का वह लड़का जो कि अपने दुराचरणों के लिए कुख्यात है, मोहल्ले के बच्चों के लिए नकरात्मक सन्दर्भ व्यक्ति होता है क्योंकि सभी माता-पिता अपने-अपने बच्चों को उस जैसा व्यवहार न करने के लिए आगाह किया करते हैं।

आंशिक सन्दर्भ व्यक्ति (Partial Reference Individual)–सन्दर्भ व्यक्ति की अवधारणा के अधिक स्पष्टीकरण के लिए, ''आंशिक सन्दर्भ व्यक्ति'' के सम्बोध के निर्माण की आवश्यकता है। प्राय: हम किसी भी व्यक्ति के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र एवं उसके व्यक्त्वि के सभी पक्षों से प्रभावित नहीं होते। हम व्यक्ति के कुछ पक्षों से प्रभावित हो सकते हैं तथा स्वयं में उन पक्षों के अभाव के कारण उसे अपना संदर्भ व्यक्ति मान लेते हैं। अत: हम उस व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व से प्रभावित न होकर उसके व्यक्तित्व के किसी विशिष्ट भाग से प्रभावित होते हैं। उदाहरणत: हम किसी अध्यापक के ज्ञान व विद्वत्ता से प्रभावित होकर उसे अपना संदर्भ व्यक्ति मान सकते हैं पर उस अध्यापक की वेश-भूषा, उच्चारण अथवा खान-पान से अप्रभावित रह सकते हैं अथवा उसके व्यक्तित्व के इन पक्षों को हीन भी समझ सकते हैं। अत: यह अध्यापक हमारे लिए आंशिक संदर्भ व्यक्ति होगा न कि संदर्भ व्यक्ति, हम उसके व्यक्तित्व के सभी पक्षों से प्रभावित नहीं हैं।

मर्टन ने संदर्भ समूहों के दो प्रकार बतलाएँ हैं, पहला आदर्श प्रकार (Normative Type) का व दूसरा तुलनात्मक (Comparative Type) प्रकार। आदर्श प्रकार के संदर्भ समूह में व्यक्ति अपने आदर्शों के अनुरूप व्यवहार करने वाले समूह की सदस्यता प्राप्त करना चाहता है। तुलनात्मक प्रकार में वह अपनी व अपने समूह की तुलना दूसरे समूह से करता है, फिर वह दूसरे समूह का सदस्य होने की इच्छा रखता है।

सन्दर्भ आकांक्षी अवधारणा के दृष्टिकोण से इसका एक पक्ष ऐसा भी है जिसकी ओर समाजशास्त्रियों का ध्यान नहीं गया है। सन्दर्भ व्यक्ति (Reference Individual) आदर्शात्मक रूप से कतिपय लोगों की आकांक्षा व व्यवहारों के प्रतिमानों को प्रभावित करता है। वे व्यक्ति जो कि सन्दर्भ व्यक्तियों से प्रभावित होते हैं, उनकी व्याख्या के लिए किसी सम्बोध का होना आवश्यक है। हम उन व्यक्तियों के लिए जो अपनी अकांक्षाओं का **अभिमुखन** सन्दर्भ व्यक्तियों की ओर रखते हैं, सन्दर्भ आकांक्षा (Referent Individual) के सम्बोध की संज्ञा देंगे। उदाहरण के लिए, अगर किसी व्यक्ति के लिए इन्दिरा गांधी सन्दर्भ व्यक्ति हैं तो जिन व्यक्तियों के लिए वे सन्दर्भ हैं उनको सन्दर्भ-आकांक्षी कहेंगे। सन्दर्भ व्यक्ति व सन्दर्भ-आकांक्षी, अत: परस्पर पूरक सम्बोध हैं, इनकी अलग से कल्पना नहीं की जा सकती। ये दोनों संबोध द्विभाजक (Dichotomous) नहीं हैं अपितु परस्पर आश्रित व पूरक हैं, एक का ध्यान आते ही दूसरे का ध्यान स्वत: ही आ जाता है।

संदर्भ समूह व्यवहार के परिणाम (Consequences of Reference Group Behaviour)–संदर्भ समूह के क्या परिणाम होते हैं, यह भी विचारणीय प्रश्न है। संदर्भ समूह के चयन के बाद पूर्वाभ्यासी समाजीकरण व्यक्ति को प्रेरणा देता है, अत: जब तक व्यक्ति अपने वांछित (Desired) समूह का सदस्य नहीं हो जाता वह उसकी सदस्यता पाने का निरन्तर प्रयास करता ही रहता है। उन्नति के लिए यह प्रकार्यात्मक रूप से कार्य करता है। दूसरे, व्यक्ति जब संदर्भ समूह का सदस्य बन जाता है तो उसे उस समूह में समायोजन की कठिनाई नहीं होती क्योंकि वह उस समूह में आवश्यक व्यवहार का पूर्वाभ्यास तो कर ही चुका होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संदर्भ समूह व्यवहार हमारे लिए तीन प्रकार से प्रकार्यात्मक सिद्ध होता है। पहला, यह हमारे उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायक होता है क्योंकि जिसे हम संदर्भ समूह बनाते हैं उसकी सदस्यता प्राप्त करना हमारा उद्देश्य हो जाता है तथा हम उसके लिए प्रयत्नशील भी रहते हैं। संदर्भ समूह व्यवहार का दूसरा प्रकार्यात्मक पक्ष यह है कि यह हमारे व्यक्तित्व को लचीला बनाता है अर्थात् यह हमारे व्यक्तित्व को परिवर्तन के लिए तैयार करता है जिससे हम अपने आपको किसी भी स्थिति के अनुकूल ढालने के लिए समर्थ पाते हैं। तीसरे, यह हमें प्रतियोगिता की भावना की ओर प्रेरित करता है जिससे समाज में योग्य व्यक्तियों का चयन हो जाता है, अत: सामाजिक संगठन बना रहता है।

उपर्युक्त प्रकार्यों के अतिरिक्त संदर्भ समूह के कुछ अपकार्य (Dysfunction) भी हैं जो व्यक्ति को अव्यवस्थित करते हैं। यदि बन्द वर्ग, जैसे जाति व्यवस्था में कोई व्यक्ति, नीची जाति का सदस्य होकर ऊँची जाति को संदर्भ समूह बनाता है तो उस व्यक्ति को न तो ऊँची जाति वाले ही अपने समूह में सम्मिलित समझेंगे न नीची जाति वाले ही उसे अपनी जाति में पूर्ण सक्रिय समझेंगे। अत: वह व्यक्ति मानसिक व व्यावहारिक दोनों रूप से दोनों ही जातियों से कट जाएगा और सीमांत व्यक्ति (Marginal Man) बन जाएगा। ऐसे व्यक्ति में व्यक्तित्व के विघटन की प्रक्रिया मिल सकती है। इसीलिए संस्कृतीकरण (Sanskritization) की प्रक्रिया भारत में पूर्ण सामाजिक मान्यता नहीं पा सकी है। इसी प्रकार, खुले समाज में व्यक्ति की यदि सभी इच्छाएँ पूरी हो जाएँ तो वह नये मानसिक संकट में अपने को पाता है, जिससे वह न तो नये समूह को आत्मसात् कर पाएगा और न ही पुराने समूह के मूल्यों को भूल पाएगा।

2.10 सामाजिक संरचना का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Social Structure)

सामाजिक संरचना को समझने से पूर्व संरचना या ढांचा किसे कहते हैं, यह जान लेना आवश्यक है। प्रत्येक भौतिक वस्तु की एक संरचना होती है जो कई इकाईयों या तत्वों से मिलकर बनी होती है। ये इकाइयाँ परस्पर व्यवस्थित रूप से संबंधित होती है तथा इन इकाइयों में स्थिरता पाई जाती है। इसे हम मानव शरीर की सरंचना के उदाहरण द्वारा समझ सकते हैं। शरीर की संरचना हाथ, पांव, नाक, कान, आँख एवं मुँह, आदि कई अंगों (इकाइयों) से मिलकर बनी होती हैं। ये सभी अंग अपने-अपने स्थान पर स्थिर भी है और परस्पर एक-दूसरे से व्यवस्थित रूप से जुड़े हुए भी। इस प्रकार प्रत्येक संरचना में चार विशेषताएँ देखने को मिलती है: (1) प्रत्येक संरचना का निर्माण कई अंगों, तत्वों या इकाइयों से होता है। उदाहरण के लिए मकान की संरचना ईंट, पत्थर, चूना, सीमेण्ट, आदि कई इकाइयों से होता है। उदाहरण के लिए मकान की संरचना ईंट, पत्थर, चूना, सीमेण्ट, आदि कई इकाइयों से बनी होती है। (2) इन इकाइयों में परस्पर स्थायी एवं व्यवस्थित सम्बन्ध पाए जाते हैं, जैसे ईंट, चूना, सीमेण्ट, आदि को व्यवस्थित रूप से जमाने पर ही मकान की संरचना बनती है। केवल ईंट, चूना व पत्थर के ढेर से मकान की संरचना नहीं बनती। (3) ये इकाइयाँ अपने-अपने स्थान पर स्थिर रहती हैं, यदि इनमें स्थायित्व न हो तो संरचना बनती-बिगड़ती रहेगी। (4) संरचना का सम्बन्ध वस्तु की बाहरी आकृति या स्वरूप से होता है, न कि उनकी आन्तरिक रचना से शरीर और मकान की संरचना से हमें इनकी बाह्य आकृति दिखाई देती है, आन्तरिक नहीं।

जिस प्रकार से किसी शरीर या भौतिक वस्तु की संरचना होती है उसी प्रकार से समाज की भी एक संरचना होती है जिसे हम सामाजिक संरचना कहते हैं। समाज की सरंचना भी कई इकाइयों; जैसे परिवार, संस्थाओं, संघों, प्रतिमानित संबंधों, मूल्यों एवं पदों आदि से मिलकर बनी होती है। ये सभी इकाइयों परस्पर व्यवस्थित रूप से संबंधित होती है और अपने-अपने स्थान पर अपेक्षतया स्थिर होती है। इन सभी के संयोग से समाज का एक बाह्य स्वरूप प्रकट होता है जिसे हम सामाजिक संरचना कहते हैं। सामाजिक संरचना को स्पष्ट: समझने के लिए हम यहाँ इसकी परिभाषा एवं विभिन्न विद्वानों के विचारों का उल्लेख करेंगे।

कार्ल मानहीम के अनुसार, "सामाजिक संरचना परस्पर क्रिया करती हुई सामाजिक शक्तियों का जाल है जिससे अवलोकन और चिन्तन की विभिन्न प्रणालियों का जन्म होता है।" मानहीम सामाजिक संरचना को सामाजिक शक्तियों का जाल मानते हैं। 'जाल' से उनका तात्पर्य व्यवस्थित प्रतिमानों (Arranged Pattern) से है। एक जाल का निर्माण कई धागों से होता है, ये धागे जाल की इकाइयाँ हैं, इनके क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित रूप से जमने पर ही जाल बनता है। सामाजिक शक्तियों से उनका तात्पर्य नियंत्रण के उन साधनों से है जो सामाजिक जीवन को स्थिरता प्रदान करते हैं। ये शक्तियाँ परस्पर अन्त: क्रिया करती रहती हैं और समाज के निरीक्षण एवं चिन्तन की पद्धतियों को भी जन्म देती हैं। मानहीम की यह परिभाषा अन्य विशेषताओं को प्रकट करने में असफल है।

पारसन्स के अनुसार, "सामाजिक संरचना परस्पर सम्बधिन्त संस्थाओं, एजेन्सियों और सामाजिक प्रतिमानों तथा साथ ही समूह में प्रत्येक सदस्य द्वारा ग्रहण किए गए पदों तथा कार्यो की विशिष्ट क्रमबद्धता को कहते है।" पारसन्स की इस परिभाषा से तीन बातें स्पष्ट होती हैं: (1) सामाजिक संरचना का निर्माण सामाजिक संस्थाओं, एजेन्सियों,

प्रतिमानों एवं व्यक्तियों द्वारा ग्रहण किए गए पदों एवं भूमिकाओं रूपी इकाइयों से होता है। (2) ये सभी इकाइयाँ एक-दूसरे से संबंधित होती हैं। (3) सामाजिक संरचना में एक विशिष्ट क्रमबद्धता पाई जाती है। इन विशेषताओं से यह भी स्पष्ट है कि सामाजिक संरचना एक अमूर्त धाराणा है, क्योंकि समाज की संरचना का निर्माण सामाजिक संबंधों, संस्थाओं, प्रतिमानों, पदों एवं भूमिकाओं से होता है और ये सभी अमूर्त हैं।

नोट

गिन्सबर्ग के अनुसार, "सामाजिक संरचना का अध्ययन सामाजिक संगठन के प्रमुख स्वरूपों अर्थात् समूहों, समितियों तथा संस्थाओं के प्रकार एवं इन सबके संकुल (Complex) जिनसे कि समाज का निर्माण होता है, से संबंधित है।" गिन्सबर्ग ने अपनी परिभाषा में सामाजिक संरचना एवं सामाजिक संगठन में कोई भेद नहीं किया है। उनका मत है कि सामाजिक संरचना का निर्माण समूहों, समीतियों एवं संस्थाओं से मिलकर होता है। मैकाइबर तथा पेज के अनुसार, "समूह निर्माण के विभिन्न तरीके संयुक्त रूप में सामाजिक रूप में सामाजिक संरचना के जटिल प्रतिमान का निर्माण करते हैं... सामाजिक संरचना के विश्लेषण में सामाजिक प्राणियों की विविध प्रकार की मनोवृत्तियों तथा रूचियों के कार्य प्रकट होते हैं।" इस प्रकार मैकाइबर तथा पेज ने समूह निर्माण के विभिन्न तरीकों को ही सामाजिक संरचना का आधार माना है। वे सामाजिक संरचना को अमूर्त मानते हैं, क्योंकि समाज का ताना-बाना सामाजिक संबंधों से बुना होता है और सामाजिक संबंध अमूर्त होते हैं। वे इसे स्पष्ट करते हुए पुनः लिखते हैं, "न तो हम सामाजिक संरचना को देखते है और न ही देख सकते हैं। हम समाज को देख नहीं सकते, उसके बाह्य पक्षों को भले ही देख लें क्योंकि समाज मानवीय संबंधों का संगठन है जो कि मनुष्यों द्वारा ही बनाया जाता है, स्थिर रहता है और उनके ही सदैव परिवर्तित किया जाता है।"

मजूमदार एवं **मदान** लिखते हैं, "पुनरावृत्तीय सामाजिक संबंधों के तुलनात्मक स्थायी पक्षों से सामाजिक संरचना बनती है।" इस परिभाषा से स्पष्ट है कि जो सामाजिक संबंध बार-बार दोहराये जाते हैं और तुलनात्मक रूप से स्थायी होते है, वे समाज की संरचना का निर्माण करते हैं।

कोजर एवं **रोजनबर्ग** लिखते हैं, "संरचना का तात्पर्य सामाजिक इकाइयों के तुलनात्मक स्थिर एवं प्रतिमानित संबंधों से है।" इस परिभाषा में भी इस बात पर जोर दिया गया है कि सामाजिक संरचना का निर्माणा सामाजिक इकाइयों से होता है। ये इकाइयाँ व्यवस्थित रूप से जमी होती हैं और इनमें स्थिरता पाई जाती है। समूह, संस्थाएँ, पद, भूमिकाएँ, आदि सामाजिक इकाइयाँ ही है।

हैरी जॉनसन के अनुसार, किसी वस्तु का ढांचा (संरचना) उसके अंगों (Parts) के अपेक्षाकृत स्थायी अंर्तसम्बधों से निर्मित होता है, स्वयं 'अंग' शब्द से ही कुछ स्थायित्व के अंश का ज्ञापन होता है। सामाजिक प्रणाली क्योंकि लोगों के अंर्तसंबंधित कृत्यों से निर्मित होती है, इसका ढांचा भी इन कृत्यों (Acts) में पाई जाने वाली नियमितता या पुनरावृत्ति के अंशों में ढूंढा जाना चाहिए।

जॉनसन की परिभाषा से स्पष्ट है कि प्रत्येक संरचना कई इकाइयों या अंगों से मिलकर बनती है और इन अंगों में परस्पर स्थायी सम्बन्ध पाए जाते है। स्थायित्व के अनुभव में न तो संरचना लम्बे समय तक बनी रह सकेगी और न ही विभिन्न अंग परस्पर सहयोग दे पायेंगे। सामाजिक संरचना का निर्माण भी लोगों द्वारा परस्पर संबंधित क्रियाओं या कृत्यों (Acts) द्वारा होता है, ये क्रियाएँ बार-बार दुहरायी जाती है और इनमें एक नियमबद्धता पायी जाती है। मैडेल का मत है कि समाजशास्त्रीय साहित्य में सामाजिक संरचना शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है। इसका प्रयोग व्यवस्था, संगठन, संकुल (Complex) प्रतिमान (Pattern), प्रारूप (Type) एवं समाज आदि के पर्यायवाची के रूप में किया गया है। यह सामाजिक सरंचना की अवधारणा को स्पष्ट करती है। यह तुलनात्मक रूप में यद्यपि स्थिर होती है, लेकिन इसका निर्माण करने वाले अंग स्वयं परिवर्तनशील होते है।

रैडक्लिफ ब्राउन के अनुसार, "सामाजिक संरचना के अंग (Components) या भाग मनुष्य ही है और स्वयं संरचना संस्था द्वारा परिभाषित और नियमित संबंधों में लगे हुए व्यक्तियों की एक क्रमबद्धता है।" वे कहते है, वास्तविक जीवन में हम देखते हैं कि मनुष्य परस्पर सामाजिक संबंधों द्वारा बंधे हुए है। वास्तविक रूप से पाए जाने वाले इन संबंधों के द्वारा ही सामाजिक संरचना का निर्माण होता है। मनुष्यों के पारस्पारिक संबंध स्वतंत्र नहीं होते वरन् संस्थाओं एवं नियमों द्वारा परिभाषित, नियमित एवं नियन्त्रित होता है। **इग्गन** (Eggen) तथा **फोर्टेस**

(Fortes) अन्त: वैयक्तिक संबंधों को ही सामाजिक संरचना के अंग मानते है। जबकि इवान्स प्रिचार्ड समूह के अन्त: सम्बन्धों को।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि **सामाजिक संरचना समाज की विभिन्न इकाइयों, समूहों, संस्थाओं, समितियों, सामाजिक संबंधों से निर्मित एक प्रतिमानित एवं क्रमबद्ध ढांचा है।** सामाजिक संरचना अपेक्षतया एक स्थिर अवधारणा है जिसमें अपवाद रूप में ही परिवर्तन होते हैं।

2.11 सामाजिक संरचना की विशेषताएँ (Characteristic of Social Structure)

सामाजिक संरचना को अधिक स्पष्ट: समझने के लिए हम यहाँ उसकी विशेषताओं का उल्लेख करेंगे:

1. सामाजिक संरचना समाज के बाह्य स्वरूप का बोध कराती है—सामाजिक संरचना का निर्माण विभिन्न इकाइयों से होता है। ये इकाइयाँ जब एक क्रमबद्ध व्यवस्था में जुड़ जाती है। तो एक ढांचे का निर्माण होता है। इसमें हम इकाइयों के कार्यों को सम्मिलित नहीं करते हैं। जिस प्रकार से शरीर के विभिन्न अंग; जैसे हाथ पाँव, नाक, कान, आँख सिर, पेट, आदि एक व्यवस्थित क्रम में परस्पर जुड़ते हैं तो शरीर रूपी ढांचे का निर्माण होता है, जिसके बाह्य रूप को स्पष्ट: देखा जा सकता है। इसी प्रकार से समाज का निर्माण करने वाली इकाइयाँ भी क्रमबद्ध रूप से जुड़ने पर एक बाह्य ढांचे का निर्माण करती हैं, जिसे सामाजिक संरचना कहते है। सामाजिक संरचना का संबंध सामाजिक इकाइयों की कार्य-विधि से नहीं है।

2. सामाजिक संरचना अखण्ड नहीं है—प्रत्येक सामाजिक संरचना का निर्माण विभिन्न इकाइयों से होता है। ये इकाइयाँ, व्यक्ति, समूह, संस्थाएँ, समितियाँ, आदि है। इस प्रकार प्रत्येक संरचना कई खण्डों से मिलकर बनी होती है, अत: वह अखण्ड नहीं है फिर भी ये इकाइयाँ जब परस्पर एक क्रम में जुड़ जाती है। तो एक बनावट या प्रतिमान को प्रकट करती हैं। उदाहरण के लिए, एक कमरे का निर्माण ईंट, चूना, पत्थर, खिड़की व दरवाजे आदि से मिलकर होता है। इन्हें एक विशिष्ट क्रम में जोड़ने पर कमरे का प्रतिमान या स्वरूप प्रकट होता है।

3. सामाजिक संरचना अन्त:संबंधित इकाइयों का व्यवस्थित स्वरूप हैं—सामाजिक संरचना का निर्माण विभिन्न इकाइयों से होता है, ये इकाइयाँ अस्त-व्यस्त और बिखरी हुई नहीं होती वरन् उनमें परस्पर संबंध पाया जाता है। उदाहरण के लिए, घड़ी का निर्माण करने वाली सभी इकाइयों को परस्पर जोड़ने पर ही घड़ी की संरचना बनती है।

4. सामाजिक संरचना की इकाइयों में एक क्रमबद्धता पाई जाती है—किसी भी सामाजिक संरचना का निर्माण मात्र इकाइयों के झुण्ड या योग से नहीं होता वरन् उन्हें एक विशिष्ट क्रम में जोड़ने से होता है। क्रम के अभाव में संरचना नहीं बन सकती है। जैसे ईंट, चुने व पत्थर के ढेर से मकान नहीं बन सकता जब तक कि उन्हें एक क्रम में न जोड़ा जाए।

5. सामाजिक संरचना अपेक्षाकृत एक स्थायी अवधारणा है—सामाजिक संरचना अपेक्षाकृत एक स्थायी अवधारणा है। इसके दो अर्थ हैं–(1) सामजिक संरचना का निर्माण करने वाली इकाइयाँ अपेक्षतया स्थायी होती हैं। उदाहरण के लिए समाज का निर्माण करने वाल विभिन्न समूह, समितियाँ एवं संस्थाएँ जैसे परिवार, धर्म आर्थिक व शैक्षणिक संगठन एवं विवाह, आदि समाज में अपेक्षताया स्थायी रूप से पाए जाते हैं। इनमें छोटा-मोटा परिवर्तन होने से सम्पूर्ण संरचना प्रभावित नहीं होती। (2) सामाजिक संरचना इस अर्थ में भी स्थायी होती है कि इसका निर्माण करने वाली विभिन्न इकाइयों के पारस्परिक संबंधों में भी स्थायित्व पाया जाता है। इस प्रकार सामाजिक संरचना में स्थायित्व दो अर्थों में पाया जाता है–एक तो इकाइयाँ स्वयं स्थायी होती है तथा दूसरे इकायों के पारस्परिक संबंधों में भी स्थिरता पायी जाती है।

6. सामाजिक संरचना अमूर्त होती है—मैकावर और **पारसन्स** सामाजिक संरचना को एक अमूर्त धारणा मानते हैं। उनका मत है कि सामाजिक संरचना का निर्माण विभिन्न संस्थाओं, एजेंसियों, प्रतिमानों, प्रस्थितियों एवं भूमिकाओं से मिलकर होता है। ये सभी इकाइयाँ अमूर्त हैं, इनका भौतिक वस्तु की भांति कोई ठोस आकार या रूप नहीं है, उन्हें देखा या छुआ नहीं जा सकता है। अत: इनसे निर्मित सामाजिक संरचना भी अमूर्त होती है। समाज का निर्माण सामाजिक संबंधों से होता है, ये संबंध अमूर्त हैं, अत: सामाजिक संरचना भी अमूर्त होती है, किन्तु रैडक्लिफ ब्राउन

सामाजिक संरचना की इकाई व्यक्ति को मानते हैं, लेकिन अधिकांश समाजशास्त्री सामाजिक संरचना की व्याख्या एक अमूर्त धारणाा के रूप में ही करते हैं।

7. सामाजिक संरचना का निर्माण अनेक उप-संरचनाओं से होता है—प्रत्येक सामाजिक संरचना का निर्माण उप-संरचनाओं (Sub-structures) से मिलकर होता है। जिस प्रकार से शरीर रूपी संरचना का निर्माण मस्तिष्क, पाचन व श्वसन संस्थानों आदि से होता है जिसमें अनेक अंग होते हैं। उसी प्रकार सामाजिक संरचना का निर्माण भी विभिन्न उप-संरचनाओं; जैसे परिवार, जाति वर्ग, चर्च, शिक्षण-संस्था, धार्मिक-संस्था आर्थिक-संस्था, आदि के द्वारा होता है जिनकी स्वयं की अपनी एक संरचना होती है। इस प्रकार उप-संरचनाएँ मिलकर सामाजिक संरचना का निर्माण करती है। जिनकी प्रत्येक की अपनी भी एक संरचना होती है।

8. सामाजिक संरचना स्थानीय विशेषताओं से प्रभावित होती है—प्रत्येक समाज की एक संरचना होती है और वह दूसरे समाज से भिन्न होती है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक सामाजिक संरचना किसी-न-किसी सांस्कृतिक व्यवस्था से प्रभावित होती है, वहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों का भी उस पर प्रभाव पड़ता है। विभिन्न स्थानों की संस्कृति, राजनीतिक दशा एवं भौगोलिक परिस्थितियों में अन्तर पाया जाता है, अत: सामाजिक संस्थाएँ भी इनसे प्रभावित होने के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। **रैडक्लिफ ब्राउन** ने सामाजिक संरचना की धारणा में स्थानीय विशेषताओं को भी उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण माना है।

9. सामाजिक संरचना में प्रत्येक इकाई का एक पूर्व-निश्चित स्थान व पद होता है—सामाजिक संरचना में प्रत्येक इकाई का पद एवं स्थान निर्धारित होता है, उस स्थान पर रहकर ही वह सामाजिक संरचना का निर्माण करती है। अन्य स्थान पर होने पर संरचना बिगड़ जाती है। जिस प्रकार से शरीर संरचना में हाथ, पाँव, नाक, कान, आँख का एक स्थान पाँव, नाक का स्थान कान व आँख का स्थान जीभ ले ले तो शरीर संरचना विकृत हो जाएगी, उसी प्रकार सामाजिक संरचना में राज्य, चर्च, परिवार, विवाह, धर्म, न्याय-व्यवस्था, शिक्षण संस्था आदि सभी का स्थान पूर्व-निर्धारित है, यदि ये एक-दूसरे का स्थान ग्रहण कर लें तो सामाजिक संरचना में विकृति आ जाएगी।

10. सामाजिक संरचना में सामाजिक प्रक्रियाएँ भी महत्त्वपूर्ण होती है—सामाजिक संरचना के निर्माण में सहयोगी एवं असहयोगी प्रक्रियाओं; जैसे सहयोग, अनुकूलन, व्यवस्थापन, एकीकरण, सात्मीकरण, प्रतिस्पर्द्धा एवं सहयोग, आदि की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण है। ये सामाजिक प्रक्रियाएँ ही सामाजिक संरचना के स्वरूप को तय करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। सामाजिक प्रक्रियाओं का बाह्य रूप सामाजिक संरचना को तय करता है।

11. सामाजिक संरचना में विघटन के तत्व भी पाए जाते हैं—सामाजिक संरचना मानव की अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है, किन्तु कोई भी सामाजिक संरचना अपने आप में श्रेष्ठ नहीं होती और न ही उसमें पूर्ण संगठन पया जाता है। कई बार यह समाज में विघटन भी पैदा करती है। **मर्टन** तथा **दुर्खीम** का मत है कि कई बार सामाजिक संरचना स्वयं समाज में नियमहीनता (anomie) पैदा करती है। सामाजिक संरचना में संगठन एवं विघटन दोनों ही पैदा करने वाले तत्व पाए जाते हैं।

2.12 सामाजिक संरचना के प्रमुख रूप (Principal Types of Social Structure)

फरसन्स ने सामाजिक मूल्यों के आधार पर सामाजिक संरचना के चार रूपों का उल्लेख किया है। उन्होंने चार प्रकार के सामाजिक मूल्य माने हैं:

1. **सार्वभौमिक सामाजिक मूल्य**ख्रजो सारे समाज में फैले होते हैं और सभी लोगों पर लागू होते हैं। उदाहरण के लिए, सच्चाई और ईमानदारी सभी समाजों में उत्तम गुणों के रूप में स्वीकार किए जाते हैं।
2. **विशिष्ट सामाजिक मूल्य**ख्रजो किसी समाज विशेष तक ही सीमित होते हैं। उदाहरण के लिए, पतिव्रत का आदर्श हिन्दुओं में ही पाया जाता है।
3. **अर्जित सामाजिक मूल्य**ख्रजिनका संबंध व्यक्ति के प्रयत्नों द्वारा प्राप्त किए गए पदों से होता है।
4. **प्रदत्त सामाजिक मूल्य**ख्रजिनका संबंध जन्म एवं परम्परा द्वारा निर्धारित पदों से होता है। इन चार प्रकार के सामाजिक मूल्यों के आधार पर सामाजिक संरचना के भी चार रूप पाए जाते हैं। वे इस प्रकार हैं:

(*i*) **सार्वभौमिक प्रदत्त प्रतिमान**–इस प्रकार के प्रतिमानों में दो प्रकार के प्रतिमान, सार्वभौमिक एवं प्रदत्त आते हैं। कुछ समाज ऐसे हैं जिनमें प्रदत्त प्रतिमानों को सार्वजनिक रूप से स्वीकार किया जाता है। ऐसे समाजों में परम्परात्मक आदर्शों एवं कर्तव्यों की ओर अधिक झुकाव पाया जाता है।

(*ii*) **सार्वभौमिक अर्जित प्रतिमान**–इस प्रकार के प्रतिमानों में सार्वभौमिक एवं अर्जित इन दो प्रतिमानों का समावेश होता है। इस प्रकार के प्रतिमानों में व्यक्ति के प्रयत्नों एवं गुणों द्वारा प्राप्त पदों को सार्वभौमिक रूप से स्वीकार किया जाता है। उदाहरण के लिए, सभी पूँजीवादी समाजों में सम्पत्ति के संचय एवं अर्जन को महत्त्व दिया जाता है। वर्ग-व्यवस्था इस प्रकार के समाजों की विशेषता है।

(*iii*) **विशिष्ट प्रदत्त प्रतिमान**–इस प्रकार के प्रतिमान रक्त संबंध व स्थानीय समुदायों पर आधारित होते हैं। इस प्रकार की सामाजिक संरचना में व्यक्तिगत गुणों को अधिक महत्त्व दिया जाता है और सामाजिक संगठन को बनाए रखने के लिए नैतिकता एवं प्रत्येक व्यक्ति द्वारा किसी-न-किसी कार्य को करना आवश्यक माना जाता है। ऐसी सामाजिक संरचना वाले समाज का उदाहरण स्पेन है।

(*iv*) **विशिष्ट अर्जित प्रतिमान**–इस प्रकार के मूल्य सार्वभौमिक के स्थान पर विशिष्ट मूल्यों पर आधिक जोर देते हैं। उदाहरण के लिए, परिवार, गोत्र एवं वंश का महत्त्व भारत एवं चीन में अधिक पाया जाता हैं।

2.13 सामाजिक संरचना के स्तर (Level of Social Structure)

जॉनसन ने सामजिक संरचना के दो स्तरों-प्रकार्यात्मक उप-प्रणाली तथा संरचनात्मक उप-प्रणाली का उल्लेख किया है।

1. **प्रकार्यात्मक उप-प्रणालियाँ** (Functional Sub-systems)–प्रत्येक समाज को अपने अस्तित्व के लिए समस्याओं का निवारण या आवश्यकताओं की पूर्ति करनी होती है। वे हैं–प्रतिमानों को बनाए रखना एवं तनावों को दूर करना (Pattern Maintenance and Tension Management), अनुकूलन (Adaptation), उद्देश्य प्राप्ति (Goal Attainment), एकीकरण (Integration)। ऐसा न होने पर वह समाज अपना अस्तित्व एवं विशिष्अ स्वरूप खो देता हैं। इनमें से प्रत्येक समस्या के लिए एक प्रकार्यात्मक उप-प्रणाली होगी। उदाहरण के लिए, 'अर्थव्यवस्था' (Economy) वह प्रकार्यात्मक उप-प्रणाली है जो समाज के अनुकूलन से सम्बन्धित है। अर्थव्यवस्था वस्तुओं एवं सेवाओं को उत्पन्न करती है और समूह एवं समितियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करती है।

   परिवार रूपी प्रकार्यात्मक उप-प्रणाली समाज में समाजीकरण के द्वारा दिन-प्रतिदिन के तनावों को दूर करने एवं सामाजिक प्रतिमानों को बनाए रखने का कार्य करती है। शिक्षण संस्थाएँ, धार्मिक समूह, मनोरंजन के समूह, अस्पताल और अन्य स्वास्थ्य संगठन भी समाज में तनावों को दूर करने एवं प्रतिमानों को बनाए रखने में योग देते हैं।

   उद्देश्यों की पूर्ति में सरकार रूपी उप-प्रणाली महत्त्वपूर्ण है। सरकार शक्ति के द्वारा समाज के उद्देश्यों की पूर्ति करती है। प्रजातन्त्र में दबाव समूह जनमत तैयार करते हैं और संसद के लिए बिलों का मसौदा बनाते हैं और वे भी समाज के उद्देश्यों की पूर्ति में योग देते हैं। इस प्रकार राज्य व्यवस्था (Polity) उद्देश्य-प्राप्ति की महत्त्वपूर्ण उप-प्रणाली है।

   इन सभी में एकीकरण एवं समन्वय स्थापित करने में वकालत का व्यवसाय, धार्मिक नेता, पत्रकार, सामाजिक कार्यकर्ता, आदि महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

   सैद्धान्तिक दृष्टि से समाज की प्रत्येक उप-प्रणाली को एक स्वतंत्र सामाजिक प्रणाली के रूप में देखा जा सकता है। इनमें से प्रत्येक उप-प्रणाली के लिए अन्य उप-प्रणालियों को पर्यावरण के रूप में देखा जा सकता है और सभी उप-प्रणालियों का एक-दूसरे के साथ व्यवस्थित रूप से विनिमय होता रहता है।

2. **संरचनात्मक उप-प्रणालियाँ** (Structural Sub-systems)–समाज की प्रकार्यात्मक उप-प्रणालियाँ अमूर्त होती हैं, जबकि संरचनात्मक उप-प्रणालियाँ मूर्त समूहों से बनी हुई होती है; जैसे नातेदारी-तंत्र पि.

रवारों, गोत्रों और वंश-समूहों से बना होता है। इसके अतिरिक्त, चर्च, शिक्षा प्रणाली, आदि में संरचनात्मक उप-प्रणालियाँ हैं। संरचनात्मक उप-प्रणालियाँ मूर्त एवं वास्तविक होती हैं।

नोट

2.14 सामाजिक प्रस्थिति एवं भूमिका (Social Status and Role)

'सामाजिक प्रस्थिति' का अभिप्राय सामाजिक सम्बन्धों में व्यक्ति की स्थिति से है। सामान्य बोलचाल में हम कहा करते हैं कि उस व्यक्ति की सामाजिक स्थिति अच्छी है और उसकी सामाजिक स्थिति बुरी है। इसका अर्थ समाज अथवा समूह के अन्तर्गत व्यक्ति के सम्बन्धों के क्रम से है। प्रत्येक समाज में कार्यों (Roles) के विभाजन की एक व्यवस्था होती है जिससे व्यक्ति सम्बद्ध रहता है। प्रत्येक प्रकार के कार्य के साथ एक विशेष प्रकार की शक्ति तथा प्रतिष्ठा सम्बन्धित होती है। इस प्रतिष्ठा तथा शक्ति की मात्रा के अनुसार ही हम व्यक्ति को स्पष्ट करते हैं।

सामाजिक प्रस्थिति की परिभाषा (Definition of Social Status)—सामाजिक प्रस्थिति की धारणा को समझने के लिए उसकी कुछ परिभाषाओं का ज्ञान आवश्यक है।

1. **ऑगबर्न तथा निमकॉफ** (Ogburn and Nimkoff)—ऑगबर्न तथा निमकॉफ के मतानुसार, "समूह में या दूसरों के साथ सम्बन्धों के क्रम में व्यक्ति का जो स्थान है, वही सामाजिक प्रस्थिति हैं।"
2. **लेपियर** (Lapire)—"समाज में व्यक्ति का जो दर्जा है, उसी से व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति समझी जाती है।"
3. **किम्बल यंग** (K. Young)—यंग के मतानुसार, "प्रत्येक समाज तथा समूह में प्रत्येक व्यक्ति को कुछ कार्यों को सम्पन्न करना होता है, जिसके साथ शक्ति तथा प्रतिष्ठा की कुछ मात्रा सम्बद्ध है। शक्ति अथवा प्रतिष्ठा की जिस मात्रा का हम प्रयोग करते हैं, वही प्रस्थिति है।"

इस प्रकार सामाजिक प्रस्थिति का अभिप्राय उस सामाजिक पद से है जिसमें उसे वहन करने वाले को एक निश्चित शक्ति तथा सामाजिक आदर प्राप्त रहता है। दूसरे शब्दों में किसी सामाजिक प्रणाली के अन्तर्गत किसी निर्धारित समय में व्यक्ति का जो दर्जा होता है, उसे ही हम सामाजिक प्रस्थिति कहते हैं।

सामाजिक प्रस्थितियों का वर्गीकरण (Classification of Social Statuses)

राल्फ लिण्टन ने समाज में पाई जाने वाली प्रस्थितियों के दो भेद किये हैं–प्रदत्त और अर्जित।

प्रदत्त प्रस्थिति (Ascribed Status)

इसको आरोपित प्रस्थिति के नाम से भी जाना जाता है। अनेक प्रस्थितियाँ ऐसी होती हैं, जो व्यक्ति को जन्म से ही प्राप्त हो जाती हैं। इसमें व्यक्ति की योग्यता अथवा कार्यकुशलता का कोई योगदान नहीं होता है। इनके उदाहरण हैं, जो व्यक्ति राजघराने में उत्पन्न होगा स्वाभाविक है कि वह सामान्य घराने में उत्पन्न होने वाले बालक की स्थिति में ऊँचा या श्रेष्ठ होगा, जाति, कुल, आयुभेद, लिंगभेद, परिवार में बच्चों की संख्या, माता-पिता का निधन आदि कुछ ऐसी स्थितियाँ हैं, जो व्यक्ति को एक स्थिति प्रदान करती हैं, इसे ही हम प्रदत्त स्थिति के नाम से जान सकते हैं।

प्रदत्त स्थिति के प्रमुख आधार नीचे लिखे अनुसार होते हैं–

1. लिंग-भेद (Sex Dichotomy)—लिंग भेद स्थिति निर्धारण करने वाले प्रमुख आधार हैं। जब से सृष्टि का उद्‌गम हुआ स्त्री-पुरुष की स्थिति में अन्तर पाया गया। शारीरिक दृष्टि से स्त्री को पुरुष से हीन व कमजोर माना गया, इसलिए विश्व के लगभग सभी समाजों में स्त्री की स्थिति निम्न मानी गई है। अनेक समाज ऐसे हैं, जिनमें स्त्रियों को मासिक धर्म के कारण अपवित्र माना गया और उनको धार्मिक कार्य करने के अयोग्य तक बना दिया गया। हमारे देश में भी उनकी स्थिति एक अबला दासी के समान रही है। उसे उचित शिक्षा से भी वंचित रखा गया है। आज भी लड़की की स्थिति भारतीय समाज में लड़के की तुलना में निम्न है। उसे कोमल एवं गृहस्थी के कार्यों एवं प्रजनन तक ही सीमित कर दिया जाता है। इस प्रकार स्त्री-पुरुषों में पाई जाने वाली शरीर-रचना की भिन्नता उनकी स्थिति में भिन्नता उत्पन्न करती है।

सामाजिक और सांस्कृतिक कारणों से भी स्त्री और पुरुषों की स्थितियों में भिन्नता देखने को मिलती है। कुछ

सामाजों में स्त्रियों को उच्च स्थान प्राप्त हैं। उन समाजों में राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक सरीखे क्षेत्रों में स्त्रियां शासन करती हैं। हमारे ही देश में गारो, खासी तथा नायर लोगों में स्त्री की स्थिति पुरुष से ऊँची पाई जाती है। वे परिवार की मुखिया होने के साथ ही साथ सम्पत्ति और धार्मिक कार्यों में भी प्रधान होती हैं। आज शिक्षा के प्रसार और विज्ञान की प्रगति के कारण स्त्री और पुरुष की स्थिति में परिवर्तन आ रहा है।

2. आयु-भेद (Age difference)—आयु-भेद के द्वारा भी समाज में स्थिति का निर्धारण होता है। सभी समाजों में बड़े-बूढ़ों को सम्मान दिया जाता है। यह माना जाता है कि आयु वृद्ध लोग अनुभवी होते हैं और युवा पीढ़ी का मार्गदर्शन करने में सक्षम होते हैं। युवाओं में जोश होता है तो वृद्धों में दुनियादारी का अनुभव होने के कारण होश। इसलिए समाज के सभी उत्तरदायित्वपूर्ण और उत्तम कार्य करने के लिए ऐसे व्यक्ति चुने जाते हैं, जिनमें जोश और होश दोनों ही पाये जाते हों। ऐसे व्यक्ति की आयु 30-35 के मध्य होती है।

इसके अलावा व्यक्ति की स्थिति निर्धारण में प्रथाओं और परम्पराओं का योगदान भी कम नहीं पाया जाता। एस्किमो लोगों का ही उदाहरण लें। वहाँ बूढ़े व्यक्तियों की स्थिति निम्न पाई जाती है। खाद्य वस्तुओं की कमी के कारण अन्य व्यक्ति उनकी हत्या भी कर सकते हैं। **इसे एक नैतिक काम माना जाता है।** इस प्रकार हम पाते हैं कि आयु भेद भी स्थिति का निर्धारक तत्व है।

3. नातेदारी (Kinship)—समाज में नातेदारी के आधार पर भी व्यक्ति को अलग-अलग स्थिति प्राप्त होती है। उदाहरणार्थ–चाचा-चाची, जीजा-साली, सास-ससुर आदि के पद नातेदारी प्रथा के आधार पर ही प्राप्त होते हैं।

4. जन्म (Birth)—जन्म के आधार पर भी पद का निर्धारण होता है। महाजन के घर में उत्पन्न होने वाले लड़के को साहू कहा जाता है और मजदूर के लड़के को ललुआ। उदाहरण के लिए प्रधानमंत्री के पुत्रों को V.I.P. का दर्जा प्राप्त होता है।

5. जाति (Caste)—हमारे देश में जाति-प्रथा का चलन है। यह स्थिति निर्धारण करने वाला प्रमुख तत्व है, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य कुल में जन्मे बालक की स्थिति नीचे अथवा अस्पृश्य जातियों में जन्मे बालक से ऊँची मानी जाती है आज स्वतन्त्रता के बाद संवैधानिक प्रयासों के बाद भी उच्च जातियों की स्थिति समाज में उच्च बनी हुई है।

6. प्रजाति (Race)—यह एक जैविकीय धारणा है। शरीर के विभिन्न अंगों की बनावट के आधार पर संसार की जातियों को तीन भागों में विभाजित किया जाता है–श्वेत (काकेशॉयड) पीत (मंगोलायड) तथा श्याम (निग्रायड) । रंगभेद आज प्रमुख समस्या बन गई है। गोरे लोगों की तुलना में नीग्रो अथवा काले लोगों की स्थिति निम्न है।

7. गोद लेना (Adoption)—गोद लेना एक सामाजिक रस्म है। इसमें गोद लिए हुए बालक अथवा बालिका को व्यस्क व्यक्ति की संतान की स्थिति प्राप्त हो जाती है। यह प्रथा हिन्दू समाज में प्रचलित है। मुस्लिम समाज में नहीं।

8. वर्ग (Class)—वर्ग एक खुली व्यवस्था है। व्यक्ति को अपने माता-पिता के अनुरूप वर्ग प्राप्त हो जाता है तथापि वह अच्छा होने पर उससे उत्तम और निकम्मा होने पर नीचा वर्ग प्राप्त करता है।

अर्जित स्थिति (Achieved Status)

व्यक्ति व्यक्तिगत गुणों के आधार पर प्रयास करके जिन स्थितियों, पदों अथवा स्थानों को प्राप्त करता है, अर्जित स्थितियाँ कहलाती हैं। जो व्यक्ति साहसी, निपुण और धैर्यवान होते हैं, वे समाज में महत्त्वपूर्ण स्थितियाँ प्राप्त कर लेते हैं। उदाहरणार्थ लाल बहादुर शास्त्री एक साधारण स्थिति से उठकर भारत के प्रधानमंत्री पद तक जा पहुँचे। अर्जित स्थिति के निम्नलिखित आधार हैं–

1. शिक्षा (Education)—शिक्षा अर्जित स्थितियों का आधार बनती है। उदाहरणार्थ विभिन्न सेवाओं, जिसमें प्रशासनिक और साधारण सेवायें भी शामिल हैं शिक्षा की न्यूनतम योग्यता निर्धारित होती है। समाज में जो व्यक्ति शिक्षित होते हैं, उन्हें अशिक्षित व्यक्तियों की तुलना में अधिक सम्मान प्राप्त होता है।

2. प्रशिक्षण (Training)—समाज में अनेक स्थितियाँ प्रशिक्षण द्वारा प्राप्त होती है, डॉक्टर, इंजीनियर और अध्यापक आदि स्थितियाँ इसी प्रकार की ही हैं। यह प्रशिक्षण औपचारिक और अनौपचारिक दोनों प्रकार का हो सकता है।

3. धन-दौलत (Wealth)—धन दौलत भी स्थिति निर्धारण में प्रमुख भूमिका निभाता है। आज समाज में जिनके

पास धन-दौलत है, उन्हें ऊँची स्थिति प्राप्त होती है, लेकिन यह भी सही है कि अनेक ऐसे व्यक्ति होते हैं, जिनके पास धन-दौलत नहीं होती तथा उनकी समाज में ऊँची स्थिति होती है यथा–विद्वान, विचारक आदि।

नोट

4. व्यवसाय (Occupation)—जिन व्यक्तियों का व्यवसाय ऊँचा होता है, उनकी स्थिति ऊँची मानी जाती है। मजदूरी की स्थिति से उनकी स्थिति ऊँची होती है।

5. राजनीतिक सत्ता (Political Authority)—जिस व्यक्ति के पास राजनीतिक सत्ता या बल है उसकी स्थिति साधारणजन से ऊँची होती है। नेताओं की स्थिति ऐसी ही है, उदाहरणार्थ प्रजातान्त्रिक व्यवस्था में शासक दल के लोगों की तुलना में विपक्षी दल के लोगों की स्थिति नीची होती है।

6. शारीरिक शक्ति (Physical Strength)—पिछड़े विशेषकर आदिवासी समाजों में जो व्यक्ति जितना शारीरिक रूप से शक्तिशाली होता है, उसकी स्थिति उतनी ही ऊँची मानी जाती है। आज इसका महत्त्व कम होता जा रहा है।

7. विशेष उपलब्धियाँ (Achievements)—यदि व्यक्ति, शिक्षा खेल, कला आदि में विशेष उपलब्धि प्राप्त कर लेता है, तो अपेक्षाकृत उसकी स्थिति उच्च हो जाती है।

प्रदत्त और अर्जित स्थितियों में अन्तर
(Difference between Ascribed and Achieved status)

प्रदत्त स्थिति	अर्जित स्थिति
1. समाज द्वारा प्रदान की जाती है।	1. अपनी योग्यता, कुशलता, प्रयत्न और बुद्धि से प्राप्त की जाती है।
2. इसका आधार प्रथायें, परम्परायें, आदर्श, मूल्य आदि हैं।	2. आधार स्वयं ही योग्यता तथा गुण है।
3. यह समाज की सामान्य स्थिति को प्रकट करती है जैसे, माता-पिता, भाई-बहन आदि।	3. विशिष्ट स्थिति को प्रकट करती है, जैसे डॉक्टर, प्रोफेसर आदि।
4. इसके आधार अपेक्षाकृत स्थायी होते हैं। उदाहरणार्थ जातिगत स्थितियाँ स्थायी-सी रहती हैं।	4. इनमें मूल्यात्मक परिवर्तन होते हैं, जैसे धन, शिक्षा, व्यवसाय, राजनीतिक स्थिति आदि।
5. इसके लिए व्यक्ति को प्रयास नहीं करना पड़ता है, समाज द्वारा सहज प्राप्त हो जाती है।	5. व्यक्ति को इसके लिए प्रयास करना होता है।
6. इसका निर्धारण लिंग-भेद, आयु-भेद, जन्म, जाति, प्रजाति, नातेदारी आदि के आधार पर होता है।	6. इसका निर्धारण शिक्षा, प्रशिक्षण, व्यवसाय, धन और राजनीतिक सत्ता आदि हो सकते हैं।
7. अनिश्चित होती है। अधिकार क्षेत्र में स्पष्टता नहीं पाई जाती। उदाहरणार्थ मां-बाप के अधिकारों की सीमा का निर्धारण नहीं है।	7. ये अधिक स्पष्ट होती हैं, क्योंकि यहाँ अधिकारों का निर्धारण स्पष्ट पाया जाता है जैसे प्रधानमंत्री, प्राचार्य आदि।
8. व्यक्ति के जीवन में सर्वप्रथम आती है।	8. जीवन के बाद के काल में व्यक्ति प्राप्त करता है।
9. व्यक्ति को मानसिक और सामाजिक सुरक्षा प्रदान करती है।	9. इनका आधार प्रतिस्पर्धा और संघर्ष है। अतः असुरक्षा और भय बनाये रखती है।
10. आदिम व सरल समाजों में पाई जाती है।	10. आज के औद्योगिक और गतिशील समाजों में देखने को मिलती है।
11. प्रदत्त स्थिति और उससे सम्बन्धित कार्य में समन्वय पाया जाना आवश्यक नहीं है।	11. अर्जित स्थिति में दोनों में समन्वय पाया जाता है।

प्रदत्त और अर्जित स्थिति में सम्बन्ध (Relation between Ascribed and Achieved Status)

दोनों में नीचे लिखे सम्बन्ध पाये जाते हैं–

1. प्रदत्त स्थिति अर्जित स्थिति के निमित्त साधन व सीमाओं का निर्धारण करती है।

2. अर्जित स्थिति द्वारा कभी-कभी प्रदत्त स्थिति की संरचना में उतार-चढ़ाव लाया जाता है।
3. प्रदत्त स्थिति के लिए भी अर्जित स्थिति की भांति कुछ प्रशिक्षण आवश्यक यथा—माली को भी फूल उगाने और सजाने की कला सीखनी होती है।
4. नातेदारी सरीखी सहज स्थितियों का उत्तरदायित्व निर्वाह करने के लिए भी व्यावहारिक कुशलता, योग्यता प्रयास आदि की जरूरत होती है। अच्छे माता-पिता ही अपने बालकों को उत्तम चरित्र व संस्कार प्रदान कर सकते हैं।
5. प्रदत्त स्थिति व्यक्ति को सुरक्षा की भावना प्रदान करती हैं, अर्जित स्थिति में इसका अभाव पाया जाता है।

प्रदत्त और अर्जित दोनों स्थितियाँ समाज के लिए अनिवार्य हैं। प्रदत्त प्रस्थिति द्वारा व्यक्ति की सामाजिक स्थिति की रूपरेखा निर्मित होती है, जबकि अर्जित स्थिति उसके व्यक्तित्व का निर्माण करती है। **डेविस** ने लिखा है—"समाज की सामान्य स्थिति वह होनी चाहिए कि प्रस्थितियों की स्थूल रूपरेखा प्रदत्त प्रस्थितियों (अथवा आरोपित पदों) द्वारा निश्चित हो, जबकि कुछ विशेष प्रस्थितियाँ अर्जित करने के लिए व्यक्ति को स्वतन्त्र छोड़ दिया जाना चाहिये।"

प्रस्थिति का निर्धारण (Determination of Status)

प्रस्थिति के बारे में उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वह एक सापेक्षिक (Relative) शब्द है। इसके द्वारा किसी समूह के अन्तर्गत व्यक्ति की प्रतिष्ठा ज्ञात होती है। जिस व्यक्ति का समाजिक स्तर उच्च होता है, उसकी सामाजिक प्रस्थिति भी उच्च होती है। लेकिन प्रतिष्ठा के अतिरिक्त अनेक बार प्रस्थिति का निर्धारण व्यक्ति के चरित्र के आधार पर भी किया जाता है। यदि समाज की दृष्टि से व्यक्ति का चरित्र ऊँचा है या उसमें विशेष गुण पाए जाते हैं तो उसकी प्रस्थिति समाज में उच्च होती है। इसी प्रकार वस्त्र, रहन-सहन तथा व्यवहार भी व्यक्ति की स्थिति को प्रभावित करते हैं। प्रस्थिति के प्रतीकों अथवा निर्धारित तत्वों की महत्ता के बारे में विश्व के हर समाज में भिन्नता है। इसीलिए किसी व्यक्ति, परिवार अथवा सामाजिक श्रेणी की सामाजिक प्रस्थिति का मूल्यांकन करने के लिए निम्नलिखित मापदंडो का आश्रय लेना चाहिए—

1. वंश-परम्परा एक व्यक्ति को विशिष्ट अथवा हीन प्रस्थिति प्रदान करती है। किसी खास व्यक्ति की वंश-परम्परा का सम्मान अथवा असम्मान अनेक कारकों पर निर्भर होता है। जैसे, वैधता अथवा अवैधता, परिवार की प्रतिष्ठा, क्षेत्र विशेष में निवास करने की अवधि। कहीं तो प्रजातीय पृष्ठभूमि के आधार पर प्रस्थिति का निर्धारण होता है। (जैसे नीग्रो, भारतीय, काकेशियन जाति में) और कहीं नृजाति (Ethics) अथवा राष्ट्रीय पृष्ठभूमि के आधार पर (जैसे, अंग्रेजों, इटलीवासियों, फ्रांसीसियों में)।
2. सम्पत्ति सामाजिक प्रस्थिति का विश्वसनीय मापदंड है। आधुनिक पूंजीवाद की स्थितियों के भीतर सम्पति अधिक निश्चयात्मक कार्य को ग्रहण करती है। वंश-परम्परा, राष्ट्रीय-व्युत्पत्ति, धर्म तथा वर्ण प्रस्थिति की कसौटियाँ हैं जो सम्पत्ति के साथ होड़ लगा देती हैं। समाज में सम्पत्ति की निश्चित महत्ता व्यक्त होती है जिससे यह मूल्य सब सामाजिक विभाजनों में भेद कर सामाजिक विभेद का एक सामान्य स्तर प्रस्तुत करता है। किसी व्यक्ति की सम्पति या धन कमाने के स्रोत की समाजिक महत्ता है। यदि व्यक्ति ने अवैध अथवा अनैतिक ढंग से धन कमाया है तो उसे उतनी प्रतिष्ठा नहीं मिलती है जितनी की उस व्यक्ति को जिसने सामाजिक रूप से मान्य तरीकों से धन कमाया है।
3. किसी व्यक्ति की प्रकार्यात्मक उपयोगिता भी सामाजिक प्रस्थिति के निर्धारण का मापदण्ड है। एक व्यक्ति का श्रेणी विभाजन समाज में उसके द्वारा किये गए कार्यों के आधार पर होता है।
4. प्रत्येक समाज में शिक्षा की मात्रा और प्रकार भी सामाजिक प्रस्थिति का निर्धारक तत्व है। कुछ समाजों में तो शिक्षितों और अशिक्षितों के मध्य बहुत भेद होता है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक प्रशिक्षित होता है उसे उतनी ही अधिक सामाजिक प्रस्थिति प्रदान की जाती है। कॉलेज की डिग्री प्रस्थिति का प्रतीक है। इस डिग्री की तब और अधिक उपयोगिता बढ़ जाती है जब इसे कॉलेज या विश्वविद्यालय से अच्छी श्रेणी में प्राप्त किया जाता है।

नोट

5. धर्म भी सामाजिक प्रस्थिति का द्योतक है। एक समाज के लोगों का ईश्वर के प्रति कैसा दृष्टिकोण है, यह उस समय की प्रस्थिति का बोध कराती है। कुछ समाजों में यद्यपि लोग सामाजिक प्रस्थिति को कसौटी के रूप में धर्म की महता कम करने का औपचारिक प्रयास करते रहते हैं लेकिन उन्हें पूर्ण सफलता नहीं मिल पाती।
6. जैविक गुण एक महत्त्वपूर्ण मापदण्ड है। इसी के आधार पर कोई समाज किसी व्यक्ति को उच्च अथवा निम्न सामाजिक प्रस्थिति प्रदान करता है। लिंग (Sex) को इस अर्थ में विश्वसनीय कसौटी माना जाता है कि अधिकांश समाजों में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों को ऊँची प्रस्थिति प्राप्त होती है। सामाजिक मूल्य के रूप का पुरुषत्व के स्रोत पर **अधीनता** होती है। जैविक गुणों के आधार पर ही यूरोपीय समाज में स्त्रियों को निर्बल, मूर्ख, भावुक, धार्मिक तथा अंधविश्वासी मान लिया गया है जबकि पुरुषों को तार्किक, उदार, प्रगतिशील तथा साहसी माना जाता है।
7. आयु-भेद भी सामाजिक प्रस्थिति का विश्वसनीय मौलिक मापदण्ड है। उदाहरणार्थ व्यस्कों को बच्चों की तुलना में अधिक प्रतिष्ठा मिलती है, लेकिन हर समाज में इसमें भी भिन्नता है। कुछ समाजों में तो वृद्धों की अधिक महत्ता होती है। उनका हर तरह से आदर सम्मान किया जाता है, लेकिन कुछ समाजों में इनकी अपेक्षा युवकों को अधिक प्रश्रय दिया जाता है। इसलिए केवल आयु को प्रस्थिति का एक मात्र निर्धारक कारक नहीं माना जा सकता।

सामाजिक प्रस्थिति का स्थानान्तरण (Transfer of Social Status)

व्यक्ति और प्रस्थिति में अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रस्थितियाँ व्यक्ति पर ही आधारित होती हैं और वे इसमें सक्रिय योग देती रहती हैं। फिर भी हम लोग प्रस्थिति और व्यक्ति का विश्लेषण अलग कारक के रूप में करते हैं। सामाजिक व्यक्ति की व्याख्या करने पर ज्ञात होता है कि वह क्या है? इसके विपरीत सामाजिक प्रस्थिति की व्याख्या हमें यह बताती है कि व्यक्ति जिस स्थान में रहता है उसकी राय में वह कौन-सा-मूल्य अपनाये हुये है। प्रस्थिति के स्थानान्तरण को अनेक चिर-परिचित दृष्टान्तों द्वारा दर्शाया जा सकता है। अक्सर देखा जाता है कि मुखिया, पति तथा पिता परिवार के बाहर पारिवारिक सदस्यों की सामाजिक प्रस्थिति का प्रतिनिधित्व करता है। एक व्यक्ति है जिसका समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति, पादरी की अपनी बुद्धि, बल, योग्यता आदि के द्वारा समाज में, राष्ट्र में, विश्व में काफी नाम होता है ये सब प्रातीतिक (Subjective) योग्यताएँ हैं जिनके द्व ारा वह उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त करता है लेकिन इसके अतिरिक्त वह उच्चतम प्रतिष्ठा या सम्मान का भागीदार इसलिए भी होता है कि वह महत्त्वपूर्ण पद उसने अपने प्रातीतिक गुणों के द्वारा प्राप्त किया है। दूसरे शब्दों में, इस स्थिति का स्थानान्तरण व्यक्ति के स्वयं के प्रयास से हुआ है।

सामाजिक भूमिका (Social Role)

सामाजिक सम्बन्धों की मनोवैज्ञानिक, सामाजिक मौलिक दशाओं का उल्लेख करते समय हम यह देख आये हैं कि सम्बन्धित व्यक्तियों में परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करने वाली प्रक्रियाएँ तथा परस्पर अनुभूति का होना आवश्यक है। परस्पर आभास और अनुभूति से हमारा तात्पर्य एक दूसरे के कार्यो का भास होना ही है। कार्य क्या है? इनका निर्णय कैसे होता है? आदि ऐसे प्रश्न हैं जिन पर हमें विस्तार से विचार करना चाहिए।

सामाजिक सम्बन्धों के लिए अन्तःस्थिति एवं कार्यों की व्यवस्था आवश्यक है। सामूहिक सम्बन्धों में हर एक व्यक्ति के कुछ कार्य होते हैं। कुछ कार्य से हमारा तात्पर्य व्यक्ति के उन कार्यो से है जिन्हें वह समाज के हित में करता है। ये कार्य उसकी स्थिति अर्थात् समाज में शक्ति व इज्जत पर आधािरित होते हैं। जो व्यक्ति समाज में कार्य करता है, जिसके आधार पर उसकी स्थिति बनती है, उसे हम कार्य कहते हैं। स्थिति और कार्य एक दूसरे से इतने सम्बन्धित हैं कि वे परस्पर पृथक् नहीं किये जा सकते। व्यक्ति के कार्य ही उसकी स्थिति का बोध कराते हैं और जो कुछ उसे सामाजिक स्थिति प्राप्त है उसी से उसके कार्यों का ज्ञान होता है।

भूमिका की परिभाषा (Definition of Roles)—सामान्य रूप से किसी व्यक्ति द्वारा अपनी परिस्थिति के अनुरूप की जाने वाली क्रियाओं या व्यवहारों को हम भूमिका (Role) कहते हैं। **लिन्टन** (R. Linton) ने भूमिका की

परिभाषा करते हुये लिखा है कि "भूमिका शब्द का प्रयोग किसी विशिष्ट परिस्थिति से सम्बन्धित सांस्कृतिक प्रतिमानों को दर्शाने के लिए किया जाता है। इस प्रकार भूमिका के अन्तर्गत हम उन अभिवृत्तियों, मूल्यों और व्यवहारों को सम्मिलित करते हैं जो किसी विशेष परिस्थिति से सम्बद्ध व्यक्ति अथवा व्यक्तियों को समाज द्वारा प्राप्त होते हैं।" **किम्बल यंग** (K. Young) कहते हैं कि "व्यक्ति जो करता या करवाता है उसे हम उनका कार्य कहते हैं।" भूमिका की परिभाषा को और अधिक स्पष्ट करते हुए सार्जेन्ट का कहना है कि "किसी व्यक्ति की भूमिका सामाजिक व्यवहार का ही एक प्रतिमान या प्रारूप है जिसे वह अपने समूह के सदस्यों की प्रत्याशाओं के अनुसार एक परिस्थिति में ठीक समझता है।"

इस प्रकार स्पष्ट है कि भूमिका व्यवहार के वे प्रतिमान है जो एक प्रस्थिति के साथ समाज द्वारा सम्बद्ध किये जाते हैं। यहाँ यह ध्यान रखने योग्य है भूमिकाएँ परस्पर सम्बन्धित होती हैं। एक व्यक्ति का व्यवहार दूसरे व्यक्ति से सम्बन्धित होता है। इसलिए हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि व्यक्ति कुछ देर के लिए ही कोई भूमिका निभाता है और बाद में उससे निवृत हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति की कई भूमिकाएँ होती हैं जो उसकी चिन्तन तथा अभिनय पद्धति में छिपी होती हैं। एक व्यक्ति एक समाज का सदस्य भी रहता है और एक अभिकर्ता भी। सामाजीकरण की प्रक्रिया के दौरान वह सभी सामाजिक भूमिकाओं को एक साथ सीखने के लिए कटिबद्ध रहता है। उससे यह आशा की जाती है कि वह आजीवन समाज के सदस्य के रूप में अपनी भूमिका निभायेगा और यह कार्य वह सामाजिक भूमिका ग्रहण करके करता है।

कार्य अथवा भूमिका की विशेषताएँ (Characteristics of Role)

कार्य अथवा भूमिका की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं–

1. कार्य का अर्थ उन व्यवहारों की सम्पूर्णता से है, जिन्हें एक विशेष प्रस्थिति धारण करने के कारण व्यक्ति से पूरा करने की आशा की जाती है।
2. कार्य का निर्धारण एक विशेष संस्कृति के नियमों द्वारा होता है अर्थात् सम्पूर्ण समाज द्वारा कार्य की स्वीकृति दी जाती है।
3. कार्य सदैव प्रस्थिति के सन्दर्भ में होता है।
4. प्रत्येक व्यक्ति से एक विशेष भूमिका (कार्य) की आशा दो कारणों से की जाती है। एक तो यह कि व्यक्ति सामाजिक मूल्यों के अनुसार व्यवहार करे तथा दूसरे इसलिए कि सामाजिक संगठन बना रहे।
5. प्रत्येक व्यक्ति की भूमिका प्रत्येक क्षेत्र में भिन्न-भिन्न होती है तथा भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से निभाई जाती है।
6. सभी कार्य अथवा भूमिका समान प्रकृति की नहीं होती। कुछ 'प्रमुख भूमिकाएँ' (Key roles) होती हैं, जिसमें अधिक दायित्व और श्रम निहित होता है, तो कुछ सामान्य भूमिकाएँ (General Roles) होती हैं, जिनका निर्वाह हम बड़ी सरलता से कर पाते हैं।
7. भूमिका समयानुकूल परिवर्तनशील है। समाज और संस्कृति के साथ व्यक्ति ज्यों-ज्यों अधिकाधिक अनुकूलन करता जाता है, उसकी भूमिका में परिपक्वता आती जाती है।
8. प्रत्येक व्यक्ति अपनी भूमिका अपनी रुचियों, मनोवृत्तियों और योग्यता के आधार पर निभाता है।
9. प्रत्येक भूमिका व्यक्ति से एक विशेष प्रकार के व्यवहार की मांग करती है और इसलिए समाज में एक व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार का व्यवहार करता हुआ पाया जाता है।

स्थिति और कार्य का पारस्परिक सम्बन्ध (Inter-Relationship between Status and Role)

समाज व समूह में प्रत्येक व्यक्ति के कुछ कार्य होते हैं, कुछ क्रियाएँ होती हैं, जिन्हें कि वह करता व उन क्रियाओं से सम्बन्ध रखता है। वास्तव में उन्हीं क्रियाओं के आधार पर उनकी शक्ति (Power), स्थिति (Status), पद (Position), प्रतिष्ठा (Prestige) बनती है, जो कुछ व्यक्ति समाज में कार्य (Role) करते हैं। समाज के अन्दर स्थिति और कार्य एक-दूसरे से इतने सम्बन्धित हैं कि इन्हें एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता, जो व्यक्ति के कार्य (Role) होते हैं, वह उसकी स्थिति (Status) का ज्ञान कराते हैं और जो उसकी स्थिति (Status)

होती है, वह उसके कार्यों का ज्ञान कराती है। स्थिति और कार्य एक ही वस्तु के दो पहलू हैं या यों कहिये कि एक ही समाज रूपी गाड़ी के दो पहिये हैं। जिस प्रकार गाड़ी के लिए एक पहिये के बिना दूसरे पहिये का कोई अस्तित्व नहीं रहता, उसी प्रकार समाज रूपी गाड़ी के लिए इन दोनों को अलग-अलग करके सामाजिक ढांचे में इन्हें नहीं समझ सकते अर्थात् स्थिति तथा कार्य का प्रत्येक दशा में एक-दूसरे से सम्बन्ध है, एक को दूसरे के बिना स्पष्ट नहीं किया जा सकता। **ऐली चिनाय** (Ely Chinoy) के शब्दों में "स्थिति तथा भूमिका एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। स्थिति अन्य पदों के सम्बन्ध में एक पद है। कार्य व्यवहार का एक तरीका है, जिसकी हम स्थिति विशेष को धारण करने वाले से आशा करते हैं" संक्षेप में लिन्टन (Linton) लिखते हैं, "स्थिति के बिना कार्य नहीं होते और बिना कार्य के स्थिति नहीं होती।"

नोट

स्थिति और कार्य में अन्तर (Difference between Status and Role)

स्थिति और कार्य में अन्तर भी है। स्थिति समाज या किसी समूह मात्र में एक स्थिति मात्र है। प्रत्येक समाज और समूह में ऐसी बहुत-सी स्थितियाँ होती हैं और प्रत्येक व्यक्ति ऐसी अनेक स्थितियों में रहता है–वास्तव में जितने समूहों से उनका सम्बन्ध है उतनी ही स्थितियाँ उसके साथ है, समूह की किस्म के साथ उसकी स्थिति में परिवर्तन आ जायेगा। कार्य स्थिति का गतिशील अथवा व्यावहारिक पहलू होता है। स्थितियाँ प्राप्त की जाती हैं, लेकिन कार्य प्रस्तुत किये जाते हैं। एक कार्य (Role) वह तरीका है, जिसमें कोई व्यक्ति एक स्थिति के आधारों को पूर्ण करता है और उसकी सुविधाओं तथा विशेषाधिकारों का आनन्द लेता है। किसी स्थिति में एक व्यक्ति जो कुछ करता है, वही एक भूमिका (Role) है। यह स्पष्ट है कि एक ही प्रकार की स्थितियों में भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं और इन अन्तरों की जानकारी हम कार्य अवधारण से ही कर सकते हैं। उदाहरण ार्थ–भारत का प्रधानमंत्रित्व एक स्थिति है। प्रधानमंत्री के पद को सुशोभित करने वालों के अनेक कर्त्तव्य तथा उत्तरदायित्व होते हैं। ये समस्त कर्त्तव्य व्यक्ति से सम्बन्धित न होकर पद से सम्बन्धित होते हैं। इस पद पर आसीन व्यक्ति विभिन्न प्रकार से अपनी भूमिका अदा करता है। स्थिति के समान होते हुए भी कार्य करने के तरीकों में अन्तर हो सकते हैं। **राबर्ट बियर्स्टेड** ने बताया है कि कार्य स्थिति का गत्यात्मक पक्ष है किन्तु ये दोनों ही गतिशील तत्व हैं। स्थितियाँ सांस्कृतिक हैं, कार्य व्यवहारात्मक।

बियर्स्टेड का कहना है कि यद्यपि स्थिति तथा कार्य सह-सम्बन्धित है, फिर भी एक के बिना दूसरे का होना सम्भव है। यदि मां अपने बच्चे को घर पर पढ़ाती है, तो अध्यापिका की भूमिका अदा करती है। यद्यपि उसकी स्थिति इस रूप में नहीं होती। फिर भी बिना इनके सामाजिक जीवन का कोई अस्तित्व नहीं होता। संस्कृति की भाँति भूमिकाएँ भी स्वभावत: समाज में विद्यमान रहती हैं अशिक्षित और सामान्य समाज का कोई अस्तित्व नहीं रह सकता, यदि व्यक्ति सामाजिक भूमिकाओं का निर्वाह न करें। इस प्रकार से समाज में यद्यपि भूमिकाओं की संख्या अल्प होती हैं तथापि वे नगरीय जटिल औद्योगिक समाज की अपेक्षा अधिक दुष्कर होती हैं।

विशिष्ट संस्कृति और समाज की, जिसमें भूमिकाओं का निर्माण होता है, माँग के अनुसार भूमिकाओं में परिवर्तन लाया जा सकता है। उदाहरणार्थ, एक-आदिम समाज की कुछ आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति आदान-प्रदान की साधारण भूमिका के जरिये की जा सकती है। लेकिन एक जटिल और वाणिज्य प्रधान समाज में कार्य में विभाजन हो जाता है और प्रत्येक कार्य के लिए विशेषीकरण की आवश्यकता पड़ती है।

प्रस्थिति तथा भूमिका निर्धारण के आधार (Base of the Determination of Status and Role)

प्रस्थिति तथा कार्य को निर्धारित करने के कुछ उल्लेखनीय आधार निम्नलिखित हैं–

1. नातेदारी (Kinship)—समाज में व्यक्ति कई तरह के सूत्रों में सम्बद्ध होते हैं। इन सूत्रों में सर्वाधिक महत्त्वपूण ा तथा सर्वव्यापी सूत्र वह है, जो व्यक्तियों को रक्त द्वारा सम्बद्ध करता है। इसी को नातेदारी कहा जा सकता है। **चार्ल्स विनिक** (Charles Winick) के अनुसार–"नातेदारी प्रणाली में समाज द्वारा मान्यता प्राप्त वे सम्बन्ध आ सकते हैं, जो कि माने हुए एवं सम्बन्धों पर आधारित हैं।" नातेदारी प्रणाली के आधार पर भी व्यक्ति की स्थिति (Status) तथा कार्यों (Roles) का निर्धारण होता है। बाल्यावस्था से ही माता-पिता की सामाजिक स्थिति के अनुरूप स्थिति बालक को प्राप्त हो जाती है। उदाहरण–निर्धन का पुत्र निर्धन कहलाता है तथा राजा का पुत्र राजकुमार।

इसी प्रकार जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति का जन्म जिस परिवार में होता है, उसी के अनुसार जातीय-व्यवस्था में उसकी स्थिति का निर्माण हो जाता है।

2. आयु-भेद (Age Difference)—प्रत्येक समाज व्यक्ति को समाज के अन्तर्गत कुछ न कुछ स्थिति अवश्य प्रदान करता है, परन्तु इसके लिए व्यक्ति की आयु का विशेष ध्यान रखा जाता है। आयु का सम्बन्ध मानसिक अनुभव से होता है। एक समान्य व्यक्ति को भी कम महत्त्वपूर्ण स्थिति दी जा सकती है, परन्तु अधिक महत्त्वपूर्ण पदों के लिए व्यक्ति को एक निश्चित आयु का होना आवश्यक है। उदाहरण के लिए, बच्चों, बूढ़ों, युवकों तथा प्रौढ़ों की प्रतिष्ठा तथा सामाजिक स्थिति एक-दूसरे से बिल्कुल अलग होती है, परिणामस्वरूप उनका या उनकी भूमिकाएँ भी एक जैसी नहीं हो सकतीं।

3. लिंग-भेद (Sex Difference)—स्त्री-पुरुष के आधार पर विश्व के समस्त समाजों में उसके सदस्यों को विभिन्न पद तथा उससे सम्बन्धित भूमिकाओं को प्रदान करने की प्रवृति पायी जाती है। समाज में इस प्रकार के बहुत से कार्य होते हैं, जिन्हें या तो स्त्रियाँ कर ही नहीं सकतीं या उनमें कुशलता की कमी होती है; इसलिए ऐसे कार्यो से सम्बन्धित पद प्राय: पुरुषों को ही दिये जाते हैं, जबकि मातृसत्तात्मक परिवारों में स्त्रियों की स्थिति पुरुषों की अपेक्षा अधिक अच्छी होती है। **मैकाइवर** (MacIver) ने मातृसत्तात्मक परिवार के विषय में लिखा है–"मातृसत्तात्मक परिवार को एक ऐसे परिवार के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसमें परिवार का सम्पूण र्ा नियन्त्रण पत्नी या माता के हाथों में केन्द्रित होता है।" परन्तु अधिकांश समाजशास्त्री इस कथन में विश्वास नहीं करते, क्योंकि उनके अनुसार यदि ऐसा होता, तो आज भी मातृसत्तात्मक परिवार के अस्तित्व पाये जाते। भारत की कुछ जनजातियों के अतिरिक्त यहाँ के अधिकांश परिवारों का स्वरूप पितृसत्तात्मक ही है।

4. धार्मिक ज्ञान (Religious Knowledge)—कुछ समाज उन व्यक्तियों को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समझते हैं, जिन्हें धर्म का विशेष ज्ञान हो। ऐसे व्यक्तियों का सामाजिक पद ऐसे सामाजों में काफी ऊँचा होता है। इस प्रकार के पद को प्रदान करते समय व्यक्ति की आयु, लिंग या आर्थिक स्थिति की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। वैसे आजकल प्रगतिशील समाजों में इस प्रकार के पदों का महत्त्व निरन्तर कम होता जा रहा है। कुछ पिछड़ी जातियों में ही धार्मिक ज्ञान को व्यक्ति के स्तर-निर्धारण का प्रमुख आधार माना जाता है।

5. सम्पत्ति (Property)—वर्तमान समाजों में तो धन या व्यक्ति की आर्थिक स्थिति उसके सामाजिक पद की सबसे प्रमुख निर्णायक है। **कार्ल मार्क्स** (Karl Marx) ने कहा भी है कि "समाज में व्यक्ति की स्थिति (Status) का निश्चय उसकी आर्थिक स्थिति से होता है।" पूँजीवादी समाजों में तो उन व्यक्तियों को उच्च सामाजिक स्तर प्राप्त होता है, जिनका उत्पादन के साधनों पर विशेष रूप से अधिकार हो। जैसे-जैसे व्यक्ति की आर्थिक स्थिति खराब होती जाती है, सामाजिक स्तरीकरण में उसका स्तर भी नीचा होता जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आजकल धन या सम्पत्ति ही व्यक्ति की सामाजिक स्थिति का प्रमुख निर्णायक है।

6. प्रजाति-डेविस (Davis) ने लिखा है कि "व्यक्ति में उसके प्रजाति (Race) के गुण होते हैं। अत: उसमें प्रजातीय गुणों के आधार पर उसे एक पद दिया जा सकता है।" उदाहरण के लिए अमेरिका में श्वेत (सफेद या गोरे) लोगों की तुलना में नीग्रो लोगों को जन्म से निम्न पद प्रदान किया जाता है, क्योंकि वहाँ ऐसा माना जाता है कि वे निम्न प्रजाति के वंशज है। इसी प्रकार अवैध या अनैतिक बच्चों को भी समाज में हेय दृष्टि से देखा जाता है। भारतवर्ष में भी प्रजातीय आधार के अनुसार श्वेत प्रजाति के सदस्यों (ब्राह्मणों) की स्थिति अन्य जातियों से श्रेष्ठ थी तथा उनके कार्य भी उच्च स्तर के थे, जबकि काली प्रजाति के सदस्यों (शूद्रों) की सामाजिक स्थिति अत्यन्त निम्न थी और उनको बहुत ही निम्न स्तर के कार्य करने पड़ते थे।

प्रस्थिति और भूमिका का समाजशास्त्रीय महत्त्व
(Sociological Importance of Status and Role)

1. प्रस्थिति और भूमिकायें मिलकर समाज व्यवस्था का निर्माण करते हैं।
2. प्रस्थिति व भूमिकायें समाज में श्रम विभाजन कर देती हैं। इससे समाजिक कार्य सरल बन जाते हैं।
3. इनसे सामाजिक नियंत्रण बनाये रखने में सहायता मिलती हैं, क्योंकि इनसे सम्बन्धित सामाजिक नियम और प्रतिमान होते हैं। व्यक्ति से आशा की जाती है कि उनके अनुरूप आचरण करे।
4. ये व्यक्ति का समाजीकरण करती हैं। व्यक्ति इनके अनुरूप आचरण करना सीखता है।

नोट

5. प्रस्थिति और भूमिकाओं द्वारा व्यक्ति की क्रियाओं को मार्गदर्शन प्राप्त होता है। ये व्यक्ति को बताती हैं किस प्रस्थिति में उसे किस प्रकार की क्रिया का निर्वाह करना होगा।
6. इनके द्वारा हम किसी भी व्यक्ति के व्यवहार का पूर्वानुमान सहज ही लगा सकते हैं।
7. भूमिकाओं का निर्वाह समाज में प्रकार्यात्मक आवश्यकतायें (Functional Requirement) पूर्ण करता है। इससे समाज में निरन्तरता और स्थिरता बनी रहती है।
8. प्रस्थितियों से व्यक्ति में जागरूकता और उत्तरदायित्व की भावना का उदय होता है।
9. समाज में ऊँची-नीची प्रस्थितियाँ पाई जाती है। वे व्यक्ति को प्रयत्न करने की प्रेरणा देती हैं। जब व्यक्ति प्रयत्न करता है तो उसकी प्रगति होती है।

2.15 सारांश (Summary)

- समाज, समाजशास्त्र में केन्द्रीय महत्त्व का शब्द है। इसे समझे बिना समाजशास्त्र को समझना कठिन है। समाजशास्त्र, समाज का विज्ञान है। अतः समाज, समाजशास्त्र की सबसे महत्त्वपूर्ण अवधारणा है।
- "समाज स्वयं एक संघ है, एक संगठन है, औपचारिक सम्बन्धों का एक योग है, जिसमें सहयोगी व्यक्ति परस्पर आबद्ध हैं।"
- **किंग्सले डेविस** (K. Devis) ने स्पष्ट लिखा है–"संस्कृति के आधार पर मानव समाज और पशु समाज में अन्तर किया जा सकता है। मानव-समाज अपनी संस्कृति के कारण ही पशु समाज की तुलना में मानसिक दृष्टि से ऊँचा है। उसके पास साहित्य, कला, भाषा आदि अनेक गुण हैं।"
- **डॉ॰ कौशल कुमार राय** ने कहा है, "गांव वह समुदाय है जो अपेक्षाकृत समरसता, अनौपचारिक, प्राथमिक समूहों की प्रधानता, जनसंख्या के कम घनत्व और मुख्य व्यवसाय के रूप में कृषि की विशेषताओं से युक्त होता है।"

2.16 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. समाज से क्या समझते हैं? समाज की विशेषताएँ बताएँ।
2. मानव तथा पशुसमाज की विशेषताओं का वर्णन करें एवं इन दोनों के अंतर को स्पष्ट करें।
3. समुदाय से क्या समझते हैं? समुदाय के संबंध में मैकाइवर के विचार स्पष्ट करें।
4. संघ या समिति को विस्तार से समझाएँ।
5. समिति की परिभाषा दें तथा इसकी विशेषताओं का वर्णन करें।
6. समूह से क्या अभिप्राय है? इसके प्रकारों का विशद् वर्णन करें।
7. अंतःसमूह तथा बाह्य समूह का वर्णन करें।
8. सामाजिक प्रस्थिति क्या है? सामाजिक प्रस्थिति के प्रकारों का वर्णन करें।

2.17 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. समाजशास्त्र के सिद्धांत–*राधिका गोयल, सुरभि।*
2. समाजशास्त्र का परिचय–*वीरेन्द्र प्रकाश, पंचशील प्रकाशन।*
3. समाजशास्त्र के सिद्धांत–रामनाथ शर्मा एवं राजेन्द्र कुमार शर्मा, एटलांटिक पब्लिशर्स।

नोट

इकाई–3: सामाजिक संस्थाएँ (Social Institutions)

संरचना (STRUCTURE)

अनुक्रमणिका (Contents)

3.1 उद्देश्य (Objectives)
3.2 प्रस्तावना (Introduction)
3.3 विवाह का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Marriage)
3.4 विवाह के भेद या प्रकार (Types or Kinds of Marriage)
3.5 परिवार (Family)
3.6 परिवार के कार्य एवं सामाजिक महत्त्व (Social Importance and Functions of Family)
3.7 परिवार के भेद या प्रकार (Kinds or Types of Family)
3.8 नातेदारी (Kinship)
3.9 नातेदारी की रीतियाँ (Kinship Usages)
3.10 धर्म का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Religion)
3.11 पूर्व-आधुनिक समाजों में धर्म का उद्भव (Origin of Religion in Pre-modern Societies)
3.12 धर्म की सामाजिक उपयोगिता (प्रकार्य) [Social Utility (Functions) of Religion]
3.13 धर्म एवं विज्ञान (Religion and Science)
3.14 धर्म की सामाजिक अनुपयोगिता (हानियाँ) [Social Unusefulness (Demerits) of Religion]
3.15 धर्म में आधुनिक प्रवृतियाँ (Recent Trends in Religion)
3.16 धार्मिक एवं लौकिक (Religious and Secular)
3.17 धर्म और समाज (Religion and Society)
3.18 सारांश (Summary)
3.19 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
3.20 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

3.1 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे :

- विवाह तथा विवाह के भेद या प्रकार को समझने में;
- परिवार तथा परिवार के कार्य एवं सामाजिक महत्त्व को समझने में;
- नातेदारी तथा नातेदारी की रीतियों को समझने में।

3.2 प्रस्तावना (Introduction)

नोट

बी बर्ट्रेण्ड रसेल का कथन है, "विवाह दो व्यक्तियों (स्त्री व पुरुष) के परस्पर सम्मिलन से कहीं अधिक गम्भीर है। यह एक संस्था है जो वस्तुत: बच्चों को जन्म देकर समाज के ताने-बाने का निर्माण करती है और जिसका महत्त्व पुरुष की वैयक्तिक भावनाओं से अधिक व्यापक है।" इस विवाह संस्था का अलग-अलग समाज में अलग-अलग स्वरूप प्रकट होता है—कहीं एक पुरुष से एक स्त्री का विवाह कहीं एक पुरुष से एकाधिक स्त्रियों का विवाह, कहीं एक स्त्री से एकाधिक पुरुषों का विवाह और कहीं पुरुषों के एक समूह से स्त्रियों के एक समूह का विवाह। उसी प्रकार जीवनसाथी का चुनाव कहीं हरण द्वारा, कहीं क्रय द्वारा, तो कहीं सेवा या फिर विनिमय द्वारा होता है। यह विवाह-संस्था बड़े महत्त्व की है और बड़ी रोचक भी है। आइए, इस अध्याय में इसी के बारे में कुछ जान लें।

परिवार बसाने के लिए दो या अधिक स्त्री-पुरुष में आवश्यक सम्बन्ध (जिसमें यौन-सम्बन्ध भी सम्मिलित है) स्थापित करने और उसे स्थिर रखने की कोई-न-कोई व्यवस्था प्रत्येक समाज में पाई जाती है। इसी को 'विवाह' कहते हैं। विवाह प्रत्येक समाज की संस्कृति का एक आवश्यक अंग होता है, चाहे वह समाज आदिम समाज हो या सभ्य समाज; क्योंकि यह वह साधन है जिसके आधार पर समाज की प्रारम्भिक इकाई—'परिवार'—की स्थापना होती है। विवाह के सम्बन्ध में और कुछ जानने से पूर्व इसके अर्थ को समझना अति आवश्यक है।

3.3 विवाह का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Marriage)

विवाह समाज द्वारा मान्यता-प्राप्त तरीके से स्त्री-पुरुष की यौन सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करने, उसे एक निश्चित ढंग से नियन्त्रित करने व बच्चों को जन्म देने तथा उनका लालन-पालन करने की व्यवस्था है। दूसरे शब्दों में, विवाह वह संस्था है जिसके द्वारा स्त्री व पुरुष का यौन-सम्बन्ध समाज द्वारा मान्य तरीकों से व्यवस्थित होता है तथा परिवार को बसाने और बच्चों को जन्म देने व उनका लालन-पालन करने का उद्देश्य पूरा किया जाता है। वास्तव में विवाह परिवार को स्थाई रूप देने वाली प्रमुख संस्था है।

श्री बोगार्डस (Bogardus) ने भी विवाह की परिभाषा करते हुए लिखा है, **"विवाह स्त्रियों और पुरुषों को पारिवारिक जीवन में प्रवेश कराने वाली संस्था है।"**

श्री वेस्टरमार्क (Westermarck) के शब्दों में, **"विवाह एक या अधिक पुरुषों का, एक या अधिक स्त्रियों के साथ होने वाला वह सम्बन्ध है जिसे प्रथा या कानून स्वीकार करता है और जिसमें विवाह करने वाले व्यक्तियों में और उनसे उत्पन्न सम्भावित बच्चों के बीच में एक-दूसरे के प्रति होने वाले अधिकारों और कर्त्तव्यों का समावेश होता है।"**

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर कहा जाता है कि **विवाह समाज द्वारा मान्यता प्राप्त किसी प्रथा या नियम के अनुसार दो या अधिक स्त्री-पुरुष के यौन-सम्बन्धों को नियमित करने की वह संस्था है जिसका उद्देश्य घर बसाना तथा बच्चों के लालन-पालन के लिए एक स्थाई आधार प्रदान करना है।**

विवाह के सामान्य उद्देश्य (General Aims of Marriage)

प्राय: विभिन्न समाजों में विवाह के भिन्न-भिन्न उद्देश्य होते हैं, फिर भी विवाह के कुछ ऐसे सर्वसामान्य उद्देश्यों का वर्णन किया जा सकता है जो प्राय: सभी समाजों में सामान्य रूप से पाए जाते हैं :

1. **यौन-इच्छाओं की पूर्ति—**भूख के बाद मानव की एक प्रमुख आवश्यकता यौन-इच्छाओं की पूर्ति होती है। सभी समाजों में इन इच्छाओं की पूर्ति विवाह का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य होता है। मनुष्य की इन इच्छाओं की पूर्ति विवाह न करने पर भी हो सकती है, परन्तु यदि समाज में ऐसा करने दिया जाए तो उस समाज में यौन-व्यभिचार और अनैतिकता की कोई सीमा नहीं रहेगी। ऐसी स्थिति से बचने के लिए ही प्रत्येक समाज में मान्य तरीके से अर्थात् विवाह द्वारा मनुष्य की यौन-इच्छाओं की पूर्ति करने का प्रयत्न किया जाता है।

2. **सन्तानोत्पत्ति और बच्चों का पालन-पोषण**–प्राय: सभी समाजों में सन्तानोत्पत्ति भी विवाह का एक प्रमुख उद्देश्य माना जाता है। मनुष्य अपने बच्चों में अपनी आशाओं को फलीभूत होते देखना चाहता है, साथ ही वंश की निरन्तरता भी सन्तानोत्पत्ति द्वारा ही बनी रह सकती है। विवाह के द्वारा ही सन्तानों की उत्पत्ति सम्भव है। यद्यपि बिना विवाह किए हुए भी सन्तानों की उत्पत्ति हो सकती है, परन्तु कोई भी समाज ऐसी सन्तानों को स्वीकार नहीं करता। सन्तानोत्पत्ति के बाद एक नवीन समस्या यह उत्पन्न होती है कि उन असहाय बच्चों का लालन-पालन कैसे हो। इस कारण सन्तानोत्पत्ति के बाद बच्चों के पालन-पोषण के लिए एक घर, निवास या गृहस्थी की आवश्यकता होती है। विवाह की उत्पत्ति इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए भी हुई है।
3. **अन्य सामाजिक और आर्थिक उद्देश्य**–मनुष्य केवल यौन-सम्बन्धी इच्छाओं की पूर्ति के लिए ही जीवित नहीं रहता, उसकी अन्य अनेक सामाजिक और आर्थिक आवश्यकताएँ भी होती हैं जिनके लिए उसे किसी-न-किसी प्रकार के संगठन की आवश्यकता होती है। इस संगठन का एक प्राथमिक आधार परिवार होता है, जो विवाह के द्वारा ही बसाया जाता है। दूसरे शब्दों में, विवाह का एक सामाजिक उद्देश्य यह है कि इसके द्वारा समाज और संस्कृति दोनोंके अस्तित्व को बनाए रखना सम्भव होता है। इसी प्रकार कुछ समाजों में आर्थिक सहयोग भी विवाह का उद्देश्य होता है। उदाहरणार्थ, अनेक जनजातियों में विवाह इसलिए किया जाता है कि पत्नी आकर खेती के कार्य में हाथ बँटाएगी।

3.4 विवाह के भेद या प्रकार (Types or Kinds of Marriage)

विवाह के दो प्रमुख भेद या प्रकार होते हैं–(1) एक-विवाह (Monogamy) और (2) बहु विवाह (Polygamy)। बहु-विवाह के **तीन** भेद किए जा सकते हैं–(अ) बहुपति-विवाह (Polyandry), (ब) बहुपत्नी-विवाह (Polygyny) और (स) समूह-विवाह (Group Marriage)। इन सभी का विवरण निम्नलिखित है :

(अ) एक-विवाह (Monogamy)

एक विवाह उस विवाह को कहा जाता है जिसमें एक स्त्री या पुरुष केवल एक पुरुष या स्त्री से ही विवाह करता है और कोई भी अपने प्रथम जीवनसाथी के जीवित रहते हुए दूसरा विवाह नहीं कर सकता है। कुछ विद्वानों का मत है कि वास्तव में उसी विवाह को एक-विवाह कहना उचित होगा जिसमें न केवल एक व्यक्ति की एक ही पत्नी या पति हो, बल्कि इनमें से किसी की मृत्यु हो जाने पर दूसरा पक्ष (विधुर या विधवा) विवाह न करे। परन्तु सामान्यत: एक पति या पत्नी के जीवित रहते हुए किसी दूसरे से विवाह न करना ही एक-विवाह माना जाताहै। जिन समाजों में सामान्य रूप में स्त्रियों और पुरुषों का अनुपात बराबर है, वहाँ प्राय: एक-विवाह प्रथा ही पाई जाती है। यद्यपि यह कोई निश्चित या अन्तिम नियम नहीं है। वास्तव में आधुनिक समाजों में इस प्रकार का विवाह सर्वस्वीकृत प्रतिमान के रूप में प्रतिष्ठित होता जा रहा है।

(ब) बहु-विवाह (Pologamy)

बहु-विवाह निम्नलिखित दो प्रकार का होता है :

(i) बहुपति-विवाह (Polyandry)

बहुपति-विवाह वह विवाह है जिसमें एक स्त्री के साथ दो या अधिक पुरुषों का विवाह होता है। दूसरे शब्दों में, एक स्त्री के एकाधिक पतियों का होना बहुपति-विवाह का द्योतक है। भारत में इस प्रकार के विवाह का प्रचलन बहुत कम देखने को मिलता है। कुछ जनजातीय समूहों में ही बहुपति-विवाह का प्रचलन है। केरल के टियान, कुसुम्ब, कोटा, कुम्मल, लडारवी बोट, नीलगिरी पर्वत के टोडा और देहरादून जिले में जौनसार-बावर की खस जनजाति में इस प्रकार के विवाह के दर्शन होते हैं।

बहुपति-विवाह की विशेषताएँ–बहुपति-विवाह की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

1. बहुपति-विवाह में एक स्त्री एक से अधिक पतियों से विवाह-सम्बन्ध स्थापित करती है।

2. ये एकाधिक पति आपस में भाई-भाई भी हो सकते हैं और नहीं भी हो सकते हैं, अर्थात् कभी-कभी भाइयों के अतिरिक्त एक गोत्र के अन्य व्यक्ति भी मिलकर इस प्रकार का विवाह कर लेते हैं।
3. स्त्री पर प्रत्येक भाई का अधिकार होता है, परन्तु बड़े भाई का अधिकार सबसे अधिक पाया जाता है।

नोट

4. मातृसत्तात्मक परिवारों (matriarchal families) में स्त्री अपने पतियों को स्वयं चुनती है और प्रत्येक पति के पास बारी-बारी से कुछ समय के लिए रहती है, परन्तु जब वह एक पति के साथ रह रही है तो उस दौरान उस पर अन्य पतियों का कोई अधिकार नहीं होता।
5. जहाँ एक परिवार में एक से अधिक स्त्रियाँ हैं वहाँ प्रत्येक भाई को अपने सब भाइयों की पत्नियों के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की स्वतन्त्रता होती है।
6. सन्तानों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बड़े भाई का या प्रथम पति का दूसरे सब भाइयों या पतियों की तुलना में अधिक अधिकार होता है।

बहुपति-विवाह के प्रचलन के कारण–इस प्रथा के प्रचलन के निम्नलिखित दो कारण हो सकते हैं :

1. बहुपति-विवाह का एक सामान्य कारण एक समाज में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या कम होना बताया जाता है। जहाँ पर स्त्रियों की कमी है वहाँ प्रत्येक पुरुष के लिए यह सम्भव नहीं होता कि वह अपने लिए एक पृथक् पत्नी प्राप्त कर सके। इसीलिए एकाधिक पुरुष मिलकर एक स्त्री से विवाह कर लेते हैं, परन्तु आज अधिकतर विद्वान इस बात से सहमत नहीं हैं।
2. अधिकतर लोग इस प्रथा का कारण निर्धनता मानते हैं। चूँकि कुछ प्रदेशों में आर्थिक जीवन इतना कठोर तथा संघर्षपूर्ण होता है कि एक व्यक्ति के लिए पृथक् रूप से परिवार की स्थापना सम्भव नहीं है, इस कारण एकाधिक पुरुष मिलकर एक परिवार की स्थापना करते हैं।

भारत में बहुपति-विवाह के भेद–भारत में बहुपति-विवाह के दो प्रमुख प्रकार हैं :

(1) भ्रातृक बहुपति-विवाह (Adelphic or Fraternal Polyandry)–**जब एकाधिक भाई आपस में मिलकर एक ही स्त्री से विवाह करते हैं तो उसे भ्रातृक बहुपति-विवाह कहते हैं।** इस प्रकार के विवाह नीलगिरी की टोडा और जौनसार बावर की खस जनजातियों में पाए जाते हैं। इस सन्दर्भ में इन जनजातियों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :

(क) टोडा–टोडा लोगों में जब एक व्यक्ति का विवाह किसी एक स्त्री से होता है तो उस व्यक्ति के सभी भाई, यहाँ तक कि वे भाई भी जो विवाह के बाद पैदा होते हैं, उस स्त्री के पति समझे जाते हैं। ये पति प्राय: सगे भाई और कभी-कभी गोत्र भाई भी होते हैं। पहले समय में ये पति भिन्न गोत्रों के भी होते थे। जब पत्नी गर्भवती होती है तो सबसे बड़ा टोडा पति एक संस्कार–'पुरसुतपिमि' (Pursutpimi)–तीर-धनुष के द्वारा करता है, जिससे सामाजिक तौर पर उसे उस बच्चे का पिता समझा जाता है। स्त्री के दूसरी बार गर्भवती होने पर क्रम में दूसरा पति उसी प्रकार से संस्कार द्वारा दूसरी सन्तान का पिता बनता है, इस प्रकार यह क्रम चलता रहता है।

(ख) खस–भ्रातृक बहुपति-विवाह प्रथा का दूसरा प्रमुख उदाहरण जौनसार-बावर की खस जनजाति का है। इनमें जब बड़ा भाई विवाह करता है तब उसकी पत्नी सभी भाइयों की पत्नी समझी जाती है। छोटे भाई यदि विवाह के समय बच्चे हैं या विवाह के बाद जन्म होता है तो वे भी युवा होने पर स्त्री के पति समझे जाते हैं। अगर छोटा भाई बड़ा होने पर किसी दूसरी स्त्री से विवाह करता है तो बड़े भाई की स्त्री और छोटे भाइयों की स्त्रियाँ, सब सभी भाइयों की बराबर पत्नियाँ समझी जाती हैं। जौनसार-बावर के सामाजिक विधान 'दस्तूर-उल-अम्ल' (Dastor-ul-aml) के अनुसार, 'किसी भी छोटे भाई को अपने लिए पृथक् या अतिरिक्त पत्नी से विवाह करने की आज्ञा नहीं है।' यद्यपि विवाह होने के पश्चात् एक स्त्री सभी भाइयों की पत्नी समझी जाती है, फिर भी उस पर बड़े भाई का अधिकार विशेष रूप से होता है। सम्पत्ति आदि के अधिकार भी बड़े भाई को ही अधिक प्राप्त होते हैं। संक्षेप में, बड़ा भाई ही परिवार का कर्ता होता है। पिता बनने का एक विशेष सामाजिक तरीका होता है। **श्री फ्रेजर** (Frazer) के अनुसार, सबसे पहला लड़का बड़े भाई का, दूसरा लड़का उससे छोटे भाई का तथा इसी क्रम में अन्य लड़के अन्य भाइयों के पुत्र समझे जाते हैं। **डॉ. मजूमदार** (Dr. Majumdar) ने बच्चों

द्वारा अपने पिताओं को सम्बोधित करने के विषय में लिखा है कि अगर परिवार में तीन भाई हैं तो बच्चे सबसे बड़े को 'बारी बाबा' (Bari Baba), दूसरे को 'डाँगर बाबा' (Dangar Baba) तथा तीसरे को 'भेदी बाबा' (Bhedi Baba) आदि कहकर पुकारते हैं।

नोट

चूँकि इन समाजों (टोडा व खस) में पुरुषों की प्रभुता होती है तथा स्त्री और बच्चों का निवास-स्थान पुरुष के घर में होता है, अत: इस प्रकार की बहुपति-प्रथा को 'पितृसत्तात्मक बहुपति-विवाह' (partriarchal polyandry) भी कहा जाता है।

2. अभ्रातृक बहुपति-विवाह (Non-fraternal Polyandry)–**अभ्रातृक बहुपति-विवाह में पतियों का आपस में भाई होना आवश्यक नहीं होता। स्त्री भाइयों के अतिरिक्त अन्य किसी भी व्यक्ति को पति के रूप में चुन सकती है।** स्त्री अपने पतियों के पास बारी-बारी से विभिन्न समयों पर उनके घरों में जाकर रहती है या पति अपने-अपने परिवारों में रहते हुए भिन्न-भिन्न समय पर पत्नी के घर जाकर उससे यौन-सम्बन्ध स्थापित करते हैं। जब तक स्त्री किसी एक पति के पास रहती है, तब तक अन्य पतियों का उस पर अधिकार नहीं होता है।

अभ्रातृ तक बहुपति-विवाह का प्रचलन मालाबार के नायरों में इस शताब्दी के प्रारम्भ तक था। यहाँ की इस प्रथा को 'मातृसत्तात्मक बहुपति-विवाह' (matriarchal polyandry) कहा जाता है क्योंकि इसके अन्तर्गत समस्त सत्ता स्त्री की ही होती थी। सामान्य रूप से मातृसत्तात्मक बहुपति-विवाह के अन्तर्गत एक 'नायर' लड़की का विवाह एकाधिक 'नम्बूदरी' लड़कों के साथ कर दिया जाता था। विवाह के बाद भी लड़की अपने परिवार में रहती थी और अपनी इच्छानुसार कभी-कभी अपने पतियों को अपने घर में आकर रहने की आज्ञा देती थी। पिता का अधिकार बच्चों पर या पत्नी की सम्पत्ति पर नहीं होता था, परिवार की मुखिया स्त्री ही सम्पत्ति की देख-रेख करती थी।

बहुपति-विवाह के कृत्य या गुण–इस प्रथा के मुख्य कृत्य या गुण निम्नलिखित बताए गए हैं :

1. बहुपति-विवाह समाज में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या कम होने के कारण उत्पन्न कन्या-मूल्य की समस्या को हल कर सकता है।
2. यदि समाज में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों की संख्या अधिक है तो बहुपति-विवाह में इस समस्या का हल निकाला जा सकता है।
3. बहुपति-विवाह निर्धनता के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। कई भाइयों या कई पुरुषों की एक ही पत्नी होने के कारण पत्नी का भरण-पोषण आसानी से सम्भव हो जाता है।
4. बहुपति-विवाह के द्वारा स्थापित परिवारों में स्त्रियों की स्थिति काफी अच्छी होती है।

बहुपति-विवाह के दुष्परिणाम या हानियाँ–बहुपति-विवाह प्रथा के अनेक दुष्परिणामों में से निम्नलिखित प्रमुख हैं :

1. सन्तानों की संख्या कम हो जाना अर्थात् कम सन्तान पैदा होना बहुपति-प्रथा का एक प्रमुख दुष्परिणाम है।
2. इस प्रथा के कारण लड़कियों का जन्म लड़कों की अपेक्षा कम होता है जिसका एक स्वाभाविक परिण ााम यह होता है कि बहुपति-प्रथा चक्र निरन्तर चलता रहता है।
3. इस प्रथा का तीसरा दुष्परिणाम व हानि स्त्रियों में बाँझपन का पनपना है जिससे आगे चलकर जनसंख्या सम्बन्धी समस्या उत्पन्न हो सकती है।
4. शारीरिक दृष्टिकोण से इस प्रथा का दुष्परिणाम स्त्रियों में गुप्त रोगों का बढ़ना या पनपना है।
5. सामाजिक दृष्टिकोण से इस प्रथा के कारण विवाह-विच्छेद की संख्या काफी बढ़ जाती है।

(ii) बहुपत्नी विवाह (Polygyny)

एक पुरुष का दो या दो से अधिक स्त्रियों के साथ विवाह बहुपत्नी-विवाह है। आर्थिक कठिनाइयों के कारण सामान्य रूप से बहुपत्नी-विवाह की प्रथा भारतीय जनजातियों में बहुत कम पाई जाती है। भारत में हिन्दुओं में यह प्रथा काफी समय पूर्व पाई जाती थी। धार्मिक वर्गों में विशेषकर राजाओं में बहुपत्नी-विवाह का खूब प्रचलन

नोट

देखने को मिलता था। मुसलमानों में आज भी इस प्रथा का अच्छा रूप देखने को मिलता है। इसके अतिरिक्त, भारत में नागा, गोंड, बैंगा, खस, लुशाई आदि जनजातियों में भी इस प्रथा की कुछ झलक देखने को मिलती है।

बहुपत्नी-विवाह के प्रचलन के कारण–इस प्रथा के प्रचलन के कुछ मुख्य कारण इस प्रकार हैं :

1. समाज में पुरुषों की संख्या कम होना बहुपत्नी-विवाह का एक साधारण कारण बताया जाता है, परन्तु आज अधिकतर विद्वान इससे सहमत नहीं हैं।
2. स्त्री की अपनी इच्छा भी बहुपत्नी-विवाह का एक कारण हो सकता है। वह स्वयं यह चाह सकती है कि कठिन जनजातीय आर्थिक जीवन से सम्बन्धित कार्यों में मदद करने के लिए परिवार में अधिक संख्या में स्त्रियाँ हों।
3. बहुपत्नी-विवाह का एक अन्य कारण आर्थिक हो सकता है। पहाड़ी और पठारी भागों में जीविकोपार्जन हेतु कठोर परिश्रम करना पड़ता है और इसके लिए अनेक व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। इसी कारण बहुपत्नी-विवाह कर लिया जाता है क्योंकि इसके द्वारा एक परिवार को पत्नियों के रूप में मुफ्त में ही काम करने वाली विश्वस्त श्रमिक मिल जाती हैं।
4. बहुपत्नी-प्रथा के अन्य सहायक कारण सन्तान की कामना, अधिक स्त्रियों द्वारा समाज में मिलने वाली प्रतिष्ठा, पुरुषों की अधिक कामवासना आदि भी हैं।

बहुपत्नी-विवाह के गुण, लाभ या कृत्य–इस प्रथा के गुण या कार्य निम्नलिखित बताए जाते हैं :

1. बच्चों की देख-रेख अनेक स्त्रियाँ मिलकर अच्छी तरह से कर सकती हैं।
2. अत्यधिक कामी पुरुषों को परिवार में ही अनेक स्त्रियाँ मिल जाती हैं, इस कारण यौन-सम्बन्धी अनैतिकता एवं व्यभिचार नहीं फैल पाता है।
3. बहुपत्नी-विवाह से सन्तानें अच्छी होती हैं क्योंकि अधिकतर शक्तिशाली और धनवान व्यक्ति ही बहुपत्नी-विवाह करते हैं।

बहुपत्नी-विवाह के दुष्परिणाम या हानियाँ–इस प्रथा की हानियाँ या दुष्परिणाम निम्नलिखित हैं :

1. परिवार पर आर्थिक बोझ बहुत अधिक पड़ जाता है।
2. बहुपत्नी-विवाह स्त्रियों की स्थिति को अत्यधिक गिरा देता है।
3. परिवार में अधिक स्त्रियों का अर्थ ही परिवार का वातावरण ईर्ष्या, द्वेष और लड़ाई-झगड़े से कलुषित होना है।

समूह विवाह (Group Marriage)

कुछ विद्वानों का विचार है कि मानव-जीवन के प्रारम्भ में विवाह नाम की कोई संस्था नहीं थी और लोग 'कामाचार' (promiscuity) की स्थिति में रहते थे। दूसरे शब्दों में, उस समय यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। उसके बाद एक प्रकार के 'समूह-विवाह' का प्रचलन हुआ, जिसके अनुसार एक समूह के सभी पुरुषों का विवाह दूसरे समूह की सभी स्त्रियों से होता था और इनमें से प्रत्येक पुरुष प्रत्येक स्त्री के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित कर सकता था। विवाह का वह स्वरूप आज भी ऑस्ट्रेलिया के आदिवासियों के जीवन की एक अनोखी विशेषता है। वहाँ एक कुल की स्त्रियाँ दूसरे कुल की भावी पत्नियाँ समझी जाती हैं और ये ऑस्ट्रेलिया के आदिवासी उन समस्त पुरुषों के लिए, जो उनकी माताओं के भावी पति हो सकते हैं, 'पिता' शब्द का प्रयोग करते हैं। भारत में इस प्रकार का विवाह किसी भी समाज में नहीं पाया जाता है।

विवाह-सम्बन्धी निषेध (Prohibitions regarding Marriage)

विवाह की संस्था को नियमित तथा स्थिर बनाने के लिए विवाह सम्बन्धी निषेध और नियम प्रत्येक समाज में पाए जाते हैं, चाहे वह जनजातीय समाज हो या आधुनिक सभ्य समाज। इनमें से कुछ प्रमुख निषेधों का उल्लेख निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है :

1. निषिद्ध निकटाभिगमन (Incest Toboo)—यद्यपि विवाह के माध्यम से ही निकट सम्बन्धियों या रिश्तेदारों का उद्‌भव (उत्पत्ति) होता है, फिर भी मानव समाजों में अनेक निकट के रक्त-सम्बन्धियों से विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने की मनाही होती है। स्पष्ट रूप में, प्रत्येक समाज में किसी-न-किसी रूप में अति निकट के रक्त-सम्बन्धियों से विवाह-सम्बन्ध या यौन-सम्बन्ध स्थापित करना निषिद्ध होता है। इस नियम को ही निषिद्ध निकटाभिगमन या निकटाभिगमन-नियमन (incest regulation) कहते हैं। वैसे तो इस नियम में कुछ अन्य व्यक्ति भी शामिल किए जाते हैं, परन्तु सामान्यत: पिता और पुत्री में, माता और पुत्र में तथा सगे भाई-बहनों में विवाह सभी समाजों में निषिद्ध है।

2. अन्तर्विवाह (Endogamy)—अन्तर्विवाह वह नियम है जिसके अनुसार एक व्यक्ति को अपने समूह के अन्दर ही विवाह करना होता है। यह समूह व्यक्ति की अपनी जाति, उपजाति, प्रजाति, जनजाति, गाँव या कभी-कभी गोत्र भी हो सकता है। **श्री फॉल्सम** (Folsom) ने अन्तर्विवाह को परिभाषित करते हुए लिखा है, **"अन्तर्विवाह वह नियम है जिसके अनुसार एक व्यक्ति को अपनी ही जाति या समूह में विवाह करना पड़ेगा, तथापि अन्तर्विवाह निकट के रक्त-सम्बन्धियों में विवाह की अनुमति नहीं देता।"**

भारत में हिन्दुओं, मुसलमानों और सभी जनजातियों में अन्तर्विवाह-सम्बन्धी नियम पाए जाते हैं। हिन्दुओं में वर्ण और जाति के अन्दर ही विवाह करने की आज्ञा होती है। इस देश के मुसलमानों में भी प्राय: शिया और सुन्नी में से प्रत्येक समूह अन्तर्विवाही समूह होता है। इतना ही नहीं, जनजातियों में प्राय: प्रत्येक जनजाति अन्तर्विवाही समूह होती है। कुछ जनजातियाँ तो गोत्र-अन्तर्विवाही भी होती हैं। उदाहरणार्थ, टोडा जनजाति के 'तारथारोल' और 'तिवालियल' अन्तर्विवाही समूह हैं। उसी प्रकार भील जनजाति के 'उजले-भील' और 'मैले-भील' भी अन्तर्विवाह के नियम को मानते हैं। जहाँ तक अन्तर्विवाह के कारणों का प्रश्न है, यह विभिन्न समूहों की विशेष परिस्थितियों पर निर्भर करता है। अपरिचित लोगों का भय, अशिक्षा, कुसंस्कार, यातायात के साधनों का अभाव आदि भारत की जनजातियों में पाए जाने वाले अन्तर्विवाह के नियमों के कारण हैं। हिन्दुओं में जाति-प्रथा आदि अन्तर्विवाह के कारण हैं।

3. बहिर्विवाह (Exogamy)—बहिर्विवाह अन्तर्विवाह का विपरीत रूप है, जिसके अनुसार **एक व्यक्ति को अपने समूह से बाहर ही विवाह करने की आज्ञा दी जाती है।** यह समूह अपनी जाति या उपजाति, जनजाति, गाँव, गोत्र, पिण्ड, प्रवर या टोटम-समूह हो सकता है जिसके बाहर विवाह करने को कहा जाता है। जनजातियों में प्राय: अपने गोत्र और टोटम-समूह के अन्दर विवाह नहीं होता है। चूँकि एक टोटम और गोत्र के सभी सदस्य अपने को एक सामान्य टोटम (पशु, पक्षी या पौधे का नाम जिसके प्रति एक समूह के सदस्य विशेष श्रद्धा-भाव रखते हैं तथा उसके साथ अपना एक विशेष सम्बन्ध मानते हैं) या गोत्र से सम्बन्धित मानने के कारण अपने को एक-दूसरे का भाई-बहन मानते हैं, अत: आपस में वे कभी भी विवाह नहीं करते। टोटम-बहिर्विवाह का नियम भारतीय जनजातियों में प्राय: सार्वभौम है और इसका उल्लंघन अक्षम्य अपराध है। लुशाई, कूकी आदि जनजातियों में गोत्र के आधार पर बहिर्विवाह-सम्बन्ध निषिद्ध नहीं है। इसके विपरीत, खासी जनजाति में इस नियम (गोत्र-बहिर्विवाह) को तोड़ना सर्वनाश के समान है। इसी प्रकार, छोटा नागपुर की मुण्डा तथा अन्य जनजातियाँ गाँव-बहिर्विवाह (village exogamy) के नियमों को मानती हैं, अर्थात् अपने गाँव की लड़की से विवाह नहीं करतीं। भारतीय हिन्दुओं में गोत्र, सपिण्ड और प्रवर-बहिर्विवाह सम्बन्धी नियमों का पालन किया जाता है।

3.5 परिवार (Family)

मानव-समाज का इतिहास परिवार का ही इतिहास है क्योंकि मानव-जीवन के प्रारम्भ से ही परिवार उसके साथ है और किसी न किसी रूप में यह सांस्कृतिक विकास सभी स्तरों पर पाया जाता है। इतना ही नहीं, **श्री चार्ल्स कूले** (Charles Cooley) ने भी परिवार को एक ऐसा प्राथमिक समूह माना है जिसमें बच्चे के सामाजिक जीवन व आदर्शों का निर्माण होता है। इस रूप में परिवार व्यक्ति के समाजीकरण (socialization) का एक प्रमुख साधन भी है। एक बच्चा किसी-न-किसी परिवार में ही जन्म लेता है और जीवन-पर्यन्त परिवार ही उसमें सामाजिक गुणों का विकास करके उसके व्यक्तित्व को समाज के अनुरूप ढालता है। परिवार ही उसे समाज में प्रचलित

नोट

आचार-विचार, रीति-नीति, आदर्श और विश्वासों से परिचित कराता है और समाज में माने जाने वाले नियमों का ज्ञान एवं पालन करवाता है। शायद कहने की आवश्यकता नहीं कि इस रूप में परिवार सामाजिक नियन्त्रण के एक महत्त्वपूर्ण साधन का पार्ट अदा करता है, परन्तु इसके पूर्व कि इस विषय में विस्तृत अध्ययन किया जाए, परिवार का अर्थ, विशेषताएँ एवं कार्यों आदि की विवेचना असंगत न होगी।

परिवार का अर्थ और परिभाषा (Meaning and Definition of Family)

श्री एलमर (Elmer) ने अपनी पुस्तक *Sociology of Family* में लिखा है कि अंग्रेजी शब्द 'Family' लैटिन के *Famulus* शब्द से निकला है। इस लैटिन शब्द से एक ऐसे समूह का बोध होता है जिसके अन्तर्गत माता और पिता, बच्चे, नौकर और यहाँ तक कि दास (slaves) भी आ जाते हैं। वास्तव में इस शाब्दिक अर्थ से परिवार का वास्तविक अर्थ स्पष्ट नहीं होता। जहाँ तक परिवार के वास्तविक अर्थ का सम्बन्ध है, विद्वानों में एक मत का अभाव है। कुछ विद्वान् यदि परिवार में पति-पत्नी व अविवाहित बच्चे ही सम्मिलित करते हैं, तो कुछ विचारक दादा-दादी, नौकर आदि को भी परिवार का अंग मानते हैं। निम्नलिखित परिभाषाओं से यह और भी स्पष्ट हो जाएगा–

सर्वश्री ऑगबर्न और निमकॉफ (Ogburn and Nimkoff) ने परिवार की परिभाषा करते हुए लिखा है, "बच्चों सहित अथवा रहित एक पति-पत्नी के या किसी एक पुरुष अथवा एक स्त्री के अकेले ही बच्चे सहित एक थोड़े-बहुत स्थायी संघ को परिवार कहते हैं।"

सर्वश्री मैकाइवर और पेज (MacIver and Page) ने परिवार के कार्यों और उद्देश्यों पर बल देते हुए कहा है कि, "परिवार पर्याप्त निश्चित यौन-सम्बन्ध द्वारा परिभाषित एक ऐसा समूह है जो बच्चों को पैदा करने तथा लालन-पालन करने की व्याख्या करता है।"

सर्वश्री बर्गेस और लॉक (Burgess and Locke) के अनुसार, "एक परिवार विवाह, रक्त-सम्बन्ध या गोद लेने के बन्धनों से सम्बद्ध व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जो कि एक गृहस्थी का निर्माण करते हैं और जो एक-दूसरे के साथ अन्त:क्रिया और अन्त:सन्देश करते हुए पति-पत्नी, माता-पिता, लड़के-लड़की व भाई-बहन के रूप में अपने-अपने सामाजिक कार्यों को करते हैं एवं एक सामान्य संस्कृति को बनाते तथा उसकी रक्षा करते हैं।"

भारतीय समाजशास्त्री **डॉ. डी.एन. मजूमदार** (D.N. Majumdar) के शब्दों में, "परिवार ऐसे व्यक्तियों का समूह है जो एक मकान में रहते हैं, रक्त द्वारा सम्बन्धित हैं और स्थान, स्वार्थ तथा पारस्परिक कर्त्तव्य-बोध के आधार पर समान होने की चेतनता या भावना रखते हैं।"

वास्तव में, **परिवार स्त्री-पुरुष के यौन-सम्बन्धों द्वारा संगठित करीब-करीब एक स्थायी संगठन है।** परिवार का अर्थ निम्नलिखित विशेषताओं के वर्णन से और भी स्पष्ट हो जाएगा–

परिवार की प्रमुख विशेषताएँ (Chief Characteristics of Family)

उपरोक्त विवेचन के आधार पर परिवार की कुछ प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है। यह विशेषताएँ निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत की जा सकती हैं–

1. विवाह-सम्बन्ध (Mating relationship)–एक परिवार का जन्म स्त्री-पुरुष के वैवाहिक सम्बन्ध से होता है। यह सम्बन्ध समाज द्वारा स्वीकृत होता है और इसके आधार पर उनमें यौन-सम्बन्ध स्थापित होने के फलस्वरूप जो सन्तान उत्पन्न होती है उसे समाज स्वीकार कर लेता है और वे भी अपने माता-पिता के साथ उस परिवार के सदस्य बन जाते हैं। यह विवाह-सम्बन्ध आजीवन बना रहता है, यदि बीच में विवाह-विच्छेद या मृत्यु के कारण टूट न जाए।

2. कुछ आर्थिक व्यवस्था (Some economic system)–परिवार की एक प्रमुख विशेषता यह भी है कि प्रत्येक परिवार में कोई-न-कोई आर्थिक व्यवस्था अर्थात जीवित रहने के लिए आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करने का साधन अवश्य होता है जिसके द्वारा परिवार के सदस्यों का पालन-पोषण हो सके। इसी दृष्टि से पुरानी कृषि अर्थव्यवस्था के अंतर्गत परिवार उत्पादन का इकाई होता था अर्थात् परिवार के सभी सदस्य मिलकर एक ही जमीन

नोट

पर खेती करते थे। वर्तमान आधुनिक व्यवस्था में परिवार उपभोग की इकाई अर्थात् परिवार के सभी सदस्य चाहे अलग-अलग जगह काम करके कमाते हों, लेकिन वे अपनी कमाई के बड़े हिस्से को परिवार में ही खर्च करते हैं।

3. वंश-नाम की व्यवस्था (A system of nomenclature)—प्रत्येक परिवार में वंश-नाम निश्चित करने का कोई-न-कोई विशेष नियम हुआ करता है जिसके अनुसार एक परिवार के बच्चों का उपनाम (surname) या वंश-नाम निर्धारित होता है और उस परिवार के वंशजों को पहचानने में सहायता मिलती है। यह वंश-नाम मातृवंशीय (matrilineal) या पितृवंशीय (patrilineal) दोनों ही हो सकता है। वैसे हमारे समाज में पितृस्थानीय परिवार अधिक पाए जाते हैं।

4. एक सामान्य निवास (A common habitation)—प्रत्येक परिवार के सदस्यों के रहने के लिए एक सामान्य निवास होता है। ऐसे निवास मातृस्थानीय निवास (Matrilocal residence), जैसे खासी, गारो, नायर आदि लोगों में या पितृस्थानीय निवास (Patrilocal residence), जैसे हमारे सभ्य समाजों में हो सकते हैं। आज के युग में 'नवस्थानीय परिवार' भी विकसित हो गए हैं। इस प्रकार के परिवार में विवाहित दम्पति अपना एक नया निवास बनाकर रहने लगते हैं।

5. सार्वभौमिकता (Universality)—परिवार नामक समिति अन्य सभी सामाजिक समितियों या संगठनों में सबसे अधिक सार्वभौम है। इसका तात्पर्य यह है कि ऐसा कोई समाज या सामाजिक विकास की ऐसी कोई अवस्था, या ऐसा कोई युग नहीं है जहाँ कि परिवार न पाया जाता रहा हो। वास्तव में प्रत्येक स्वाभाविक मनुष्य किसी-न-किसी परिवार का सदस्य है, रहा है और भविष्य में भी रहेगा।

6. रचनात्मक प्रभाव (Formative influence)—परिवार की एक अनोखी विशेषता यह भी है कि परिवार का उसके सदस्यों पर रचनात्मक प्रभाव पड़ता है। शायद इसी कारण **श्री कूले** (Cooley) ने परिवार को एक प्राथमिक समूह (Primary Group) तथा मानव-स्वभाव का निर्माण-क्षेत्र (nursery) माना है।

7. भावनात्मक-आधार (Emotional basis)—परिवार नामक समिति मानव की अनेक स्वाभाविक मूल-प्रवृत्तियों (instincts) पर आधारित होती है। प्रत्येक स्वाभाविक परिवार में पति अपनी पत्नी से प्रेम करता है; पत्नी अपने पति से प्रेम, सहानुभूति की भावनाओं से बँधी होती है और बच्चे आपस में प्रीति की भावना रखते हैं—साथ ही माता-पिता के प्रति सम्मान भी। यही कारण है कि परिवार के सदस्य एक-दूसरे के लिए अपने-अपने हितों की हानि करके भी मदद करने को तैयार होते हैं।

8. सामाजिक ढाँचे में केन्द्रीय स्थिति (Central position in the Social Structure)—परिवार सामाजिक ढाँचे की प्रथम व भौतिक इकाई है। मनुष्य का जन्म, विकास और समाजीकरण परिवार से ही प्रारम्भ होता है और परिवार के प्रसार से ही सम्पूर्ण राष्ट्र या समाज का निर्माण होता है। **श्री अरस्तु** (Aristotle) ने इसीलिए समुदाय की परिभाषा देते हुए लिखा है कि "समुदाय परिवारों का ही योग या संघ है।"

9. सीमित आकार (Limited size)—परिवार का आकार सीमित होता है और इसका कारण भी स्पष्ट है। परिवार के सदस्य वही व्यक्ति हो सकते हैं जिनमें कि वास्तविक या काल्पनिक रक्त-सम्बन्ध हो। वे बच्चे, जो परिवार में पैदा हुए हों या जिन्हें गोद लिया गया हो—वही परिवार के सदस्य होते हैं। इस रूप में परिवार का एक सीमित आकार ही होता है। परिवार एक ऐसी प्राथमिक संस्था है। जहाँ बच्चों के सामाजिक जीवन व आदर्शों का निर्माण होता है।

10. सदस्यों का असीमित उत्तरदायित्व (Unlimited responsibility of the members)—परिवार की एक प्रमुख विशेषता यह भी है कि सदस्यों का अपने परिवार के प्रति असीमित उत्तरदायित्व होता है। इसका अर्थ यह है कि परिवार के लिए किस समय क्या और कितना त्याग करना पड़ेगा, इसका कोई भी निश्चित अन्दाजा नहीं लगाया जा सकता। परिवार के अतिरिक्त किसी दूसरी समिति में व्यक्ति की भूमिका परिभाषित और सीमित होती है पर, परिवार में भूमिका मोटे तौर पर ही परिभाषित होती है। उदाहरण के लिए एक बेटी की भूमिका परिवार में मोटे तौर पर तो परिभाषित होती है, पर अपनी माँ की आकस्मिक मृत्यु होने पर वही बेटी अपने छोटे भाई-बहनों के लिए माँ के समान हो जाती है।

नोट

11. सामाजिक नियम (Social regulation)—चूँकि व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनों ही दृष्टिकोणों से परिवार का महत्त्व अत्यधिक होता है, अतः इस कल्याणकारी व आधारभूत संगठन की रक्षा के लिए समाज अनेक प्रथाओं, सामाजिक निषेधों (taboos) और कानूनों को बनाता एवं लागू करता है। विशेषकर आधुनिक समाजों में ऐसे अनेक नियम हैं जिनके अनुसार मनमाने तौर पर न तो विवाह-सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है और न ही तोड़ा जा सकता है। उदाहरणार्थ, भारतवर्ष में 'विशेष विवाह अधिनियम, 1954' के अनुसार विवाह तभी वैध होगा, जबकि विवाह के समय किसी भी पक्ष का जीवित जीवन-साथी न हो। दूसरे शब्दों में, बहु-विवाह की मनाही है।

12. परिवार की स्थायी और अस्थायी प्रकृति (Its permanent and temporary nature)—परिवार की एक अन्तिम विशेषता यह है कि यदि एक ओर—एक समिति या संघ के रूप में यह परिवर्तनशील होता है क्योंकि मृत्यु, कारावास, त्याग (desertion) या विवाह-विच्छेद से भंग हो सकता है; तो दूसरी ओर-एक संस्था (institution) के रूप में परिवार की प्रकृति स्थायी है। यह तथ्य इसी से स्पष्ट है कि मानव के प्रारम्भिक या आदिम जीवन से अब तक परिवार किसी-न-किसी रूप में अवश्य ही बना हुआ है।

3.6 परिवार के कार्य एवं सामाजिक महत्त्व (Social Importance and Functions of Family)

समाज या व्यक्ति के जीवन में परिवार का महत्त्व वास्तव में असाधारण है। **श्री एलमर** (Elmer) का कथन है कि आज का मानव कितने ही अनोखे आविष्कार कर रहा है, फिर भी परिवार से भिन्न ऐसे किसी दूसरे समर्थ संगठन का आविष्कार अब तक नहीं कर पाया है जिस पर कि परिवार के आधारभूत कार्यों को निश्चित होकर सौंपा जा सके। परिवार का यह महत्त्व इसके निम्नलिखित कार्यों से और भी स्पष्ट हो जाएगा—

1. प्राणिशास्त्रीय कार्य (Biological Functions)—परिवार के प्राणिशास्त्रीय कार्यों को निम्नलिखित **तीन** भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(अ) यौन-इच्छाओं की पूर्ति (Satisfaction of sexual desires)—प्राणिशास्त्रीय दृष्टिकोण से परिवार का एक महत्त्वपूर्ण कार्य यौन-क्रियाओं का नियमन (regulation) होता है। सामान्यतः समाज में उन स्त्रियों और पुरुषों की कोई मर्यादा नहीं रहती जो परिवार या विवाह-सम्बन्ध के बाहर यौन-सम्बन्ध स्थापित करते हैं। वास्तव में यौन-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति पारिवारिक संगठन में जितनी आसानी से की जा सकती है शायद अन्य कहीं नहीं।

(ब) सन्तानोत्पत्ति (Reproduction)—सन्तानोत्पत्ति करना परिवार का एक अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य है। वैसे तो यह कार्य परिवार के बाहर भी सम्भव है, परन्तु किसी भी समाज में ऐसी सन्तानों को वैध नहीं माना जाता। दूसरे शब्दों में, समाज ऐसी सन्तानों को स्वीकार नहीं करता। परिवार के इस कार्य के फलस्वरूप ही समाज का अस्तित्व और निरन्तरता सम्भव होती है।

(स) प्रजाति की निरन्तरता (Perpetuation of Race)—परिवार के द्वारा ही प्रजाति की निरन्तरता सम्भव हुई है। परिवार विवाह द्वारा सन्तानों के माध्यम से अपने को विस्तृत करता है, लम्बा करता है और अमर बनाता है। वास्तव में परिवार द्वारा मानव ने एक ऐसा हल ढूँढ़ लिया है जिससे उसकी प्रजाति सदा बनी रहेगी।

2. शारीरिक कार्य (Physical Functions)—परिवार के शारीरिक कार्य निम्नलिखित हैं—

(अ) बच्चों का पालन-पोषण (Nurture of Children)—बच्चों की रक्षा एवं उनका पालन-पोषण करना भी परिवार का एक कार्य है। जब बच्चा पैदा होता है तो असहाय जीवित प्राणी मात्र होता है। यह परिवार द्वारा प्रदान किया गया संरक्षण ही है जो कि बच्चे को जीवित रखता है।

(ब) शारीरिक रक्षा (Physical Care)—परिवार अपने सदस्यों की शारीरिक रक्षा की व्यवस्था करता है। इस कार्य के अन्तर्गत शारीरिक चोट व बीमारी की अवस्था में सेवा-शुश्रूषा की व्यवस्था, बूढ़ों-दुर्बलों तथा अपाहिजों की देख-रेख, जन्म के समय व बाद में नवजात शिशु और माँ की देख-रेख आदि सम्मिलित हैं।

(स) भोजन, निवास व वस्त्रों की व्यवस्था (Provision of Food, Shelter and Clothes)—परिवार का एक शारीरिक कार्य यह भी है कि वह अपने सदस्यों के लिए भोजन, निवास व वस्त्रों की व्यवस्था करे। भोजन के बिना परिवार के सदस्य जीवित ही नहीं रह सकते। निवास व वस्त्रों की व्यवस्था भी जीवन के लिए अति आवश्यक है। परिवार इन सबकी व्यवस्था करता है।

3. आर्थिक कार्य (Economic Functions)—आर्थिक क्षेत्र में परिवार निम्नलिखित कार्यों को सम्पन्न करता है—

(अ) उत्तराधिकार का निर्धारण (Determination of inheritance)—प्रत्येक परिवार में एक ऐसी व्यवस्था होती है जिससे कि यह निश्चित होता है कि पारिवारिक सम्पत्ति का उत्तराधिकारी कौन होगा। उदाहरणार्थ, पितृसत्तात्मक परिवार में पिता की सम्पत्ति पर पुत्र का अधिकार होता है, जबकि मातृसत्तात्मक परिवार में यह अधिकार माता के सम्बन्ध से निश्चित होता है।

(ब) उत्पादक इकाई (Productive Unit)—कृषि-युग तक परिवार एक महत्त्वपूर्ण इकाई के रूप में काम करता था। आज भी अनेक गृह-उद्योग परिवार में ही होते हैं। इसके अन्तर्गत परिवार के सभी सदस्य एक साथ मिलकर एक वंशानुगत व्यवसाय को करते हैं। उदाहरण के लिए, गाँव में खेती के कार्य में परिवार के सभी सदस्य—स्त्री, पुरुष व बच्चे—एक-दूसरे का हाथ बँटाते हैं।

(स) आय तथा सम्पत्ति का प्रबन्ध (Provision of Income and Property)—प्रत्येक परिवार का कोई-न-कोई आय का साधन अवश्य होता है क्योंकि इसके बिना सदस्यों की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो सकती। परिवार इस आय को उचित ढंग से व्यय करने की व्याख्या करता है। इसी प्रकार प्रत्येक परिवार की कुछ-न-कुछ सम्पत्ति भी अवश्य होती है। इस सम्पत्ति की देख-रेख करना व नष्ट होने से बचाना भी परिवार का ही कार्य है।

4. धार्मिक कार्य (Religious Functions)—परिवार अपने सदस्यों को धार्मिक शिक्षा देने का कार्य भी करता है। परिवार से ही बच्चा एक विशेष धर्म का अनुयायी बनता है। परिवार के द्वारा ही धार्मिक ज्ञान, धार्मिक कृत्यों को करने या उनमें भाग लेने के नियमों का ज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रकार परिवार में बच्चों के आध्यात्मिक तथा धार्मिक गुणों का भी विकास होता है। अण्डमान प्रायद्वीप के आदिवासी परिवार अपने सदस्यों को धर्म व जादू के ऐसे अनेक कार्यों को सिखाते हैं जिससे जीवन की अनेक समस्याओं को हल किया जा सके, जैसे रोगियों का उपचार आदि।

5. राजनीतिक कार्य (Political Functions)—परिवार के राजनीतिक कार्य भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। सरल समाजों के परिवारों में इस प्रकार के कार्यों का और भी अधिक महत्त्व है। आदिवासियों के समाजों में परिवार का शासन-प्रबन्ध प्रायः एक मुखिया (head) द्वारा होता है। भारतवर्ष में संयुक्त परिवार के कर्ता की स्थिति भी बहुत-कुछ इसी प्रकार की होती है। **डॉ. मजूमदार** (Dr. Majumdar) ने लिखा है कि 'कर्ता' ही परिवार का वास्तविक शासक होता है, वही परिवार का जज और जूरी होता है और पारिवारिक झगड़ों का निपटारा करता है। वास्तव में वह राजनीतिक मुखिया होता है क्योंकि सामाजिक, धार्मिक और सामुदायिक समस्त प्रकार के उत्सवों और कार्यों में वही परिवार का प्रतिनिधित्व करता है।

6. शिक्षात्मक कार्य (Educational Functions)—परिवार के शिक्षात्मक कार्य का अर्थ यह है कि समाज में जो मूल्य या मान्यताएँ प्रचलित होती हैं उनकी शिक्षा सर्वप्रथम परिवार द्वारा ही दी जाती है। जैसे, वर्तमान समाज में परिवार द्वारा ही बच्चे को बिल्कुल आरम्भ से यह बताया जाता है कि उसके लिए आकर्षक दिखना, छोटी-बड़ी प्रतियोगिताओं में सफल होना कितना आवश्यक है। परिवार के शिक्षात्मक कार्य का एक अर्थ और भी है। वह अर्थ यह है कि जब छोटे बच्चे स्कूल जाना आरम्भ नहीं किए होते हैं, तो स्कूल जाने से पूर्व ही परिवार द्वारा कुछ प्रारंभिक शिक्षा प्रदान किया जाता है।

7. सांस्कृतिक कार्य (Cultural Functions)—परिवार समाज की संस्कृति को जीवित रखने का एक साधन है। परिवार ही अपने सदस्यों को समाज की जीवन-विधि (way of life), जनरीतियों, नैतिक व धार्मिक परम्पराओं, रीति-रिवाजों, आदर्शों आदि के सम्बन्ध में प्रारम्भिक शिक्षा देता है। इन सभी को पिता से बच्चे और बच्चों से

उनके बच्चे सीखते हैं और इसी प्रकार सांस्कृतिक तत्व एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होते रहते हैं। इससे देश की संस्कृति का अस्तित्व भी बना रहता है।

8. मनोवैज्ञानिक कार्य (Psychological Functions)–परिवार का एक अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य अपने सदस्यों को मानसिक सन्तुष्टि व सुरक्षा प्रदान करता है। परिवार में बच्चों को माँ की ममता, पिता का संरक्षण और भाई-बहनों की प्रीति प्राप्त होती है। इससे न केवल बच्चों के मानसिक विकास में ही मदद मिलती है बल्कि उनके मन में एक विश्वास व सुरक्षा की भावना भी पनपती है जोकि उन्हें मानसिक शान्ति प्रदान करती है और उनके व्यक्तित्व का स्वस्थ विकास सम्भव होता है। ऐसे परिवारों में जहाँ विवाह-विच्छेद के द्वारा माता-पिता एक-दूसरे से अलग हो गए हैं, माता या पिता अथवा दोनों की मृत्यु हो गई है या जहाँ सौतेले माँ या सौतेले पिता हों, परिवार के बच्चों को प्रायः माता-पिता के स्नेह और प्यार से वंचित रहना पड़ता है और उन्हें मानसिक सुरक्षा व शान्ति भी नहीं प्राप्त हो पाती है। इसीलिए ऐसे बच्चे प्रायः अपराधी हो जाते हैं। जो बात बच्चों के लिए सच है वही बात परिवार के अन्य वयस्क सदस्यों पर भी समान रूप से लागू होती है।

9. विविध कार्य (Miscellaneous Functions)–उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त परिवार कुछ अन्य कार्यों को भी करता है जिनका विवरण इस प्रकार है–

(अ) **मानव-अनुभवों का हस्तान्तरण** (Transmission of Human-experiences)–परिवार मानव-अनुभवों को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाता है। यदि प्रत्येक पीढ़ी में प्रत्येक बालक को मानव-अनुभवों और सभ्यता की सम्पूर्ण प्रक्रिया को फिर से दोहराना पड़े और शुरू से ही प्रत्येक वस्तु का नए सिरे से आविष्कार करना पड़े तो शायद मनुष्य जंगली अवस्था में ही बना रहेगा। परिवार मानव-अनुभवों को पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित करता है। इससे सभ्यता का विकास भी सरल हो जाता है।

(ब) **मनोरंजन का साधन** (Means of Recreation)–परिवार का एक प्रमुख कार्य अपने सदस्यों के लिए मनोरंजन की व्यवस्था करना भी है। पिछड़े हुए या निर्धन समाजों के लिए, जहाँ बाहरी मनोरंजन के साधनों जैसे सिनेमा, क्लब आदि से साधारण जनता लाभ नहीं उठा सकती, परिवार मनोरंजन का ऐसा केन्द्र बन जाता है जोकि बिना पैसे ही स्वस्थ मनोरंजन की व्यवस्था करता है। परिवार में बच्चों की तोतली बातें, उनके मनोरंजक क्रिया-कलाप, पति-पत्नी का प्रेम, आपस में हँसी-मजाक आदि सदस्यों के मनोविनोद का अति उत्तम साधन बन जाता है। उसी प्रकार तीज-त्यौहारों के अवसर पर परिवार के सदस्य आपस में मिलकर जो संगीत या लोकगीत अथवा धार्मिक पुस्तकें पढ़ते या भजन-कीर्तन आदि करते हैं, उससे भी सदस्यों का विशेष मनोरंजन होता है।

(स) **सामाजिक नियन्त्रण के कार्य** (Functions of social Control)–सामाजिक नियन्त्रण के क्षेत्र में परिवार का महत्त्व अत्यधिक है। परिवार विविध प्रकार से अपने सदस्यों पर नियन्त्रण रखता है। इस विषय में हम आगे विस्तृत चर्चा करेंगे।

(द) **सामाजिक स्थिति प्रदान करना** (To impart Social Status)–परिवार अपने सदस्यों को एक विशेष सामाजिक स्थिति प्रदान करता है। परिवार के आधार पर ही यह निश्चित होता है कि उसके सदस्य किन लोगों से मेल-मिलाप करेंगे, किन से विवाह-सम्बन्ध स्थापित करेंगे और किस प्रकार जीविका का उपार्जन करेंगे। जो बालक बिड़ला या टाटा के परिवार में जन्म लेगा, उसकी सामाजिक स्थिति उस बालक से भिन्न होगी जिसने मजदूर परिवार में जन्म लिया है।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि सामाजिक जीवन के एक प्रमुख आधार के रूप में परिवार अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य करता है और इसीलिए इसका सामाजिक महत्त्व भी अत्यधिक है। परन्तु इस सम्बन्ध में एक बात यह स्मरणीय है कि आज नवीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में परिवार के उपरोक्त कार्यों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं जिनकी विवेचना हम आगे करेंगे।

3.7 परिवार के भेद या प्रकार (Kinds or Types of Family)

नोट

(अ) वंश-नाम के आधार पर परिवार के भेद–(1) **पितृवंशीय परिवार** (Patrilineal family)–इस प्रकार के परिवारों में पिता के वंश के आधार पर ही बच्चों का वंश निश्चित होता है। भारतीय हिन्दू परिवार इसी प्रकार के होते हैं। (2) **मातृवंशीय परिवार** (Matrilineal family)–जिन परिवारों में बच्चों का वंश माता के परिवार के आधार पर निश्चित होता है, मातृवंशीय परिवार कहलाते हैं। मालाबार के नायरों में इसी प्रकार के परिवार पाए जाते हैं।

(ब) विवाह-सम्बन्ध के आधार पर परिवार में भेद–(1) **एकविवाही परिवार** (Monogamous family) –यदि एक पुरुष एक ही स्त्री से विवाह करता है तो ऐसे विवाह से उत्पन्न परिवार को 'एकविवाही परिवार' कहते हैं। आज के सभ्य समाजों में इसी प्रकार के परिवार सर्वोत्कृष्ट माने जाते हैं। (2) **बहुविवाही परिवार** (Polygamous family)–जब एक स्त्री या पुरुष एक-से अधिक पुरुष या स्त्री से विवाह-सम्बन्ध स्थापित करता है तो ऐसे विवाह से उत्पन्न परिवार को 'बहुविवाही परिवार' कहा जाता है। ऐसे परिवार दो प्रकार के होते हैं– **(i) बहुपति-विवाह परिवार** (Polyandrous family)–इस प्रकार के परिवार एक स्त्री द्वारा एक-से अधिक पुरुषों के साथ विवाह करके बसाए जाते हैं। उत्तर प्रदेश के जौनसार बावर की खस जनजाति में इस प्रकार के परिवार पाए जाते हैं। **(ii) बहुपत्नी-विवाही परिवार** (Polygynous family)–इसमें एक पुरुष एक-से अधिक स्त्रियों से विवाह करके परिवार की स्थापना करता है। भारत में नागा, गोंड, वैगा आदि जनजातियों में इस प्रकार के परिवार पाए जाते हैं।

(स) निवास-स्थान के आधार पर परिवार के भेद–(i) मातृस्थानीय परिवार (Matrilocal family)–जब लड़का विवाह के पश्चात् अपनी पत्नी के परिवार में जाकर बस जाता है तो ऐसे परिवार को मातृस्थानीय परिवार कहते हैं। भारत में नायर, खासी, गारो आदि जनजातियों में इस प्रकार के परिवार पाए जाते हैं। (2) **पितृस्थानीय परिवार** (Patrilocal family)–विवाह के पश्चात् यदि पति अपनी पत्नी को अपने परिवार में रख लेता है तो ऐसे परिवार को पितृस्थानीय परिवार कहा जाता है। वास्तव में ऐसे परिवार में विवाह के बाद स्त्री को अपने पति के निवास-स्थान पर जाकर रहना आवश्यक होता है। भारतीय हिन्दू परिवार तथा खरिया, भील आदि जनजातियों में इसी प्रकार के परिवारों के दर्शन होते हैं। (3) **नवस्थानीय परिवार** (Nuclear family)–आजकल नवीन परिस्थितियों के कारण विवाह के पश्चात् कुछ पति-पत्नी अपना परिवार अलग बसा लेते हैं। ऐसे परिवार नवस्थानीय परिवार कहलाते हैं।

(द) सदस्य संख्या के आधार पर परिवार के भेद–(1) **मूल परिवार** (Primary family)–यह परिवार का सबसे छोटा और आधारभूत रूप है। इसमें विवाहित पति-पत्नी और अविवाहित बच्चों के अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति नहीं रहता। (2) **संयुक्त परिवार** (Joint family)–यदि कुछ मूल परिवार एक साथ रहते हों और उनमें निकट का नाता हो, एक ही स्थान पर भोजन करते हों और एक ही आर्थिक इकाई के रूप में कार्य करते हों, तो इन्हें सम्मिलित रूप में संयुक्त परिवार कहते हैं।

(य) सत्ता या अधिकार के आधार पर परिवार के भेद–(1) **मातृसत्तात्मक परिवार** (Matriarchal family)–जिन परिवारों में पारिवारिक सत्ता या अधिकार स्त्री-वर्ग के हाथों में होते हैं उन्हें मातृसत्तात्मक परिवार कहा जाता है। भारतवर्ष में मालाबार के नायरों, खासी, गारो आदि जनजातियों में इसी प्रकार के परिवार पाए जाते हैं। (2) **पितृसत्तात्मक परिवार** (Patriarchal family)–जिन परिवारों में पिता ही परिवार का कर्ता होता है, अर्थात् उसी के हाथ में सारी सत्ता या अधिकार निहित होते हैं उन्हें पितृसत्तात्मक परिवार कहा जाता है। भारतीय हिन्दू-परिवार इसी के उदाहरण हैं।

परिवार-सामाजिक नियन्त्रण के एक प्रमुख साधन या अभिकरण के रूप में (Family—As an Important Agency of Social Control)

सामाजिक नियन्त्रण के क्षेत्र में परिवार नामक संस्था का महत्त्व वास्तव में अपूर्व ही है। परिवार अपने बच्चों और सदस्यों के प्रत्येक व्यवहार का वास्तव में निर्माता होता है क्योंकि वही अनेक प्रकार से शिशु का चरित्र-निर्माण

नोट

करता है। परिवार द्वारा आरम्भ में दी गई शिक्षा उसको आगे चलकर एक आदर्श नागरिक बनाती है। परिवार की ही परिस्थितियों के कारण व्यक्ति अपराधी होता है या फिर एक महान व्यक्ति बन जाता है। इस प्रकार परिवार सामाजिक नियन्त्रण के लिए पूर्ण रूप से उत्तरदायी है। **प्रो. हेज़** (Hayes) ने कुछ ऐसे तरीके बताए हैं जिनके द्वारा परिवार सामाजिक नियन्त्रण में अपना योगदान करता है। ये तरीके हैं–(क) प्रतिदिन के उपदेश एवं स्वयं के कार्यों द्वारा; (ख) दिए गए वचन और कार्य की तुलना द्वारा; (ग) पड़ोसी के सामने व पीछे कहे गए वाक्यों की तुलना द्वारा; (घ) अपने सुखदायक अनुभवों को बताकर; (ङ) आकांक्षाओं का वास्तविक रूप बताकर अथवा दूसरों के अधिकारों का ध्यान रखते हुए करने का उपदेश देकर। प्रो. हेज़ के विचारों से सामाजिक नियन्त्रण में परिवार की भूमिका बहुत-कुछ स्पष्ट हो जाती है। फिर भी इस सम्बन्ध में निम्नलिखित विवेचन अनावश्यक न होगा–

1. यौन-व्यवहारों का नियमन (Regulation of Sex-behaviours)–परिवार वह प्रमुख संस्था है जिसके द्वारा मानव की यौन-क्रियाओं का नियन्त्रण और नियमन होता है। मानव की एक मौलिक आवश्यकता यौन-इच्छा भी है। इसकी पूर्ति किसी-न-किसी रूप में अवश्य ही होनी चाहिए। परिवार विवाह के द्वारा कानूनी एवं सामाजिक रूप से मानव की इस इच्छा की पूर्ति करता है। यदि परिवार न हो तो व्यक्ति इधर-उधर भटकता फिरता है, वेश्यावृत्ति या वेश्यागमन की ओर अग्रसर होता है। यह बात अधिकतर उन व्यक्तियों में पाई जाती है जो किसी परिवार के सदस्य नहीं हैं। सामान्यत: सभ्य समाज में उन स्त्रियों और पुरुषों की भी कोई मर्यादा नहीं रहती जोकि परिवार या विवाह-सम्बन्ध के बाहर यौन-सम्बन्ध स्थापित करते हैं; और न ही ऐसे व्यक्तियों के प्रति कोई भी सामाजिक उत्तरदायित्व अनुभव करता है। यौन-क्रियाओं का नियन्त्रण एक रूप में और होता है और वह इस रूप में कि परिवार के बाहर यौन-सम्बन्ध अवैध माने जाते हैं। अत: व्यक्ति परिवार से बाहर यौन-सम्बन्ध स्थापित करने से डरता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यौन-व्यवहारों के नियन्त्रण में परिवार का मुख्य हाथ रहता है। वास्तव में यह परिस्थिति सामाजिक नियन्त्रण का ही एक भाग है।

2. सदस्यों की सामान्य देख-रेख (General supervision of its members)–परिवार अपने सदस्यों की सामान्य रूप से देख-रेख भी करता है और इस रूप में भी वह सामाजिक नियन्त्रण के एक प्रमुख साधन के रूप में सिद्ध होता है। प्रत्येक सदस्य को अपने व्यवहारों को करते समय यह ध्यान रखना पड़ता है कि कहीं उसके व्यवहार से परिवार के दूसरे सदस्य को कोई कष्ट तो नहीं हो रहा है। इसके अतिरिक्त, परिवार का बड़ा अथवा कर्ता भी सदस्यों के व्यवहारों पर अपनी आँख रखता है। यदि परिवार का कोई सदस्य कोई ऐसा कार्य करता है जो कि उस दिए गए समय में समाज में बुरा समझा जाता है तो सबसे पहले परिवार के सदस्य ही उसे उस कार्य को करने से रोकते हैं।

3. समाजीकरण द्वारा नियन्त्रण (Control through Socialization)–परिवार को समाजीकरण की प्रमुख संस्था कहा गया है। बच्चा परिवार में ही जन्म लेता है और जीवनपर्यन्त समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा उससे नियन्त्रित रहता है। वास्तव में परिवार ही उसके व्यक्तित्व का निर्माणकर्ता होता है जोकि सामाजिक नियन्त्रण का आधार होता है। जब बच्चा सर्वप्रथम परिवार में जन्म लेता है तो वह एक प्राणिशास्त्रीय प्राणी होता है, उसमें कोई भी सामाजिक गुण नहीं होते। यदि उसको परिवार समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा शिक्षा या सामाजिक व्यवहार एवं सद्‌गुण प्रदान न करे तो वह एक जंगली पशु-मात्र ही बनकर रह जाएगा। प्रयोगों से यह सिद्ध हुआ है कि परिवार से बाहर रहने वाले बच्चों में सामाजिक गुणों का विकास नहीं हो पाता। यह परिवार ही है जो बच्चों में सामाजिकता लाता है।

बच्चे के जन्म लेने के पश्चात् जब बच्चा कुछ-कुछ व्यवहार सीखता है तो माता-पिता या अन्य सदस्य उसके व्यवहारों को सुधारते एवं नियमित करते हैं। उदाहरणार्थ, जब बच्चा किसी ग़लत आदत की नकल करता है, तो उसे ऐसा न करने के लिए कहा जाता है। अक्सर बड़े सदस्यों को गाली या बुरा शब्द कहते देखकर बच्चा भी वही कहने लगता है जिस पर उसको माँ या पिता की डाँट व फटकार पड़ती है। इससे वह उस बात को दोबारा कहने से भय खाता है। इसी प्रकार यदि कोई बच्चा अनुकरण के आधार पर चोरी आदि करना सीख जाता है तो परिवार ही उसकी इस आदत को सुधारता है। उसी प्रकार समाज में प्रचलित आदर्श, रूढ़ियाँ, प्रथाओं, परम्पराओं आदि का ज्ञान उसे परिवार में, समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा, ही होता है जोकि उसके व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बन जाते हैं और सामाजिक नियन्त्रण में सहायता प्रदान करते हैं। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि परिवार

में व्यक्ति केवल इन आचार, विचार, प्रथा, परम्परा, रूढ़ि आदि को सीखता नहीं, वरन् उनका पालन भी करना सीखता है और उसको पालन करना पड़ता भी है क्योंकि इनका पालन न करना समाज-विरोधी व्यवहार का कार्य समझा जाता है और ऐसा करने पर व्यक्ति को अपने माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-बहन और बच्चों द्वारा अपमान, तिरस्कार, निन्दा या कोप का पात्र बनना पड़ता है। स्वभावत: जो उसके प्रियजन हैं और जिनके बीच उसे अपने जीवन का अधिकतर समय बिताना पड़ता है, उनके द्वारा तिरस्कार या निन्दा का डर उसे सदैव ही समाज-विरोधी कार्यों को करने से रोकता है। इस प्रकार परिवार समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा सामाजिक नियन्त्रण में सहायक सिद्ध होता है। परिवार समाज की संस्कृति को जीवित रखने का एक साधन है।

4. सामाजिक गुणों का विकास करके (By developing Social Qualities)–परिवार बच्चों अथवा अपने सदस्यों में कुछ इस प्रकार के सामाजिक गुणों का विकास करता है जोकि उन्हें एक आदर्श नागरिक बनने में मदद करते हैं और इस प्रकार परिवार सामाजिक नियन्त्रण में सहायक होता है। ये सामाजिक गुण निम्नवत् हैं–

(अ) प्रेम–परिवार में प्रेम की भरमार-सी होती है। बच्चा परिवार में जन्म लेता है तो उस पर सभी सदस्य प्रेम की वर्षा-सी कर देते हैं; इसी के बदले में बच्चा भी सभी से प्रेम करता है। प्राय: ऐसा देखा गया है कि यदि बच्चे का पिता अपने बच्चे की ओर अधिक ध्यान नहीं दे पाता है और कोई अन्य सदस्य बच्चे से अधिक प्रेम करता है तो बच्चा भी उसको अत्यधिक प्रेम करता है। इसी प्रकार पत्नी और पति का भी एक-दूसरे से प्रेम परिवार में ही विशुद्ध रूप से उत्पन्न हो जाता है। यह पारिवारिक प्रेम ही व्यापक रूप में सामाजिक प्रेम में परिणत हो जाता है जिससे कि समाज में सुव्यवस्था और शान्ति बनाए रखने में सहायता प्राप्त होती है।

(ब) सहयोग–जैसा कि सर्वविदित ही है कि समाज की आवश्यक शर्त, सहयोग भी है। आपसी सहयोग से ही समाज में शान्ति और सुव्यवस्था बनी रहती है। यह सहयोग की शिक्षा व्यक्ति को परिवार से ही अति उत्तम रूप में मिलती है। परिवार में प्रत्येक सदस्य आपस में सारे कार्य मिल-जुलकर करते हैं और इस प्रकार आपस में सहयोग की भावना को विकसित करते हैं। बड़े होकर यही सहयोग की भावना सामाजिक नियन्त्रण में सहायक होती है।

(स) आत्मत्याग–परिवार बच्चों में आत्मत्याग का सामाजिक गुण भी विकसित करता है। यहाँ पर माता-पिता या पति-पत्नी एक-दूसरे के लिए व बच्चों के लिए सब प्रकार के कष्ट सहने को तैयार हो जाते हैं। यह कहावत है कि 'माँ बच्चे को सूखे में सुलाती है, चाहे अपने-आप गीले में सोए'। इतिहास भी इस प्रकार के त्याग के अनेक उदाहरणों से भरा हुआ है। बाबर ने अपने बेटे हुमायूँ की रक्षा के लिए अपने प्राण दे दिए, दशरथ-पुत्र भरत ने अपने भाई राम के लिए अयोध्या का राज भी त्याग दिया, आदि-आदि। यही आत्मत्याग की भावना आगे चलकर समाज में नियन्त्रण स्थापित करने में सहायता प्रदान करती है क्योंकि परिवार में विकसित आदत के आधार पर ही व्यक्ति समाज, राष्ट्र, विश्व या मानवता के लिए भी त्याग करने को तत्पर हो जाता है।

(द) अनुकूलन–परिवार बच्चे को अनुकूलन करने का गुण भी सिखाता है। परिवार के सभी सदस्यों को नवीन-नवीन परिस्थितियों से प्राय: अनुकूलन करना पड़ता है। जब किसी परिवार में कोई नई बहू आती है या लड़की का विवाह होता है तो परिवार के सदस्यों को इस नई परिस्थिति से अनुकूलन करना ही पड़ता है। इस प्रकार बच्चे में भी अनुकूलन के गुण आ जाते हैं और बड़े होने पर वह सामाजिक नियमों से भी अनुकूलन कर सकता है। यह परिस्थिति सामाजिक नियन्त्रण के लिए अति सहायक परिस्थिति है।

(य) कर्त्तव्य-पालन और आज्ञा-पालन–बच्चा परिवार में ही कर्त्तव्य-पालन और आज्ञा-पालन की शिक्षा प्राप्त करता है। माता और पिता बच्चे के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हैं, पत्नी और पति एक-दूसरे के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हैं। इसी प्रकार परिवार के छोटे सदस्य बड़े सदस्यों की आज्ञा का पालन करते हैं। बच्चा यह सब देखता है और उसके अन्दर भी यही गुण विकसित हो जाते हैं जोकि उसे एक आदर्श नागरिक बनने में सहायता प्रदान करते हैं। दरअसल भारत के समाज में जितने भी प्रकार के संबंध होते है वे किसी न किसी रूप में आदेश देने वाले व आदेश मानने वाले सम्बन्ध होते हैं। ऐसे सम्बन्धों का विकास करने के लिए परिवार ही मानसिक रूप से तैयार करता है।

(र) परोपकार–परिवार ही बच्चे में परोपकार का गुण उत्पन्न करता है। इस प्रकार के अनेक परिवार होते हैं जहाँ पर कि कोई वृद्ध अथवा शारीरिक या मानसिक दृष्टि से अयोग्य व्यक्ति हो। परिवार के सभी सदस्य उस

व्यक्ति की सेवा-शुश्रूषा करते हैं और उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति का उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर ले लेते हैं। बच्चा यह सब देखता है और बड़ा होकर उसमें सामाजिक परोपकार की भावना पैदा होती है जिससे कि सामाजिक नियन्त्रण में सहायता मिलती है।

नोट

5. शिक्षात्मक कार्यों के द्वारा (By means of Educational Functions)–परिवार के शिक्षात्मक कार्यों को हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं। यहाँ पर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि परिवार अपने शिक्षात्मक कार्यों के द्वारा बच्चे को एक आदर्श नागरिक बनने में मदद करता है जिससे कि समाज में सुव्यवस्था और शान्ति स्थापना में मदद मिलती है। **श्री कूले** (Cooley) ने परिवार को प्राथमिक समूह के रूप में माना है जोकि बच्चे को एक आदर्श नागरिक बनाता है। किसी विद्वान् ने यह सच ही कहा है कि बच्चा नागरिकता का प्रथम पाठ माँ के चुम्बन और पिता के आलिंगन में ही सीखता है। यह नागरिकता की पाठशाला बच्चे को एक आदर्श नागरिक बनाती है। इसी प्रकार परिवार अपने सदस्यों को मानसिक नियन्त्रण की भी शिक्षा देता है।

6. विवाह सम्बन्धी नियन्त्रण (Controls in relation to Marriage)–परिवार अपने सदस्यों पर अनेक विवाह सम्बन्धी नियन्त्रण भी लागू करता है। परिवार ही यह निश्चित करता है कि विवाह कब, किससे और कैसे करें (When to marry, whom to marry and how to marry) । परिवार यह बताता है कि किस आयु में विवाह करना चाहिए। यह परिवार के आधार पर ही निश्चित होता है कि कम आयु में विवाह करें या विलम्ब-विवाह किया जाए। उदाहरणार्थ, संयुक्त परिवार में बाल-विवाह या कम आयु में विवाह हो जाते हैं जबकि आधुनिक परिवार विलम्ब-विवाहों को प्रोत्साहन करता है। इसी प्रकार परिवार ही जीवन-साथी चुनने का क्षेत्र भी निश्चित करता है। किस परिवार में विवाह किया जाए या जीवन-साथी (लड़का या लड़की) किस परिवार से चुना जा सकता है–यह परिवार ही बताता है। उदाहरणार्थ, जीवन-साथी चुनते समय गोत्र, जाति, पद आदि का ध्यान रखा जाता है। इतना ही नहीं, विवाह की पद्धति भी परिवार के अनुसार ही निर्धारित की जाती है। अदालत द्वारा विवाह किया जाए या मन्दिर में जाकर विवाह किया जाए या गिरजाघर में जाकर विवाह किया जाए या परम्परागत ढंग (traditional pattern) से विवाह किया जाए–यह परिवार के आधार पर ही निश्चित होता है। उदाहरणार्थ, जहाँ एक रूढ़िवादी हिन्दू परिवार अपनी लड़की को अदालत में विवाह करने की आज्ञा नहीं देता है, वहाँ कुछ परिवारों में 'कोर्ट मैरिज' ही उत्तम विवाह-पद्धति समझी जाती है। स्पष्ट ही है कि विवाह सम्बन्धी नियन्त्रण लागू करके भी परिवार नामक संस्था सामाजिक नियन्त्रण में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है।

7. आर्थिक ढाँचे की धुरी (The pivot of Economic Structure)–परिवार को आर्थिक ढाँचे की धुरी भी कहा गया है और इस रूप में वह सामाजिक नियन्त्रण का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। परिवार ही अपने सदस्यों का आर्थिक जीवन निश्चित करता है। सम्पत्ति का उत्तराधिकारी कौन होगा या किस-किस को कितनी सम्पत्ति मिलेगी–यह परिवार ही निश्चित करता है। आयु, लिंग और शारीरिक क्षमता के अनुसार परिवार ही सदस्यों में श्रम-विभाजन करता है। पुरुष घर के बाहर का कार्य सम्भालते हैं, स्त्रियाँ घर का काम-काज देखती हैं, बच्चे पढ़ते हैं और छोटे-छोटे कार्य भी करते हैं। इससे उनमें उत्तरदायित्व की भावना भी विकसित होती है। इसके अतिरिक्त परिवार ही व्यवसाय के प्रकार निश्चित करता है; व्यक्ति को बड़े होकर कौन-सा व्यवसाय अपनाना पड़ेगा, यह परिवार पर ही आधारित है। सरल व छोटे समाजों में परिवार का यह कार्य विशेष महत्त्व का है, यद्यपि आधुनिक समाज में स्थिति इसके विपरीत ही है।

आधुनिक समय में पारिवारिक संरचना में परिवर्तन
(Changes in the Familial Structure in Modern Time)

जैसा कि सर्वविदित है कि परिवर्तन प्रकृति का नियम है और चूँकि समाज और उसके विभिन्न भाग भी प्रकृति के ही अंग हैं, अत: परिवर्तन का नियम समाज पर भी समान रूप से लागू होता है। समाज की आधारभूत इकाई परिवार है और यह परिवार भी परिवर्तन से परे नहीं है। यदि हम मानव-इतिहास को ध्यान से देखें, तो हमें पता चलेगा कि परिवार किसी-न-किसी रूप में सदा से ही हमारे साथ रहा है, पर इसका रूप या स्वरूप सदा एक-जैसा नहीं रहा है। दूसरे शब्दों में, इसमें भी समय-समय पर परिवर्तन होता रहा है। आधुनिक समय में यह

नोट

परिवर्तन क्रान्तिकारी है क्योंकि यह युग औद्योगिक है। इसके पहले परिवार कृषि-युग में था। कृषि-युग की संस्कृति, सभ्यता, आकार, विचार, आदर्श आदि आज जैसे नहीं थे। पर आधुनिक युग में औद्योगीकरण के कारण इन सब में काफी परिवर्तन हो गए हैं और इन परिवर्तनों का महत्त्वपूर्ण प्रभाव परिवार के स्वभाव पर पड़ा है। आज परिवार की नियन्त्रण शक्ति उतनी प्रभावशाली नहीं रह गई है जितनी कि पहले थी। दूसरे शब्दों में, सामाजिक नियन्त्रण के एक साधन के रूप में परिवार का महत्त्व आज काफी कम हो गया है। पारिवारिक संरचना में हो रहे परिवर्तनों की निम्नलिखित विवेचना से यह बात और भी स्पष्ट हो जाएगी–

1. परिवार के कार्यों में परिवर्तन (Changes in family functions)–समय के साथ परिवार के कार्यों में भी अनेक परिवर्तनों ने जन्म लिया है। पहले परिवार स्वयं पूर्ण होता था और अपनी सारी प्राथमिक और द्वैतीयक आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं ही कर लेता था। अनाज और सब्जियाँ घर पर ही उगाई जाती थीं, कपड़े बुनने का काम घर पर ही होता था, घर में ही कपड़े भी सिले जाते थे, खाना हर दशा में घर पर ही बनता था, घर पर ही दूध-घी की व्यवस्था होती थी। आज ये सभी कार्य, विशेषकर आर्थिक कार्य बाहर की विशेष समितियाँ करती हैं। खाना बनाने के कार्य को होटलों और रेस्ट्राँ ने ले लिया है, कपड़े धोने के लिए लॉण्ड्रियाँ खुल गई हैं, कपड़े सिलने के लिए टेलरिंग हाऊस, बच्चों की शिक्षा के लिए स्कूल-कॉलेज, उनके पालन-पोषण के लिए नर्सरी और रोगियों की सेवा करने के लिए अस्पताल खुल गए हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि परिवार के परम्परागत सभी मुख्य कार्य अब बाहर की समिति और संस्थाओं के हाथ में चले गए हैं।

2. परिवार के आकार में परिवर्तन (Changes in the size of the family)–परम्परागत दृष्टिकोण से लोगों के मन में एक गलत धारणा यह जड़ पकड़े हुई थी कि परिवार में जितने भी बच्चे पैदा हो रहे हैं वे सभी भगवान की देन हैं और उसमें मनुष्य का कोई भी हाथ नहीं है। यह धारणा आज तीव्रता से बदल रही है। वैज्ञानिक शिक्षा, सन्तति-निरोध की विधियों का प्रयोग, विलम्ब-विवाह आदि ऐसे कारण हैं जिनसे कि जन्म-दर काफी कम हुई है और इससे परिवार का आकार घट रहा है। आज एक आदर्श परिवार का आकार पति-पत्नी और दो बच्चे हैं। इसका एक कारण व्यक्तिवादी आदर्श भी है। प्रो. होडार्ड (Hodard) ने उचित ही लिखा है कि आज के नवयुवक-नवयुवती एक 'बेबी' की अपेक्षा एक 'बेबी ऑस्टीन' (कार) को प्राप्त करना अधिक पसन्द करते हैं क्योंकि बेबी या सन्तान उन पर नए उत्तरदायित्व लादती है जबकि बेबी ऑस्टीन (मोटरकार) उनके आराम को बढ़ाती है। परिवार के आकार घटने का यही रहस्य है।

3. परिवार के सहयोगी आधार में परिवर्तन (Changes in the cooperative basis of the family)–परिवार के सदस्यों के बीच सहयोग की भावना आज भी बरकरार है और समाजशास्त्रियों का कहना है कि हमेशा बरकरार रहेगी। पर, वर्तमान समय में सहयोग का रूप बदल गया है। आज का व्यक्ति अपने व्यक्तिगत हित को छोड़कर सहायता करने को सहर्ष तैयार नहीं होगा। एक बड़ा भाई अपने छोटे भाई की यह सोचकर मदद करता है कि छोटा भाई अपने पैरों पर खड़ा हो जाए, पर यह मदद करना अब दुर्लभ है कि वह अपने कमाए धन का हिस्सा अपने भाई को दे।

4. राज्य द्वारा परिवार के कार्यों का होना (Functions of family are being taken over by the State)–आज परिवार के समस्त द्वैतीयक कार्य राज्य के हाथों में पहुँचते जा रहे हैं। आज राज्य परिवार के प्रति (क) सहयोगी और (ख) नियन्त्रण सम्बन्धी दो प्रकार के कार्य करता है। सहयोगी कार्य के अन्तर्गत राज्य अनेक कार्य जैसे मकानों की व्यवस्था, चिकित्सा व सेवा की व्यवस्था, बच्चों के लालन-पालन की व्यवस्था, शिक्षा, बेकारी के समय सामाजिक सुरक्षा आदि करता है। नियन्त्रण सम्बन्धी कार्यों में विवाह की आयु और जीवन-साथी के चुनाव को नियन्त्रित व नियमित करना, विवाह-विच्छेद की समस्या को तय करना, सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों को निश्चित करना आदि कार्य सम्मिलित हैं।

5. विवाह और यौन-सम्बन्धों में परिवर्तन (Changes in marriage and sex-relation)–आज विलम्ब-विवाह, अन्तर्जातीय विवाह और प्रेम-विवाह की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। बाल-विवाह की दर कम हुई है। आज का नवयुवक अब आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होने के बाद ही विवाह करना पसन्द करता है। अन्तर्जातीय विवाह होने के कारण जाति-प्रथा के बन्धन ढीले हो रहे हैं। पहले विधवाओं और अविवाहित लड़कियों के प्रति

नोट

समाज का मनोभाव अच्छा नहीं था, पर आज उनके प्रति सहानुभूति और सहनशीलता की भावना जागृत हो रही है। विवाह के सम्बन्ध में एक परिवर्तन यह और हो रहा है कि जीवन-साथी का चुनाव अब पिता-माता या अन्य संरक्षक के द्वारा न होकर स्वयं युवक या युवती के द्वारा होता है। राज्य और समाज की ओर से 'एक-विवाह' पर जोर दिया जाता है और यही आदर्श विवाह समझा जाता है। साथ ही, विवाह में रोमांस का तत्व जुड़ता जा रहा है और तलाक या विवाह-विच्छेद की दर बढ़ रही है।

6. पति-पत्नी के सम्बन्धों में परिवर्तन (Changes in husband-wife relations)–पहले पति ही पत्नी का सब-कुछ होता था। वह पत्नी के द्वारा देवता या भगवान के रूप में पूजा जाता था। चाहे पति अत्याचारी, शराबी, चोर, डाकू या भ्रष्टाचारी ही क्यों न हो, पत्नी को उसके प्रति वफादार रहकर उसकी सेवा करनी पड़ती थी। आज इस प्रकृति में धीरे-धीरे परिवर्तन आ रहा है। आज का पति नाममात्र का प्रधान रह गया है। संक्षेप में, आज पति-पत्नी का पारस्परिक सम्बन्ध प्रभुत्व से सहयोगिता की ओर बढ़ता जा रहा है और पत्नी के रूप में स्त्रियों का अधिकार पुरुषों के समान ही हो रहा है।

7. स्त्रियों, बच्चों और युवकों की स्थिति व अधिकारों में परिवर्तन (Changes in the status and rights of women, children and youths)–परिवार में पहले माता, पत्नी और पुत्री रूप में स्त्रियों की दशा दयनीय थी। आज उनकी स्थिति में पर्याप्त परिवर्तन हो गया है। इसी प्रकार आज माता-पिता की यह गलत धारणा बदल रही है कि बच्चों को मार-पीट या डाँट-फटकार कर सही रास्ते पर रखा जा सकता है। इससे परिवार में उनकी स्थिति बदल रही है और उनके मनोभाव व विचारों को मान्यता दी जाती है। इतना ही नहीं, आज नवयुवकों की स्थिति व अधिकारों में भी परिवर्तन हो रहा है।

8. रक्त-सम्बन्धों का महत्त्व कम होना (Lesser importance of kinship relations)–पहले अपने नाते-रिश्तेदारों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने तथा उसे बनाए रखने का प्रयत्न किया जाता था, परन्तु आज सिद्धान्त यह है कि "हम जितना ही रिश्तेदारों से दूर रहें उतना ही अच्छा है।" व्यक्तिवादी आदर्श इसके लिए प्रमुख रूप से उत्तरदायी है। इसी कारण विवाह के पश्चात् लड़के अपनी पत्नी को लेकर माता-पिता का घर छोड़कर अलग घर बसा लेते हैं। फलतः संयुक्त परिवार (Joint Family) का भी विघटन होता है।

परिवार का भविष्य : क्या परिवार टूट रहा है?
(Future of Family : Is Family breaking down?)

आधुनिक परिवार के कार्यों का अत्यधिक घट जाना, उसकी अस्थिरता, घटता हुआ आकार, रोमांस तथा विवाह-विच्छेद की दरों (rates) का बढ़ना आदि तथ्यों को देखते हुए कुछ विद्वान परिवार के भविष्य के बारे में बहुत ही निराश हो गए हैं और उनका कहना है कि परिवार टूट रहा है, परन्तु इस प्रकार का विचार अवैज्ञानिक ही अधिक कहा जाएगा। वास्तव में परिवार सामाजिक जीवन का मूलाधार है। इस कारण जब तक समाज है तब तक परिवार रहेगा। यदि समाज ही मिट जाए तो परिवार भी मिट सकता है अन्यथा नहीं। औद्योगिक क्रान्ति के बाद हमारी सभ्यता, संस्कृति, आधार, प्रथा, परस्पर, धर्म, रीति-रिवाज सभी में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गए हैं। इस प्रकार सामाजिक जीवन का प्रत्येक अंग आज नवीनता की ओर तेजी से बढ़ता जा रहा है। चूँकि परिवार भी उसी सामाजिक जीवन का एक अंग है, अतः उसे भी नवीन परिस्थितियों के साथ अपना अनुकूलन करना है। परिवार कर भी वही रहा है; हाँ, अनुकूलन की प्रारम्भिक अवस्था में कुछ गड़बड़ अवश्य हो सकती है जिसको कि पारिवारिक विघटन कहा जा सकता है। वास्तव में वह विघटन नहीं बल्कि आधुनिक नवीन परिस्थितियों से अनुकूलन की प्रक्रिया का ही एक आवश्यक अंग है। **सर्वश्री ऑगबर्न और निमकॉफ** (Ogburn and Nimkoff) ने यह स्पष्टतः स्वीकार किया है कि मानव-इतिहास इस बात का साक्षी है कि परिवार नामक संस्था एक बहुत ही अनुकूलनशील संस्था है और इसीलिए मानव-इतिहास के सभी उत्थान-पतन के बीच भी वह अमर है। इतना ही नहीं, **सर्वश्री बर्गेस तथा लॉक** (Burgess and Locke) ने भी इस सम्बन्ध में भविष्यवाणी करते हुए कहा है कि "बदलती हुई दशाओं का अनुकूलन करने के इस लम्बे इतिहास और इसके स्नेह के कार्य को देखते हुए यह भविष्यवाणी करना सुरक्षित है कि परिवार जीवित रहेगा—व्यक्तिगत सन्तोष और व्यक्ति के विकास में सहयोग देता और लेता रहेगा।"

3.8 नातेदारी (Kinship)

नोट

नातेदारी-व्यवस्था का अर्थ (Meaning of Kinship System)

सामाजिक मानव, समाज में अकेला नहीं होता। जन्म से लेकर मृत्यु तक वह अनेक व्यक्तियों से घिरा होता है, अर्थात् उसका सम्बन्ध एकाधिक व्यक्तियों से होता है। परन्तु इनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध उन व्यक्तियों के साथ होता है जो विवाह-बन्धन और रक्त-सम्बन्ध के आधार पर सम्बन्धित हैं। इनमें भी निकट तथा दूर के, घनिष्ठ, तथा अघनिष्ठ; मधुर तथा कठोर हर प्रकार के सम्बन्धियों का समावेश रहता है; परन्तु स्मरण रहे कि ये सभी सम्बन्ध सामाजिक अन्त:क्रिया का ही परिणाम होते हैं। इस प्रकार सामाजिक अन्त:क्रिया के फलस्वरूप जो विशिष्ट तथा समाज द्वारा मान्यता-प्राप्त सुव्यवस्थित सम्बन्ध-शृंखला एक सामाजिक प्राणी को अन्य व्यक्तियों के साथ संयुक्त करती है उसे 'नातेदारी-व्यवस्था' कहते हैं। **मानवशास्त्रीय शब्दकोश** (*Dictionary of Anthropology*) में 'नातेदारी-व्यवस्था' को निम्न शब्दों में परिभाषित किया गया है–"नातेदारी-व्यवस्था में समाज द्वारा मान्यता प्राप्त वे सम्बन्ध आ सकते हैं जो अनुमानित और रक्त-सम्बन्धों पर आधारित हों।" समाज द्वारा मान्यता प्राप्त इन सम्बन्धों का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत होता है, इसलिए सम्बन्ध की निकटता, घनिष्ठता, आत्मीयता आदि के आधार पर इन नाते-रिश्तेदारों को कई श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है।

नातेदारी के भेद (Types of Kinship)

नाते-रिश्तेदारों को मोटे तौर पर दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है–

1. विवाह-सम्बन्धी नातेदारी (Affinal Kinship) तथा
2. रक्त-सम्बन्धी नातेदारी (Consanguineous Kinship)।

1. विवाह-सम्बन्धी नातेदारी (Affinal Kinship) के अन्तर्गत न केवल विवाह-सम्बन्ध द्वारा सम्बद्ध पति-पत्नी ही आते हैं बल्कि इन दोनों परिवारों के अन्य सम्बन्धी भी आ जाते हैं। जब एक व्यक्ति विवाह करता है तो उसे स्वभावत: यह पता चलता है कि विवाह नामक संस्था ने न केवल दो स्त्री-पुरुष के बीच सम्बन्ध स्थापित किया है, बल्कि इन दोनों से सम्बन्धित अन्य व्यक्ति एक-दूसरे से सम्बद्ध हो गए हैं। उदाहरणार्थ, विवाह के पश्चात् एक पुरुष केवल एक पति ही नहीं बनता, बल्कि बहनोई, दामाद, जीजा, फूफा, ननदोई, मौसा, साढ़ू आदि भी बन जाता है। इसी प्रकार एक स्त्री भी विवाह के पश्चात् पत्नी बनने के अलावा पुत्र-वधू, भाभी, देवरानी, जेठानी, चाची, मामी आदि भी बन जाती है या बन सकती है। इनमें से प्रत्येक सम्बन्ध के आधार दो व्यक्ति हैं, जैसे साला-बहनोई, सास-दामाद, साली-जीजा, देवर-भाभी, पति-पत्नी, सास-वधू आदि। इस प्रकार से विवाह द्वारा सम्बद्ध समस्त सम्बन्धियों या नातेदारी को विवाह-सम्बन्धी (Affinal Kinship) कहते हैं।

2. रक्त-सम्बन्धी नातेदारी के अन्तर्गत वे लोग आते हैं जो समान रक्त के आधार पर एक-दूसरे से सम्बन्धित हों। उदाहरण के लिए माता-पिता और उनके बच्चों के बीच अथवा दो भाइयों के बीच या दो भाई-बहन के बीच का सम्बन्ध रक्त के आधार पर ही आधारित है। इस सम्बन्ध में यह भी स्मरणीय है कि रक्त-सम्बन्धी नातेदारों में रक्त-सम्बन्ध वास्तविक भी हो सकता है और काल्पनिक भी। दूसरे शब्दों में, रक्त-सम्बन्ध केवल प्राणिशास्त्रीय (Biological) आधार पर ही नहीं, अपितु समाजशास्त्रीय (Sociological) आधार पर भी स्थापित हो सकता है। उदाहरणार्थ, जिन समाजों में बहुपति विवाह-प्रथा का प्रचलन है वहाँ प्राणिशास्त्रीय आधार पर यह निश्चित करना असम्भव है कि कौन-सा बच्चा किस पति का है। इसलिए वहाँ प्राणिशास्त्रीय पितृत्व (biological fatherhood) को गौण मानकर समाजशास्त्रीय पितृत्व (sociological fatherhood) को अधिक मान्यता दी जाती है। नीलगिरी की बहुपति-विवाही टोडा जनजाति में सामाजिक पितृत्व का एक विशेष संस्कार 'पुरसुतपिमी' द्वारा निश्चित किया जाता है। जो व्यक्ति गर्भवती स्त्री को उसके प्रसव के पाँचवें महीने में धनुष-बाण भेंट करता है, वही उस स्त्री की होने वाली सभी सन्तानों का पिता तब तक कहलाता रहता है जब तक दूसरा कोई पति उसी प्रकार का संस्कार न करे। ईसाई मत के प्रारम्भ होने से पहले जर्मन नियम के अनुसार, एक बच्चा उस समय तक

उस परिवार का सदस्य नहीं बन सकता, जब तक पिता कुछ सामाजिक संस्कारों के द्वारा उसे अपना पुत्र स्वीकार नहीं करता। आस्ट्रेलिया के आदिवासियों में एक कुल की स्त्रियाँ दूसरे कुल की भावी पत्नियाँ समझी जाती हैं, इसलिए वहाँ के लोग उन समस्त पुरुषों के लिए, जो उनकी माताओं के भावी पति हो सकते हैं, 'पिता' शब्द का प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार प्राय: सभी समाजों में बच्चों को गोद लेने की प्रथा है। गोद लिए हुए बच्चों के साथ भी माता-पुत्र या स्त्री आदि का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है जो वास्तविक रक्त-सम्बन्ध नहीं बल्कि अनुमानित रक्त-सम्बन्ध पर आधारित होता है।

नातेदारी की श्रेणियाँ (Categories of Kinship)

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, सम्पर्क और निकटता, घनिष्ठता और आत्मीयता के आधार पर विभिन्न प्रकार के नाते-रिश्तेदारों को कई श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। कुछ लोगों के साथ वैवाहिक तथा रक्त-सम्बन्धी आधारों पर नातेदारी प्रत्यक्ष, घनिष्ठ तथा निकट की होती है, जैसे पति-पत्नी, पिता-पुत्र, भाई-बहन आदि। इनको प्राथमिक सम्बन्धी (Primary Kins) कहा जाता है। **डॉ. दुबे** के अनुसार, प्राथमिक सम्बन्धियों के अन्तर्गत पति-पत्नी, पिता-पुत्र, माता-पुत्री, पिता-पुत्री, माता-पुत्र, छोटे-बड़े भाई, छोटी-बड़ी बहन और भ्राता-बहन—ये आठ प्रकार की सम्बन्ध-शृंखला में गुंथे हुए लोग आते हैं।

इसके विपरीत, द्वितीयक सम्बन्धी (Secondary Kins) वे सम्बन्धीगण होते हैं जो उपरोक्त 'प्राथमिक सम्बन्धियों के प्राथमिक सम्बन्धी' हैं अर्थात् प्राथमिक सम्बन्धियों द्वारा सम्बन्धित हैं। इस द्वितीयक श्रेणी के सम्बन्धियों से हमारा प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता, परन्तु हमारे प्रत्यक्ष या प्राथमिक श्रेणी के सम्बन्धियों से उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। उदाहरण के लिए, बहन के साथ मेरा प्रत्यक्ष सम्बन्ध है अर्थात् बहन प्राथमिक सम्बन्धी के अन्तर्गत है। इस बहन का अपने पति के साथ भी प्रत्यक्ष या प्राथमिक सम्बन्ध है, पर बहन के उस पति के साथ मेरा प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं; उसके साथ मेरा बहनोई का सम्बन्ध बहन के द्वारा है। इस प्रकार बहन का पति मेरे प्राथमिक सम्बन्धी का प्राथमिक सम्बन्धी है। इसी प्रकार पत्नी का भाई भी द्वितीयक सम्बन्धी है।

इसी प्रकार तृतीयक सम्बन्धी (Teritiary Kins) भी हो सकते हैं। तृतीयक सम्बन्धी वे सम्बन्धीगण हैं जो हमारे द्वितीयक सम्बन्धी के प्राथमिक सम्बन्धी हैं। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति की सलहज तृतीयक सम्बन्धी हुई क्योंकि इस व्यक्ति की पत्नी का भाई (या साला) उस व्यक्ति का द्वितीयक सम्बन्धी हुआ और इस द्वितीयक सम्बन्धी (साले) की पत्नी उसकी (साले की) प्राथमिक सम्बन्धी हुई। इस प्रकार एक व्यक्ति के साले की पत्नी को उस व्यक्ति के द्वितीयक सम्बन्धी के प्राथमिक सम्बन्धी होने के नाते तृतीयक सम्बन्धी कहा जाएगा।

इस प्रकार चतुर्थिक, पंचमिक आदि सम्बन्ध-सूत्रों की विस्तृत विवेचना सम्भव है। **श्री मुरडॉक** (Murdock) ने इस विषय में गहन अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला है कि एक व्यक्ति के लगभग 33 द्वितीयक और 551 तृतीयक सम्बन्ध-प्रकार हो सकते हैं।

सम्बन्ध-संज्ञाएँ (Kinship Terms)

एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियों के सम्बन्ध को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने के लिए अलग-अलग तरह के सम्बन्धों के लिए भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग किया जाता है। फिर भी प्रत्येक समाज में प्रत्येक प्रकार के सम्बन्ध के लिए अलग-अलग शब्दों का ही व्यवहार किया जाता है, यह कहना भी गलत होगा। इस सम्बन्ध में **श्री मॉर्गन** सर्वप्रथम सम्बन्ध-संज्ञाओं का विस्तृत अध्ययन करके इस निष्कर्ष पर आए कि सम्बन्ध-संज्ञाओं को हम मोटे तौर पर **दो** भागों में बाँट सकते हैं—(1) वर्गीकृत सम्बन्ध-संज्ञाएँ (Classificatory Kinship Terms) और (2) विशिष्ट या वर्णनात्मक सम्बन्ध-संज्ञाएँ (Particularizing or Descriptive Kinship Terms) ।

1. वर्गीकृत संज्ञा-व्यवस्था के अनुसार अनेक नाते-रिश्तेदारों को एक ही वर्ग या श्रेणी के अन्तर्गत मान लिया जाता है। उदाहरणार्थ, कराडजेरी (Karadjeri) समाज में एक व्यक्ति 'ताबलू' (Tabulu) शब्द का प्रयोग न केवल अपने पिता के लिए करता है बल्कि पिता के भाई (चाचा और ताऊ) के लिए भी करता है। इसी प्रकार सेमा नागा जाति में 'अजा' शब्द का प्रयोग माँ, चाची, ताई तथा मौसी सभी के लिए किया जाता है। कूकी लोगों

में 'हेपु' संज्ञा का प्रयोग पिता के पिता, माता के पिता, माता के भाई, पत्नी के पिता, मामा के पुत्र, पत्नी के भाई, साले के लड़के आदि के लिए किया जाता है। आदिम समाजों में ही नहीं बल्कि आधुनिक समाजों में भी वर्गीकृत संज्ञा-व्यवस्था पाई जाती है। उदाहरणार्थ, अंग्रेजी में 'अंकल' (uncle) शब्द का प्रयोग चाचा, माामा, ताऊ, फूफा, मौसा आदि सम्बन्धियों के लिए होता है। इसी प्रकार 'कज़िन (cousin) शब्द से चचेरे, ममेरे, फुफेरे और मौसेरे भाई-बहनों का बोध होता है।

2. इसके विपरीत, विशिष्ट वर्णनात्मक सम्बन्ध-संज्ञाओं से एक शब्द या संज्ञा द्वारा एक ही सम्बन्धी को सूचित किया जाता है। जैसे यदि हम 'माँ' शब्द का प्रयोग करते हैं तो इससे केवल एक विशिष्ट सम्बन्धी का ही बोध होता है। इसी प्रकार, चाचा, मामा आदि विशिष्ट सम्बन्ध-संज्ञाएँ हैं।

3.9 नातेदारी की रीतियाँ (Kinship Usages)

नातेदारी-व्यवस्था के अन्तर्गत अनेक प्रकार के व्यवहार (behaviour patterns) का भी समावेश होता है। हमारा किसी एक व्यक्ति से एक विशेष सम्बन्ध है, बात यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती। इस रिश्ते या सम्बन्ध से सम्बन्धित एक विशिष्ट प्रकार का व्यवहार भी हुआ करता है। उदाहरणार्थ, 'अ' और 'ब' परस्पर पति-पत्नी हैं। इस सम्बन्ध के आधार पर उनके व्यवहारों का एक विशिष्ट रूप या प्रतिमान (pattern) होगा। यह नहीं हो सकता कि इन दोनों के व्यवहारों का प्रतिमान बिल्कुल उसी तरह का हो जैसा कि माता-पुत्र के व्यवहार का होता है। कुछ रिश्तों का आधार श्रद्धा और सम्मान का होता है, तो कुछ का प्रेम और कुछ का प्रीति का। माता-पिता के साथ जो सम्बन्ध होता है उसका आधार श्रद्धा और सम्मान है, पत्नी के साथ सम्बन्ध का आधार प्रेम है, जबकि छोटे भाई-बहनों के साथ सम्बन्ध का आधार प्रीति है। साले-बहनोई या जीजा-साली का सम्बन्ध केवल सम्बन्ध ही नहीं, 'मधुर सम्बन्ध' है। अत: स्पष्ट है कि नातेदारी-व्यवस्था में दो सम्बन्धियों के बीच का सम्बन्ध या व्यवहार किस प्रकार का होगा, इसके विषय में कुछ नियम या रीतियाँ होती हैं; इसी को नातेदारी की रीतियाँ (Kinship Usages) कहते हैं। इन रीतियों में जो बहुत ही प्रमुख या विलक्षण हैं उनका उल्लेख हम यहाँ करेंगे।

परिहार (Avoidance)

नातेदारी-व्यवस्था में परिहार का नियम या रीति-बहुत ही लोकप्रिय है। 'परिहार' का अर्थ यह है कि कुछ ऐसे रिश्ते हैं जो दो व्यक्तियों के बीच एक निश्चित सम्बन्ध तो स्थापित करते हैं, पर साथ ही इस बात का निर्देश देते हैं कि वे एक-दूसरे से दूर रहें और पारस्परिक अन्त:क्रिया में यथा सम्भव प्रत्यक्ष या आमने-सामने रहते हुए सक्रिय भाग न लें। इस प्रकार के सम्बन्ध में पुत्र-वधू तथा सास-ससुर का सम्बन्ध बहुत ही सामान्य है। इसी प्रकार दामाद तथा सास का पारस्परिक सम्बन्ध भी कुछ समाजों में परिहार के अन्तर्गत ही आता है। कुछ उदाहरण ों से इस प्रकार के सम्बन्धों का स्पष्टीकरण सरलता से हो सकेगा।

यूकाघिर (Yukaghir) जनजाति में यह नियम है कि एक वधू कभी भी अपने ससुर या जेठ (husband's elder brother) के चेहरे को न देखे और न ही दामाद को अपनी सास या ससुर के चेहरे को देखना चाहिए। इन सम्बन्धियों को परस्पर आदि कुछ कहना होता है तो पर्दा करते हुए कहते हैं या किसी दूसरे से कहलवा देते हैं। ओस्ट्याक (Ostyak) में ससुर तब तक सामने नहीं आते हैं जब तक वधू के बच्चे पैदा न हो जाएँ। अगर कभी अचानक वे एक-दूसरे के सामने पड़ जाते हैं तो वधू फौरन घूँघट से अपना चेहरा छिपा लेती है। वधू को जीवन-भर ससुर के सामने घूँघट निकालना पड़ता है।

इस प्रकार के नियम हिन्दू-समाज में भी पाए जाते हैं। ससुर तथा अन्य वयोवृद्ध सम्बन्धियों के सामने घूँघट निकालना बहू के लिए एक सामान्य नियम है। इसी प्रकार पति, ससुर, जेठ आदि के नाम का उच्चारण बहू नहीं करती है। सास-ससुर तथा दामाद के बीच के सम्बन्ध को भी कुछ समाजों में नियन्त्रित किया जाता है। न्यूगिनी की बुकाऊ जनजाति में सास-ससुर और दामाद न तो एक-दूसरे को देखते हैं, न बोलते हैं और न ही एक-दूसरे का नाम लेते हैं। अगर दामाद के सामने बैठकर कुछ काम करना है तो ससुर को अपना चेहरा ढँककर बैठना पड़ता है। अगर कहीं इत्तफ़ाक से दामाद अपने ससुर को मुँह (mouth) खोलते देख ले तो ससुर को इतना लज्जित होना पड़ता है

नोट

कि वह जंगल में भाग जाता है। आस्ट्रेलिया की जनजातियों में तो इस प्रकार के निषेध और कठोर हैं। वहाँ कुछ जनजातियों में दामाद को देखना या उससे बात करना तो दूर रहा, सास को उसके नाम तक को अपने कानों से सुनने की मनाही है। इन नियमों को तोड़ने से विवाह-विच्छेद हो सकता है या दामाद को गाँव से निकाल दिया जाता है और कभी-कभी तो प्राणदण्ड तक मिलता है। अफ्रीका की जूलू जनजाति में दामाद अपनी सास के पास तक कभी नहीं जाता और अगर कभी सास उसके पास से गुजर जाती है तो जो कुछ भी दामाद के मुँह में उस समय होता है उसे निकालकर फेंक देता है।

वधू या दामाद अपने सास-ससुर की उपरोक्त परिहार की रीतियों को 'सास-ससुर सम्बन्धित निषेध' (parent-in-law taboos) कहते हैं। इन निषेधों को ऊपरी तौर पर देखने से ऐसा लगता है कि इन निषेधों का पालन करने वालोंका पारस्परिक सम्बन्ध बहुत ही तनाव या संघर्षपूर्ण होगा; परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। कुछ जनजातियों के लोग तोयह स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि उनमें इस प्रकार के निषेध केवल संबंधियों के प्रति सम्मान प्रदर्शन के हेतु हीहैं।

इस विषय पर **श्री टायलर** (Tylor) का मत यह है कि उपरोक्त निषेध मातृ-सत्तात्मक परिवार-प्रथा के कारण हैं। इस प्रकार की परिवार-प्रथा में वर को पत्नी के घर जाकर रहना पड़ता था, जहाँ वह (वर) बिल्कुल भी अजनबी होता था। इस प्रकार उस परिवार की अन्य स्त्रियाँ, विशेषकर सास जो परिवार की मालकिन होती थी, उस अजनबी वर से दूर रहती थी। इसी से धीरे-धीरे आगे चलकर सास सम्बन्धित निषेध पनपे हैं। इसी प्रकार पितृस्थानीय परिवारों में ससुर से सम्बन्धित निषेधों का जन्म हुआ है, परन्तु आज इस मत से बहुत से विद्वान सहमत नहीं हैं। होपी तथा जूनी जनजातियाँ, जो मातृस्थानीय हैं इस प्रकार के नियमों को नहीं मानतीं। आस्ट्रेलिया की वे जनजातियाँ, जो पितृस्थानीय हैं, दामाद का परिहार करती हैं, न कि वधू का।

इस विषय पर **श्री फ्रेज़र** (Frazer) का मत यह है कि इन निषेधों का उद्देश्य यौन-सम्बन्धों को नियन्त्रित करना अर्थात् निकटाभिगमन (incest) को रोकना है। **श्री फ्रेज़र** का कथन है कि कुछ जनजातियाँ तो इस विषय में इतनी अधिक तटस्थ हैं कि भाई-बहन तक को एक-दूसरे से अलग रखती हैं। उदाहरणार्थ, लंका की वेड्डा (Vedda) जनजाति में भाई-बहन एक ही कमरे में नहीं रह सकते और न ही एक साथ बैठकर खाना खा सकते हैं। **श्री फ्रेज़र** के सिद्धान्त के आधार पर सास-दामाद के परिहार को यदि मान भी लिया जाए, तो भी इससे इस बात का स्पष्टीकरण नहीं होता कि ससुर-दामाद के रिश्ते में इस प्रकार के निषेध क्यों हैं?

श्री फ्रायड (Freud) ने मनोवैज्ञानिक आधारों पर परिहार को समझाने का प्रयत्न किया है। आपके अनुसार, इस प्रकार के निषेधों का एकमात्र उद्देश्य दामाद और सास या वधू और ससुर में पारस्परिक यौन-सम्बन्धी आकर्षण को रोकना है। **श्री लोई** (Lowie) का मत है कि वर और उसके ससुराल या दामाद और उसके ससुराल दोनों की सामाजिक और पारिवारिक पृष्ठभूमि में भिन्नता होने के कारण ही इस प्रकार का परिहार पनपा है। **श्री रैडक्लिफ-ब्राउन** (Radcliffe-Brown) के मतानुसार, नातेदारी में कुछ ऐसे सम्बन्धी होते हैं जिनके अत्यधिक घनिष्ठ होने पर परिवार के अन्य सदस्यों में द्वेष या ईर्ष्या की भावना पनप सकती है जो स्वस्थ पारिवारिक जीवन के लिए हानिकारक सिद्ध होगी। इसलिए इन सम्बन्धीगण को दूर-दूर ही रखा जाता है। सास, ससुर, दामाद, वधू इसी प्रकार के सम्बन्धीगण हैं। इसीलिए **श्री टर्नी हाई** (Turney High) का कथन है कि सास को दामाद से और वधू को ससुर से दूर रखना पारिवारिक शान्ति को बनाए रखने के लिए आवश्यक समझा गया। हिन्दू परिवार में ससुर तथा अन्य वयोवृद्ध संबंधियों के सामने घूँघट निकालना बहू के लिए एक सामान्य नियमहैं।

परिहास-सम्बन्ध (Joking Relationship)

नातेदारी की रीतियों में परिहास-सम्बन्ध, परिवार का बिल्कुल विपरीत रूप है। जहाँ परिहार दो सम्बन्धियों को एक-दूसरे से दूर ले जाता है, वहाँ परिहास-सम्बन्ध दो व्यक्तियों को अति निकट लाता है। निश्चित अर्थ में यह दो व्यक्तियों को 'मधुर-सम्पर्क' या सम्बन्ध-सूत्र में बाँधता है और दोनों को एक-दूसरे के साथ हँसी-मज़ाक करने का अधिकार देता है। **श्री रैडक्लिफ-ब्राउन** के अनुसार, "परिहास-सम्बन्ध दो व्यक्तियों का वह सम्बन्ध है

नोट

जिसमें प्रथा द्वारा एक पक्ष को यह छूट रहती है और कभी-कभी उससे यह माँग की जाती है कि वह दूसरे पक्ष को तंग करे, छेड़े या उससे हँसी-मज़ाक करे, पर दूसरा पक्ष इसका कुछ भी बुरा न माने।"

जबकि परिवार में यौन-सम्बन्धी विषयों से बचने का भरसक प्रयत्न किया जाता है, पर परिहास-सम्बन्ध में यौन-सम्बन्धी हँसी-मज़ाक की उतनी ही छूट रहती है। देवर-भाभी, जीजा-साली, साले-बहनोई आदि का सम्बन्ध केवल आदिम समाजों में ही नहीं, हमारे अपने समाज में भी परिहास-सम्बन्ध के उत्तम उदाहरण हैं। वे एक-दूसरे को छेड़ते हैं, एक-दूसरे की सामान्य त्रुटि पर खिल्ली उड़ाते हैं, सबके सामने एक-दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न करते हैं और यौन-सम्बन्धी हँसी-मज़ाक में सम्मिलित होते हैं। इन सम्बन्धियों में हँसी-मज़ाक की मात्रा तथा क्षेत्र त्यौहारों के दिनों में बहुत बढ़ जाता है। होली का त्यौहार इस विषय में उल्लेखनीय है।

कुछ समाजों में परिहास-सम्बन्ध का क्षेत्र गाली देने, यौन-सम्बन्धी मज़ाक करने और खिल्ली उड़ाने तक ही सीमित न रहकर, एक-दूसरे की वस्तुओं की दुर्गति या सम्पत्ति की बर्बादी करने तक विस्तृत होता है। मैलेनेशिया में भतीजे को यह अधिकार होता है कि वह अपने चाचा की सम्पत्ति को चाहे रखे या बर्बाद करे और इनके बीच के परिहास-सम्बन्ध के कारण ही चाचा से यह आशा की जाती है कि वह भतीजे के किसी भी व्यवहार का बुरा न माने।

कुछ समाजों में परिहास-सम्बन्ध दादी-पोते या दादा-पोती के बीच भी होते हैं। कुछ ऐसे समाज भी हैं जहाँ मामा-भानजे के बीच परिहास-सम्बन्ध पाए जाते हैं। अरापाही समाज में जीजा-साली में से कोई अगर देर तक सोता है, तो उस पर जो जागता रहता है या जल्दी उठ जाता है, ठण्डा पानी डाल देता है। ये लोग आपस में चुम्बन भी ले सकते हैं।

भारतीय जनजातियों में भी परिहास-सम्बन्धों का अत्यधिक विस्तार है। देवर या साली के साथ हँसी-मज़ाक करने की प्रथा तो बहुत ही सामान्य है। ओराँव तथा बैगा जनजातियों में दादी-पोते या दादा-पोती के बीच परिहास-सम्बन्ध पाए जाते हैं।

श्री रिवर्स (Rivers) का विश्वास है कि परिहास-सम्बन्ध की उत्पत्ति फुफेरों-ममेरों में विवाह सम्बन्ध, जो प्रारम्भिक युग में सामान्य था, के कारण हुई थी। **श्री वेस्टरमार्क** इस सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं। आपके मतानुसार, किसी भी संस्था से किसी अन्य एक संस्था की उत्पत्ति की कल्पना बहुत सरल है परन्तु उसे प्रमाणित करना कठिन है। परिहास-सम्बन्ध केवल मात्र पारस्परिक समानता की ओर निर्देश करता है और उन दो सम्बन्धित व्यक्तियों को एक-दूसरे से घनिष्ठ करता है जिनमें पहले विवाह-सम्बन्ध स्थापित होने की सम्भावना रहती थी। देवर-भाभी और जीजा-साली के बीच पाए जाने वाले परिहास-सम्बन्ध की उत्पत्ति इसी सम्भावना के आधार पर हुई होगी। **श्री रैडक्लिफ-ब्राउन** के अनुसार, परिहास-सम्बन्धों का एक प्रतीकात्मक अर्थ (symbolic meaning) होता है और वह यह कि इस सम्बन्ध से सम्बन्धित व्यक्ति हँसी-मज़ाक और यहाँ तक कि मारपीट के माध्यम से एक-दूसरे के प्रति मित्रता या प्रीति का प्रदर्शन करते हैं। पारिवारिक जीवन को सजीव बनाए रखने में इनके महत्त्व को अस्वीकार नहीं करना चाहिए, यदि इस प्रकार के सम्बन्धों का दुरुपयोग न किया जाए।

माध्यमिक सम्बोधन (Teknonymy)

नातेदारी-व्यवस्था की एक और रीति-माध्यमिक सम्बोधन है। इस रीति को माध्यमिक सम्बोधन इसलिए कहा जाता है क्योंकि इस रीति के अनुसार एक सम्बन्धी को सम्बोधन करने के लिए किसी दूसरे व्यक्ति को माध्यम बनाया जाता है क्योंकि उस सम्बन्धी को उसके नाम से पुकारना वर्जित होता है। उदाहरणार्थ, भारत के प्राय: सभी ग्रामीण समुदायों में पति का नाम लेना पत्नी के लिए वर्जित होता है। इस कारण पत्नी पति को सम्बोधित करने के लिए अपने किसी लड़के या लड़की को माध्यम बना लेती है और उसी के सम्बन्ध से पति को पुकारती है जैसे, यदि लड़के का नाम राजू है तो वह स्त्री अपने पति को 'राजू के पिता' कहकर सम्बोधित करती है।

'माध्यमिक सम्बोधन' का अंग्रेजी शब्द 'टेक्नॉनिमी' (teknonymy) ग्रीक भाषा से बना है। इसे मानवशास्त्रीय साहित्य में सर्वप्रथम प्रयोग करने का श्रेय **श्री टायलर** को है। सांख्यिकीय पद्धति (statistical method) के

नोट

आधार पर **श्री टायलर** का निष्कर्ष यह है कि माध्यमिक सम्बोधन की रीति मातृसत्तात्मक परिवार से सम्बन्धित है। इस प्रकार के परिवारों में स्त्रियों की प्रधानता होती थी और पति को एक बाहर का व्यक्ति समझा जाता था जिसके कारण परिवार में उसकी कोई विशेष स्थिति नहीं होती थी। इसीलिए उसे प्राथमिक सम्बन्धियों (primary kins) में सम्मिलित न करके केवल द्वितीयक सम्बन्धी (secondary kins) के रूप में स्वीकार किया जाता था और इस उद्देश्य से उस पति को उन बच्चों के, जिनको पैदा करने में उसने सहायता की है, माध्यम से सम्बोधित किया या पुकारा जाता था। इसी रीति का जब विस्तार हुआ तो माता को भी माध्यमिक सम्बोधन से पुकारा जाने लगा।

श्री टायलर का कथन था कि उनके अध्ययन में प्राय: 30 जनजातियाँ ऐसी थीं जिनमें माध्यमिक सम्बोधन की रीति प्रचलित थी; जिसमें दक्षिणी अफ्रीका की बेचुआना, पश्चिमी कनाडा की क्रो तथा भारत (असम) की खासी जनजातियों का नाम विशेष उल्लेखनीय है। परन्तु आधुनिक अनुसन्धानों से पता चलता है कि माध्यमिक सम्बोधन की रीति का विस्तार इससे कहीं अधिक है। **श्री फ्रेज़र** ने इस रीति का प्रचलन आस्ट्रेलिया, न्यूगिनी, मलाया, चीन, उत्तरी साइबेरिया, अफ्रीका की विभिन्न बाँटू (Bantu) जनजातियों, उत्तरी ब्रिटिश कोलम्बिया आदि में पाया है। **श्री लोई** का कथन है कि **श्री फ्रेज़र** द्वारा प्रस्तुत यह सूची भी पूरी नहीं है। उपरोक्त जनजातियों या स्थानों के अलावा भी अनेक अन्य स्थानों में माध्यमिक सम्बोधन की रीति का प्रचलन है। उदाहरणार्थ, अण्डमान, लंका, फिज़ी, मलेशिया तथा अमेरिका के विभिन्न भागों में भी इस रीति का प्रचलन है। होपी समाज में एक स्त्री अपनी सास को 'अमुक की दादी' और ससुर को 'अमुक का दादा' कहकर पुकारती है। इसी ढंग से पुरुष भी अपने सास-ससुर को सम्बोधित करते हैं। पति और पत्नी भी एक-दूसरे को बच्चों के माध्यम से सम्बोधित करते हैं।

माध्यमिक सम्बोधन की रीति की उत्पत्ति के सम्बन्ध में श्री टायलर के सिद्धान्त को भी **श्री लोई** ने स्वीकार नहीं किया है। आपका कथन है कि माध्यमिक सम्बोधन की रीति पुरुषों के लिए ही नहीं, स्त्रियों के लिए भी क्यों प्रयोग में लाई जाती है, इसकी व्याख्या श्री टायलर के मातृसत्तात्मक परिवार के सिद्धान्त के आधार पर सम्भव नहीं। आस्ट्रेलिया, मलेशिया आदि की जनजातियाँ पितृसत्तात्मक और पितृस्थानीय होते हुए भी उनमें माध्यमिक सम्बोधन की रीति का प्रचलन पाया जाता है। वास्तव में इस रीति का प्रचलन विभिन्न समाजों में भिन्न-भिन्न कारणों से हुआ। कुछ समाजों में इसके प्रचलन का कारण स्त्रियों की गिरी हुई स्थिति है (जैसे गोल्ड जनजाति में); कुछ समाजों में पुरुषों की स्थिति नीची होने के कारण और कुछ समाजों में प्रत्येक प्रकार के सम्बन्धी के लिए पृथक्-पृथक् शब्दों या संज्ञाओं की कमी के कारण (जैसे होपी जनजाति में) इस रीति का प्रचलन हुआ।

मातुलेय (Avunculate)

'एवंकुलेट' (avunculate) या 'मातुलेय' शब्द उस प्रथा की ओर निर्देश करता है जो मामा-भानजे या भानजी के पारस्परिक सम्बन्धों को एक विशिष्ट ढंग से नियमित करती है। इसका प्रचलन उन मातृसत्तात्मक परिवारों में होता है जहाँ माता के भाई (मामा या मातुल) का पारिवारिक मामले में अत्यधिक महत्त्व और नियन्त्रण होता है। यदि पारिवारिक मामले में मामा का अधिकार और नियन्त्रण प्रमुख है, यदि लोगों से यह माँग की जाती है कि वे अपने पिता से भी अधिक सम्मान मामा का करें, यदि मामा का भी अपने भानजे-भानजियों के प्रति उनके पिता से कहीं अधिक उत्तरदायित्व तथा कर्त्तव्य है, यदि मामा अपनी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी भानजे को ही बनाए और यदि भानजा भी पिता की अपेक्षा मामा की सेवा अधिक करे अर्थात् अन्य सभी पुरुष-सदस्यों में मामा का स्थान या स्थिति सर्वोपरि हो तो इस व्यवस्था या प्रथा को 'मातुलेय' कहते हैं।

उत्तरी-पश्चिमी अमेरिका की हैडा जनजाति में यह प्रथा है कि दस वर्ष की आयु में पुत्र पिता का घर छोड़कर अपने मामा के यहाँ रहने के लिए चला जाता है। वहीं रहकर वह मामा के परिवार और समाज की बातों को सीखता है, मामा की सेवा करता है और बड़ा होने पर मामा की सम्पत्ति की देख-रेख करता है। मामा भी उसके समस्त भार को सहर्ष अपने ऊपर ले लेता है। मामा के गोत्र, जादू, धर्म तथा सम्पत्ति पर भानजे का ही अधिकार होता है। ट्रोब्रियंड (Trobriand) जनजातियों में भी ठीक इसी प्रकार से होता है। होपी तथा जूनी जनजातियों में पुत्र तब तक अपने पिता के घर में रहता है जब तक उसके विवाह की आयु न आ जाए। इस आयु में वह अपने मामा के घर चला जाता है और मामा उसका विवाह-संस्कार करवाकर उसे अपने परिवार के सदस्य के रूप में स्वीकार कर लेता है।

मातुलेय प्रथा प्रत्येक समाज में शान्तिपूर्वक ढंग से स्वीकार नहीं की जाती है। उदाहरणार्थ, ट्रोब्रियंड प्रायद्वीप के निवासियों में पिता के स्नेह तथा मातुलेय कर्त्तव्य के बीच प्रायः संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। हो सकता है कि पिता को अपने लड़के से इतना प्यार हो जाए कि वह अपनी सम्पत्ति को भानजे को देने के बजाय अपने ही लड़के को देना अधिक पसन्द करे। उस अवस्था में भानजे तथा मामा के बीच एक तनाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

यह सच है कि मातुलेय तथा मातृसत्तात्मक समाजों की एक विशेषता है, परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि पितृसत्तात्मक समाज में इसका बिल्कुल प्रचलन नहीं है। दक्षिणी अफ्रीका की थोंगा (Thonga) जनजाति पितृवंशीय है। यहाँ पत्नी को विवाह के पश्चात् अपने पति के गाँव या घर में जाकर रहना पड़ता है और बच्चों पर भी पिता के परिवार का अधिकार होता है। फिर भी मामा का घर राज्यों के लिए 'द्वितीयक शरण-स्थान' (secondary heaven) होता है। कोमांचे जनजाति में भी, जो पितृसत्तात्मक है, मातुलेय प्रथा का प्रचलन है।

पितृश्वस्त्रेय (Amitate)

'मातुलेय' प्रथा के अन्तर्गत जिस प्रकार माता के भाई का विशेष अधिकार तथा स्थिति होती है, उसी प्रकार पितृश्वस्त्रेय प्रथा में पिता की बहन, बुआ या पितृश्वसा का अधिक महत्त्व होता है। **डॉ. रिवर्स** (Rivers) ने इस प्रकार की अनेक जनजातियों का उल्लेख किया है जिनमें कि इस प्रकार की प्रथा पाई जाती है। बैक्स प्रायद्वीप में एक व्यक्ति अपनी बुआ का अपनी माता से कहीं अधिक सम्मान करता है और उस व्यक्ति के विवाह-साथी का चुनाव बुआ द्वारा ही होता है। बुआ की सम्पत्ति पर इस व्यक्ति का पूर्ण अधिकार होता है। वह व्यक्ति इस सम्पत्ति को मनमाने ढंग से खर्च कर सकता है। दक्षिणी अफ्रीका की कुछ जनजातियों में भी यह प्रथा पाई जाती है। वे लोग भी अपनी बुआ का काफी आदर करते हैं। टोडा जनजाति में बच्चे का नामकरण करने का अधिकार बुआ को ही प्राप्त होता है। कुछ जनजातियों में तो दाह-संस्कार का भी अधिकार बुआ को ही प्राप्त होता है। **सर्वश्री चैपल तथा कून** (Chapple and Coon) का मत है कि पितृश्वस्त्रेय प्रथा के प्रचलन का कारण उन सम्बन्धियों में पारस्परिक सामाजिक अन्त:क्रिया को बनाए रखना है, जिसमें विवाह के पश्चात् उस अन्त:क्रिया के समाप्त होने की सम्भावना रहती है।

सह-प्रसविता या सहकष्टी (Cauvade)

नातेदारी-व्यवस्था के अन्तर्गत एक अति निराली प्रथा 'सह-प्रसविता' है। जैसा इसके नाम से ही स्पष्ट है, इस प्रथा का सम्बन्ध प्रसव-काल से है। इस प्रथा के अनुसार पति के लिए भी यह आवश्यक हो जाता है कि जब कभी भी उसकी पत्नी को बच्चा होने वाला हो तो वह भी उन सब कष्टों का अनुभव करे तथा बहुत-कुछ वैसा ही व्यवहार करे और दिन गुजारे जैसा प्रसवा कर रही है। ऐसी स्थिति में पति को भी उसी प्रकार का भोजन करना पड़ता है जैसा प्रसवा करती है, उसे भी उसी कमरे में बन्द रखा जाता है जिसमें प्रसवा बच्चा प्रसव होने के बाद कुछ दिनों के लिए रहती है। फलत: जिस प्रकार प्रसवा को छूत माना जाता है उसी प्रकार उसके पति को भी कोई छूता नहीं है। कुछ जनजातियों में तो यहाँ तक नियम है कि बच्चा प्रसव होने के समय जो दर्द प्रसवा को होता है और जिसके कारण वह रोती-चिल्लाती है उसी प्रकार पति को भी उन कष्टों को अनुभव करना तथा चिल्लाना-चीखना पड़ता है। इतना ही नहीं, प्रसवा जिन-जिन नियमों का पालन करती है, पति को भी उन्हीं नियमों का पालन करना पड़ता है। इसीलिए खासी जनजाति में पति, अपनी पत्नी की भाँति, बच्चा पैदा न होने तक कोई नदी पार नहीं करता या कपड़े नहीं धोता है।

इस प्रथा के प्रचलन के सम्बन्ध में मानवशास्त्री एकमत नहीं हैं। कुछ विद्वानों का कथन है कि जनजातियों में जादू के द्वारा नुकसान पहुँचने का डर अत्यधिक होता है। इसलिए माता और पिता दोनों पर ही अनेक प्रतिबन्ध लगाकर उन दोनों की जादू-टोने से तब तक रक्षा करते हैं जब तक बच्चा सकुशल पैदा न हो जाए। कुछ मानवशास्त्रियों के अनुसार, इस प्रथा द्वारा पति भी सन्तान के प्रति अपना उत्तरदायित्व प्रदर्शित करता है। यह भी हो सकता है कि पत्नी के प्रति संवेदना प्रदर्शित करने के लिए पति ऐसा करता है। **श्री मैलिनोवस्की** (Mailnowski) का कथन है कि इस प्रथा के पालन द्वारा पति अपनी पत्नी तथा बच्चों के प्रति प्रेम की भावना को व्यक्त करता है जिसके फलस्वरूप उनका पारस्परिक सम्बन्ध और दृढ़ होता है। **डॉ. दुबे** ने लिखा है कि "इस प्रथा के मूल में

नोट

सामाजिक कारण यह दिख पड़ता है कि जो व्यक्ति इतने कष्ट सहता है, वह सामाजिक रूप से ज्ञात हो जाता है और इसलिए वह पुरुष उस सन्तति का पिता बनने का अधिकारी हो जाता है। यह सदैव आवश्यक नहीं है कि यह पिता जैविकीय (biological) पिता भी रहा हो। टोडा समाज में इस प्रथा को धनुष-बाण की भेंट देकर पूरा किया जाता है।" जिस प्रकार टोडा जनजाति धनुष-बाण भेंट करके पितृत्व का अधिकार प्राप्त करती है, उसी प्रकार दूसरे समाजों में सह-प्रसविता पितृत्व को प्रदर्शित करने की एक सामाजिक प्रथा है।

3.10 धर्म का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Religion)

धर्म मानव समाज का ऐसा व्यापक, स्थायी एवं शाश्वत तत्व है जिसको सम्यक् रूप से समझे बिना हम समाज के रूप को समझने मे असफल रहेंगे। वर्तमान में मानव ने विज्ञान के सहारे पर्यावरण पर काफी नियन्त्रण प्राप्त कर लिया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि कई समाज या तो धर्म-निरपेक्ष हो गये हैं या धर्म में रुचि नहीं रखते और धार्मिक विश्वासों की वैधता को स्वीकार नहीं करते। फिर भी धर्म आज भी एक सार्वभौमिक तथ्य बना हुआ है। धर्म मानव का अलौकिक शक्ति से सम्बन्ध जोड़ता है। इसका सम्बन्ध मानव की भावनाओं, श्रद्धा एवं भाक्ति से है। धर्म मानव के आन्तरिक जीवन को ही प्रभावित नहीं करता, वरन् उसके सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक जीवन को भी प्रभावित करता है। **मार्क्स** धर्म को मानव के लिए 'अफीम' मानते हैं। **मैक्स वेबर** का मत है कि धर्म हमारे आर्थिक जीवन को प्रभावित करता है। यूरोप में जब प्रोटेस्टैण्ट धर्म का उदय हुआ तो पूंजीवाद ने जन्म लिया। क्योंकि धार्मिक आचार ही आर्थिक क्रियाओं को निर्धारित करते हैं, अत: जब धर्म में परिवर्तन होता है तो आर्थिक क्रियाओं में भी परिवर्तन आता है। इस प्रकार धर्म मानव जीवन का एक प्रमुख अंग है। हम यहां धर्म के विभिन्न पक्षों पर विचार करेंगे।

स्टीफेन फच्स (Stephen Fuchs) के मतानुसार, "रिलिजन (धर्म) शब्द रेलिगेयर (Religare) से बना है जिसका अर्थ है 'बांधना' अर्थात् मनुष्य को ईश्वर से सम्बन्धित करना।" धर्म शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृति भाषा के 'धृ' शब्द से मानी जाती है जिसका अर्थ है 'धारण करना' अर्थात् सभी जीवों के प्रति मन में दया धारण करने को ही धर्म कहा गया है। हिन्दू धर्म-ग्रन्थों में तामस एवं राजस गुणों के स्थान पर सात्विक गुणों को धारण करने को ही धर्म माना गया है। धर्म के अर्थ को स्पष्ट करने हेतु विभिन्न विद्वानों ने परिभाषाएँ दी हैं जो इस प्रकार हैं:

एडवर्ड टायलर (Edward Tylor) के अनुसार, "धर्म आध्यात्मिक शक्ति में विश्वास है।"

सर जेम्स फ्रेजर (Sir James Frazer) कहते हैं, "धर्म से.....मैं मनुष्य से श्रेष्ठ उन शक्तियों की सन्तुष्टि या आराधना समझता हूँ जिनके सम्बन्ध में यह विश्वास किया जाता है कि वे प्रकृति और मानव जीवन को मार्ग दिखाती और नियन्त्रित करती हैं।"

मैलिनोवस्की ने धर्म में समाजशास्त्रीय एवं मनोवैज्ञानिक दोनों ही पहलुओं का समावेश करते हुए लिखा है, "धर्म क्रिया की एक विधि है और साथ ही विश्वासों की एक व्यवस्था भी। धर्म एक समाजशास्त्रीय घटना के साथ-साथ एक व्यक्तिगत अनुभव भी है।"

पी. हॉनिगशीम (P. Honigsheim) के अनुसार, "प्रत्येक उस मनोवृत्ति को धर्म कहेंगे जो इस विश्वास पर आधारित है कि अलौकिक शक्तियों का अस्तित्व है तथा उनसे सम्बन्ध स्थापित करना न केवल महत्त्वपूर्ण है वरन् सम्भव भी है।"

हॉबेल (Hoebel) के अनुसार, "धर्म अलौकिक शक्ति में विश्वास पर आधारित है जिसमें आत्मावाद और मानावाद दोनों सम्मिलित हैं।"

क्यूबर (Cuber) का विचार है, "धर्म सांस्कृतिक जीवन से सम्बन्धित व्यवहार का वह प्रतिमान है जिसका निर्माण पवित्र विश्वासों, विश्वासों से सम्बन्धित उद्वेगपूर्ण विचारों तथा इन्हें व्यक्त करने वाले बाहरी आचरणों आदि से होता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर संक्षेप में कहा जा सकता है कि धर्म किसी-न-किसी प्रकार की अतिमानवीय (Super-human) या अलौकिक (Super-natural) या समाजोपरि (Super-social) शक्ति पर विश्वास है जिसका आधार भय, श्रद्धा, शक्ति और पवित्रता की धारणा है और जिसकी अभिव्यक्ति प्रार्थना, पूजा या आराध ना आदि के रूप में की जाती है।

धर्म के मौलिक लक्षण (विशेषताएँ) (Basic Characteristics of Religion)

धर्म की उपर्युक्त परिभाषाओं से धर्म के कुछ मौलिक लक्षण अथवा विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं जो इस प्रकार हैं:

(1) अलौकिक शक्ति में विश्वास (Belief in Supernatural Power)–**जॉनसन** का कथन है कि "एक अलौकिक शक्ति में विश्वास धर्म का सबसे प्रमुख तत्व है।" विश्वास के बिना किसी भी प्रकार धर्म का निर्माण और विकास नहीं हो सकता। धर्म के अन्तर्गत एक ऐसी शक्ति में विश्वास किया जाता है जो अलौकिक और दिव्य चरित्र की होती है। इसी विश्वास पर धर्म टिका हुआ है और जो लोग इस प्रकार का विश्वास नहीं करते, वे नास्तिक कहलाते हैं। यह शक्ति साकार भी हो सकती है और निराकार भी।

(2) पवित्रता की धारणा (Concept of Sacredness)–जिस धर्म को लोग मानते हैं, उनकी दृष्टि में उस धर्म से सम्बन्धित सब कुछ पवित्र होता है। **दुर्खीम** ने धर्म में पवित्रता पर बल देते हुए लिखा है कि ''धर्म पवित्र वस्तुओं से सम्बन्धित विश्वासों और आचरणों की वह समग्र व्यवस्था है जो इस पर विश्वास करने वालों को एक नैतिक समुदाय में संयुक्त करती है।"

(3) प्रार्थना, पूजा या आराधना (Prayer, Worship or Conciliation)–धर्म में लोग जिस शक्ति पर विश्वास करते हैं, उससे लाभ उठाने व उसके कोप से बचने हेतु प्रार्थना, पूजा तथा आराधना करते हैं। हर धर्म के देवालय व विधियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं।

(4) संवेगात्मक भावनाएं (Emotional Feelings)–धर्म भावना-प्रधान होता है, तर्क-प्रधान नहीं। अलौकिक शक्ति के प्रति संवेगात्मक भावनाएँ होती हैं, जिनकी अभिव्यक्ति उस शक्ति के प्रति श्रद्धा, भय, प्रेम आदि के रूप में की जाती है।

(5) विशेष धार्मिक सामग्री और प्रतीक (Particular Religious Objects and Symbols)–धार्मिक क्रियाओं में अलग-अलग धर्म में अलग-अलग धार्मिक सामग्रियों (Religious objects), धार्मिक प्रतीकों (Religious symbols), जादू-टोनों, पौराणिक कथाओं आदि का समावेश होता है, जैसे हिन्दू धर्म में हवन, पूजा-आरती, केले, पीपल आदि की पूजा व गंगाजल और तीर्थ स्थानों का विशेष महत्त्व है तो ईसाई धर्म में बाइबिल, क्रॉस, मोमबत्ती, आदि का। इसी प्रकार अन्य प्रतीकों या कुछ भौतिक वस्तुओं का समावेश भी धर्म के अन्तर्गत होता है।

(6) निषेध (Taboos)–प्रत्येक धर्म में लोगों के व्यवहारों के नकारात्मक पक्ष को प्रभावित करने की दृष्टि से कुछ निषेध पाये जाते हैं। निषेध का तात्पर्य यही है कि उन्हें कुछ कार्यो की मनाही की जाती है, उन्हें बताया जाता है कि क्या-क्या नहीं करना चाहिए, जैसे–झूठ नहीं बोलना चाहिए, दुराचार, व्याभिचार, बेईमानी आदि नहीं करने चाहिए। कुछ निषेध सभी धर्मो में समान रूप से पाये जाते हैं जबकि कुछ विशेष समाजों से ही सम्बन्धित होते हैं। विवाह सम्बन्धी निषेध प्रत्येक समाज में अलग-अलग पाये जाते हैं।

(7) धार्मिक संस्तरण (Religious Hierarchy)–सामान्यत: प्रत्येक धर्म से सम्बन्धित संस्तरण की एक व्यवस्था पायी जाती है। जिन लोगों को धार्मिक क्रियाएँ अथवा कर्मकाण्ड कराने का समाज द्वारा विशेष अधिकार प्राप्त होता है, उन्हें अन्य लोगों की तुलना में संस्कारात्मक दृष्टि से उच्च एवं पवित्र समझा जाता है। ऐसे लोगों में पण्डे, पुजारी, महन्त-सन्त, पादरी, मौलवी, ओझा आदि आते हैं। संस्तरण की प्रणाली में दूसरा स्थान उन लोगों को प्राप्त होता है जो धर्म के अन्तर्गत बताये गये मार्ग पर चलते हैं। जो लोग धार्मिक आदेशों का पालन नहीं करते, धर्म-विरुद्ध कार्य करते हैं अथवा अपवित्रता लाने वाली वस्तुओं के सम्पर्क में आते हैं, उन्हें समाज में निम्नतम स्थान प्राप्त होता है।

3.11 पूर्व-आधुनिक समाजों में धर्म का उद्‌भव (Origin of Religion in Pre-modern Societies)

मनुष्य के मन में यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठा कि आखिर इस धर्म जैसी जटिल संस्था का जन्म कैसे हुआ। वे कौन-सी परिस्थितियाँ, दशाएँ एवं कारक थे जिन्होंने धर्म जैसी संस्था को जन्म देने में सहायता प्रदान की। **टायलर** ने धर्म का प्रारम्भिक रूप आत्मा में विश्वास को माना है। **मैरेट** जीवसत्तावाद या मानावाद में, **मैक्समूलर** प्राकृतिक

शक्तियों के विश्वास में, **फ्रेजर** जादू-टोनों की असफलता में एवं **दुर्खीम** स्वयं समाज में तथा प्रकार्यवादी धर्म के प्रकार्यों में ही धर्म की उत्पत्ति ढूंढ़ते हैं। अब हम यहाँ धर्म की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्तों की विवेचना करेंगे।

नोट

आत्मावाद या जीववाद (Animism)

आदिम धर्म के बारे में सर्वप्रथम सिद्धान्त अंग्रेज मानवशास्त्री **टायलर** ने प्रस्तुत किया। आपने धर्म के उद्‌गम को खोजा और उसकी विस्तृत व्याख्या ही नहीं की वरन् उसका जादू एवं विज्ञान ये भेद भी बताया। **हरबर्ट स्पेन्सर** भी इस मत के समर्थक थे। टायलर ने कहा कि ऊपरी तौर पर तो हमें धर्मों की बहुलता एवं उनमें अन्तर देखने को मिलते हैं पर मूल रूप में वे सभी एक ही विचार पर आधारित हैं और वह है 'आत्मा' या 'जीव' में विश्वास। आत्मा को आपने आदिम मनुष्यों से लेकर सभ्य मनुष्यों तक के धर्म का आधार माना। इसलिए उनके सिद्धान्त को आत्मावाद या जीववाद के नाम से पुकारा जाता है। उन्होंने मानवशास्त्रीय शब्दकोश को एक नया शब्द 'आत्मावाद' दिया।

आत्मावाद को आप दो भागों में बांटते हैं—प्रथम, आत्मा का सिद्धान्त जिसके अनुसार यह विश्वास किया जाता है कि मनुष्यों में 'आत्माएं' होती हैं जो कि उनकी मृत्यु के बाद भी शेष रहती हैं; द्वितीय प्रेतों का सिद्धान्त जिसके अनुसार ऐसी आत्माओं को भी स्वीकार किया गया है जो मनुष्यों की आत्माओं से पृथक् हैं, वे दैवी आत्माएँ हैं। इस प्रकार आत्माएँ प्रेतात्माओं से लेकर शक्तिशाली प्राणियों तक की होती हैं, जो अमर हैं तथा सांसारिक घटनाओं एवं मानव जीवन को नियन्त्रित एवं निर्देशित करती हैं। यही कारण है कि मनुष्य इन आत्माओं से डरने लगता है और उन्हें भय मिश्रित श्रद्धा की दृष्टि से देखता है। इसलिए ही **टायलर** कहता है कि धर्म आत्मा या आध्यात्मिक शक्ति में विश्वास है। यह विश्वास उसमें दैनिक जीवन के विभिन्न अनुभवों से उत्पन्न हुआ जो कि उसने जागृत एवं निद्रा अवस्था में प्राप्त किये और जो जीवित एवं मृत अवस्था से स्पष्ट हुए। निद्रावस्था में स्वप्न के दौरान वह अपने को कई कार्यों में संलग्न देखता, अपने पूर्वजों से मिलता और ऐसे स्थान पर जाता जहाँ वह पहले कभी नहीं गया। जागृत अवस्था में वह अपनी परछाई देखता, तालाबों एवं नदियों के पानी में अपना प्रतिबिम्ब देखता, अपनी आवाज की प्रतिध्वनि सुनता। इसी समय उसने जीवित और मृत व्यक्ति में भेद भी देखा। मनुष्य के मरने पर उसका बोलना, चलना, खाना-पीना सभी समाप्त हो जाता है, तब आदिम मानव के मन में यह विचार आया होगा कि ऐसी कोई-न-कोई शक्ति अवश्य है जिसके शरीर से निकल जाने पर वह निष्क्रिय हो जाता है। यद्यपि मृत्यु के बाद भी वह दिखायी तो जीवित की तरह ही देता है, परन्तु वस्तुत: ऐसा नहीं है। इस प्रकार आदिम लोगों में उस अदृश्य वस्तु या शक्ति जिसके शरीर में रहने तक व्यक्ति जीवित रहता है और शरीर से अलग होने पर मर जाता है, के प्रति विश्वास पैदा हुआ और उसे 'आत्मा' के नाम से पुकारा गया। **टायलर** के अनुसार, **"आत्मा एक पतली निराकार मानव प्रतिमूर्ति, आकृति में कोहरा, चलचित्र या छाया की भांति है।"**

इस प्रकार **टायलर** के मतानुसार इन अमूर्त और अभौतिक प्रेतात्माओं के प्रति भय एवं श्रद्धा ही आदिम धर्म का मूल है। ये आत्माएँ मानव के नियन्त्रण से परे हैं, परन्तु ये मनुष्य से सम्बन्ध बनाये रखती हैं, उसके अच्छे या बुरे कार्यों में प्रसन्न और अप्रसन्न होती हैं। इन्हें प्रसन्न रखने पर ही मनुष्य को लाभ एवं आनन्द मिल सकता है। अत: मनुष्य इनकी पूजा और आराधना करता है। इस प्रकार पूर्वज पूजा और आराधना का प्रारम्भिक रूप तथा समाधि या कब्र ही प्रारम्भिक मन्दिर था। अबोध बच्चे की तरह आदिम मानव सजीव-निर्जीव में भेद नहीं कर सकता था, अत: उसने प्राकृतिक तत्वों में भी आत्मा की कल्पना की। अनेक आत्माओं में विश्वास ने बहुदेववाद को जन्म दिया और धीरे-धीरे वह एकदेववाद में विकसित हुआ तथा यह धारणा बनी कि सारी दुनिया एक ही महान आत्मा या विश्व-आत्मा (Anima mundi or world soul) द्वारा संचालित होती है।

समालोचना (Criticism)

इस सिद्धान्त की एण्ड्रयूलैग, मैरेट, जेवेन्स आदि ने निम्नलिखित आलोचनाएँ कीं:

(1) समस्त सिद्धान्त को देखने से ज्ञात होता है कि टायलर ने आदिम मानव को तर्कशील व दार्शनिक व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है जो कि वह कभी नहीं था और जिस व्यवस्थित क्रम में उसने इस सिद्धान्त को रखा, ऐसा आदि मानव तो क्या आधुनिक मानव भी नहीं रख सकता।

(2) टायलर ने धर्म की उत्पत्ति को अति सीधे एवं सरल रूप में प्रस्तुत किया है। केवल परछाई, प्रतिध्वनि, स्वप्न एवं मृत्यु के अनुभवों ने ही धर्म जैसी जटिल संस्था को जन्म दिया होगा, ऐसा नहीं माना जा सकता।

(3) धर्म एक सामाजिक तथ्य है, अत: इसकी उत्पत्ति में सामाजिक कारकों का भी हाथ रहा है, केवल आत्मा में विश्वास से ही धर्म की उत्पत्ति स्वीकार करना सामाजिक तथ्यों की अवहेलना है।

उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद भी टायलर के सिद्धान्त का इस दृष्टि से महत्त्व है कि आपने ही सर्वप्रथम ध र्म की परिभाषा देकर उसे व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया, जिसने बाद में मानवशास्त्रियों के लिए इस क्षेत्र के अध्ययन का मार्ग खोल दिया।

जीवित-सत्तावाद या मानावाद (Animatism or Manaism)

कुछ मानवशास्त्रियों ने आत्मावाद से पूर्व जीवित-सत्तावाद का अस्तित्व स्वीकार किया है। इस सिद्धान्त की मान्यता है कि प्रत्येक वस्तु में चाहे वह जड़ हो या चेतन जीवित सत्ता होती है जो कि अलौकिक है। इस सत्ता में विश्वास और उसकी आराधना एवं पूजा से ही धर्म की उत्पत्ति हुई। इस मत को प्रारम्भ में **मैक्समूलर** (Maxmular) एवं **प्रीउस** (Preuss) ने प्रस्तुत किया। **कॉडरिंगटन** (Codrington) एवं **मैरेट** (Marett) ने इसे एक विशेष प्रकार से प्रस्तुत किया जो मानावाद (Manaism) के नाम से माना जाता है। मलेशिया के लोग अलौकिक शक्ति को **'माना'** के नाम से पुकारते हैं। इसी कारण मैरेट ने अपने सिद्धान्त को मानावाद का नाम दिया। मलेशिया की जनजातियों में यह विश्वास है कि किसी भी कार्य की सफलता या असफलता माना की शक्ति पर निर्भर है। यदि कोई अधिक बुद्धिमान या शक्तिशाली है तो इसका कारण उसमें माना की शक्ति की अधिकता है। युद्ध में विजय, शिकार में सफलता और मछलियों का अधिक पकड़ पाना भी 'माना' की शक्ति के कारण ही है। कोई तलवार युद्ध में अधिक लोगों को मारती है या कोई नाव अन्य नावों को रफ्तार में पीछे छोड़ देती है, कोई गीत रोगियों को ठीक कर देता है, किसी ताबीज से आपत्ति टल जाती है तो इसका अर्थ है कि उस तलवार, नाव, गीत एवं ताबीज में माना की शक्ति पूरे वेग से है। भारतीय जनजातियों में भी मजूमदार ने 'माना' जैसी शक्तियों का उल्लेख किया है। 'हो' लोगों में **बोंगा** (Bonga) की अवधारणा, उत्तरी अमरीका की जनजातियों में **ओरेण्डा** और दूसरे स्थानों पर **'एरन'** एवं **'बकुआ'** की अवधारणा भी मैरेट के इस सिद्धान्त के अन्तर्गत ही आती है।

माना की परिभाषा करते हुए **कॉडरिंगटन** लिखते हैं, **"माना एक शक्ति है जो भौतिक या शारीरिक शक्ति से सर्वथा भिन्न है, यह भले और बुरे सभी रूपों में कार्य करती है और इस पर आधिपत्य या नियन्त्रण पाना लाभदायक है......यह अलौकिक इस अर्थ में है कि यह सब चीजों पर प्रभाव डालने के लिए जिस रूप में कार्य करती है, वह मनुष्यों की साधारण शक्ति से परे है और प्रकृति की साधारण प्रक्रियाओं से बाहर है।" लोवी कहते हैं कि माना विद्युत-धारा की तरह व्यक्ति एवं वस्तुओं को प्रभावित करती है और एक-दूसरे में आ-जा सकती है, किसी कार्य में सफलता 'माना' के कारण एवं असफलता इसकी अनुपस्थिति के कारण ही मिलती है। मैरेट** ने अपने अध्ययन द्वारा यह निष्कर्ष निकाला है कि **'माना' एक अवैयक्तिक, अशारीरिक और अलौकिक शक्ति है जो अच्छे और बुरे दोनों रूपों में मनुष्य को प्रभावित करती है।** आदि मानव में ऐसी शक्ति के प्रति भय-मिश्रित श्रद्धा पैदा हुई। वह उसके सामने झुका, नतमस्तक हो गया और जीवन में सफलता पाने तथा बुरे प्रभावों से बचने के लिए उस शक्ति की पूजा, प्रार्थना एवं आराधना करने लगा और यहीं से धर्म का जन्म हुआ।

आलोचना (Criticism)

आत्मावाद की तरह मानावाद भी पूरी तरह स्वीकार नहीं किया गया और इसकी विभिन्न विद्वानों ने निम्नलिखित आलोचनाएँ की हैं:

(1) इस सिद्धान्त में इस बात का कहीं उल्लेख नहीं है कि माना की अवधारणा का जन्म कैसे हुआ, क्या आदिम मानव इतना कल्पनाशील व दार्शनिक था कि बिना किसी आधार के ही उसने अलौकिक शक्ति की धारणा को जन्म दिया।

(2) धर्म एक सामाजिक तथ्य है, अत: उसकी उत्पत्ति के लिए सामाजिक कारक भी उत्तरदायी हैं, परन्तु इस सिद्धान्त में समाज के महत्त्व को स्वीकार नहीं किया गया है।

(3) आदिम जातियों में धर्म एवं जादू से सम्बन्धित अनेक विश्वास पाये जाते हैं और उन सभी को मानावाद के आधार पर नहीं समझा जा सकता।

नोट

(4) इस सिद्धान्त में अशरीरी और अलौकिक शक्ति को स्पष्टत: परिभाषित नहीं किया गया है।

(5) **दुर्खीम** का मत है कि धर्म का सम्बन्ध पवित्र वस्तुओं से है, मानावाद में पवित्र एवं अपवित्र में भेद नहीं किया गया है।

प्रकृतिवाद (Naturalism)

मैक्समूलर का प्रकृतिवाद, जीवित सत्तावाद का ही एक रूप है। **मैक्समूलर** जर्मन विद्वान थे जो संस्कृत एवं अन्य भाषाओं के सुविज्ञ थे। उन्होंने धर्म की उत्पत्ति को प्राकृतिक शक्तियों एवं घटनाओं की पूजा में ढूंढ़ा। इसके लिए उन्होंने भारतीय एवं यूरोपीय पौराणिक कथाओं का सहारा लिया। इन पौराणिक कथाओं में सौरमण्डल और तारामण डल से सम्बन्धित अनेक कथाएँ हैं जो आकाशीय पिण्ड को सजीव के रूप में चिचित्र करती हैं। वेदों में भी सूर्य, चन्द्र एवं तारों से सम्बन्धित गाथाएँ हैं जिनको पढ़ने पर ज्ञात होता है कि जैसे वे जीवित प्राणियों की कथाएँ हों। आदिम मानव प्रकृति और आकाशीय पिण्डों से प्रभावित हुआ तथा उसमें उनके प्रति भय और प्रेम भी पैदा हुआ। **मैक्समूलर** के इस सिद्धान्त को मिस्र एवं अन्य स्थानों पर होने वाली पुरातत्व खुदाइयों से भी बल मिला। मिस्र में 'रा' अर्थात् सूर्य को सबसे बड़ा देवता माना गया। भारत में भी सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, वर्षा आदि प्राकृतिक वस्तुओं की पूजा की जाती रही है। प्राकृतिक शक्तियों से आदिम मानव के मन में भय, प्रेम, आश्चर्य एवं आतंक की भावना पैदा हुई होगी जब उसने देखा कि वर्षा की अधिकता और कमी उसके लहलहाते खेतों को नष्ट कर देती है, समुद्री तूफान उसकी नाव को डुबा देता है तथा आंधी उसकी झोपड़ी को उड़ा ले जाती है। उसने सोचा होगा कि इन प्राकृतिक वस्तुओं में अवश्य ही कोई शक्तिशाली वस्तु निवास करती है जो इनका संचालन, नियन्त्रण और निर्देशन करती है। अत: उसने इन प्राकृतिक वस्तुओं को जानदार समझा। प्राकृतिक वस्तुओं को जानदार समझना ऐसे रुग्ण मस्तिष्क की देन है जो सजीव और निर्जीव में भेद नहीं कर सका। मस्तिष्क की यह गलती त्रुटिपूर्ण भाषा के कारण पैदा हुई। जैसे अक्सर कहा जाता है कि सूर्योदय या सूर्यास्त हो रहा है, वर्षा हो रही है, पेड़ फल और फूल पैदा करते हैं, आंधी आ रही है। भाषा की त्रुटियों से यह विश्वास पैदा हुआ कि मानो सूर्य, वर्षा, आंधी और पेड़ों में कोई शक्ति निहित हो। प्रकृति की असीम विशालता एवं शक्ति के सम्मुख जब मनुष्य नतमस्तक होता है तो धर्म की उत्पत्ति होती है। मैक्समूलर का सिद्धान्त एक लम्बे समय तक अस्तित्व में रहा। प्राचीन समय से ही प्राकृतिक पदार्थों एवं शक्तियों की पूजा लगभग सभी देशों में देखने को मिलती है, लेकिन इस आधार पर धर्म की उत्पत्ति ढूंढ़ने पर अनेक कठिनाइयाँ पैदा होती हैं, इसलिए ही मैक्समूलर के प्रकृतिवाद की विभिन्न विद्वानों ने आलोचना की है।

आलोचना (Criticism)

(1) एण्ड्रयूलैग कहते हैं कि त्रुटिपूर्ण भाषा के आधार पर धर्म की उत्पत्ति एक संकुचित व्याख्या है। केवल प्रकृति पूजा से ही धर्म की उत्पत्ति बताना उचित नहीं।

(2) दोषपूर्ण भाषा के प्रयोग से प्राकृतिक पदार्थों को सजीव समझने की बात को सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण नहीं है।

(3) धर्म एक सामाजिक संस्था है, मैक्समूलर ने धर्म की उत्पत्ति में कहीं भी सामाजिक कारकों को महत्त्व नहीं दिया। इस सिद्धान्त में अनुमान और कल्पना पर ही अधिक जोर दिया गया है।

धर्म का सामाजिक सिद्धान्त (Social Theory of Religion)

दुर्खीम ने धर्म की उत्पत्ति से सम्बन्धित विभिन्न सिद्धान्तों की आलोचना इस आधार पर की कि धर्म एक सामाजिक तथ्य है और उसकी उत्पत्ति में सामाजिक कारकों का भी हाथ रहा है। अब तक के सभी सिद्धान्तों में सामाजिक

कारकों की अवहेलना की गयी है। दुर्खीम ने अपनी पुस्तक *'Elementary Forms of Religious Life'* में धर्म की प्रकृति, उत्पत्ति, प्रभाव आदि की विस्तृत विवेचना की है। आपने समाज को ही देवता माना और कहा कि धर्म सामूहिक चेतना (Collective Consciousness) का प्रतीक है। धर्म का वास्तविक आधार तो स्वयं समाज है, एसलिए ही आपने लिखा है, **"स्वर्ग का साम्राज्य एक महिमान्वित समाज है"** (The kingdom of heaven is a glorified society)। **दुर्खीम** का मत है कि व्यक्ति का व्यक्तिगत जीवन आमोद-प्रमोदपूर्ण एवं आकर्षक नहीं था, परन्तु जब वह सामूहिक जीवन में सम्मिलित होता है तो जीवन में सरलता आ जाती है एवं विशेष सुख का अनुभव होने लगता है। **दुर्खीम** 'विश्वासों' (Beliefs) एवं 'अनुष्ठानों' (Rituals) को धर्म में सम्मिलित करते हैं। विश्वास के भी दो प्रकार हैं–पवित्र विश्वास (Sacred belief) एवं अपवित्र विश्वास (Profane belief)। पवित्र का सम्बन्ध धर्म से है, जबकि अपवित्र का सम्बन्ध जादू से है, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि हर पवित्र वस्तु का सम्बन्ध धर्म से है। पवित्र वस्तुएँ समाज और सामूहिक चेतना की प्रतिनिधि हैं। पवित्र को अपवित्र से दूर रखने के लिए विभिन्न संस्कारों, उत्सवों एवं आचरणों को जन्म दिया गया, जिनके पीछे सम्पूर्ण समूह या समाज की स्वीकृति एवं शक्ति है। अन्य शब्दों में, ये विधि-विधान एवं विश्वास समाज की सामूहिक सत्ता एवं चेतना के प्रतिनिधि हैं। इसलिए व्यक्ति उनके सामने झुकता है, उनसे डरता है और उनके अनुरूप ही आचरण करता है। इसका कारण यह है कि व्यक्तिगत शक्ति की तुलना में समूह की शक्ति महान है और यहीं पर धर्म की नींव पड़ती है।

अपने विचारों के समर्थन में **दुर्खीम** ने ऑस्ट्रेलिया की अरूण्टा (Arunta) जनजाति का उदाहरण प्रस्तुत किया। आपने कहा कि आदिम लोगों को धार्मिक अनुभव सामूहिक उत्तेजना के कारण हुए हैं। एक गोत्र के सदस्य त्यौहार एवं उत्सव मनाने के लिए एकत्रित होते हैं, सभी सदस्यों के एक स्थान पर एकत्रीकरण से सामूहिक चेतना का निर्माण होता है जो कि व्यक्तिगत चेतना से भिन्न होती है। सामूहिक चेतना, सामूहिक शक्ति का प्रतीक है जो व्यक्तिगत शक्ति से श्रेष्ठ है। यहाँ व्यक्ति समूह की शक्ति को स्वीकार करता है और उसके मन में ऐसी शक्ति के प्रति भय, श्रद्धा एवं आदर की भावना पनपती है। उसके लिए यह समूह या समाज ही धार्मिक पूजा का प्रतीक बन जाता है। इस प्रकार व्यक्तिगत जीवन एवं सामूहिक जीवन के भेद ने ही मानव को समाज की शक्ति का अनुभव कराया और इसी शक्ति को वह ईश्वर समझने लगा।

दुर्खीम धर्म की परिभाषा करते हुए लिखते हैं, "धर्म पवित्र वस्तुओं से सम्बन्धित विश्वासों और आचरणों की वह सम्पूर्ण व्यवस्था है जो इन पर विश्वास करने वालों को एक नैतिक समुदाय में संयुक्त करती है।" हम दुर्खीम के सिद्धान्त को संक्षेप में इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं–धार्मिक प्रतिनिधित्व सामूहिक प्रतिनिधित्व की ही अभिव्यक्ति है, समाज का विचार ही धर्म की आत्मा है, धार्मिक शक्तियाँ कोई पृथक् शक्तियाँ नहीं, वरन् मानवीय और नैतिक शक्तियां ही हैं। धर्म समाज की अवहेलना नहीं कर सकता, वह तो समाज की ही प्रतिमा है। अत: वास्तविक देवता तो स्वयं समाज ही है।

आलोचना (Criticism)

(1) केवल पवित्र एवं अपवित्र के आधार पर ही धर्म को स्पष्ट नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के भेद आदिम समाजों में चाहे सम्भव हों, परन्तु आधुनिक समाजों में कठिन हैं।

(2) आधुनिक वैज्ञानिक खोजों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि सामूहिक चेतना या सामूहिक मस्तिष्क जैसी कोई चीज नहीं होती। अत: मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह सिद्धान्त अवैज्ञानिक एवं अतार्किक है।

(3) दुर्खीम ने अपने सिद्धान्त में समाज को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देने की त्रुटि की है। अत: यह कहना कि समाज ही वास्तविक देवता है, उचित नहीं है।

(4) मैलिनोवस्की ने अपने अध्ययन द्वारा स्पष्ट किया है कि आदिम जातियों में कई व्यक्तिगत अनुभवों एवं आधारों ने भी धर्म की उत्पत्ति में योग दिया है। अत: केवल सामूहिक आधारों पर ही धर्म की उत्पत्ति को नहीं समझाया जा सकता है।

धर्म का प्रकार्यवादी सिद्धान्त (Functional Theory of Religion)

नोट

समाज में संस्कृति की आवश्यकता एवं महत्त्व को प्रदर्शित करने के लिए प्रकार्यवाद का उदय हुआ। प्रकार्यवादियों का मत है कि संस्कृति का कोई भी तत्व व्यर्थ नहीं होता है वरन् समाज में उसका प्रचलन इसलिए होता है कि वह मानव या समाज की किसी-न-किसी आवश्यकता की पूर्ति करता है और धर्म का अस्तित्व भी समाज में इसी कारण से है। **मैलिनोवस्की** एवं **रैडक्लिफ-ब्राउन** ने आदिम धर्म की प्रकार्यवादी व्याख्या की। **मैलिनोवस्की** के अनुसार, धर्म विक्षिप्तावस्था में मनुष्य और पारलौकिक शक्ति के बीच पुनर्सामंजस्य स्थापित करता है। वह मनुष्य को मानसिक एवं शारीरिक शान्ति एवं स्थायित्व प्रदान करने की एक युक्ति है। मानसिक तनाव एक व्यक्ति के जीवन में ही नहीं, वरन् अनेक लोगों के जीवन में आते हैं। अत: इन्हें दूर करने के लिए की जाने वाली क्रियाओं में सभी व्यक्ति रुचि रखते हैं। सभी व्यक्तियों की रुचि होने और सारे समूह द्वारा उन क्रियाओं में भाग लेने के कारण ही धार्मिक नियमों के पीछे सारे समाज की शक्ति होती है। धर्म ही समूह के मूल्यों और मान्यताओं की रक्षा करता है।

रैडक्लिफ-ब्राउन मानते हैं कि मनुष्य की समाज पर आश्रितता को प्रकट करने के लिए ही धर्म का उदय हुआ। **सामाजिक** जीवन के अस्तित्व के लिए व्यवहार प्रतिमानों (behaviour patterns) का पालन भी आवश्यक है। अत: समाज के नियमों, मूल्यों, आदर्शों एवं प्रतिमानों का अनुपालन पारलौकिक नियन्त्रण एवं दण्ड के भय से कराया जाता है और जो इनका पालन करता है, वह अलौकिक शक्ति की कृपा का पात्र भी बनता है। इस प्रकार धर्म का प्रकार्य सामाजिक प्रतिमानों के साथ व्यक्ति की सहमति प्राप्त करना तथा सामाजिक अस्तित्व को बनाये रखना है। समाज की निरन्तरता को बनाये रखने के लिए धर्म से मिलने वाला योगदान ही धर्म का प्रकार्य है।

अन्य सिद्धान्तों की तरह प्रकार्यवादी सिद्धान्त की भी विभिन्न आधारों पर आलोचना की गयी है। रैडक्लिफ-ब्राउन एवं मैलिनोवस्की ने धर्म के केवल प्रकार्यात्मक पहलू को ही देखा, जबकि धर्म के अन्य पहलू भी हैं। अमेरिकन मानवशास्त्री लोवी आत्मा, माना, जादू-टोना एवं मनोवैज्ञानिक कारकों को धर्म की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी नहीं मानकर मनुष्य के अलौकिक अनुभवों को ही उत्तरदायी मानते हैं।

इस प्रकार यदि हम धर्म की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्तों का अवलोकन करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक विद्वान ने इसे अपनी-अपनी दृष्टि से ही देखा। आज कोई भी ऐसा सिद्धान्त नहीं है जिसे हम सर्वमान्य सिद्धान्त कह सकें। वास्तव में धर्म की उत्पत्ति भिन्न-भिन्न समाजों में भिन्न-भिन्न कारणों से हुई जो वहाँ की सामाजिक, सांस्कृतिक एवं भौतिक परिस्थितियों से प्रभावित थे। अत: धर्म की उत्पत्ति में अनेक कारकों का योग रहा है।

3.12 धर्म की सामाजिक उपयोगिता (प्रकार्य) [Social Utility (Functions) of Religion]

धर्म संस्कृति का एक अंग है। यह मानव जीवन से सम्बन्धित विभिन्न कार्यों की पूर्ति करता है। यही कारण है कि हमें आदिकाल से लेकर आधुनिक समाज तक सभी समाजों में धर्म देखने को मिलता है। धर्म के माध्यम से ही मानव अपने जीवन के लिए कुछ सन्तोष बटोरने का प्रयत्न करता है। धर्म हमें अपनी उन समस्याओं का भी समाधान बता देता है जिन्हें कि विज्ञान भी नहीं सुलझा पाया। स्वर्ग, नरक, मोक्ष, पाप, पुण्य और ऐसी ही कितनी घटनाएं हैं जो कि विज्ञान के क्षेत्र में नहीं, अपितु धर्म के क्षेत्र में आती हैं। धर्म नैतिक मूल्यों के महत्त्व को स्पष्ट करता है। नैतिकता का बोध मनुष्य में आत्म-नियन्त्रण की भावना उत्पन्न करता है। इस प्रकार वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टिकोणों से धार्मिक संस्थाओं का अत्यधिक महत्त्व है। निम्नांकित विवेचन से यह बात और भी स्पष्ट हो जायेगी :

1. **सामाजिक संगठन का आधार**—सामाजिक संगठन इस बात पर निर्भर करता है कि समाज के सदस्य सामाजिक मूल्यों, आदर्शों तथा निषेधों का पालन करें और अपने कर्त्तव्यों से विमुख न हों। इन सभी परिस्थितियों को उत्पन्न करने में धर्म का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है क्योंकि प्रत्येक धर्म की अपनी एक आचार-संहिता होती है जिसमें उसके सदस्यों के लिए कुछ कर्त्तव्य, आदेश व निषेध होते हैं जिसे वह (व्यक्ति) अलौकिक शक्ति के बल के आधार पर पूरा करता है। ईश्वर के प्रकोप से बचने हेतु एवं पाप, भय, आदि की भावना के वशीभूत होकर व्यक्ति

नोट

उन आदेशों, कर्त्तव्यों व निषेधों को पूरा करने के लिए बाध्य होता है। परिणामस्वरूप एक ही धर्म के अनुयायियों के व्यवहारों में समानता के कारण सामाजिक संगठन स्वत: पनपता है।

2. **सामाजिक नियन्त्रण का प्रभावपूर्ण साधन**—प्राचीनकाल में जब राज्य, कानून आदि औपचारिक संस्थाएं नहीं थीं, विशेषकर आदिम समाजों में तब धर्म ही एकमात्र साधन था जो अपने सदस्यों के व्यवहारों पर अंकुश रखकर समाज में नियन्त्रण बनाये रखता था। आज भी मनुष्य एक बार तो राज्य के कानून को तोड़ने का साहस कर सकता है, परन्तु धार्मिक नियमों का उल्लंघन कर ईश्वरीय शक्ति का कोपभाजन नहीं बनना चाहता। पुनर्जन्म की धारणा के कारण भी मनुष्य उन नियमों को तोड़ने का साहस नहीं करता है क्योंकि वह सोचता है कि यदि वह इस जन्म में अपने कर्त्तव्य का पालन करेगा तो उसे अगला जीवन भी अच्छा प्राप्त होगा। धर्म बताता है कि समाज में किस प्रकार का आचरण करना चाहिए। एक मानव के दूसरे मानव के साथ कैसे सम्बन्ध हों, परिवार के सदस्यों के पारिवारिक कर्त्तव्य क्या हों, आदि का उल्लेख धर्म में किया जाता है।

3. **व्यक्तित्व के विकास में सहायक**—धर्म केवल समाज को ही संगठित नहीं रखता, अपितु व्यक्तित्व को भी संगठित रखता है। व्यक्तित्व का विघटन साधारणतया सांसारिक निराशाओं का परिणाम होता है। **प्रो. डेविस** का कथन है कि ''यदि हमारा लक्ष्य किसी विश्वास का प्रचार करना है तो राज शक्ति उसे असफल बना सकती है, यदि हमारा लक्ष्य अपने देश को संसार का अगुआ बनाना है तो विनाशकारी युद्ध इस पर तुषारापात कर सकता है, यदि हमारा लक्ष्य प्रसिद्धि प्राप्त करना है तो एक छोटी-सी असफलता भी हमें निराश कर सकती है। इस प्रकार सभी सांसारिक लक्ष्य तरह-तरह की निराशा को जन्म देकर व्यक्तित्व को विघटित कर सकते हैं...लेकिन कुछ लक्ष्य ऐसे भी हैं जिनको प्राप्त करने में असफलता की कोई सम्भावना नहीं होती। यह लक्ष्य 'अधिदैविक लक्ष्य' हैं तथा यह सामाजिक जीवन में उत्पन्न निराशा को दूर करने का भी प्रयत्न करते हैं...इस प्रकार पवित्र वस्तुओं की विद्यमानता और पवित्र संस्कारों में भाग लेना व्यक्ति को सुख ही प्रदान नहीं करता बल्कि उसके विश्वास को भी दृढ़ बनाता है।"

4. **भावनात्मक सुरक्षा**—प्रत्येक व्यक्ति का भावनात्मक रूप से अपने को सुरक्षित महसूस करना उसके विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है। मनुष्य अपने जीवन में अनेक प्रकार की अनिश्चितता, निर्बलता, असुरक्षा और अभाव को महसूस करता है। ऐसे समय में धर्म मानव की एक बहुत बड़ी शक्ति बन जाता है अर्थात् धर्म ही एकमात्र ऐसी संस्था है जो व्यक्ति को अपनी परिस्थितियों से अनुकूलन करने में सहायता देती है। विज्ञान में सिद्धान्त अवश्य होते हैं, लेकिन इन सिद्धान्तों पर ही कोई व्यक्ति जीवित तो नहीं रह सकता। जीवन के लिए व्यावहारिक और अनुभवातीत लक्ष्यों की आवश्यकता होती है। ये लक्ष्य केवल धर्म के द्वारा प्राप्त किये जाते हैं। **पारसन्स** कहते हैं कि धर्म व्यक्ति को संकट की घड़ियों से सामंजस्य करने में योग देता है। वे धार्मिक संस्कारों को व्यक्ति में आत्मविश्वास पैदा करने वाला टॉनिक मानते हैं। धर्म व्यक्ति को जीवन की सार्थकता बताता है, उसे निराशाओं से मुक्ति प्रदान करता है।

5. **सामाजिक एकता में सहायक**—धर्म समाज में एकता पैदा करता है। धर्म समाज कल्याण को प्रमुख स्थान देकर सामाजिक एकीकरण में वृद्धि करता है। इसके अतिरिक्त, धर्म सामाजिक मूल्यों के महत्त्व को स्पष्ट करके भी एकीकरण में वृद्धि करता है। दुर्खीम का मत है कि धर्म उन सभी लोगों को एकता के सूत्र में पिरोता है जो इसमें विश्वास करते हैं। सामुदायिक एवं धार्मिक दंगों के समय, धार्मिक उत्सवों को मनाने के समय एक धर्म के मानने वालों में एकता देखी जा सकती है। इसके बाद भी **जॉनसन** के शब्दों में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि ''धर्म कभी भी एकीकरण करने वाली एकमात्र शक्ति नहीं है, बल्कि यह अनेक साधनों में से एक है जो एकीकरण की प्रक्रिया में योगदान करता है।'' सच्चाई तो यह है कि यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने अधिकारों के पीछे दौड़ने लगे तो सामाजिक संगठन खतरे में पड़ जायेगा, परन्तु धर्म व्यक्ति को अपने कर्त्तव्यों के प्रति सचेत करके सामाजिक संगठन के स्थायित्व में योग देता है।

6. **सामाजिक नियमों एवं नैतिकता की पुष्टि**—प्रत्येक समाज में कुछ सामाजिक नियम होते हैं जो अलिखित होते हैं। अनेक सामाजिक नियमों को धार्मिक भावनाओं से जोड़ दिया जाता है जिसके फलस्वरूप इन नियमों को अत्यधिक बल मिल जाता है। धर्म समाज में नैतिकता बनाये रखने में सहायक है। धार्मिक नियमों में नैतिकता का

भी पुट होता है। कई बार धार्मिक और नैतिक नियम एक ही होते हैं। धर्म के कारण व्यक्ति कठिन-से-कठिन परिस्थितियों में भी धैर्य नहीं छोड़ता। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जब लोगों ने धार्मिक आस्था के बल पर मृत्यु तक का हंसते-हंसते आलिंगन किया।

नोट

7. **सामाजिक परिवर्तन का नियन्त्रण**–औद्योगीकरण एवं नगरीकरण के फलस्वरूप आधुनिक समाजों में तीव्रगामी परिवर्तन हो रहे हैं। परिवर्तन समाज के लिए हितकारी एवं अहितकारी दोनों ही प्रकार के हो सकते हैं, परन्तु सबसे अधिक समस्या मानव की इन नवीन उत्पन्न परिस्थितियों के साथ अनुकूलन करने की होती है। अनुकूलन न कर सकने पर समाज में विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। ऐसे समय में धर्म अपनी रूढ़िवादी प्रवृत्ति के कारण एक तरफ तो परिवर्तन को प्रोत्साहित करता है और दूसरी तरफ व्यक्तियों में आत्मबल पैदा करता है। 'ईश्वर जो कुछ करता है वह अच्छा करता है', इस प्रकार का विश्वास व्यक्ति को दुख सहन करने की शक्ति और धैर्य प्रदान करताहै।

8. **आर्थिक विकास में सहायक**–धर्म के प्रभाव से समाज की आर्थिक व्यवस्था भी अछूती नहीं रहती है। **मैक्स वेबर** ने अपने अध्ययन द्वारा यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि प्रोटेस्टैण्ट धर्म ने पूंजीवाद का विकास किया। इस धर्म में कुछ तत्व थे जिसके कारण पूंजीवाद इंग्लैण्ड, अमरीका, हॉलैण्ड आदि देशों में बहुत फला-फूला। इसी प्रकार हिन्दू धर्म भौतिक प्रगति को गौण मानता है। अत: हिन्दुओं की उपलब्धियाँ आध्यात्मिक क्षेत्र में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। अत: हम कह सकते हैं कि जिस प्रकार का धर्म होगा, वहाँ की आर्थिक व्यवस्था भी उस धर्म की आचार-संहिताओं से प्रभावित होगी।

9. **सद्गुणों का विकास**–यद्यपि समाज में सभी सदस्य तीर्थस्थलों व मन्दिरों आदि में नहीं जाते, परन्तु समाज के सदस्यों पर धर्म का प्रभाव किसी-न-किसी रूप में अवश्य पड़ता है, चाहे वह प्रभाव प्रत्यक्ष हो अथवा अप्रत्यक्ष। असंख्य व्यक्तियों का व्यक्तित्व व चरित्र धार्मिक विश्वासों के कारण ही रूपान्तरित हो जाता है। इस प्रकार धर्म मानव के नैतिक व आध्यात्मिक जीवन की अभिव्यक्ति है।

10. **पवित्रता की भावना को जन्म देता है**–धर्म मानव जीवन को दो भागों में विभक्त कर देता है–अपवित्र (Profane) एवं पवित्र (Sacred) में। धर्म व्यक्तियों को अपवित्र कार्यों से दूर रखकर पवित्र कार्य करने की प्रेरण ा देता है क्योंकि पवित्र जीवन व्यतीत करना ही धार्मिक जीवन की अभिव्यक्ति है। धर्म में अपवित्र कार्य करने पर आत्मिक शुद्धि का प्रावधान भी है। धार्मिक उत्सवों व त्यौहारों का आयोजन अपवित्र को पवित्र करने, साधारण को धार्मिक बनाने व धार्मिक को पवित्रता के उच्च स्तर तक पहुँचाने हेतु ही तो होता है। **दुर्खीम** के अनुसार, धर्म एक पवित्र सामाजिक आदर्श की अभिव्यक्ति है और इससे व्यक्ति के व्यवहारों तथा आचरण में निखार आता है।

11. **कर्त्तव्य का निर्धारण**–विस्तृत अर्थ में धर्म केवल अलौकिक दिव्य शक्ति में विश्वास ही नहीं है, यह मानव को नैतिक कर्त्तव्यों का पालन व कर्म करने की ओर प्रेरित करता है। गीता में भी यही संदेश दिया गया है, '**कर्म करो फल की चिन्ता मत करो**।' हमारे यहाँ विभिन्न धर्म जैसे, वर्ण-धर्म, आश्रम-धर्म, कुल-धर्म, देश-धर्म, राज-धर्म, स्व-धर्म और सबसे उच्च स्तर पर मानव धर्म माने गये हैं। इनमें से प्रत्येक धर्म के अपने कुछ कर्म हैं, जैसे कुल-धर्म में अपने माता-पिता की सेवा, परिवार कल्याण व सन्तानों के प्रति कर्त्तव्य पालन तथा राज-धर्म में शासक द्वारा अपनी प्रजा के कल्याण पर जोर दिया गया है। धर्मशास्त्रों के अनुसार मानव धर्म के कुछ आवश्यक तत्व हैं–सन्तोष, क्षमा, आत्म-संयम, शुद्धता, क्रोध न करना, विवेक, ज्ञान, आदि।

12. **मनोरंजन प्रदान करता है**–यदि धर्म केवल मानव को कर्म करने पर ही बल दे तो मनुष्य यन्त्रवत् व जड़ हो जायेगा। अत: धर्म कर्म करने के साथ-साथ मनोरंजन भी प्रदान करता है। विभिन्न उत्सवों, त्यौहारों, कर्मकाण डों तथा विधि-विधानों के अवसरों पर मानव मनोरंजन प्राप्त करता है। ऐसे अवसरों पर एक-दूसरे के सम्पर्क में भावात्मक एकता व साहचर्य बढ़ता है।

संक्षेप में, थॉमस ओडिया ने कहा कि "धर्म व्यक्ति का समूह में एकीकरण करता है, अनिश्चितता की स्थिति में उसकी सहायता करता है, निराशा के क्षणों में उसको ढाढस बंधाता है, सामाजिक लक्ष्यों के प्रति व्यक्ति को जागरूक बनाता है, आत्मबल में वृद्धि करता है और एक-दूसरे के समीप आने को प्रोत्साहन देता है।"

वेबर ने 'भारत का धर्म' (*The Religion of India*) नामक पुस्तक जो कि उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुई, में हिन्दू धर्म की उन बातों का उल्लेख किया है जिनके कारण भारत में नवीन अर्थव्यवस्था (पूंजीवाद) का विकास नहीं हो सका। वेबर का मत है कि हिन्दू धर्म वास्तव में एक ब्राह्मण धर्म है जिसकी स्थापना और विकास उन ब्राह्मण राजपुरोहितों, धर्मशास्त्रज्ञों तथा विधिवेत्ताओं द्वारा किया गया जो कूटनीति और चमत्कारी कर्मकाण्डों के ज्ञान में प्रवीण थे। **वेबर** के अनुसार, हिन्दू धर्म में दो सिद्धान्त प्रमुख हैं–एक पुनर्जन्म का तथा दूसरा कर्म का। इन सिद्धान्तों में यह कहा गया है कि मनुष्य के कर्मों का प्रभाव उसके अगले जन्म के भाग्य पर पड़ता है तथा प्रत्येक हिन्दू का सामाजिक पद जाति व्यवस्था में बंधा हुआ है। इन विचारों के सहारे ब्राह्मणों ने यह बताया कि एक व्यक्ति की मुक्ति उसकी जाति द्वारा निर्धारित कर्मों को पूरा करने से ही सम्भव है। धार्मिक नीतियों से यह भी स्पष्ट है कि केवल ब्राह्मण ही मोक्ष का अधिकारी है क्योंकि मोक्ष पाने के लिए जितने पुण्य चाहिए, उन्हें अन्य व्यक्ति अर्जित नहीं कर सकते। हिन्दू धर्म की न्याय व्यवस्था भी ब्राह्मणों के पक्ष में है जो ब्राह्मणों पर अत्याचार का निषेध करती है तथा ब्राह्मणों के विरुद्ध न्याय को भी अस्वीकार करती है। ब्राह्मण समाज में पाप-मोचक और सलाहकार माने जाते रहे हैं और उन्होंने ही भारतीय जाति व्यवस्था को विकसित किया तथा उसे प्रभावपूर्ण बनाया। दुनिया में कहीं भी भारत की तरह धार्मिक पुरोहितों को उच्च सम्मान नहीं मिला तथा उनके उच्च सम्मान की पुष्टि के लिए भ्रान्त तर्क एवं प्रमाण विकसित नहीं किए गए। हिन्दू धर्म की नीतियों का उद्देश्य इन्द्रियों और आवेगों को संसार से दूर भगाना, जीवन की दौड़-धूप से व्यक्ति को मुक्ति दिलाना और ईश्वर से एकाकार करना है। ब्राह्मण सिद्धान्तों ने संसार के दुःख, पाप और अपूर्णता से ही दूर भागने की बात नहीं कही वरन् इस क्षणभंगुर संसार को त्यागने की बात भी कही है। सांसारिक वस्तुओं की आसक्ति और जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा पा लेना ही वास्तविक मुक्ति है। हिन्दू धर्म लौकिक समस्याओं के प्रति उदासीन रहने तथा तपस्या और कर्मकाण्ड करने पर जोर देता है। साथ ही यह अपनी-अपनी जाति के अनुसार कर्म करने की बात कहता है। इस प्रकार हिन्दू धर्म जाति-भेद को भी बढ़ावा देता है। इन सभी विशेषताओं के कारण हिन्दू एक ऐसी जीवन शैली में फंस गया जिसे लांघकर वह तार्किक संसार में प्रवेश नहीं कर सका। हिन्दू धर्म की इन नीतियों से आबद्ध जाति व्यवस्था ने भारत के आर्थिक विकास को रोका और जातीय बाधाओं के कम होने पर ही आर्थिक क्रियाओं में तार्किकता की वृद्धि हुई। इस प्रकार वेबर यह मानते हैं कि हिन्दू धर्म की नीतियाँ भारत के आर्थिक और भौतिक विकास में बाधक रही हैं।

'प्राचीन यहूदी धर्म' नामक पुस्तक वेबर की मृत्यु के बाद प्रकाशित हुई। इस रचना में वेबर ने उन परिस्थितियों का उल्लेख किया है, जो पश्चिमी समाजों के धर्म में तार्किकता के विकास के लिए उत्तरदायी रही हैं। यहूदी धर्म में उस सक्रिय वैराग्य के दर्शन होते हैं जिसमें ईश्वरीय निर्देशों के अनुसार नीति सम्बन्धी कार्यों पर विचार किया गया। ईसाई धर्म का मठवाद सभी सांसारिक वस्तुओं को त्यागने के पक्ष में था, किन्तु यहूदी धर्म ने प्रोटेस्टैण्ट धर्म में एक ऐसी नैतिकता को विकसित किया जो संसार के स्वरूप में परिवर्तन लाना चाहती थी, यद्यपि प्रोटेस्टैण्ट धर्म भी वैराग्य में विश्वास करता है, किन्तु यहूदी धर्म के समान यह संसार को इस अर्थ में त्यागता है कि मौज उड़ाना और आराम करना ऐसे प्रलोभन हैं जो मुक्ति के प्रयत्न में बाधक हैं। यहूदी पैगम्बर संसार को शाश्वत न मानकर इसे उत्पन्न किया गया मानते हैं, इसका अर्थ हुआ कि संसार एक ऐतिहासिक घटना है जिसे ईश्वर द्वारा एक निर्दिष्ट व्यवस्था की स्थापना के लिए बनाया गया है। इस आधार पर यहूदियों का विश्वास है कि भविष्य में ईश्वर के द्वारा निर्दिष्ट सामाजिक व राजनीतिक क्रान्ति होगी और उसी के अनुरूप व्यक्तियों की मनोवृत्तियों का निर्धारण होना चाहिए, इन विश्वासों के कारण ही यहूदियों में आचरण की एक उच्च तर्कनापरक धार्मिक नीति विकसित हुई। वेबर का कथन है कि यह नीति आज भी बहुत बड़ी सीमा तक मध्य-पूर्वी तथा यूरोपीय आचार का एक महत्त्वपूर्ण आधार है। उदाहरण के लिए, यहवा (यहूदियों का उपास्य) ने नम्रता तथा आज्ञा पालन को मनुष्य का प्रमुख गुण बताया तथा यह स्पष्ट किया कि अच्छे व बुरे भाग्य की आशाएँ और पुण्य करने की आवश्यकता निकट भविष्य से ही सम्बद्ध है। इस प्रकार यहूदी धर्म परम्परागत तन्त्र तथा रहस्यमयी कल्पनाओं में स्वतन्त्र है और एक ऐसे धर्म को महत्त्व देता है जो मनुष्य के दैनिक जीवन को ईश्वर द्वारा बताए गए नैतिक नियमों से जोड़ देता है। इस प्रकार वेबर का विश्वास है कि यहूदी धर्म ने नैतिक तर्कवाद के निर्माण में सहायता देकर उन

मनोवृत्तियों का विकास किया जो पूंजीवाद के सार के अनुरूप है।

वेबर के उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि उनकी रुचि धार्मिक नीतियों के आर्थिक क्रियाओं पर पड़ने वाले प्रभावों को ज्ञात करने में थी। उन्होंने धार्मिक नीतियों और आर्थिक क्रियाओं के पारस्परिक सम्बन्धों को ही स्पष्ट नहीं किया वरन् उन्होंने धार्मिक विचारों के सामाजिक संस्तरण पर पड़ने वाले प्रभावों को भी ज्ञात किया।

3.13 धर्म एवं विज्ञान (Religion and Science)

धर्म एवं विज्ञान का भी मानव जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों ही संस्कृति के अभिन्न अंग हैं और दोनों का ही प्रयोग मानव आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जाता रहा है, किन्तु जहाँ धर्म ईश्वर और पारलौकिक शक्ति के सहारे मानवीय समस्याओं का समाधान खोजता है, वहीं विज्ञान वास्तविकता के आधार पर कार्य एवं कारण के सहारे समस्याओं का तार्किक हल प्रस्तुत करता है। धर्म के बारे में हम पिछले पृष्ठों में विस्तार से विवेचन कर चुके हैं। धर्म एवं विज्ञान में सम्बन्ध तथा भेद जानने से पूर्व यहाँ विज्ञान का अर्थ जान लेना आवश्यक है।

प्रो. डेविस लिखते हैं, "विज्ञान संस्कृति का वह भाग है जो प्रकृति के व्यवस्थित ज्ञान का प्रतिनिधित्व करता है।" विज्ञान से तात्पर्य अध्ययन के एक उपागम से है। विज्ञान में तथ्यों का अवलोकन एवं संकलन किया जाता है, उनका वर्गीकरण, परीक्षण एवं सत्यापन किया जाता है, कार्यकारण के सम्बन्धों के आधार पर निष्कर्ष प्राप्त किये जाते हैं और सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जाता है। वैज्ञानिक क्रिया का अन्तिम परिणाम सत्य है। विज्ञान वास्तविकताओं के आधार पर ही भविष्यवाणी करता है।

वर्तमान युग में विज्ञान का महत्त्व बढ़ा है और धर्म का प्रभाव कम हुआ है। आदिम एवं ग्रामीण समाजों में धर्म का प्रभाव अधिक पाया जाता है, जबकि आधुनिक एवं विकसित समाजों में विज्ञान का। ईवान्स प्रिचार्ड और टायलर का मत है कि यद्यपि सभी संस्कृतियों में धर्म एवं विज्ञान पाये जाते हैं, किन्तु अविकसित एवं निम्न संस्कृतियों में धर्म का महत्त्व अधिक होता है, जबकि विकसित और उच्च संस्कृतियों में विज्ञान का। मानव ज्यों-ज्यों सांस्कृतिक विकास करता है त्यों-त्यों वह विज्ञान का अधिक सहारा लेने लगता है। विज्ञान ने मानव को धार्मिक रूढ़ियों एवं अन्धविश्वासों से मुक्ति दिलायी है, ज्ञान के द्वार खोले हैं, प्रकृति के रहस्यों को खोजने में सहायता की है। विज्ञान के कारण ही आज मानव ने चन्द्र विजय की है, समय और दूरी पर विजय पायी है, असाध्य रोगों की चिकित्सा कर मानव की आयु में वृद्धि की है। मशीनों के आविष्कार द्वारा ही मानव उत्पादन बढ़ाने एवं नवीन उद्योगों की स्थापना करने में समर्थ हुआ। इस प्रकार विज्ञान ने मानव सुख में वृद्धि की है यद्यपि विज्ञान के अनेक दुष्परिणाम भी हैं।

धर्म एवं विज्ञान में कई बार हमें संघर्ष दिखायी देता है। जो लोग यह मानते हैं कि धर्म एवं विज्ञान में कोई संघर्ष नहीं है, उनका मत है कि धार्मिक विश्वास इन्द्रियों से परे एक विश्व की ओर संकेत करते हैं। यदि इन विश्वासों को वैज्ञानिक आधारों पर प्रमाणित नहीं किया जा सकता है तो उनको हम अप्रमाणित भी नहीं कर सकते। धर्म का सम्बन्ध अतीत के कारण से है, जबकि विज्ञान का तात्कालिक कारणों से। एक वैज्ञानिक भगवान में विश्वास करके भी एक अच्छा वैज्ञानिक बना रह सकता है। वैज्ञानिक का अपनी प्रयोगशाला में वैज्ञानिक की तरह ही व्यवहार हो सकता है। साथ ही वह मन्दिर, मस्जिद व गुरुद्वारे में धार्मिक परिस्थितियों के अनुसार आचरण कर सकता है। दोनों स्थानों पर उसके व्यवहार में कोई असंगति नहीं होगी।

किन्तु कई बार ऐसा भी देखने को मिलता है कि कई वैज्ञानिक नास्तिक थे और धर्म से उनका कड़ा संघर्ष चलता रहा। इस प्रकार के संघर्ष का कारण यह रहा है कि ज्ञात और अज्ञात की सीमा-रेखा बनती-बिगड़ती रही है। कल जो बात अज्ञात थी आज वह ज्ञात हो गयी। उदाहरण के लिए, कुछ समय पूर्व तक मानव, पृथ्वी और जीवों की उत्पत्ति ज्ञात नहीं थी तो धर्म ने उनकी उत्पत्ति की व्याख्या की और कमी को पूरा किया। धर्म द्वारा की गयी अलौकिक व्याख्या को स्वीकार कर लिया गया। लेकिन वैज्ञानिक अनुसन्धानों ने इनकी उत्पत्ति की व्याख्या भिन्न प्रकार से की तो धर्म और विज्ञान में संघर्ष प्रारम्भ हो गया। यदि वैज्ञानिक धार्मिक व्याख्या को मानते हैं, तो वे विज्ञान के प्रति निष्ठावान नहीं कहे जा सकते, किन्तु वैज्ञानिक ऐसे व्यक्तियों के बीच रहता है जो वैज्ञानिक नहीं हैं, जो धार्मिक, अन्धविश्वासी एवं रूढ़िवादी हैं। ऐसी स्थिति में वैज्ञानिक का साधारण व्यक्ति या धार्मिक व्यक्तियों

नोट

से संघर्ष छिड़ जाता है। अत: धर्म एवं विज्ञान के बीच संघर्ष का कारण ज्ञान और अज्ञान रहा है। **डेविस** कहते हैं, ''जब तक ज्ञान तथा अज्ञान के बीच सीमा-रेखा बनती व बिगड़ती रहेगी अथवा दूसरे शब्दों में जब तक विज्ञान का विस्तार होता रहेगा तब तक विज्ञान और धर्म के बीच संघर्ष चलता रहेगा। इस संघर्ष में कोई भी दल पराजित नहीं होगा।'' जब धार्मिक सिद्धान्त पराजित हो जाते हैं तो वे ऊँचे स्तर के दर्शन व अमूर्त क्षेत्र का सहारा लेते हैं, अन्धविश्वास दर्शन में परिवर्तित हो जाता है और धर्म अधिक उदार बन जाता है।

धर्म और विज्ञान में संघर्ष का एक कारण यह भी है कि धर्म कभी भी आत्मसमर्पण नहीं करता, वह आस्था और विश्वास पर टिका हुआ है। एक व्याख्या के गलत सिद्ध होने पर धर्म द्वारा दूसरी व्याख्या प्रस्तुत की जाती है, किन्तु विज्ञान किसी भी सिद्धान्त को पूर्ण सत्य नहीं मानता, वह उसे शंका की दृष्टि से देखता है। इसलिए ही नये सिद्धान्त अस्तित्व में आते हैं, नये ज्ञान की खोज होती है और नये आविष्कार किये जाते हैं।

प्रो. डेविस का मत है कि धर्म एवं विज्ञान में उस समय तीव्र संघर्ष दिखायी देता है जब धर्म की ही वैज्ञानिक व्याख्या की जाती है। धर्म तो विश्वासों और भावनाओं पर आधारित है, अत: उसकी वैज्ञानिक व्याख्या नहीं की जा सकती। जब कोई व्यक्ति मन्दिर या धार्मिक स्थानों पर पूजा व आराधना की दृष्टि से न जाकर वहाँ पर किये जाने वाले व्यवहारों की वैज्ञानिकता, अवैज्ञानिकता देखता है तो यह स्थिति धार्मिक दृष्टि से उपयुक्त नहीं कही जा सकती है। यदि जन-सामान्य धार्मिक व्यवहारों का वैज्ञानिक विश्लेषण करने पर तुल जायें तो धर्म की मौत हो जायेगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म एवं विज्ञान में कहीं संघर्ष पाया जाता है तो कहीं ऐसा नहीं है। वे क्षेत्र जिनकी व्याख्या वैज्ञानिक आधार पर नहीं दी जा सकी है, अब भी धर्म के प्रभाव में हैं और जिनके बारे में वैज्ञानिक ज्ञान उपलब्ध है, वे धर्म के प्रभाव से मुक्त हो चुके हैं या हो रहे हैं। **धर्म एवं विज्ञान में पाये जाने वाले भेद को हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं :**

1. धर्म का सम्बन्ध अलौकिक शक्ति से है, जबकि विज्ञान का लौकिक शक्तियों से। 2. धर्म कार्य एवं कारण के सम्बन्धों पर आधारित नहीं है जबकि विज्ञान कार्य एवं कारण पर जोर देता है। 3. धर्म आस्था और विश्वास पर टिका हुआ है जबकि विज्ञान तर्क-प्रधान है। 4. धर्म भाग्यवादी और रूढ़िवादी है, वह परिवर्तन विरोधी एवं यथा-स्थिति में विश्वास करता है, जबकि विज्ञान प्रगतिशील है और परिवर्तन में विश्वास करता है। 5. धर्म का प्रभाव आदिम एवं सरल समाजों में अधिक पाया जाता है, जबकि विज्ञान का आधुनिक, जटिल एवं विकसित समाजों में। 6. धर्म बहुत कुछ कल्पना पर आधारित है, किन्तु विज्ञान में काल्पनिक तत्वों का कोई अस्तित्व नहीं है, यह वास्तविकता से सम्बन्धित है। 7. धर्म में प्रयोग व परीक्षण सम्भव नहीं है, जबकि विज्ञान प्रयोग व परीक्षण के आधार पर ही निष्कर्ष निकालता है। 8. धर्म पवित्रता पर अधिक बल देता है, किन्तु विज्ञान में पवित्रता और अपवित्रता की धारणा नहीं पायी जाती है। 9. धर्म के कोई ऐसे सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं हैं, जो सभी समाजों, युगों और समयों में मान्य और सत्य हों, जबकि विज्ञान के सिद्धान्त सभी कालों, स्थानों और समाजों में सत्य होते हैं। 10. धर्म के आधार पर सही भविष्यवाणी नहीं की जा सकती, जबकि विज्ञान सही भविष्यवाणी करने में समर्थ है।

3.14 धर्म की सामाजिक अनुपयोगिता (हानियाँ) [Social Unusefulness (Demerits) of Religion]

धर्म के एक संस्था होने का कारण इसका विशेष लक्षण स्थायित्व है। धर्म में परिवर्तन तो अवश्य होते हैं, लेकिन इतनी मन्द गति से कि वह बदलती हुई सामाजिक, आर्थिक तथा भौतिक परिस्थितियों के साथ अनुकूलन तथा अनुरूपता स्थापित नहीं रख पाता।

स्थायित्व के कारण प्रत्येक संस्था में निहित कुछ स्वार्थ विकसित तथा स्थापित हो जाते हैं। **प्रो. डेविस** (K. Davis) ने उचित ही लिखा है कि ''जिस प्रकार अनेक औषधियां कभी-कभी हमारे उस रोग को बढ़ा भी देती हैं जिससे छुटकारा पाने के लिए उनका उपयोग किया गया था, उसी प्रकार धर्म कभी-कभी लाभ देने के स्थान पर अनेक मानसिक रोगों तथा सामाजिक समस्याओं में भी वृद्धि करता है।''

नोट

धर्म निम्नलिखित दृष्टि से हानिप्रद भी है :

1. **धर्म समाज के लिए अफीम है–मार्क्स** धर्म को समाज के लिए अफीम मानते हैं, एक आध्यात्मिक शराब मानते हैं जिसका प्रयोग पूंजीपति अपनी स्थिति को सुधारने के लिए क्रांति कर रहे श्रमिकों के लिए करते हैं। उन्हें धर्म के नाम पर मदहोश और बेहोश करते हैं, मीठी नींद में सुलाते हैं जिससे कि वे क्रान्ति न कर सकें। मार्क्स के अनुसार धर्म एक व्यर्थ की वस्तु है, मानव की प्रगति में रोड़ा है। ईश्वर, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, भाग्य, कर्म-फल, पुनर्जन्म आदि धर्म से सम्बन्धित अवधारणाएँ लोगों को अपने सांसारिक कष्टों के प्रति उदासीन बना देती हैं, धर्म से प्रेरित व्यक्ति यथा-स्थिति को सब कुछ ईश्वर की मर्जी समझकर स्वीकार कर लेता है। इसलिए धर्म व्यक्ति को प्रगति की प्रेरणा नहीं देता। यह सामाजिक परिवर्तन के चक्र को रोकता है।

2. **धर्म सामाजिक प्रगति में बाधक**–धर्म की प्रकृति रूढ़िवादी है। धर्म आज तक अपने अनुयायियों को हजारों वर्ष पुरानी मान्यताओं, कर्मकाण्डों व विधि-विधानों में बांधे हुए है। बदलती हुई परिस्थितियों के साथ धर्म की आचार-संहिता में कोई खास परिवर्तन नहीं होता और साथ-ही-साथ वह नवीन विचारधाराओं व सिद्धान्तों का भी विरोधी है। इस प्रकार धर्म व्यक्ति को आगे की ओर नहीं, वरन् पीछे की ओर धकेलता है। इसीलिए तो समाज में आज तक भी कई कुरीतियां ज्यों-की-त्यों विद्यमान हैं क्योंकि धर्म का वरदहस्त उन्हें प्राप्त है।

3. **सामाजिक समस्याओं में वृद्धि**–धर्म वस्तु-स्थिति बनाये रखने का समर्थक है। जैसी स्थिति है वैसी ही बनी रहे, धर्म इस बात का सदैव समर्थन करता है। वस्तु-स्थिति बनाये रखना समाज के लिए लाभदायक है अथवा हानिकारक, इस बात से धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है। इसीलिए धर्म के ठेकेदारों, पण्डों, पुजारियों आदि ने धर्म की आड़ में कई कुरीतियों को संरक्षण प्रदान किया। ब्राह्मणों ने समाज में अपने आपको श्रेष्ठ घोषित कर अन्य वर्णों का शोषण किया। यद्यपि बाल-विवाह, दहेज-प्रथा, विधवा पुनर्विवाह निषेध, आदि समस्याओं के निवारण हेतु सरकार ने कई कानून बनाये, परन्तु अन्धविश्वासी लोग धार्मिक नियमों की अपेक्षा सरकारी कानूनों की अवहेलना करना अधिक उचित समझते हैं।

4. **तनाव, भेद-भाव एवं संघर्ष के लिए उत्तरदायी**–प्रत्येक धर्म के अनुयायी अपने धर्म को अन्य धर्मों से श्रेष्ठ समझते हैं। इस प्रकार विभिन्न धर्मावलम्बी एक-दूसरे को हीन समझते हैं और धर्म के कारण उनमें आपस में गहरी खाई बन जाती है। वह धार्मिक खाई सामाजिक एकता पर कुठाराघात करती है। समय-समय पर विभिन्न साम्प्रदायिक दंगे होते हैं। जिनसे समाज में तनाव एवं संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। धर्म के नाम पर मानव, मानव से भेदभाव, छुआछूत व पक्षपात करता है।

5. **विज्ञान विरोधी**–धर्म का आधार अलौकिक शक्ति पर विश्वास है, जबकि विज्ञान का आधार निरीक्षण एवं प्रयोग है। इस प्रकार इन दोनों का मेल कदापि नहीं हो सकता। विज्ञान अपनी नयी-नयी खोजों व तर्क के आधार पर पुरानी चली आ रही मान्यताओं पर प्रहार करता है, जैसे–हिन्दू धर्म में चन्द्रमा को देवता माना जाता है, परन्तु वैज्ञानिकों ने चन्द्रमा पर अपने कदम रखकर यह सिद्ध कर दिया कि चन्द्रमा भी पृथ्वी की भांति एक ग्रह है जहाँ मिट्टी, पहाड़, आदि सब कुछ हैं। इस प्रकार धर्म हमें विज्ञान से दूर ले जाता है, जबकि विज्ञान अपने आविष्कारों के द्वारा तर्क के आधार पर धार्मिक विचारधाराओं को झुठलाता है।

6. **समय के साथ परिवर्तन में अक्षम**–धर्म बदलती हुई परिस्थितियों के साथ कदम-से-कदम मिलाकर चलने में असमर्थ है। इस कारण धर्म हमारे व्यावहारिक जीवन में अधिक साथ नहीं दे पाता है, क्योंकि नवीन परिस्थितियों के साथ-साथ मानव की इच्छाएँ, आवश्यकताएँ, आदर्शों तथा लक्ष्यों में भी परिवर्तन हो जाता है, अत: धर्म हमारे लिए उपयोगी नहीं रह पाता। इसीलिए कई महत्त्वपूर्ण कार्यों का उत्तरदायित्व अनेक समाजसेवी संस्थाओं ने ले लिया तथा धर्म-प्रधान शिक्षा के स्थान पर अब धर्म-निरपेक्ष शिक्षा का महत्त्व बढ़ने लगा है।

7. **अकर्मण्यता को जन्म देता है**–धर्म व्यक्ति को अकर्मण्य भी बनाता है। एक तरफ तो समाज का एक बड़ा भाग बिना किसी परिश्रम के अर्थात् पण्डे, पुजारी आदि ईश्वर के नाम पर अपनी आजीविका कमाकर जीवनयापन करते हैं तो दूसरी तरफ ऐसे विश्वासों का प्रचार कि 'जिसने चोंच दी है वह चुग्गा भी देगा', व्यक्ति को निष्क्रिय बनाते हैं। व्यक्ति धार्मिक विश्वासों के आधार पर ही बिना कर्म किये अधिक-से-अधिक प्राप्त करने की कामना रखता है।

उपर्युक्त विवेचन से ऐसा आभास होता है कि शायद विज्ञान की प्रगति व समय के झंझावातों से धर्म रूपी महान अट्टालिका एक दिन धराशायी हो जायेगी और धर्म का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा, परन्तु हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि मानव केवल यन्त्र चालित मशीन है जो केवल तर्कों के आधार पर ही संचालित होता है, परन्तु इसके विपरीत मानव भय, प्रेम, घृणा, उत्साह, दु:ख आदि कोमल भावनाओं का एक पुलिन्दा भी है। इन सब भावनाओं का आधार मात्र तर्क ही नहीं है। यदि धर्म के अतार्किक पक्ष को जो आधुनिक समाज में निराधार है तथा धर्म में व्याप्त असंगतियों व कुप्रथाओं को समाप्त कर उसे एक ठोस व तार्किक आधार प्रदान करें तो धर्म हमारे जीवन में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा। इसके साथ-ही-साथ यदि सभी धर्म एकाकार हो जाएँ तथा केवल एक समूह अथवा सम्प्रदाय तक सीमित न रह कर उदार दृष्टिकोण अपनायें तो सम्पूर्ण मानव समाज का कल्याण सम्भव हो सकेगा। इस प्रकार धर्म का यह नया रूप यन्त्रवत् मानव जीवन में तपते हुए रेगिस्तान में वर्षा की सुखद बौछारों द्वारा प्राप्त शीतलता के समान सिद्ध होगा। अत: धर्म के सामने अब एक चुनौती है कि या तो वह अपने अतार्किक चोले को उतार फेंके व मानव कल्याण का नया चोला धारण करे अथवा समाप्त होने को तत्पर रहे।

3.15 धर्म में आधुनिक प्रवृत्तियाँ (Recent Trends in Religion)

यद्यपि धर्म रूढ़िवादी प्रकृति का तथा वस्तु-स्थिति बनाये रखने का समर्थक है, परन्तु आधुनिक समाज की बदलती हुई द्रुतगामी परिस्थितियों के परिवेश में यह अपने आप को बचा नहीं पाया। फलस्वरूप धर्म में नई प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर हुईं।

1. धार्मिक कट्टरता का कम होना (Lessening of Religious Rigidity)—बदलते परिवेश में धार्मिक कट्टरता में कमी आयी है क्योंकि नवीन परिस्थितियों में धार्मिक नियमों का पहले जितनी कठोरता से पालन करना अब सम्भव नहीं है, इसीलिए समाज में चली आ रही कुरीतियों में कमी आयी है। अब समाज में छुआछूत व भेदभाव जैसी धारणाओं में कमी आयी है। हरिजनों की जहाँ परछाईं भी देखना बुरा था वहाँ अब वे सार्वजनिक स्थलों में बेरोकटोक आ-जा सकते हैं। इसी प्रकार से बाल-विवाह व सती-प्रथा की भी समाप्ति हुई है तथा विधवा पुनर्विवाह व अन्तर्जातीय विवाह का प्रचलन हुआ है।

2. धार्मिक कर्मकाण्डों का सरलीकरण (Simplification of Religious Rites)—औद्योगीकरण व नगरीकरण के फलस्वरूप मानव जीवन का मशीनीकरण हो गया है। ऐसे व्यस्त जीवन में मानव द्वारा जटिल व आडम्बरपूर्ण कर्मकाण्डों को करते रहना सम्भव नहीं है। अत: अब धर्म सरलीकरण की प्रक्रिया के दौर से गुजर रहा है। जहां विवाह से सम्बन्धित धार्मिक कर्मकाण्डों में पहले अत्यधिक समय लगता था वहाँ अब तीन-चार घण्टों में ही सब कुछ सम्पन्न हो जाता है।

3. धार्मिक संकीर्णता में कमी (Lessening of Narrowness)—प्राचीन समय में धर्म की प्रकृति अत्यन्त संकीर्ण थी। सभी अपने धर्मों को श्रेष्ठ समझते तथा अन्य धर्मों को हेय दृष्टि से देखते थे। इस दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप कभी भी दो धर्मों का आपस में मेल नहीं हुआ, परन्तु वर्तमान समय में परिस्थितियाँ बदल चुकी हैं तथा सब धर्म अब एक-दूसरे को समान दृष्टि से देखने लगे हैं। यही आज के समाज की सबसे महान उपलब्धि है।

4. मानवतावादी धर्म का विकास (Development of Humanitarian Religion)—मानवतावादी धर्म की कल्पना समाजशास्त्र के जन्मदाता **ऑगस्ट कॉम्टे** ने अपने 'मानवता के धर्म' के अन्तर्गत की थी। कॉम्टे के अनुसार दूसरों की सेवा के लिए अधिक-से-अधिक समर्थ होना और उसके लिए शारीरिक, बौद्धिक और नैतिक उन्नति करना मानवता के धर्म का उद्देश्य है। यह धर्म हिंसात्मक कार्यों का बहिष्कार करता है। प्रेम इसका सिद्धान्त है, सुव्यवस्था इसका आधार और प्रगति इसका ध्येय है। इस प्रकार विभिन्न धर्मों के होते हुए समस्त मानव समाज के लिए एक सामान्य धर्म की प्रतिस्थापना धार्मिक क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण कदम है। गांधीजी ने भी ऐसी धर्म की कल्पना की थी।

5. धर्म का व्यवसायीकरण (Commercialization of Religion)—आज धर्म आजीविका का एक साधन बन गया है। आज धर्म के ठेकेदार पण्डे-पुजारी अब उतनी निष्ठापूर्वक धार्मिक क्रियाओं को सम्पन्न नहीं करवाते हैं जितनी पहले कराते थे। आज इनका एकमात्र ध्येय येन-केन प्रकारेण अपने जजमानों से खूब पैसा प्राप्त करना

नोट

होता है। अब छोटे-से-छोटे धार्मिक कार्य के लिए अधिकाधिक दक्षिणा देना आवश्यक है। पैसा देकर कोई भी व्यक्ति उल्टी-सीधी जन्म-पत्री इनसे मिलवाकर योग्य वर अथवा वधू प्राप्त कर सकता है। हम समाचार-पत्रों में नित्य ही ऐसे समाचार पढ़ सकते हैं जिसमें सन्तान प्राप्ति अथवा धन दुगुना कमाने या नक्षत्रों की शान्ति हेतु लोभ देकर कई लोगों को विशेष कर औरतों को लूटा जाता है। अधिक दान-दक्षिणा देने वालों को अधिक सुविधाएँ दी जाती हैं। इस प्रकार धर्म का यह व्यवसायीकरण हमें सभी धर्मों में देखने को मिलेगा।

6. धर्म में लौकिकीकरण (Secularization in Religion)–**डॉ. श्रीनिवास** ने लौकिकीकरण की अवधारणा दी। उनके अनुसार लौकिकीकरण वह प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत पहले हम जिस चीज को धार्मिक मानते थे, उसे अब हम धार्मिक नहीं मानते तथा साथ ही प्रत्येक स्थिति को हम तर्क के द्वारा समझने की कोशिश करते हैं। इस प्रकार जिन अनुष्ठानों, व्रतों, यात्राओं, दान-दक्षिणा आदि को पहले धार्मिक निष्ठा व स्वर्ग प्राप्ति के कारण सम्पन्न किया जाता था, वे अब केवल धार्मिक निष्ठा के आधार पर ही सम्पन्न नहीं कर दिये जाते हैं, वरन् उनके पीछे कोई तर्क अवश्य होता है, जैसे सप्ताह में एक व्रत रखना पाचन शक्ति के लिए अच्छा होता है, इसलिए कई लोग सप्ताह में एक व्रत रखते हैं। लौकिकीकरण की धारणा के कारण ही वर्तमान में कई धार्मिक अनुष्ठानों व कर्मकाण्डों का प्रभाव क्षीण होता जा रहा है।

7. धार्मिक कार्यों का अन्य संस्थाओं को हस्तान्तरण (Transfer of many Religious Functions to other Agencies)–**डेविस** के विचारानुसार संस्कृति के जटिल होने के साथ-साथ धार्मिक कार्यों का विभाजन अन्य संस्थाओं में हो जाता है। आज राज्य भी अनेक धार्मिक कार्यों में रुचि लेता है व कानून बनाकर उन पर नियन्त्रण रखता है। राज्य के अतिरिक्त अन्य कई संस्थाओं ने कई धार्मिक कार्यों को करना प्रारम्भ कर दिया है। इस प्रकार धार्मिक कार्य अब केवल धार्मिक संस्थाओं तक ही सीमित नहीं रह गए। राजनीति भी अब धर्म में लिप्त है। हिन्दू महासभा, जमायते इस्लामी तथा अकाली दल इसके अच्छे व प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

8. धर्म तथा धार्मिक नेताओं का प्रभुत्व क्षीण होना (Lessening of Importance of Religion and Religious Leaders)–विज्ञान की प्रगति धर्म तथा धार्मिक नेताओं की अवनति का कारण बनती जा रही है। पहले जहाँ हमारे सामाजिक जीवन व प्रतिष्ठा का आधार केवल धर्म व धार्मिक नेता थे, अब उनका स्थान दूसरों ने ले लिया है। अब धर्म के आधार पर ही केवल उच्च स्थिति नहीं प्राप्त की जा सकती है, वरन् इसके लिए वैयक्तिक गुण, धन, शिक्षा, उच्च व्यवसाय आदि भी आवश्यक हैं। इसीलिए धर्म परिवर्तन की मनोवृत्ति समाज में अधिक परिलक्षित हो रही है। इतिहास साक्षी है कि राज-पुरोहितों का सम्मान राजा से अधिक था। सम्राट भी राज-पुरोहित के सम्मान में अपना सिंहासन छोड़ देता था, परन्तु अब ये समाज के अन्य सदस्यों की भांति ही सामान्य सदस्य हैं।

9. धर्म मनोरंजन के साधन के रूप में (Religion as a Means of Recreation)–आज अलौकिक शक्ति में निष्ठा की प्रवृत्ति का ह्रास होता जा रहा है। आज तीर्थ-स्थलों की यात्रा उस दिव्य शक्ति से प्रेरित होकर नहीं, वरन् मनोरंजन व चिकित्सक की सलाह पर हवा बदलने के लिए की जाती है। धार्मिक उत्सवों पर भजन-कीर्तन, भोज का आयोजन केवल मनोरंजन, एक-दूसरे से मिलने-जुलने, खुशियाँ मनाने, आदि के लिए किया जाता है। अत: स्पष्ट है कि धर्म का एक अलौकिक व अभूतपूर्व शक्ति के रूप में महत्त्व क्षीण होता जा रहा है।

धार्मिक संस्थाओं में परिवर्तन के कारण (Causes of Change in Religious Institution)

उपरोक्त विवेचन से एक जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि वे कौन-से कारक हैं जो धर्म में इस नयी प्रवृत्ति तथा धर्म के ह्रास के लिए उत्तरदायी हैं। वे कारक इस प्रकार हैं–

1. वैज्ञानिक प्रगति–धर्म में होने वाले परिवर्तनों का मुख्य कारण यह है कि विज्ञान का आधार तर्क, प्रयोग व निरीक्षण है। विज्ञान के क्षेत्र में काल्पनिक तत्वों का कोई अस्तित्व नहीं है अर्थात् विज्ञान कल्पना से परे है, विज्ञान द्वारा सृष्टि के बारे में प्राप्त वास्तविक ज्ञान ने धर्म के काल्पनिक आधार पर कठोर प्रहार किया है तथा मानव को काल्पनिकता छोड़ वास्तविकता ग्रहण करने के लिए विवश किया है।

2. शिक्षा की प्रगति एवं विस्तार भी इस दिशा में एक महत्त्वपूर्ण चरण है। विज्ञान की भांति शिक्षा भी व्यक्ति को तर्कशील बनाती है। इस प्रकार शिक्षा धर्म के गहन अन्धकार में एक ज्योति-पुंज है। अब तक मानव किसी ठोस आधार के अभाव में केवल कल्पना जगत में ही विचरण कर रहा था, परन्तु शिक्षा ने इस कोहरे को छांटने में अपना अभूतपूर्व योगदान दे मनुष्य को वास्तविकता के ठोस धरातल पर ला खड़ा किया है।

नोट

3. औद्योगीकरण व नगरीकरण के परिणामस्वरूप कई नये कारखानों व मिलों की स्थापना हुई तथा नये-नये नगरों का विकास हुआ। व्यक्ति जीविकोपार्जन हेतु अपनी जन्म-स्थली को छोड़कर इन उद्योगों तथा नगरों की ओर उन्मुख हुआ और वहाँ अनेक धर्मावलम्बियों का संगम हुआ। उनमें विचारों का आदान-प्रदान हुआ, एक-दूसरे के बीच की दूरी कम हुई तथा धार्मिक कट्ट्रता का स्थान सहनशीलता ने लेकर धर्म को एक नया रूप प्रदान किया है।

4. राज्य के उद्भव के साथ ही इसके क्षेत्र में भी कल्पनातीत विस्तार हुआ, यहाँ तक कि कोई भी क्षेत्र इसके प्रभाव से अछूता नहीं रहा। राज्य ने धार्मिक संस्थाओं के भी कई कार्यों को अपना लिया है। **सरकारी कानूनों व हस्तक्षेप** ने धार्मिक निरंकुशता को भंग किया है तथा कई धार्मिक अन्धविश्वासों व रूढ़ियों तथा कुरीतियों पर अंकुश लगाया है। इसीलिए आज समाज में देवदासी-प्रथा, सती-प्रथा व नर-बलि जैसी कुरीतियों की समाप्ति हुई है।

क्या आप जानते हैं धर्म शब्द की व्युत्पति संस्कृत भाषा के 'धृ' शब्द से हुई है जिसका अर्थ है 'धारण करना।'

3.16 धार्मिक एवं लौकिक (Religious and Secular)

धार्मिक और लौकिक दोनों का ही प्रभाव भारतीय समाज में देखने को मिलता है। किसी समय भारतीय समाज में धर्म का इतना अधिक प्रभाव था कि जीवन की सभी क्रियाओं का सम्पादन प्रमुखतः धार्मिक संस्कार, पूजा-पाठ, यज्ञ, मन्त्रोच्चारण या अनुष्ठान के बाद ही होता था, चाहे जीवन-पथ के संस्कार हों, चाहे मकान बनवाना हो, कोई व्यापारिक संस्थान प्रारम्भ करना हो, कोई कल-कारखाना स्थापित करना हो, प्रत्येक के पूर्व धार्मिक अनुष्ठान आवश्यक था। जन्म, विवाह, मृत्यु आदि के अवसर पर तो धार्मिक-क्रिया सम्पादित की ही जाती थी। धर्म निरपेक्षता का क्या अर्थ समझ लेना भी यहां आवश्यक है।

वर्तमान समय में भारतीय समाज के आधुनिक आधार के रूप में धर्मनिरपेक्षता का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। भारत अनेक धर्मों का न केवल उद्गम-स्थल बल्कि संगम-स्थल भी रहा है। भारतीय समाज एक धर्मप्राण समाज है। यहाँ हिन्दू धर्म के अलावा इस्लाम, ईसाई, जैन, बौद्ध तथा पारसी धर्म के अनुयायियों की संख्या भी काफी है। यहाँ सभी देशवासियों के जीवन में धर्म की प्रधानता पायी जाती है क्योंकि यहाँ धर्म जीवन के विभिन्न पक्षों को प्रभावित करता है। जिस देश में अनेक धर्मों के लोग साथ-साथ रहते हों, वहाँ समाज को संगठित रखने की दृष्टि से धार्मिक सहिष्णुता का होना अत्यन्त आवश्यक है। भारतीय समाज में यह विशेषता प्रमुखतः पायी जाती है। आदिकाल से ही भारतवासी धार्मिक दृष्टि से सहिष्णु रहे हैं, अन्य धर्मों के प्रति आदर का भाव रखते रहे हैं। यहाँ धर्म के अन्तर्गत कर्त्तव्यपालन पर काफी जोर दिया जाता है। लोग अपने वर्ण, आश्रम और जाति से सम्बन्धित धर्म का पालन करते रहे हैं, कर्त्तव्यों को निभाते रहे हैं, इस देश में धार्मिक सहिष्णुता ने लोगों के दृष्टिकोण को व्यापक बनाने और धर्मनिरपेक्षता के मूल्यों को विशेष महत्त्व देने में काफी योग दिया है।

आज से करीब 2300 वर्ष पूर्व सम्राट अशोक ने घोषणा की थी कि राज्य किसी भी धर्म या सम्प्रदाय को नहीं सतायेगा, राज्य की दृष्टि में सभी धर्म समान हैं, कोई किसी भी धर्म को मान सकता है। अशोक ने यहाँ तक कहा कि लोगों को अन्य धर्मों के प्रति न केवल सहिष्णुता का भाव रखना चाहिए बल्कि उनका आदर भी करना चाहिए। उसने अन्य धर्मों के ग्रन्थों के अध्ययन के लिए लोगों को प्रोत्साहित किया। न केवल भारतीय सभ्यता के बल्कि सम्पूर्ण मानव सभ्यता के इतिहास में अशोक का धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण एक युगान्तकारी घटना है। इस दृष्टि से एक अन्य महत्त्वपूर्ण घटना उस समय घटित हुई जब ईसा मसीह ने कहा कि सीजर की वस्तुएँ सीजर को अर्पित कर दो और ईश्वर की वस्तुएँ ईश्वर को। इस कथन का तात्पर्य यही है कि राज्य और चर्च एक-दूसरे

से पृथक् हैं। सम्राट अशोक की घोषणा से धर्मनिरपेक्षता के एक महत्त्वपूर्ण पहलू **'सहिष्णुता'** (Tolerance) का आधार तैयार हुआ और ईसा मसीह की घोषणा से एक अन्य पहलू **'राज्य और धर्म एक दूसरे से पृथक् होने'** का आधार निर्मित हुआ।

नोट

धर्मनिरपेक्षता के उपर्युक्त दो पक्षों के अतिरिक्त दो अन्य पक्षों का विकास आधुनिक समय में 15वीं व 16वीं शताब्दी में पश्चिमी यूरोप में **'पुनर्जागरण तथा सुधार'** (Renaissance and Reformation) तथा 18वीं व 19वीं शताब्दी में **औद्योगिक क्रान्ति** (Industrial Revolution) के कारण हुआ। पुनर्जागरण ने धर्मनिरपेक्षता के तीसरे पहलू मानवतावादी दृष्टिकोण (Humanistic Outlook) पर जोर दिया, जिसमें परलोक के बजाय इस लोक को विशेष महत्त्व दिया। औद्योगिक क्रान्ति ने धर्मनिरपेक्षता के एक अन्य पहलू **विज्ञान और प्रौद्योगिकी** (Science and Technology) **के जीवन की समस्याओं को हल करने में प्रयोग पर जोर दिया।** इससे बड़ी-बड़ी मशीनों का निर्माण हुआ और मानव व पशु शक्ति के बजाय ऊर्जा के अन्य स्रोतों को काम में लिया जाने लगा। परिणामस्वरूप उत्पादन को बढ़ाने में काफी योग मिला।

इस 20वीं शताब्दी में भारतीय समाज में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह आ रहा है कि यह एक **'पवित्र समाज'** (Sacred Society) **से अपने को एक 'धर्मनिरपेक्ष समाज'** (Secular society) में बदलता जा रहा है। जब एक परम्परावादी कृषि-प्रधान समाज अपने को आधुनिक औद्योगिक समाज में बदलता है तो उसे अपने को पवित्र से धर्मनिरपेक्ष समाज की दिशा में भी बदलना पड़ता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अधिकांश भारतवासी धार्मिक सहिष्णुता के बावजूद भी अपने दृष्टिकोण में काफी धार्मिक हैं। यदा-कदा व्यक्त की जाने वाली धार्मिक कटट्रता और कुछ लोगों की धार्मिक असहिष्णुता तथा अंग्रेजों की 'फूट डालो और राज करो' की नीति के कारण ही देश का विभाजन हुआ और एक इस्लामी राज्य के रूप में पाकिस्तान का जन्म हुआ। फिर भी यह सही है कि अधिकतर भारतवासियों में धार्मिक सहिष्णुता पायी जाती है। इस शताब्दी में अनेक विद्वानों, समाज सुधारकों एवं राजनेताओं ने यह स्पष्टत: महसूस किया कि विभिन्न धर्मों वाले देश भारत में **'धर्म-निरपेक्षता'** (Secularism) ही समाज का एक सुदृढ़ आधार हो सकता है। इसी आधार पर समाज को सुसंगठित किया जा सकता है, आधुनिकीकरण (Modernization) की दिशा में आगे बढ़ाया जा सकता है और प्रगति की जा सकती है। धर्मनिरपेक्षता जीवन का एक ढंग है, संसार के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण है जिसमें परलोक के बजाय इस लोक पर विशेष ध्यान दिया जाता है। जब हम भारतीय समाज के आधुनिक आधार के रूप में धर्मनिरपेक्षता पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि यह तटस्थता की एक ऐसी स्थिति है जिसमें राज्य किसी भी धर्म को प्रोत्साहित नहीं करता, राज्य का कोई धर्म नहीं होता, धर्म के आधार पर राज्य किसी के साथ कोई भेद-भाव नहीं करता, सभी को समान समझता है और धार्मिक दृष्टि से सबको स्वतन्त्रता प्रदान करता है। धर्मनिरपेक्षता का तात्पर्य यही है कि राज्य सभी धार्मिक समूहों एवं धार्मिक विश्वासों को पूर्णत: समान मानता है, सबके प्रति निष्पक्ष दृष्टिकोण रखता है। यहाँ निरपेक्षता का अर्थ तटस्थता या समानता के भाव से ही है। राज्य सभी धर्मों को समानता की दृष्टि से देखता है, किसी के प्रति कोई पक्षपातपूर्ण रवैया नहीं अपनाता है। धर्मनिरपेक्षता का अर्थ ऐसी नीति या सिद्धान्त में विश्वास है जिसके अन्तर्गत लोगों को किसी धर्म विशेष को मानने के लिए बाध्य नहीं करके सबसे प्रति समभाव रखने पर जोर दिया जाता है।

धर्मनिरपेक्ष होने का तात्पर्य जीवन के विभिन्न पक्षों में धर्म के प्रभाव के क्षीण होने से भी लिया जाता है। उदाहरण के रूप में, वर्तमान भारत में विभिन्न धार्मिक संस्कारों का संक्षिप्तीकरण हो रहा है, तीर्थ यात्राओं का मनोरंजनात्मक दृष्टि से महत्त्व बढ़ता जा रहा है, विवाह में एक धार्मिक संस्कार के बजाय सामाजिक समझौते से तत्व जुड़ते जा रहे हैं। स्त्रियों के नौकरी करने को अब बुरा नहीं समझा जाता है। आजकल शिक्षा धर्म के प्रभाव से प्राय: मुक्त हो चुकी है। आजकल ब्राह्मणों का महत्त्व कुछ धार्मिक अनुष्ठानों के सम्पादन एवं पूजा-पाठ तक ही सीमित है। **ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी** में बताया गया है कि धर्मनिरपेक्षता वह सिद्धान्त है जिसमें विश्वास से सम्बधिन्त सभी विचारों को पृथक् करके नैतिकता को वर्तमान में मनुष्य के कल्याण से पूर्णत: सम्बन्धित माना गया है। **चैम्बर डिक्शनरी** में धर्मनिरपेक्षता को ऐसे विश्वास के रूप में माना गया है जिसमें राज्य, नैतिकताएँ, शिक्षा आदि धर्म से स्वतन्त्र होते हैं।

भारतीय समाज के सन्दर्भ में विचार करने पर हम पाते हैं कि धर्मनिरपेक्षता एक ऐसा दृष्टिकोण है जिसके अनुसार विभिन्न धर्मों के लोग सहिष्णुता, सह-अस्तित्व एवं समानता के आधार पर एक-दूसरे के धार्मिक विश्वासों में किसी प्रकार की बाधा डाले बिना, कल्याणकारी राज्य की स्थापना में योग देते हैं। ऐसे राज्य का अपना कोई निश्चित धर्म नहीं होता और उसकी दृष्टि में सभी धर्म समान होते हैं। इतना अवश्य है कि यहां संविधान के अनुसार राज्य को यह अधिकार दिया गया है कि वह देश में विभिन्न धार्मिक समूहों के सांस्कृतिक विकास, शान्तिमय सह-अस्तित्व और हितों की रक्षा के उद्देश्य से उनके धार्मिक जीवन में हस्तक्षेप कर सकता है। राज्य को इस प्रकार के अधिकार दिए जाने का कारण यह है कि यहाँ अन्य देशों के समान चर्च जैसी कोई संगठित धार्मिक संस्था नहीं है जो बदलती हुई परिस्थितियों के समान धार्मिक रूढ़ियों या कर्मकाण्डों में कोई सुधार कर सके। ऐसी स्थिति में राज्य को ही यह कार्य करना पड़ता है। इसके अलावा भारतीय समाज में अनेक अन्धविश्वास और सामाजिक कुरीतियाँ पायी जाती हैं, जिनसे राज्य के हस्तक्षेप के बिना छुटकारा प्राप्त करना सम्भव नहीं है।

धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण वाला व्यक्ति विभिन्न विषयों पर धार्मिक दृष्टि से विचार नहीं करके सांसारिक दृष्टि से विचार करता है। ऐसा व्यक्ति मानवीय कल्याण हेतु नैतिकता को विशेष महत्त्व देता है। ऐसा व्यक्ति यह मानता है कि सार्वजनिक शिक्षा या अन्य मामलों में धर्म को किसी भी प्रकार का कोई स्थान नहीं दिया जाना चाहिए। धर्मनिरपेक्षवादी व्यक्ति धार्मिक दृष्टि से सहिष्णु और उदार होता है, वह अन्य धर्मों का भी आदर और सभी की धार्मिक स्वतन्त्रता में विश्वास करता है। उसका ध्यान परलोक की बजाय इस लोक पर अधिक होता है। ध र्मनिरपेक्षता के अर्थ को स्पष्ट करते हुए **डॉ. आर.एन. सक्सेना ने बताया है कि धर्मनिरपेक्षता वह नीति अथवा सिद्धान्त है जो धार्मिक नैतिकता एवं सहिष्णुता पर आधारित है तथा जो अपने सभी सदस्यों को उनके वर्ण, जाति, लिंग, धर्म, विश्वास तथा अन्य भेदों पर विचार किए बिना सभी को एक उचित सीमा तक अपने धर्म और विश्वास की स्वतन्त्रता प्रदान करता है।**

धर्मनिरपेक्षता के आवश्यक तत्व (Essential Elements of Secularism)

1. धार्मिक सहिष्णुता (Religious Tolerance)–यह धर्मनिरपेक्षता का एक आवश्यक तत्व है। इसमें व्यक्ति अन्य धर्मों के प्रति उदारता और सहिष्णुता का भाव रखता है। यह सभी धर्मों का आदर करता है। यह नास्तिकता या धार्मिक अध:पतन की स्थिति नहीं होकर धार्मिक दृष्टि से सह-अस्तित्व (Co-existence) की स्थिति है। ध र्मनिरपेक्षता में धार्मिक संकीर्णता का कोई स्थान नहीं होता। यह **धार्मिक कट्टरता के बजाय तार्किक दृष्टि से सोचने-विचारने पर जोर देती है**। यह विश्वासों के बजाय व्यावहारिक अनुभवों को विशेष महत्त्व देती है। यह धार्मिक अन्धविश्वासों की उपेक्षा सुधार एवं उपयोगितावादी दृष्टिकोण पर विशेष ध्यान देती है।

2. सांसारिकता या लौकिकता (Worldiness)–धर्मनिरपेक्षता में परलोक या अलौकिक विश्व की बजाय इस लोक से सम्बन्धित सांसारिक कर्त्तव्यों पर विशेष जोर दिया जाता है। इसमें लोगों पर धर्म का उतना नियन्त्रण नहीं होता जितना पवित्र समाज में होता है। जब कोई समाज पवित्र से धर्मनिरपेक्ष समाज की ओर बढ़ता है तो उसमें धार्मिक कर्मकाण्डों, पोप, पादरियों, पण्डितों, पुजारियों, पण्डों और महन्तों का महत्त्व कम हो जाता है तथा उन्हें अलौकिक शक्ति से सम्पन्न नहीं माना जाता। धर्मनिरपेक्षता मानवतावादी दृष्टिकोण, तर्क तथा आधुनिकता पर आध ारित होती है।

3. समानता एवं बन्धुत्व (Equality and Fraternity)–धर्मनिरपेक्षता के साथ समानता और स्वतन्त्रता के मूल्य जुड़े हुए हैं। इनके बिना धर्मनिरपेक्षता का कोई महत्त्व नहीं है। धर्मनिरपेक्षता एक ऐसी प्रवृत्ति या दृष्टिकोण है, जिसके अनुसार सभी धर्मों के अनुयायियों को समान समझने और उन्हें विकास के समान अवसर प्रदान करने पर जोर दिया जाता है। धार्मिक आधार पर किसी प्रकार के भेद-भाव को प्रोत्साहन नहीं दिया जाता तथा सबको अपने धर्म को मानने और उसका प्रसार करने की स्वतन्त्रता होती है।

4. लचीलापन (Flexibility)–धर्मनिरपेक्षता जीवन की एक शैली है, जीवन के प्रति एक विशेष प्रकार का दृष्टिकोण है। लेकिन जैसे-जैसे परिस्थितियाँ बदलती हैं, उनके साथ-साथ व्यवहार के तरीकों में भी परिवर्तन आवश्यक हो जाता है। धर्मनिरपेक्षता में इस प्रकार के परिवर्तन या बदलती हुई दशाओं के साथ अनुकूलन की बात

मौजूद होती है। वास्तव में, धर्मनिरपेक्ष प्रकार का व्यवहार रूढ़िवादी या कट्टरतायुक्त नहीं होकर विवेक पर आधारित होता है। यह कहा जा सकता है कि धर्मनिरपेक्ष नैतिकता में परिस्थितियों के साथ बदलने का गुण विद्यमान है।

नोट

धर्मनिरपेक्ष समाज की प्रमुख विशेषताएँ (Major Characteristics of Secular Society)

धर्मनिरपेक्ष समाज में कुछ ऐसी विशेषताएँ पायी जाती हैं जो उसे पवित्र समाज से पृथक् करती हैं। **पवित्र समाज** (Sacred Society) में परम्परागत धार्मिक व्यवस्था जीवन के सभी पहलुओं को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है। ऐसे समाज में परम्परागत मान्यताओं तथा स्वीकृत आदर्श नियमों के आधार पर नियन्त्रण और संगठन बनाए रखा जाता है। इस देश में हिन्दू, मुसलमान और ईसाई आदि समूह पवित्र समाज के अन्तर्गत आते हैं। ऐसे समाज में परम्पराओं, कर्मकाण्डों, धार्मिक विश्वासों, रीति-रिवाजों एवं स्वीकृत आदर्श-नियमों का विशेष महत्त्व होता है। इस प्रकार के समाजों में प्राकृतिक शक्तियों, जादू-टोने और अन्धविश्वासों को काफी महत्त्व दिया जाता है। ऐसे समाज में किसी भी प्रकार के परिवर्तन को अच्छा नहीं समझा जाता, जैसे हिन्दू समाज में किसी समय लोग सती प्रथा, दास-प्रथा, बाल-विवाह पर प्रतिबन्ध लगाए जाने एवं विधवा-पुनर्विवाह की आज्ञा देने के विरोधी थे। मुस्लिम समाज के लोग आज भी 'परिवार नियोजन कार्यक्रम' (Family Planning Programme) एवं विवाह के क्षेत्र में सरकार द्वारा किसी प्रकार का कोई कानून बनाए जाने के पक्ष में नहीं हैं। इसका कारण यह है कि वे अपनी धार्मिक परम्पराओं में किसी प्रकार का कोई हस्तक्षेप नहीं चाहते हैं। धर्मनिरपेक्ष समाज में पवित्र समाज से विपरीत प्रकार की विशेषताएँ पायी जाती हैं। ऐसे समाज की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

(1) धार्मिक स्वतंत्रता—धर्मनिरपेक्ष समाज में सभी को धार्मिक स्वतंत्रता होती है। कोई भी व्यक्ति किसी भी धर्म को मान सकता है, उसका प्रचार और प्रसार कर सकता है। आज धर्म और उससे सम्बन्धित विश्वासों को सामूहिक घटना नहीं मानकर व्यक्तिगत घटना माना जाने लगा है। अत: एक धर्मनिरपेक्ष समाज में व्यक्तियों को अपनी इच्छानुसार धार्मिक जीवन व्यतीत करने की स्वतंत्रता होती है।

(2) सभी धर्मानुयायियों के साथ समान व्यवहार—धर्मनिरपेक्ष समाज में विभिन्न धर्मों के मानने वाले लोगों के साथ समानता का व्यवहार किया जाता है। इसका कारण यह है कि समाज अथवा राज्य किसी भी रूप में किसी विशेष धर्म को बढ़ावा नहीं देता है। अत: धर्मनिरपेक्ष समाज में सभी व्यक्तियों को समान माना जाता है, उनके साथ एक ऐसा व्यवहार किया जाता है, चाहे उनका धर्म कोई भी क्यों न हो। ऐसे समाज में सभी को समान दृष्टि से देखा जाता है।

(3) किसी विशेष धर्म से सम्बन्धित नहीं—धर्मनिरपेक्ष समाज का किसी एक धर्म के साथ कोई विशेष सम्बन्ध नहीं पाया जाता है। ऐसे समाज का अपना कोई धर्म नहीं होता, यद्यपि यह धर्म विरोधी या अधार्मिक भी नहीं होता। ऐसा समाज आज मानवोचित गुणों जैसे—सत्य, अहिंसा, त्याग, समानता, बन्धुत्व एवं प्रेम आदि को प्रधानता देता है। **डॉ. राधाकृष्णन** के अनुसार धर्मनिरपेक्ष होने का अर्थ अधर्मी होना या संकुचित धार्मिकता पर चलना नहीं होता, बल्कि पूर्णतया आध्यात्मिक होना है। इतना अवश्य है कि ऐसा समाज या राज्य अपने को किसी धर्म-विशेष के साथ नहीं जोड़ता है।

(4) धार्मिक हस्तक्षेप नहीं—धर्मनिरपेक्ष समाज में धर्म को एक व्यक्तिगत मामला समझकर राज्य या समाज के द्वारा लोगों के धार्मिक जीवन में साधारणत: किसी प्रकार का कोई हस्तक्षेप नहीं किया जाता। इतना अवश्य है कि कभी-कभी जन-कल्याण को ध्यान में रखते हुए सामाजिक कुरीतियों से छुटकारा प्राप्त करने के उद्देश्य से राज्य विशेष परिस्थितियों में धार्मिक मामलों में भी हस्तक्षेप कर सकता है, परन्तु ऐसा करने पर किसी समाज के धर्मनिरपेक्ष होने पर किसी प्रकार की कोई आंच नहीं आती। भारत के संदर्भ में यह बात सही है।

(5) विवेक व तर्क पर आधारित—आदिम समाज या पवित्र समाज के लोग सभी सामाजिक घटनाओं को धर्म एवं अलौकिक शक्ति के साथ जोड़ते रहते हैं, लेकिन धर्मनिरपेक्ष समाज में ऐसा नहीं है। ऐसे समाज में कार्य-कारण सम्बन्धों पर जोर दिया जाता है, विवेक के आधार पर निर्णय लिए जाते हैं, किसी भी वस्तु, कार्य या व्यवहार के गुण-दोषों पर तार्किक ढंग से विचार किया जाता है। ऐसी स्थिति में जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में धर्म का प्रभाव घटता है और तार्किक व्यवहार का महत्त्व बढ़ता है।

नोट

(6) जनकल्याण पर विशेष जोर–ऐसे समाज में धार्मिक संकीर्णताओं या धार्मिक कट्टरता को अच्छा नहीं समझा जाता। साथ ही धर्म के पारलौकिक पक्ष के बजाय लौकिक पक्ष पर विशेष जोर दिया जाता है। लौकिक पक्ष के अन्तर्गत मानव-जाति की सेवा आती है। ऐसे समाज में पूजा-पाठ तथा देवी-देवताओं की आराधना पर उतना जोर नहीं दिया जाता जितना जोर सार्वजनिक कल्याण की वृद्धि पर दिया जाता है। धर्मनिरपेक्ष समाज में ऐसे कार्यों पर विशेष ध्यान दिया जाता है, जिनसे सामाजिक समस्याओं से छुटकारा प्राप्त किया जा सके और जनकल्याण हो सके।

(7) प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था में विश्वास–धर्मनिरपेक्ष समाज प्रजातांत्रिक मूल्यों में विश्वास करता है। प्रजातन्त्र समानता और स्वतंत्रता पर आधारित है। धर्मनिरपेक्ष समाज में भी सबकी समानता और स्वतंत्रता में विश्वास किया जाता है। ऐसे समाज में धार्मिक सहिष्णुता को प्रधानता दी जाती है और विभिन्न धर्मानुयायियों को एक-दूसरे के साथ अनुकूलन करने पर जोर दिया जाता है। ऐसे समाज में व्यक्ति, वंश, जाति, रंग, धर्म, भाषा या अन्य किसी प्रकार के अन्तर पर ध्यान दिए बिना सभी को समान समझा जाता है। **गांधीजी** के अनुसार विश्व के सभी ध र्म एक विशाल वृक्ष के समान हैं तथा सभी धर्मों के अनुयायी एक-दूसरे के साथ अपने मुख्य या गौण भेदों पर जोर दिए बिना प्रसन्नतापूर्वक साथ-साथ रह सकते हैं। धर्मनिरपेक्ष समाज में इस प्रकार की प्रजातन्त्रात्मक समाज व्यवस्था में विश्वास किया जाता है।

(8) धार्मिक शिक्षा के बजाय धर्मनिरपेक्ष प्रकार की शिक्षा पर जोर–धर्मनिरपेक्ष समाज में राज्य के द्वारा किसी प्रकार की कोई धार्मिक शिक्षा प्रदान नहीं की जाती। इसके अलावा राज्य ऐसी किसी शिक्षण-संस्था को भी आर्थिक सहायता नहीं देता जो किसी धर्म विशेष से सम्बन्धित हो। धर्मनिरपेक्ष समाज में तो ऐसी शिक्षा पर जोर दिया जाता है जो नैतिकता और चरित्र-निर्माण को प्रधानता देती हो, साथ ही ऐसी शिक्षा जो अपने में विभिन्न ध र्मों के आदर्शों को सम्मिलित कर सामाजिक एकीकरण का प्रयास भी करती है।

धर्मनिरपेक्ष समाज में समाज की शक्ति जनता के सामान्य प्रतिनिधियों में निहित होती है, परन्तु पवित्र समाज में यही शक्ति पुरोहित वर्ग के हाथ में केंद्रित होती है। धर्मनिरपेक्ष समाज की एक अन्य विशेषता यह है कि यह पवित्र समाज की तुलना में नवीन परिवर्तनों को सुगमता से अपना लेता है। ऐसे समाज में उन्हीं परम्पराओं को बनाए रखा जाता है जो तर्क की कसौटी पर खरी उतरती हैं, उपयोगी सिद्ध होती हैं।

तत्वपरक और बहुवादी धर्म

एक तत्वपरक और बहुवादी धर्म में प्रमुखत: यह अन्तर किया गया है कि जहाँ तत्वपरक धर्म में केवल एक ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया गया है, वहाँ बहुवादी धर्म में एक के स्थान पर अनेक की सत्ता में विश्वास किया गया है। इस्लाम एक तत्वपरक धर्म का उदाहरण है, जहाँ एकमात्र अल्लाह को ही सर्वशक्तिमान माना गया है। यदि हम वेद तथा उपनिषद की दृष्टि से धर्म पर विचार करें तो उस समय का वैदिक धर्म एक तत्वपरक धर्म ही था। वेदों तथा उपनिषदों में केवल मात्र एक ईश्वर को ही सर्वोपरि मानकर उसकी सत्ता में विश्वास किया गया है। बाद के काल में यहाँ अनेक देवी-देवताओं की सत्ता को स्वीकार किया गया जैसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश, आदि की। लेकिन मूलरूप में देखा जाए तो वे सब भी सर्वशक्तिमान ईश्वर के अलग-अलग रूप ही थे जिनको भिन्न-भिन्न कार्य सौंपे गये थे। जैन धर्म को हम एक बहुवादी धर्म के उदाहरण के रूप में ले सकते हैं, जहाँ चौबीस तीर्थंकर हुए हैं जिनमें अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामी थे। हिन्दू धर्म यद्यपि अपने मूल रूप में एक तत्वपरक धर्म रहा है लेकिन कालान्तर में पौराणिक धर्म बहुवादी धर्म बन गया जब शिव-पार्वती, नव-दुर्गा, गणपति, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, आदि की उपासना की जाने लगी। मूलत: हम कह सकते हैं कि सैद्धान्तिक रूप में हिन्दू धर्म में एक ही ईश्वर में विश्वास किया जाता रहा है और उसी की सत्ता सर्वत्र व्याप्त मानी गयी है, परन्तु व्यावहारिक रूप में यहाँ अनेक सत्ताओं (देवी-देवताओं) की उपासना की जाती रही है, जो बहुवादी धर्म के रूप में प्रकट हुई है। ईसाई धर्म भी एक तत्वपरक धर्म का ही उदाहरण है।

संगठित एवं असंगठित धर्म

विश्व में विभिन्न धर्मों को संगठित और असंगठित धर्म के रूप में वर्गीकृत किया गया है। जिस धर्म के अनुयायियों की संख्या सामान्यत: कम रही है, वहाँ धर्म का कोई न कोई संगठित रूप सामान्यत: पाया जाता रहा है। इसके

नोट

विपरीत जिस धर्म के अनुयायियों की संख्या बहुत अधिक रही है वे धर्म सामान्यत: असंगठित धर्म के अन्तर्गत आते रहे हैं। ईसाई धर्म संगठित धर्म का एक प्रमुख उदाहरण है। इनमें धार्मिक दृष्टि से गिरजाघरों का विशेष महत्त्व पाया जाता है जो धार्मिक गतिविधियों के केन्द्र हैं। इन लोगों में धार्मिक दृष्टि से एकता पाई जाती है। इसी प्रकार बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म भी संगठित धर्म के अन्तर्गत आते हैं जो अपने सदस्यों के धार्मिक व्यवहारों पर किसी न किसी रूप में नियन्त्रण बनाए रखते हैं। हिन्दू धर्म असंगठित धर्म का प्रमुख उदाहरण है। यद्यपि हिन्दुओं में मठ, मन्दिर अनेक धार्मिक विश्वास आदि पाए जाते हैं परन्तु सभी हिन्दुओं को नियन्त्रित करने की दृष्टि से कोई केन्द्रीय व्यवस्था नहीं पाई जाती है। हिन्दू धर्म में किसी प्रकार के कोई संगठन नहीं पाए जाने का मूल कारण यह है कि यहाँ अनेक प्रकार के विश्वास व मान्यताएँ प्रचलित रहे हैं, अनेक प्रकार के विश्वासों की परम्पराएँ और पूजा पद्धतियाँ पाई जाती हैं। कोई शाक्त है, कोई वैष्णव है, तो कोई शैव है, कोई वल्लभाचारी है, ऐसी स्थिति में ध र्म के किसी संगठित रूप के होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

यहूदीवाद और गैर-यहूदीवाद

ईसाई, इस्लाम और यहूदी तीनों ही धर्मों में यहूदी धर्म सबसे पुराना है, इतिहास में कई बार यहूदी धर्म तबाह हुआ। यहूदी धर्म जैसा कि नाम से स्पष्ट है यहूदियों का धर्म है। विश्व में यहूदियों की संख्या बहुत सीमित है और इजराइल यहूदियों का देश है, यद्यपि यह एक बहुत छोटा राष्ट्र है। यहूदी धर्म के प्रवर्तक अब्राहम माने जाते हैं। यहूदी धर्म को एक विशिष्ट पहचान प्रदान करने में पैगम्बर मोनेज का बहुत योगदान है। यहूदी धर्म के मुख्य तत्व तीन हैं यहोबा अर्थात् ईश्वर, यहोबा और यहूदियों के बीच परस्पर सहमति और तोराह अर्थात् सामाजिक विधि विधान या कानून। यहूदी धर्म एक ईश्वर में विश्वास करता है और मूर्ति पूजा का विरोध करता है। यहूदियों के लिए उनका ईश्वर (यहोबा), ईश्वरों का ईश्वर और स्वामियों का स्वामी है। यहूदी धर्म के अनुसार, यहोबा दयालु है, न्याय प्रिय है तथा अपने लोगों की मदद करता है। यहूदी धर्म ने भौतिक जगत के परित्याग को धर्म-निष्ठा या ईश्वर भक्ति के मार्ग में कभी स्वीकार नहीं किया है। यहूदी मान्यता के अनुसार, एक धार्मिक व्यक्ति वह है जो संसार से प्यार करता है तथा अपने आचरण व कर्म को शुद्ध रखते हुए अपनी दैनिक क्रियाओं को सम्पन्न करता है। यहूदी धर्म व्यक्ति को अच्छा जीवन बिताने पर जोर देता है। अच्छे-जीवन के तीन मौलिक तत्व माने गये हैं—अच्छा कर्म, जीवन का आनंद और साथियों के प्रति प्रेम-भाव।

यहूदी यद्यपि संख्या में कम हैं परन्तु वे अपनी धार्मिक मान्यताओं को अधिक महत्त्व देते हैं। उनमें एकता की भावना पाई जाती है। अपने ही धर्म को सर्वोपरि मानने और अपनी उपासना-पद्धति को सर्वश्रेष्ठ समझने की उनमें विशेष प्रवृत्ति है। इस दृष्टि से इन लोगों में यहूदीवाद पाया जाता है। अपने धर्म के अतिरिक्त अन्य सभी धर्म के लोगों को वे गैर-यहूदीवाद के अन्तर्गत मानते हैं। यहूदी धर्म के अतिरिक्त अन्य सब कुछ गैर-यहूदी है।

धर्म, सम्प्रदाय और पंथ तथा सम्मोहन

धर्म की विवेचना इसी अध्याय में हम पूर्व में कर चुके हैं। धर्म जीवन की एक वास्तविकता है जो व्यक्ति को अनेक रूपों में प्रभावित करता है।

सम्प्रदाय—धर्म के क्षेत्र में अनेक महापुरुष, साधु-संत, पीर-पैगम्बर आदि हुए हैं जिन्होंने ईश्वर प्राप्ति का अपने-अपने तरीके से प्रयत्न किया है। इसी आधार पर धर्म के अन्तर्गत अनेक सम्प्रदाय बन गए। जैसे वेदान्त के अन्तर्गत अद्व ैतवादी सम्प्रदाय बन गया, द्वैतवादी सम्प्रदाय बन गया। मुसलमानों में शिया तथा सुन्नी सम्प्रदाय बन गए। इसी प्रकार ईसाई धर्म में कैथोलिक व प्रोटेस्टैण्ट सम्प्रदाय बन गए। जैन धर्म में भी हमें दिगम्बर और श्वेताम्बर दो सम्प्रदाय देखने को मिलते हैं।

पन्थ—सम्प्रदाय के अतिरिक्त धर्मों के अन्तर्गत पंथों का भी निर्माण हुआ। पंथ एक प्रकार का मार्ग या रास्ता है। जिस पर चलकर व्यक्ति अपनी धार्मिक मान्यताओं के अनुरूप आध्यात्म सम्बन्धी कुछ अनुभूति करना चाहता है। ईश्वर की भक्ति, पूजा या प्रार्थना करता है या अपने आराध्य देव को भजता है। साधारणतया पंथ का तात्पर्य बिना दीक्षा दिए किसी मार्ग या पंथ का अनुकरण करने से होता है। उदाहरण के रूप में कबीर पंथ, दाई पंथ, खालसा पंथ आदि पाए जाते हैं।

सम्मोहन—वास्तव में चित्त की एक विशेष स्थिति है जिसमें हम किसी पर-सत्ता से प्रभावित या आवृत्त होते हैं तथा उस आवरण को स्वीकार नहीं करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि सम्मोहन की स्थिति में व्यक्ति दूसरों से प्रभावित होकर कार्य करता है, परन्तु वह इस बात को स्वीकार नहीं करता है। उदाहरण के रूप में व्यक्ति गुरु से दीक्षा लेता है गुरु उसे प्रभावित करता है और ये प्रभावित करने की प्रक्रिया सम्मोहन के रूप में चलती है परन्तु व्यक्ति काम करते हुए उसकी सत्ता को स्वीकार नहीं करता और समझता है कि मैं ही सब कुछ कर रहा हूँ। पीर-पैगम्बर, संत, महन्त आदि के पास सम्मोहन की विशेष शक्ति रहती है जिसका वे अनुयायियों पर प्रयोग करते रहे हैं।

3.17 धर्म और समाज (Religion and Society)

धर्म मानव का अलौकिक शक्ति से सम्बन्ध जोड़ता है। इसका सम्बन्ध मानव की भावनाओं, श्रद्धा एवं भक्ति से है। धर्म मानव के आन्तरिक जीवन को ही प्रभावित नहीं करता वरन् उसके सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक जीवन को भी प्रभावित करता है। भारतीय समाज की धार्मिक रचना को जानने से पूर्व धर्म के अर्थ एवं विशेषताओं को जान लेना आवश्यक है।

धर्म सामाजिक नियन्त्रण का एक प्रमुख साधन है। ईश्वर, पाप-पुण्य एवं नरक के भय से व्यक्ति समाज-विरोधी कार्य करने से डरता है। सामाजिक नियमों का उल्लंघन करने का तात्पर्य है—पाप का भागी होना और ईश्वर की अप्रसन्नता मोल लेना। यही कारण है कि व्यक्ति सामाजिक नियमों को स्वीकार करता है।

भारतीय समाज की धार्मिक रचना (Religious Composition of India)

प्राचीनकाल से भारत विभिन्न धर्मों की पुण्यभूमि रहा है। विश्व में शायद ही कोई अन्य ऐसा देश हो जिसमें धर्मों की इतनी विविधता एवं बहुलता पायी जाती हो। यहाँ मुख्य रूप से छः धर्मों—हिन्दू, इस्लाम, ईसाई, सिख, बौद्ध तथा जैन की प्रधानता है, कुछ पारसी एवं जन-जातीय धर्मों को मानने वाले लोग भी यहाँ हैं। मुख्य धर्मों में भी अनेक सम्प्रदाय और मत-मतान्तर पाये जाते हैं। हिन्दू धर्म में शैव, वैष्णव, शाक्त, ब्रह्म समाज और आर्य समाज; इस्लाम में शिया और सुन्नी; ईसाई धर्म में प्रोटेस्टैण्ट तथा कैथोलिक; सिख धर्म में अकाली एवं गैर-अकाली; बौद्ध धर्म में हीनयान और महायान; जैन धर्म में श्वेताम्बर एवं दिगम्बर आदि प्रमुख सम्प्रदाय हैं।

प्रत्येक सम्प्रदाय की भी अनेक शाखाएँ और उप-शाखाएँ हैं। इस्लाम, ईसाई और पारसी धर्म विदेशों से यहाँ आये जबकि हिन्दू, बौद्ध, जैन तथा सिख धर्मों का जन्म-स्थली भारत ही है। बौद्ध, जैन तथा सिख धर्मों को हिन्दू ध र्म का ही अंग माना जाता है। भारतीय जनसंख्या में विभिन्न धर्मों के अनुयायियों का प्रतिशत विभिन्न दशकों में तालिका द्वारा दर्शाया गया है :

क्रम	धर्म	1971 (प्रतिशत)	1981 (प्रतिशत)	1991 (प्रतिशत)	2001 (प्रतिशत)
1.	हिन्दू	82.82	82.63	82.41	82.75
2.	मुसलमान	11.20	11.36	11.67	13.81
3.	ईसाई	2.59	2.42	2.32	2.40
4.	सिख	1.89	1.96	1.99	1.92
5.	बौद्ध	0.71	0.71	0.77	0.79
6.	जैन	0.40	0.48	0.41	0.42
7.	पारसी एवं अन्य	0.41	0.43	0.43	0.66

नोट : 2001 की जनगणना के अनुसार पारसी लोगों की आबादी 69,601 है। (33,949 पुरुष और 35,652 महिलाएँ हैं।)

तालिका से स्पष्ट है कि भारत में सर्वाधिक जनसंख्या हिन्दुओं की है जो कुल जनसंख्या का लगभग 82 प्रतिशत भाग है और शेष 18 प्रतिशत जनसंख्या अन्य धर्मावलम्बियों की है। इस तालिका से यह भी स्पष्ट है कि हिन्दू धर्म को मानने वाले लोगों का प्रतिशत विभिन्न दशकों में घटा है जबकि इस्लाम, जैन, सिख तथा अन्य धर्मों को मानने वालों का प्रतिशत बढ़ा है। बौद्ध एवं ईसाई धर्मावलम्बियों का प्रतिशत भी घटा है। देश में सर्वाधिक जनसंख्या हिन्दुओं की एवं सबसे कम जैन तथा पारसी धर्मों को मानने वालों की है। हिन्दू व इस्लाम धर्म को मानने वाले सर्वाधिक लोग उत्तर प्रदेश में हैं। बौद्ध एवं जैन धर्म के सर्वाधिक अनुयायी महाराष्ट्र में, ईसाई धर्म के सर्वाधिक अनुयायी केरल में, सिख धर्म के सर्वाधिक अनुयायी पंजाब में व पारसी लोग मुम्बई में अधिक हैं। चूंकि भारत एक धर्मनिरपेक्ष देश है, इसलिए यहाँ सभी धर्मों को फलने-फूलने, प्रचार-प्रसार एवं विकास करने की पूरी छूट है। यहाँ कोई भी धर्म राजधर्म के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है। भारतीय जनसंख्या की धार्मिक संरचना को समझने के लिए हम यहाँ सभी प्रमुख धर्मों के मूल सिद्धान्तों का उल्लेख करेंगे।

हिन्दू धर्म (Hinduism)

हिन्दू धर्म भारत का सबसे प्राचीन धर्म है जो ईसा के लगभग 3,000 वर्ष पूर्व आर्यों के साथ ही भारत में आया था। प्रारम्भ में इसे आर्य धर्म कहा जाता था। वेदों की रचना के साथ इसे वैदिक धर्म कहा गया। पुराणों एवं स्मृतियों की जब रचना हुई तो इसे पौराणिक धर्म कहा गया और जब भारत को हिन्दुस्तान कहने लगे तो यहाँ के निवासियों के धर्म को हिन्दू धर्म की संज्ञा दी गयी। भारत में सर्वाधिक 82.75 प्रतिशत लोग हिन्दू धर्म को मानने वाले हैं।

पी.वी. काणे ने धर्म को परिभाषित करते हुए बताया है, "धर्मशास्त्र के लेखकों ने धर्म का अर्थ एक मत या विश्वास नहीं माना है, अपितु उसे जीवन के एक ऐसे तरीके या आचरण की एक ऐसी संहिता माना है जो एक व्यक्ति को समाज के सदस्य के रूप में और एक व्यक्ति के रूप में कार्य एवं क्रियाओं को नियमित करता है और जो व्यक्ति के क्रमिक विकास की दृष्टि से किया जाता है और जो इसे मानव अस्तित्व के उद्देश्य तक पहुँचाने में सहायता करता है।"

स्पष्ट है कि भारतीय धर्म-ग्रन्थों में धर्म का प्रयोग संकुचित अर्थों, किसी सम्प्रदाय विशेष के विचार मात्र को व्यक्त करने तथा केवल अलौकिक सत्ता के सम्बन्ध में विश्वासों को प्रकट करने के लिए नहीं हुआ है। इसका प्रयोग व्यापक अर्थों में हुआ है। धर्म मानव के कर्त्तव्य बतलाता है, उसे सत्य की ओर अग्रसर करता, उसके व्यवहार को दिशा देता और उचित-अनुचित का बोध कराता है, धर्म की समाजशास्त्रीय विवेचना के रूप में धर्म के अन्तर्गत उन सब कर्त्तव्यों को लिया जा सकता है जो व्यक्ति के जीवन को सफल बनाने की दृष्टि से आवश्यक हैं।

वेद हिन्दू धर्म के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। इन पर आधारित धर्म को वैदिक धर्म कहा गया है। वैदिक धर्म विकसित हुआ और काल-क्रम के साथ उत्तर-वैदिककालीन वेदों, ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यकों, उपनिषदों में प्रस्फुटित हुआ। सुविधा के लिए प्रारम्भिक धर्म को ऋग्वैदिक अथवा पूर्व-वैदिक धर्म कहा जाता है एवं परवर्ती धर्म को उत्तर-वैदिक। ऋग्वैदिक धर्म के दो प्रधान अंग थे—देवता और यज्ञ। विभिन्न देवताओं को प्रसन्न रखने के लिए आर्य यज्ञ एवं अनुष्ठान आदि में बलि देते थे। ऋग्वेद में 'देवता' शब्द का विशेष अर्थों में प्रयोग हुआ है। सामान्यत: इसका अभिप्राय दिव (चमकना) धातु से निर्मित शब्द से लिया जाता है जिसका अर्थ है चमकने वाला हालांकि यह शब्द वैदिक धर्म में अपनी अलग विशेषता रखता है।

पूर्व-वैदिककालीन धर्म बहुदेववादी देवों का मानवीकरण था। उन्होंने प्राकृतिक लीलाओं को सुगमता से समझने के लिए विभिन्न देवताओं की कल्पना की। वे मानते थे कि विश्व विभिन्न देवों की क्रीड़ा-स्थली है और इन्हीं देवों के अनुग्रह से विश्व के समस्त कार्य संचालित होते हैं और इन्हीं के कारण विभिन्न प्राकृतिक घटनाएँ घटित होती हैं। आर्यों का देव समूह प्रकृति का दैवीकरण है। ऋग्वेद में कुल 33 देवता माने गये हैं। इनमें इन्द्र, अग्नि तथा सोम सर्वश्रेष्ठ हैं।

ऋग्वेद काल में बहुदेववाद और प्रकृति उपासना का समन्वय था। यह कहा जा सकता है कि प्रकृति की उपासना लाक्षणिक थी। वास्तव में, प्रकृति की पूजा अथवा उपासना तो सिन्धु घाटी के निवासियों में भी प्रचलित थी। प्रकृति की शक्ति का साक्षात्कार मनुष्य को सबसे पहले हुआ, परिणामस्वरूप इसी शक्ति ने देवताओं को आरोपित किया होगा। इस प्रकार ऋग्वैदिक धर्म प्रकृति पूजा पर ही आधारित बहुदेववाद था।

ऋग्वेद में एकेश्वरवाद का स्पष्ट संकेत मिलता है, यह भी उनकी आध्यात्मिक उन्नति की चरम सीमा है। इन सब देवों से अलग उन्होंने एक ऐसी सत्ता की कल्पना की जो समस्त सृष्टि को जन्म देने वाली है। वह शक्ति और कोई नहीं स्वयं ईश्वर है।

नोट

ऋग्वेद में नैतिक आदर्शों को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। नैतिक आदर्शों की महानता पर ही किसी धर्म का महत्त्व समाज में स्थापित हो सकता है। केवल दर्शन ही धर्म में सब कुछ नहीं होता। नैतिक आदर्श मानव के निकटतम सम्बन्धों को सुन्दरतम बनाने में सहायता करते हैं। आर्य झूठ को अत्यधिक घृणित समझते थे। प्राचीन आर्यों में अतिथि-सत्कार का विशेष महत्त्व था।

हिन्दू धर्म के मूल सिद्धान्त (Basic Tenents of Hinduism)

हिन्दू धर्म के प्रमुख सिद्धान्त या आधार निम्नांकित हैं :

(1) **धर्मशास्त्रीय विचार** (Theological Ideas)—हिन्दू धर्म कुछ प्रमुख विश्वासों एवं विचारों पर आधारित है। उनमें से प्रमुख हैं–आध्यात्मवाद, पाप-पुण्य, कर्म-धर्म, मोक्ष-पुनर्जन्म, आत्मा की अनश्वरता, आदि। धर्म का सिद्धान्त व्यक्ति को कर्त्तव्य निर्वाह एवं ईश्वर भजन की प्रेरणा देता है।

(2) **अपवित्रता एवं पवित्रता** (Pollution and Purity)—पवित्रता एवं अपवित्रता का सम्बन्ध जन्म, विवाह, मासिक धर्म, मृत्यु एवं प्रार्थना से जोड़ा गया है। भोजन, स्पर्श, शारीरिक दूरी एवं विवाह तथा जातीय भेदभाव में पवित्रता व अपवित्रता पर विचार किया जाता है। शाकाहारी भोजन पवित्र है और मांसाहारी अपवित्र।

(3) **संस्तरण** (Hierarchy)—हिन्दू धर्म में संस्तरण (उच्चता एवं निम्नता) का विचार विद्यमान है। यह संस्तरण जीवन के अनेक क्षेत्रों में देखा जा सकता है। वर्ण, जाति, गुण एवं जीवन के लक्ष्यों में संस्तरण व्याप्त है। इसी आधार पर चार वर्ण माने गये हैं–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र।

(4) **मूर्ति पूजा** (Idol worship)—हिन्दू धर्म की एक विशेषता है मूर्ति पूजा। ईश्वर को साकार मानकर, राम, कृष्ण, हनुमान, सीता, दुर्गा, शिव, गणेश आदि की पूजा हिन्दुओं द्वारा की जाती है।

(5) **एकेश्वरवाद एवं बहुदेववाद** (Monotheism and Plytheism)—हिन्दुओं में अनेक देवताओं की कल्पना की गई है। जल, वायु, अग्नि आदि सभी के अलग-अलग देवता हैं किन्तु ये सभी एक ही ईश्वर के अनेक रूप हैं, उनके नाम अलग-अलग हैं।

(6) **सहिष्णुता** (Tolerance)—हिन्दू धर्म सहिष्णुता प्रधान है, इसलिए ही इसमें अनेक मत-मतान्तर एवं सम्प्रदाय हैं। ईश्वर को अनेक रूपों में पूजने की स्वीकृति दी गई है।

(7) **पृथकता** (Segregation)—हिन्दू धर्म में पूजा, धार्मिक कृत्यों, सामाजिक सम्बन्धों एवं जातियों में पृथकता के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। जातियों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र पृथक्-पृथक् हैं, उनके सामाजिक सम्बन्धों में भी भिन्नता है। विभिन्न देवी-देवताओं की पूजा-आराधना में भी पृथकता पायी जाती है।

(8) **अहिंसा** (Ahinsa)—हिन्दू धर्म अहिंसावादी है। यह सभी जीवों के संरक्षण एवं उन पर दया करने में विश्वास करता है क्योंकि उनमें भी आत्मा होती है और वे भी ईश्वर के अंश हैं।

(9) **आश्रम व्यवस्था** (Ashramas)—हिन्दुओं ने जीवन अवधि को 100 वर्ष मानकर उसके चार भाग किये और प्रत्येक भाग को एक आश्रम माना। चार आश्रम हैं–ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम।

(10) **पुरुषार्थ** (Purusharth)—हिन्दुओं में जीवन के चार उद्देश्य बताये गये हैं जिन्हें पुरुषार्थ कहा गया है। वे हैं–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। धर्म का अर्थ कर्त्तव्यों का पालन है, **अर्थ** में वह अर्जन कर जीवनयापन करता है। काम पूर्ति से सन्तानों को जन्म देता है तथा अन्त में जीवन-मरण के चक्र से मुक्ति पाने का प्रयत्न कर मोक्ष प्राप्त करता है। सभी हिन्दुओं के जीवन के ये चार लक्ष्य माने गये हैं।

(11) **महायज्ञ**–हिन्दू धर्म में पंच महायज्ञों को महत्त्व दिया गया है जो निम्नांकित हैं :

(i) **ब्रह्म यज्ञ**–स्वाध्याय के द्वारा इस यज्ञ का अनुष्ठान होता था। मनुष्य स्वाध्याय के माध्यम से अपने प्राचीन ऋषियों के प्रति आदर प्रकट करता था। *(ii)* **देव यज्ञ**–देवताओं को प्रसन्न रखने के लिए प्रात: एवं सायंकाल,

इन्द्र, अग्नि, सोम, पृथ्वी आदि देवताओं के नाम के साथ 'स्वाहा' कहने के साथ अग्नि में आहुति दी जाती थी। (*iii*) **भूत यज्ञ**–पृथ्वी, जल, वायु, आकाश आदि को भोजन देने से इस यज्ञ का अनुष्ठान होता था। (*iv*) **पितृ यज्ञ**–पितरों के तर्पण, श्राद्ध, आदि का आयोजन इस यज्ञ के अन्तर्गत होता था। (*v*) **मनुष्य यज्ञ**–मनुष्य मात्र की सहायता एवं उत्तरदायित्व की भावना से यह यज्ञ पूरा होता था।

नोट

इन यज्ञों के साथ ही हिन्दू धर्म में तीन ऋणों का उल्लेख भी मिलता है : (*i*) देव ऋण, (*ii*) ऋषि ऋण, (*iii*) पितृ ऋण। मनुष्य का यह नैतिक कर्त्तव्य बनता था कि वह इन ऋणों से उऋण होने के लिए प्रयत्नशील रहे।

(12) **संस्कार**–हिन्दू धर्म में सोलह संस्कारों का महत्त्व भी है। स्त्री के गर्भ धारण करने से दाह संस्कार तक सोलह संस्कारों का उल्लेख मिलता है। प्रमुख संस्कार निम्न हैं–गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, नामकरण, निष्क्रमण, चूड़ा कर्म, उपनयन, वेदारम्भ, समावर्तन एवं विवाह संस्कार।

हिन्दू धर्म के तीन प्रमुख स्वरूप माने गये हैं जो इस प्रकार हैं : (1) सामान्य धर्म, (2) विशिष्ट धर्म, और (3) आपद्धर्म।

(1) **सामान्य धर्म** (*Samanya Dharma*)

सामान्य धर्म को मानव धर्म भी कहते हैं। इसके अन्तर्गत वे नैतिक नियम आते हैं जिनके अनुसार आचरण करना प्रत्येक व्यक्ति का परम दायित्व है। इस धर्म का लक्ष्य मानव मात्र में सद्‌गुणों का विकास और उसकी श्रेष्ठता को जागृत करना है। यह वह धर्म है जो प्रत्येक के लिए अनुसरणीय है। चाहे बालक हो या वृद्ध, स्त्री हो या पुरुष, गरीब हो या अमीर, सवर्ण हो या अवर्ण, राजा हो या प्रजा, सबके लिए सामान्य धर्म का पालन करना आवश्यक कर्त्तव्य है।

(2) **विशिष्ट धर्म** (*Vishistha Dharma*)

विशिष्ट धर्म को '**स्वधर्म**' भी कहा गया है। विशिष्ट धर्म के अन्तर्गत वे कर्त्तव्य आते हैं जिनका समय, परिस्थिति और स्थान विशेष को ध्यान में रखते हुए पालन करना व्यक्ति के लिए आवश्यक है। विशिष्ट धर्म के अन्तर्गत ब्राह्मण व शूद्र, गुरु-शिष्य, पति-पत्नी, माता-पिता और पुत्र सभी के लिए अलग-अलग कर्त्तव्यों के निर्वाह की बात कही गई है। **विशिष्ट धर्म के अन्तर्गत वर्ण धर्म, आश्रम धर्म, कुल धर्म, राज धर्म, युग धर्म, मित्र धर्म, गुरु धर्म, आदि** आते हैं।

(3) **आपद्धर्म** (*Apat Dharma*)

आपद्धर्म का तात्पर्य यह है कि आपत्तिकाल में या संकट के समय व्यक्ति को अपने सामान्य और विशिष्ट धर्म में कुछ परिवर्तन कर लेना चाहिए। रोग, शोक, विपत्ति और धर्म-संकट की स्थिति में व्यक्ति के कर्त्तव्य-नियमों में कुछ छूट दी गयी है, अपवाद की अनुमति प्रदान की गयी है। यह परिस्थिति विशेष से सम्बन्धित अस्थायी धर्म है। जब व्यक्ति के कर्त्तव्यों की दृष्टि से दो धर्मों के बीच टकराव की स्थिति पैदा हो जाये तो अधिक महत्त्वपूर्ण धर्म या दायित्व के निर्वाह के लिए दूसरे धर्म के नियमों को कुछ समय के लिए छोड़ देना आपद्धर्म है। आपद्धर्म के नियमों के अन्तर्गत व्यक्ति को अपने प्राणों की रक्षा के लिए किसी भी प्रकार का आचरण करने की स्वीकृति दी गयी है।

इस्लाम धर्म (Islam)

भारत में इस्लाम धर्म का प्रारम्भ मुख्यत: तेरहवीं शताब्दी से माना जाता है जब यहाँ पहला मुस्लिम राज्य स्थापित हुआ। आक्रान्ता के रूप में भारत में प्रवेश पाने वाला यह पहला विदेशी धर्म था जिसने भारतीय समाज के प्रत्येक पक्ष को प्रभावित किया। मुस्लिम शासकों ने अपने शासनकाल में जोर-जबरदस्ती, प्रलोभन, प्रचार और तलवार की नोंक पर भारतीयों को इस्लाम का अनुयायी बनाया और आज इस्लाम के अनुयायियों की संख्या हिन्दुओं के बाद सर्वाधिक है, जो 2001 की जनगणना के अनुसार कुल जनसंख्या का लगभग 12.81 प्रतिशत है।

इस्लाम धर्म का जन्म सातवीं सदी में अरब देश में हुआ। इस धर्म के संस्थापक और प्रवर्तक हजरत मोहम्मद साहब थे। इनका जन्म अरब के मक्का शहर में 570 ई. में हुआ। बचपन में ही इनके माता-पिता का देहान्त हो गया, अत: इनका लालन-पालन इनके दादा ने किया। जिस समय मोहम्मद साहब ने इस्लाम धर्म की नींव रखी, उससे

नोट

पूर्व अरब के लोग प्राचीन अरबी धर्म का पालन करते थे और अरबी समाज बर्बरता के युग में था। मक्का में कोई स्थायी राज्य या शासन नहीं था। लोगों में जुआ खेलने एवं नशा करने की बुरी आदतें फैली हुई थीं, वैवाहिक सम्बन्धों में भी स्थायित्व नहीं था तथा बहुदेववाद प्रचलित था। **ऐनी बेसेण्ट** के अनुसार, यह मनुष्यों का नर्क था जिसमें लालसा, कामवासना, कत्ल और अपराधों का साम्राज्य था।

कहा जाता है कि मोहम्मद साहब ने 15 वर्षों तक एक गुफा में रहकर चिन्तन एवं मनन किया और उन्हें अल्लाह के दर्शन हुए और अल्लाह ने उन्हें आदेश दिया कि जाओ और अल्लाह के बन्दों को रास्ता दिखाओ। मोहम्मद साहब ने अपने को अल्लाह का दूत (पैगम्बर) कहा और अल्लाह के द्वारा बताये गये मार्ग को लोगों के समक्ष रखा। उन्होंने **खादिजा** नामक एक 45 वर्षीय धनी विधवा के साथ कार्य करना प्रारम्भ किया। यह महिला ही विश्व की वह प्रथम महिला है जिसने मोहम्मद साहब के नवीन इस्लाम धर्म को स्वीकार किया। बाद में मोहम्मद साहब ने **खादिजा** से विवाह भी कर लिया था, दोनों की आयु में बहुत अन्तर था। खादिजा 45 वर्ष की थी और मोहम्मद साहब 25 वर्ष के। मोहम्मद साहब ने ग्यारह और विवाह भी किये थे।

इस्लाम एकेश्वरवाद में विश्वास करता है और यह मानता है कि जो लोग एक ईश्वर में विश्वास करते हैं, वे ही स्वर्ग के अधिकारी हैं। प्रलय के बाद सभी लोगों को अल्लाह के सामने जाना पड़ेगा और अपने अच्छे-बुरे कर्मों के अनुसार ही उन्हें स्वर्ग या नर्क प्राप्त होगा। मोहम्मद साहब ने बहुदेववाद का भी विरोध किया। मोहम्मद साहब का धर्म प्राचीन अरबी धर्म का विरोधी था, अत: लोगों ने उनका मजाक उड़ाया और कई लोग उनके विरोधी भी हो गये। फलस्वरूप मोहम्मद साहब को भागकर मदीना में शरण लेनी पड़ी। यह घटना 24 सितम्बर, 622 ई. की है, अत: इसी दिन से मुसलमानों का हिजरी संवत् प्रारम्भ होता है। मदीना में मोहम्मद साहब ने इस्लाम धर्म को एक व्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया, साथ ही अपने विरोधियों का भी उन्होंने डटकर मुकाबला किया। इस्लाम धर्म के दो ग्रन्थ प्रमुख हैं—कुरान तथा हदीसा। कुरान में वह ज्ञान संग्रहीत है जो ईश्वर ने अपने दूत मोहम्मद साहब को दिया और हदीसा में स्वयं मोहम्मद साहब के द्वारा दिये गये उपदेशों का संग्रह है।

कुरान (Quran)

इस्लाम धर्म में मोहम्मद साहब को अल्लाह का रसूल (पैगम्बर) माना जाता है। कुरान में वह सारा ज्ञान संग्रहीत है जो अल्लाह ने पथ-भ्रष्ट मानवता को मार्ग दिखाने के लिए मोहम्मद साहब को दिया था। कुरान शब्द 'करयान' से बना है, जिसका तात्पर्य है पाठ करना। अत: इस्लाम के अनुयायी कुरान की आयतों का प्रतिदिन पठन करते हैं। ऐसी मान्यता है कि कुरान की मूल बातें कुछ तख्तियों पर लिखी हुई हैं और वे सातवें आसमान पर रखी हुई हैं। कुरान में जो कुछ लिखा हुआ है, वह अल्लाह के आदेश से जबरील नामक देवदूत ने पैगम्बर मोहम्मद को सुनाया और मोहम्मद ने कुरान के रूप में लोगों के सामने प्रस्तुत किया। कुरान में कुल 114 अध्याय हैं जिनमें से 90 का संग्रह मक्का में और शेष 24 मदीना में किया गया। कुरान में अल्लाह और उसके द्वारा पृथ्वी तथा मानव की रचना, कयामत का दिन, नजात (मुक्ति), सामाजिक कानूनों, मानव के कर्त्तव्यों, अच्छे-बुरे आचरण एवं दण्ड, आदि विषयों पर विस्तार से चर्चा की गयी है।

इस्लाम के अनुयायियों में कुरान के प्रति विशेष आदर, श्रद्धा और सम्मान के भाव पाये जाते हैं क्योंकि उनकी मान्यता है कि इसका प्रत्येक शब्द ईश्वर के द्वारा बोला गया है। इस्लाम के अनुयायी कुरान को सार्वभौमिक एवं शाश्वत सत्य के रूप में स्वीकार करते हैं। उनकी मान्यता है कि कुरान में लिखे गये सभी सत्य समस्त मानव-जाति के भले के लिए हैं।

इस्लाम के तीन अंग

कुरान में इस्लाम धर्म के तीन अंगों का उल्लेख किया गया है। वे हैं—ईमान, इबादत तथा इहसान।

(1) **ईमान**—ईमान का तात्पर्य है—अल्लाह, उसके पैगम्बरों और कयामत के दिन में विश्वास करना।

(2) **इबादत**—इबादत के अन्तर्गत 5 धार्मिक क्रियाओं को सम्पन्न करना आता है। वे हैं : कलमा पढ़ना, नमाज, रोजा, जकात तथा हज।

(3) **इहसान**—इहसान में एक सच्चे मुसलमान को चाहिए कि वह अपने आपको खुदा के प्रति समर्पित कर दे।

नोट

इस्लाम धर्म की मौलिक विशेषताएँ (Characteristics of Islam)

इस्लाम धर्म की प्रमुख विशेषताएँ (मुख्य स्तम्भ) निम्न हैं:

(1) **एकेश्वरवाद**—इस्लाम धर्म में एक ही ईश्वर को मान्यता प्रदान की गयी है। मोहम्मद साहब के पूर्व अरब में बहुदेववाद प्रचलित था। इसके स्थान पर उन्होंने एक ही ईश्वर में विश्वास करने की बाद कही। वही कयामत के बाद रोजेशुमार (निर्णय के दिन) के दिन लोगों के अच्छे-बुरे कार्यों का लेखा-जोखा करेगा और उन्हें उसी के अनुसार जन्नत (स्वर्ग) या दोजख (नर्क) में भेजेगा।

(2) **समानता**—इस्लाम धर्म समानता के सिद्धान्त पर आधारित है। यह जन्म, लिंग, जाति, व्यवसाय और अन्य आधारों पर कोई भेदभाव नहीं करता है।

(3) **पैगम्बर की परम्परा**—इस्लाम धर्म एक ही ईश्वर में विश्वास करता है। पथ-भ्रष्ट मानवता को वह समय-समय पर सही मार्ग बताने के लिए अपने पैगम्बर भेजता रहता है।

(4) **विश्वास एवं समर्पण**—'विश्वास' सभी धर्मों का मूल आधार है। इस्लाम धर्म अपने अनुयायियों को पवित्र धर्मग्रन्थ कुरान में विश्वास करने का आदेश देता है, उनमें लिखी बातों पर तर्क की अनुमति नहीं देता।

(5) **कर्त्तव्यों की महानता**—इस्लाम का मत है कि कुरान में लिखे निर्देशों को स्वीकार करना, उन पर विश्वास करना और उनके अनुसार आचरण करना प्रत्येक मुसलमान का अनिवार्य कर्त्तव्य है।

(6) **मूर्ति-पूजा का विरोधी**—इस्लाम धर्म में मूर्ति-पूजा का विरोध किया गया है क्योंकि वह निराकार ईश्वर में विश्वास करता है।

(7) **पुनर्जन्म में विश्वास नहीं**—इस्लाम धर्म हिन्दुओं की भांति पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करता है, वरन् यह मानता है कि प्रलय के बाद रोजेशुमार के दिन खुदा सभी मरे हुए प्राणियों के अच्छे-बुरे कार्यों का हिसाब करेगा और उसी के अनुसार उन्हें स्वर्ग या नर्क देगा।

(8) **मानवीय स्वतन्त्रता में अविश्वास**—इस्लाम मानवीय स्वतन्त्रता में विश्वास नहीं करता, वह यह मानता है कि मनुष्य पूरी तरह से ईश्वर इच्छा के अधीन है।

इस्लाम धर्म के प्रमुख दो सम्प्रदाय हैं—शिया और सुन्नी। मोहम्मद साहब की मृत्यु के बाद यह प्रश्न उठा कि अब इस्लाम का धार्मिक व राजनीतिक नेता कौन होगा? इस बात को लेकर इस्लाम के अनुयायियों में दो समूह बन गये। एक समूह ने मोहम्मद साहब के चचेरे भाई और दामाद 'अली' को इस्लाम का मुखिया माना। उनका तर्क यह था कि अपनी मृत्यु से पूर्व मोहम्मद साहब ने यह संकेत दिया था कि अली ही उनके बाद मुखिया होंगे। यह सम्प्रदाय आगे चलकर 'शिया' कहलाया।

दूसरे समूह ने अली को इस्लाम का मुखिया स्वीकार नहीं किया। इस समूह का कहना था कि मुखिया का निध रिण सभी की सहमति से हो। इस सम्प्रदाय के लोग सुन्नी कहलाये। इन दोनों की विचारधाराओं में वर्तमान में अनेक भेद पाये जाते हैं यद्यपि इनकी उत्पत्ति का स्रोत एक ही है।

ईसाई धर्म (Christianity)

ईसाई धर्म के अनुयायी विश्व में सर्वाधिक हैं और भारत में इसका स्थान तीसरा है। 2001 की जनगणना के अनुसार कुल जनसंख्या का 2.40 प्रतिशत भाग ईसाई धर्म के अनुयायियों का है। विश्व का हर तीसरा व्यक्ति ईसाई है। दुनिया के सभी भागों में ईसाई धर्म के मानने वाले हैं, किन्तु यूरोप, अमरीका और आस्ट्रेलिया में इनकी संख्या सर्वाधिक है।

ईसाई धर्म का जन्म लगभग दो हजार वर्ष पूर्व पैलेस्टाइन में हुआ था। इस धर्म के संस्थापक ईसा मसीह थे। ईसाई धर्म का सम्पूर्ण उल्लेख हमें बाइबिल में मिलता है। बाइबिल के भी दो भाग हैं—पुरानी बाइबिल (ओल्ड टेस्टामेण्ट) तथा नयी बाइबिल (न्यू टेस्टामेण्ट)। पुरानी बाइबिल यहूदी धर्म के पैगम्बर हजरत दाउद तथा जहरत **मूसा** द्वारा लिखी गयी है और नयी बाइबिल में ईसा के उपदेश हैं। यहूदी लोग पुरानी बाइबिल में विश्वास करते हैं, जबकि ईसाई नयी बाइबिल में।

वर्तमान में ईसाई धर्म मुख्यत: दो भागों में बंटा हुआ है–कैथोलिक एवं प्रोटेस्टैण्ट। फिर भी दोनों की आत्मा एक ही है। ईसाई धर्म अपने अनुयायियों को दस आदेशों (Ten Commandments) का पालन करने का निर्देश देता है। ईसाई धर्म हिंसात्मक यज्ञों का विरोधी है। यह दया, प्रेम, समानता एवं भाईचारे के सिद्धान्तों में विश्वास करता है। ईसा ईश्वर की दिव्य शक्ति में विश्वास करने, एकनिष्ठ बने रहने, सबके प्रति दया करने, कष्ट में सहयोग देने एवं मुस्कुराते रहने तथा नेक व ईमानदार बनने का उपदेश देते हैं। ईसाई धर्म संन्यास में विश्वास करता है। ईसा कहते हैं, "जिसे अमरत्व की प्राप्ति करनी हो उसे बाल-बच्चे छोड़कर मेरा भक्त होना चाहिए।" ईसाई धर्म यह मानता है कि ईश्वर मानव कल्याण के लिए समय-समय पर पृथ्वी पर आता रहता है। ईसाई धर्म ईसा के उपदेश बाइबिल तथा ईश्वर एवं उसकी दिव्य शक्ति में आस्था रखने पर जोर देता है।

ईसा मसीह और उनके सन्देश (Christ and His Message)

ईसाई धर्म के संस्थापक ईसा मसीह थे। उनका जन्म फिलिस्तीन में येरुशलम के निकट एक गांव में हुआ था। इनकी माता का नाम मेरी और पिता का नाम जोसेफ था जो सुधार का काम करते थे। ईसा जन्म से यहूदी धर्म को मानने वाले थे। ईसा के जीवन के बारे में बहुत कम जानकारी उपलब्ध है। अत: कई व्यक्ति इन्हें एक काल्पनिक व्यक्ति ही मानते हैं। ईसा ने किसी पाठशाला में शिक्षा ग्रहण नहीं की थी और न ही इनका कोई शिक्षक था। कुछ लोगों का यह भी कहना है कि ईसा कुंवारी मां के पुत्र हैं और मरियम ने उन्हें ईश्वरीय शक्ति से जन्म दिया था। ईसा जब 12 वर्ष के थे यहूदियों के त्यौहार 'पसोवर' में गए। वहाँ उन्होंने मेमने कटते देखे जिससे उन्हें गहरा आघात लगा। इस घटना के बाद वे यहूदी नेताओं की बैठक में गए, वहाँ भी उन्होंने निरर्थक वार्तालाप होते देखा। इन घटनाओं ने ईसा को यहूदी धर्म परिष्कृत करने पर विवश कर दिया। जब वे ध्यान-मग्न होकर चिन्तन कर रहे थे, ईश्वर उनके पास आए और कहा, "ज्ञानी व चतुर व्यक्ति मुझे खो चुके हैं, सामान्य जनता मुझे चाहती है पर खोज नहीं पा रही, तुम्हारा कर्त्तव्य है लोगों के पास जाओ और उनसे मेरा परिचय कराओ।"

30 वर्ष की आयु में **जॉन** ने उनका बपतिस्मा संस्कार किया और इसके बाद ही वे '**जीसस क्राइस्ट**' (ईसा मसीह) कहलाने लगे। ईसा के समय समाज में अनेक कुरीतियाँ और अन्धविश्वास प्रचलित थे। उन्होंने निराशा और दरिद्रता के वातावरण से लोगों को मुक्त करने का फैसला किया और प्राचीन यहूदी धर्म के स्थान पर नया धर्म दिया। ईसा ने रोगियों की सेवा की और कई चमत्कार दिखाये। ईसा ने अपने लोगों को कई सन्देश दिये। उन्होंने कहा ईश्वर मनुष्यों का पिता है और वह पिता की तरह ही स्नेह व प्यार देता है। मनुष्यों की गलतियों पर वह उन्हें दण्ड नहीं देता, वरन् क्षमा कर देता है। ईश्वर का सम्पूर्ण अस्तित्व मानव के विकास और कल्याण के लिए है। ईश्वर पिता से अधिक चाहने वाला और मां से अधिक समर्पित है। उन्होंने कहा :

(1) ईश्वर पिता के समान है, वह मनुष्यों से दूर नहीं वरन् उनके पास है।

(2) प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह ईश्वर के प्रति अपने कर्त्तव्यों को पूरा करे।

(3) ईश्वर जीवन का सर्वाधिक गहन और अन्तिम अर्थ है।

(4) ईश्वर के प्रति कर्त्तव्यों का अर्थ है सेवा को जीवन के महानतम लक्ष्य और व्यवसाय के रूप में स्वीकार करना।

ईश्वर के दस आदेश (Ten Commandments)

बाइबिल में ईश्वर के दस आदेशों का उल्लेख है। पाल तथा ईसा मसीह ने इन्हें पवित्र और अच्छे कानूनों की संज्ञा दी है। ये दस आदेश इस प्रकार हैं :

(1) मैं ही अनन्त ईश्वर हूँ। (2) ईश्वर की कोई भौतिक छवि नहीं है। (3) ईश्वर अनन्त तथा सम्पूर्ण विश्व का सम्प्रभु शासक है। (4) सबथ को याद करना। बाइबिल में उल्लेख है कि सप्ताह के छ: दिनों तक तो मनुष्य को अपने जीवनयापन के लिए कार्य करना चाहिए, किन्तु सातवें दिन ईश्वर को याद करने के लिए रखना चाहिए। सातवें दिन को ईश्वर ने पवित्र बनाया है। (5)माता-पिता का आदर करना। (6) मनुष्य को ईश्वर और उसके कानून की रक्षा करनी चाहिए। (7) तुम व्यभिचार नहीं करोगे। (8) तुम चोरी नहीं करोगे। (9) तुम अपने पड़ोसी के विरुद्ध झूठी गवाही नहीं दोगे। (10) तुम लालच मत करो।

ईसाई धर्म के ये आदेश व्यक्ति कि लिए आचरण की संहिता हैं, जिनका पालन करने से लोगों में प्रेम और शान्ति बनी रह सकती है।

नोट

ईसाई धर्म की मौलिक विशेषताएँ (Basic Characteristics of Christianity)

ईसाई धर्म की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं :

(1) **एकेश्वरवाद**–इस्लाम की तरह ईसाई धर्म एकेश्वरवाद में विश्वास करता है। ईश्वर मनुष्यों के कष्टों को दूर करने के लिए अपने पैगम्बर भेजता है या वह स्वयं अपने पुत्रों के माध्यम से इस जगत में आता है। ईश्वर दिव्य शक्ति से परिपूर्ण एक अलौकिक शक्ति है। वह पिता के समान सभी मनुष्यों का पालन-पोषण करता है, उन पर दया करता है और उनके हृदयों को शुद्ध करता है।

(2) **ईसा मसीह में विश्वास**–ईसाई धर्म ईसा मसीह में विश्वास करने पर जोर देता है। ईसा को ईश्वर की क्रियात्मक शक्ति माना जाता है। ईसा ईश्वर के पुत्र एवं दूत हैं, जो मानव कल्याण के लिए ईश्वर द्वारा पृथ्वी पर भेजे गये।

(3) **आत्मा की पवित्रता**–ईसाई धर्म आत्मा में विश्वास करता है। यह आत्मा ईश्वर का ही रूप एवं शक्ति है। बपतिस्मा नामक संस्कार द्वारा व्यक्ति को पवित्र किया जाता है, उसे पवित्र आत्मा के निकट लाया जाता है। ईसाई धर्म 'त्रियकवाद' (Trinity) में विश्वास करता है जिसका अर्थ है ईश्वर, ईसा तथा पवित्र आत्मा पृथक्-पृथक् न होकर एक ही हैं, केवल उनके रूप भिन्न हैं।

(4) **चर्च की सत्ता**–ईसाई धर्म में चर्च महत्त्वपूर्ण पक्ष है। चर्च के माध्यम से ही ईश्वर तक पहुँचा जा सकता है। चर्च ईसा का शरीर है जिसमें पवित्र आत्मा निवास करती है। चर्च में ही ईसाइयों के धार्मिक अनुष्ठान सम्पन्न होते हैं। प्रत्येक ईसाई के लिए चर्च की सदस्यता अनिवार्य है।

(5) **धार्मिक अनुष्ठान**–ईसाई धर्म में प्रमुख पाँच अनुष्ठान–बपतिस्मा, पुष्टिकरण, आत्म निवेदन, पवित्र संचार एवं विवाह, आदि माने गये हैं।

(6) **मूर्ति-पूजा का विरोधी**–ईसाई धर्म पूर्ति-पूजा में विश्वास नहीं करता। वह अलौकिक एवं निराकार ईश्वर में विश्वास करता है। इसलिए ईसाइयों में हिन्दुओं की तरह मूर्ति-पूजा नहीं पायी जाती है। इस अर्थ में वह इस्लाम धर्म के नजदीक है।

(7) **समानता तथा भ्रातृत्व**–ईसाई धर्म भी इस्लाम की तरह समानता एवं भाई-चारे के सिद्धान्त पर आधारित है। ईसाई धर्म को मानने वाले सभी समान एवं परस्पर भाई हैं, उनमें किसी प्रकार का ऊंच-नीच का भेद नहीं है। यह मानवतावाद में विश्वास करता है और मानव-मात्र की भलाई, कल्याण एवं सेवा पर जोर देता है। ईसा कहते हैं कि सभी मनुष्य ही परम पिता परमेश्वर की सन्तान हैं, सभी आपस में भाई-भाई हैं तथा समान हैं। दीन-दुखियों की सेवा ही ईश्वर की सच्ची सेवा है।

ईसाई धर्म में प्रमुखत: दो सम्प्रदाय पाये जाते हैं–रोमन कैथोलिक तथा प्रोटेस्टैण्ट।

सिख धर्म (Sikhism)

2001 की जनगणना के अनुसार, भारत में सिख धर्म के अनुयायियों की संख्या देश की कुल जनसंख्या का 1.92 प्रतिशत है। यहां सिख धर्म के उदय के पीछे एक लम्बा इतिहास रहा है। जिस समय इस धर्म का उदय हुआ, उस समय देश नाना प्रकार की सामाजिक विषमताओं, रूढ़ियों, पाखण्डों व कुरीतियों में लिप्त था। निम्न जातियों को सामूहिक रूप से अलग रखा जाने लगा ताकि उच्च वर्ग के लोगों की इन पर दृष्टि भी नहीं पड़े। इस समय ब्राह्मणों का प्रभाव भी कम नहीं था। वैदिक धर्म तो प्राय: ब्राह्मण धर्म बनकर रह गया। ब्राह्मणों ने ध ार्मिक क्षेत्रों के अतिरिक्त राजनीतिक क्षेत्र में भी अपना अधिकार जमाना प्रारम्भ कर दिया। धीरे-धीरे इस स्थिति का अनुचित लाभ उठाते हुए ब्राह्मणों ने तरह-तरह के यज्ञ, आडम्बरपूर्ण खर्चों व कर्मकाण्डों को प्रोत्साहित किया। इन सबका एक स्वाभाविक परिणाम यह भी हुआ कि समाज में जादू-टोना, झाड़-फूंक, मन्त्र-तन्त्र, आदि क्रियाओं का बोलबाला हो गया।

इन सम्पूर्ण परिस्थितियों का यह परिणाम हुआ कि अत्याचार बर्दाश्त करते-करते निम्न वर्ग थक-सा गया और समाज के उच्च वर्ग ने भी वर्षों से चली आ रही इस आडम्बरपूर्ण व्यवस्था का डटकर विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। ऐसी स्थिति में कई समाज सुधार आन्दोलनों ने जन्म लिया, उसमें से एक आन्दोलन सिख आन्दोलन भी था जिसके संस्थापक गुरु नानक देव (1469-1538 ई.) थे। आपने यह कहा था, "क्या हिन्दू और क्या मुसलमान सभी उस एक ही परम-पिता परमात्मा की सन्तान हैं। जो भी भेदभाव खड़े कर दिये गये हैं वे मनुष्यों के अपने स्वार्थों की उपज हैं। वास्तव में न कोई हिन्दू है, न मुसलमान। सब एक हैं, अभिन्न हैं।" यह कथन हमें बताता है कि भारतीय इतिहास की उस नाजुक घड़ी में गुरु नानक ने कैसी योग्यता, बुद्धिमत्ता तथा सत्यनिष्ठा के साथ मनुष्य मात्र की एकता और समानता का सन्देश देश के कोने-कोने में फैलाया।

नोट

यदि हम सिख धर्म का गहन अध्ययन व मनन करें तो पायेंगे कि यह प्रारम्भ से शुद्ध व व्यावहारिक धर्म है। इस धर्म में सबसे अधिक जोर प्राय: चरित्र पर दिया गया है ताकि एक व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों का पालन समाज में सही ढंग से कर सके। सिख धर्म के अनुसार एक आदर्श व महान व्यक्ति वही है जिसमें ब्राह्मणों के समान आध्यात्मिकता, क्षत्रियों के समान आत्मरक्षा की भावना, वैश्यों के समान व्यवहार-कुशलता तथा शूद्रों के समान लोक सेवा एक साथ विद्यमान हो। इसलिए तो सिखों के गुरुओं ने अपने-अपने जीवन में सभी तरह के कार्य सम्पन्न किये।

सिख धर्म से सम्बन्धित जो गुरु हुए हैं उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि गुरु नानक की गद्दी पर बैठने वाले किसी भी गुरु ने स्वयं को नानक से भिन्न नहीं माना। वे सदा स्वयं को नानक ही समझते रहे, यहाँ तक कि उनके द्वारा रचित रचनाओं में भी वे खुद को नानक ही बतलाते। इसी कारण तो नव-गुरु अपने आदि-गुरु के प्रतिरूप ही समझे जाते हैं।

सिख सम्प्रदाय—कहा जाता है वीर बन्दा के समय से पहले ही अनेक लोग सिख गुरुओं से अलग होकर, अपने-अपने पंथ चलाने का व्यापक प्रयास करते रहे थे। ऐसा भी कहा जाता है कि गुरु नानक के पुत्र श्रीचन्द को अपने पिता की गद्दी न मिलने के कारण उदासी का मुंह देखना पड़ा। अत: उन्होंने उदासी सम्प्रदाय चलाया। प्रिथीचन्द ने भी एक पंथ चलाया जो 'मीना पंथ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसी प्रकार हंदल नाम के एक जाट ने 'हंदली मत' चलाया, लेकिन वीर बन्दा से लेकर गुरु गोविन्द सिंह के द्वारा चलाये गये **'खालसा सम्प्रदाय'** में प्राय: और भी दल बन गये जो स्वयं को 'सत्त खालसा' व 'बंदई खालसा' कहने लगे। दोनों दलों ने एक-दूसरे को नीचा दिखाने का व्यापक प्रयत्न भी किया। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि दलगत छींटाकशी के कारण इस धर्म के प्रवर्तकों का समाज धीरे-धीरे पतन की ओर अग्रसर होने लगा।

'उदासी सम्प्रदाय'—'नामधारी सम्प्रदाय', 'निर्मल-सम्प्रदाय', 'सुथराशाही सम्प्रदाय', 'सेवापन्थी सम्प्रदाय', 'अकाली सम्प्रदाय', 'भगतपन्थी सम्प्रदाय', 'गुलाबदासी सम्प्रदाय', 'निरंकारी सम्प्रदाय' आदि।

सिख धर्म की मौलिक विशेषताएँ (Basic Characteristics of Sikhism)

सिख धर्म के वास्तविक आदर्शों को आसानी से समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम इस धर्म की प्रमुख विशेषताओं के बारे में जानकारी प्राप्त करें।

(1) **सिख आन्दोलन कर्मकाण्डों का विरोधी**—सिख धर्म के प्रवर्तक गुरु नानक ने हिन्दुओं में व्याप्त कर्मकाण्डों का डटकर विरोध किया और रूढ़ियों तथा अन्धविश्वासों पर घातक चोट की। नानक देव और अन्य सिख गुरुओं ने 'ब्रह्म' अथवा मोक्ष प्राप्ति के लिए कर्त्तव्य को सर्वोच्च प्राथमिकता दी। अपनी उदासी के दौरान जब नानक देव गया गये, तब वहाँ पण्डितों को पिण्डदान व दीपदान करते देख तीखी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त कीं।

(2) **एक ही ईश्वर में आस्था**—सिख धर्म के प्रवर्तकों के अनुसार सम्पूर्ण संसार का एक ही ईश्वर है और वही सर्वत्र व्याप्त है। प्राय: सिख धर्म का विश्वास मूर्ति-पूजा में नहीं है। यह धर्म ईश्वर को सर्वव्यापक व सर्वशक्तिमान मानता है।

(3) **समानता की नीति पर जोर**–इस धर्म का दृढ़ विश्वास है कि कोई भी व्यक्ति जन्म के कारण ऊँचा अथवा नीचा नहीं है। परमात्मा ने सभी को समान बनाया है, यदि कोई व्यक्ति समाज में छोटा या बड़ा है तो वह अपने कार्यों से है। गुरु नानक मानव मात्र से प्रेम करते थे चाहे उसका वर्ण कुछ भी क्यों न हो।

नोट

(4) **वैयक्तिक अहंकार व कर्मों के प्रदर्शन को महत्त्व नहीं**–सिख धर्म में वैयक्तिक अहंकार व कर्मों के प्रदर्शन पर बल नहीं देकर ईश्वर प्राप्ति के लिए अन्य साधनाओं पर अधिक जोर दिया गया है। गुरु नानक देव ने कहा है, "जब तक मन को मारकर उसे ठीक न कर लिया जाए, तब तक कोई कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। इसको अपने वश में कर लेना तभी सम्भव है, जब इसे निर्गुण राम के गुणों की उलझन में डाल दिया जाये।"

(5) **आदर्श व व्यवहार के सामंजस्य पर अधिक जोर**–सिख धर्म में सिख गुरुओं ने व्यक्ति के आदर्शों व व्यवहारों के मध्य सामंजस्य स्थापित करने पर अधिक बल दिया है और इसे आवश्यक भी समझा गया है। इसीलिए तो नानक से लेकर गुरु गोविन्दसिंह के समय तक सिख गुरुओं ने जिन सिद्धान्तों व उपदेशों की रचना की, उन्हें व्यवहार रूप में बदलने का भी पूरा प्रयत्न किया।

(6) **व्यावहारिकता का अर्थ**–आज जितना अधिक प्रगतिशील व व्यावहारिक धर्म सिख धर्म है, उतना अन्य कोई धर्म नहीं है। इस धर्म को गुरु अर्जुनदेव के अन्तिम समय से लेकर गुरु गोविन्दसिंह के समय तक मुसलमानों के कटुतापूर्ण व्यवहार का सामना करना पड़ा। मुसलमान शासक अपने सैनिकों आदि की सहायता से, उनके खाने-पीने की चीजों को छूकर अपवित्र कर देते और उनको धर्म से विचलित करने का भी प्रयत्न करते थे। इस स्थिति का सामना करने के लिए गुरु गोविन्दसिंह ने अपने नेतृत्व में खालसा सम्प्रदाय का गठन किया और प्रत्येक सिख अनुयायी के लिए पांच चीजें–केश, कंघा, कृपाण, कच्छा व कड़ा अनिवार्य कर दिया।

(7) **गुरु के प्रति गहन निष्ठा**–सिख धर्म में सत्यलोक या ईश्वर-प्राप्ति के लिए सच्चे गुरु के प्रति गहरी आस्था प्रकट की गयी है। नानक का कथन है, "गुरु के मिलने पर ही अपने सांसारिक जीवन के अन्त तथा आध्यात्मिक जीवन के प्रारम्भ का हमें अनुभव होता है, गर्व दूर हो जाता है, गगनपुर अर्थात् मुक्तावस्था की प्राप्ति होती है और हरि शरण में स्थान मिलता है।"

गुरु ग्रन्थ साहिब

'गुरु ग्रन्थ साहिब' सिखों का एक 'आदि-ग्रन्थ' है जिसे वे साक्षात् गुरु तुल्य ही समझते हैं। अनेक धार्मिक उत्सवों या संस्कारों के समय इसकी उपस्थिति को प्राय: शुभ व आवश्यक माना गया है। इस ग्रन्थ की रचना का श्रेय सिखों के पाँचवें गुरु अर्जुनदेव को जाता है। आपने इसकी रचना 1604 ई. में की थी। अर्जुनदेव ने अपने समय में यह अनुभव किया कि भविष्य में सिख धर्म के मानने वालों को किसी कठिनाई का सामना नहीं करना पड़े, इसलिए सिख गुरुओं के द्वारा दिये गये प्रवचनों, उपदेशों, आदि का संग्रह कर एक 'आदि-ग्रन्थ' का निर्माण करना आवश्यक है। नौवें गुरु तेगबहादुर की मुसलमानों द्वारा की गई नृशंस हत्या के बाद, दसवें गुरु गोविन्दसिंह जी ने 1705 ई. में गुरु ग्रन्थ साहब को नया रूप दिया।

बौद्ध धर्म (Buddhism)

बौद्ध धर्म के प्रवर्तक गौतम बुद्ध थे। उनके जन्म का नाम सिद्धार्थ था। उनके पिता शुद्धोधन शाक्य गणराज्य के प्रधान थे, इसलिए बुद्ध को शाक्य मुनि भी कहा जाता है। बुद्ध का जन्म 563 ई. पू. कपिलवस्तु के पास लुम्बनी नामक स्थान पर हुआ था जो नेपाल की तराई में स्थित है। बुद्ध के जन्म के सातवें दिन ही इनकी माता महामाया का देहान्त हो गया। इनका पालन-पोषण इनकी मौसी महाप्रजापति गौतमी ने किया, जिससे शुद्धोधन ने विवाह कर लिया था। उनका गोत्र गौतम था इसलिए इन्हें गौतम भी कहा गया है। गौतम के सम्बन्ध में भविष्यवक्ताओं ने भविष्यवाणी की थी कि या तो वे विख्यात ज्ञानी होंगे या चक्रवर्ती, लेकिन काण देवल व औदित्य का मत था कि वे संसार का त्याग करेंगे। राजा शुद्धोधन ने गौतम बुद्ध को अत्यन्त भोग-विलास में रखा, ताकि वे सांसारिक सुखों के आकर्षण से अलग न हो सकें तथा उन्हें किसी प्रकार के दु:ख अथवा कष्ट का अनुभव न हो। प्रारम्भ में उन्हें अस्त्र-शस्त्र चलाने तथा अन्य विषयों की शिक्षा दी गयी, लेकिन गौतम एकान्त में रहना पसन्द करते थे। वे हर समय विचारमग्न व चिन्तनशील रहते थे। इससे शुद्धोधन चिन्तित रहने लगे। उन्होंने सोलह वर्ष की आयु में

नोट

ही सिद्धार्थ का विवाह यशोधरा नामक सुन्दर राजकुमारी से कर दिया। सामान्य गृहस्थ का सुख भोग लेने पर भी सिद्धार्थ के मन में जीवन के सुख-दु:ख की समस्याएँ उलझन पैदा करती रहीं। जब कभी भी वे राजमार्ग से नगर दर्शन के लिए गये, उन्हें कष्ट ही दिखायी पड़ा। ऐसी कई घटनाओं का उल्लेख बौद्ध साहित्य में मिलता है, जैसे जर्जर शरीर लिये वृद्ध, रोगी, मृतक और संन्यासी। एक दिन गौतम शयन कक्ष में आये, अपनी पत्नी और पुत्र को नींद में सोता छोड़ 29 वर्ष की अवस्था में गृह त्याग कर दिया। **बौद्ध साहित्य में गृह त्याग की इस घटना को 'महाभिनिष्क्रमण' कहा जाता है।**

ज्ञान की खोज–संन्यासी होने के बाद गौतम साधना में लीन हो गये। सर्वप्रथम वे वैशाली के 'आलार कालाम' नामक तपस्वी के साथ ज्ञानार्जन हेतु रहे, लेकिन उनकी ज्ञान पिपासा वहां शान्त नहीं हो सकी। तत्पश्चात् राजगृह के एक अन्य तपस्वी 'उद्रक रामपुत्त' के साथ रहे, वहाँ वे सन्तुष्ट नहीं हुए। इन दोनों से गौतम ने योग साधना एवं समाधिस्थ होना सीखा। यहाँ से गौतम उरूवेला गये एवं तपस्या में लीन हो गये। यहाँ उन्हें पांच ब्राह्मण संन्यासियों का साथ मिला। तपस्या करते उन्हें छः वर्ष हो गये, परन्तु साधना में सफलता हाथ न लगी। ऐसी जनश्रुति है कि नगर की कुछ स्त्रियाँ एक दिन गीत गाते हुए उधर से गुजरीं जहां गौतम तपस्या में लीन थे। स्त्रियों द्वारा जो गीत गाया जा रहा था उसका सारांश निम्न था : "वीणा के तारों को ढीला मत छोड़ो। ढीला छोड़ देने से उनमें सुरीला स्वर नहीं निकलेगा। तारों को इतना कसो भी मत जिससे वे टूट जाएँ।"

गौतम के हृदय को इस गीत के भावों ने प्रभावित किया, उन्होंने आहार ग्रहण कर लिया। अब उन्होंने इस बात को समझा कि किसी भी बात की अति ठीक नहीं। उन्होंने मध्यम मार्ग अपनाया। गौतम में यह परिवर्तन देखकर उनके ब्राह्मण साथी उनका साथ छोड़कर ऋषिपतन चले गये। इसके बाद गौतम गया जाकर वट वृक्ष के नीचे समाधिस्थ हो गये। इस बार उन्होंने दृढ़ निश्चय किया था कि जब तक ज्ञान की प्राप्ति नहीं होगी तब तक समाधिस्थ ही रहेंगे। सात दिन व सात रात निर्विघ्न तपस्या की। आठवें दिन वैशाख पूर्णिमा को उन्हें ज्ञान की प्राप्ति हुई। इस ज्ञान की प्राप्ति से उनका सम्पूर्ण शरीर प्रकाशमान हो गया, उन्हें **'सम्बोधि'** की प्राप्ति हुई। परिणामस्वरूप वे 'तथागत' और 'बुद्ध' कहलाये। बोध प्राप्ति के कारण गया **'बोध गया'** तथा वट वृक्ष जिसके नीचे ज्ञान की प्राप्ति हुई, **'बोधि वृक्ष'** कहलाये। भारत में बौद्ध धर्म को मानने वालों की कुल जनसंख्या 0.79 प्रतिशत है।

ज्ञान का प्रचार–बौद्ध गया में सबसे पहले बुद्ध ने अपना उपदेश तपस्यु एवं मल्लिक नामक दो बंजारों को दिया। इसके बाद अपने ज्ञान को जनसाधारण तक पहुँचाने के लिए गया से प्रस्थान कर सारनाथ पहुँचे। सारनाथ में उन्हें पांचों ब्राह्मण साथी मिल गये जो उन्हें उरूवेला से छोड़ आये थे। महात्मा बुद्ध ने उन्हें अपने ज्ञान की धर्म के रूप में दीक्षा दी। बौद्ध साहित्य में इस घटना को **'धर्म चक्र प्रवर्तन'** के नाम से जाना जाता है। सारनाथ से बुद्ध काशी गये एवं ज्ञान का प्रचार करने लगे। यहाँ उनके अनुयायियों की संख्या 60 के लगभग हो गयी तब उन्होंने संघ की स्थापना की। आपने बौद्ध संघों के माध्यम से 45 वर्ष तक अपने धर्म का प्रसार किया। बुद्ध ने साधारण बोल-चाल की भाषा को अपनाया। ऊँच-नीच व जाति-पांति की भावना से परे हटकर सबको उपदेश दिया। 80 वर्ष की अवस्था में कुशीनारा (गोरखपुर के समीप) नामक स्थान पर महात्मा बुद्ध ने अपना शरीर त्याग दिया। इस घटना को बौद्ध धर्म में **'महा-परिनिर्वाण'** कहते हैं।

बौद्ध धर्म के सिद्धान्त

महात्मा बुद्ध ने जगत व जीव को माना। मनुष्य अमर है अथवा नश्वर, सीमित है अथवा असीम, जीव और शरीर एक हैं अथवा अलग-अलग, बुद्ध इन उलझनों में नहीं पड़े। जब भी कभी किसी ने उनसे इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर देने का आग्रह भी किया तो वे उन्हें निरर्थक मानकर टालते रहे। बुद्ध का दृष्टिकोण सदैव व्यावहारिक रहा, इस दृष्टिकोण से बुद्ध ने अपने धर्म की नैतिक व्याख्या की। बौद्ध धर्म के प्रमुख सिद्धान्त निम्न प्रकार हैं :

(I) **चार आर्य सत्य**–(1)**दु:ख**–बौद्ध धर्म दु:खवाद को लेकर चला है। समस्त संसार दु:खमय है। सभी प्राण ी किसी-न-किसी दु:ख से दुखी हैं। दु:ख के सम्बन्ध में बुद्ध स्वयं कहते हैं "जन्म भी दु:ख है, जरा भी दु:ख है,व्याधि भी दु:ख है, मरण भी दु:ख है, प्रिय वियोग भी दु:ख है, अप्रिय मिलन भी दु:ख है, इच्छित वस्तु का न मिलना भी दु:ख है।"

(2) **दु:ख समुदाय**–संसार में दु:ख है, यह सत्य है। प्रश्न यह पैदा होता है कि इन सभी दु:खों का कारण क्या है? बुद्ध की दृष्टि से इसका कारण इच्छा अथवा तृष्णा है। इस तृष्णा का जन्म क्यों और कैसे होता है? इस सम्बन्ध में बुद्ध ने कहा था कि रूप, गन्ध, शब्द, रस, स्पर्श, मानसिक विचारों एवं वितर्कों से मनुष्य जब आसक्ति करता है तो तृष्णा जन्म लेती है अर्थात् दु:ख का कोई न कोई समुदाय (कारण) अवश्य होता है।

(3) **दु:ख निरोध**–संसार दु:खमय है और दु:ख के कारण समुदाय है, तो दु:ख निरोध अथवा दु:खों से मुक्ति भी सम्भव है। दु:ख के कारण–तृष्णा के मूलोच्छेदन से दु:ख से मुक्ति मिल सकती है। महात्मा बुद्ध का कहना था, "संसार में जो भी कुछ प्रिय लगता है उससे डरेंगे अथवा भयभीत होंगे, वे तृष्णा को छोड़ सकेंगे। इच्छाओं पर नियन्त्रण करके ही दु:ख निरोध सम्भव हो सकता है।"

(4) **दु:ख निरोध का मार्ग**–जब मनुष्य को दु:खों का कारण ज्ञात हो तो दु:खों पर विजय प्राप्त करने का मार्ग सुलभ है। कोई भी मनुष्य इस मार्ग का अनुसरण करते हुए दु:खों पर नियन्त्रण कर सकता है। महात्मा बुद्ध ने जो मार्ग बतलाया, वह **'दु:ख निरोध गामिनी प्रतिपदा'** के नाम से जाना जाता है। इसके आठ अंग हैं, अत: इस मार्ग को 'अष्टांगिक मार्ग' भी कहा जाता है।

(II) **अष्टांगिक मार्ग**–संसार में उपलब्ध वस्तुओं को भोगने की इच्छा या तृष्णा ही समस्त दु:खों का मूल कारण है। यह इच्छा या तृष्णा ही आत्मा को जन्म-मरण के चक्कर में जकड़े रहती है। निर्वाण की प्राप्ति इच्छाओं को समाप्त करने पर भी सम्भव है। यदि मनुष्य सही रूप में अष्टांगिक मार्ग का अनुसरण करे तो इच्छाओं पर पूर्ण नियन्त्रण सम्भव हो सकता है। यह मार्ग **'मध्यम मार्ग'** भी कहलाता है।

(*i*) **सम्यक् दृष्टि**–असत्य से ही चार आर्य सत्यों के तत्व का ज्ञान प्राप्त होता है। यह ज्ञान श्रद्धा एवं भावनायुक्त होना चाहिए। सदाचरण-दुराचरण, सत्य-असत्य, उचित-अनुचित एवं पाप-पुण्य में अन्तर स्पष्ट करना ही सही ज्ञान है। (*ii*) **सम्यक् संकल्प**–हिंसा, राग-द्वेष आदि सांसारिक प्रवृत्तियों का त्याग, आत्म कल्याण का दृढ़ निश्चय ही सम्यक् संकल्प है। (*iii*) **सम्यक् वाणी**–सत्य, मृदु एवं विनम्र वचन एवं बोलने पर नियन्त्रण अथवा संयम ही सम्यक् वाणी है। (*iv*) **सम्यक् कर्मान्त**–हिंसा, द्वेष, द्रोह, ईर्ष्या एवं दुराचरण का परित्याग और सत्कर्मों का पालन ही सम्यक कर्मान्त है। (*v*) **सम्यक् आजीव**–न्यायोचित मार्ग से आजीविका अर्जित करना ही सम्यक् आजीव है। (*vi*) **सम्यक् व्यायाम**–अच्छे कर्मों और उपकार के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना ही सम्यक् व्यायाम है। (*vii*) **सम्यक् स्मृति**–विवेक और स्मरण का अनुपालन करना तथा लोभ आदि चित्त के सन्तापों से बचना ही सम्यक् स्मृति है। (*viii*) **सम्यक् समाधि**–राग-द्वेष और द्वन्द्व-विनाश से रहित होकर चित्त को एकाग्र करना ही सम्यक् समाधि है। बुद्ध घोष के अनुसार समाधि कुशलचित की एकाग्रता है।

मध्यम मार्ग–महात्मा बुद्ध ने दु:खों से मुक्ति पाने हेतु जो अष्टांगिक मार्ग बताया, वह विशुद्ध आचरण पर आध ारित था। इसमें न तो अधिक शारीरिक कष्ट एवं क्लेश युक्त अधिक कठोर तपस्या को उचित बताया और न ही अत्यधिक भोग-विलासमय जीवन को। मूल रूप से यह दोनों अतियों के बीच का मार्ग है। इस कारण ही इसको **मध्यम मार्ग (मध्यम प्रतिपदा)** भी कहा गया है। इसका सही रूप से पालन कर मनुष्य मोक्ष की ओर अग्रसर होता है।

(III) **दस शील**–महात्मा बुद्ध ने अपनी शिक्षाओं में नैतिकता अथवा शील को विशेष महत्त्व दिया। बुद्ध ने अपने अनुयायियों को मन, कर्म एवं वचन की पवित्रता रखने पर अधिक जोर दिया। उन्होंने निम्न दस नैतिक आचरण ाों का पालन उचित बताया : (1) सत्य बोलना, (2) हिंसा न करना, (3) चोरी न करना, (4) आवश्यकता से अधिक संग्रह नहीं करना, (5) भोग-विलास से दूर रहना, (6) नाच-गाने का त्याग करना, (7) कुसमय भोजन न करना, (8) सुगन्धित पदार्थों का प्रयोग न करना, (9) कोमल शय्या का त्याग करना एवं (10) राग-कामिनी-कंचन का त्याग करना।

(IV) **वेदों की प्रामाणिकता में अविश्वास**–महात्मा बुद्ध अन्धविश्वासी नहीं थे। उन्होंने वेदों की प्रामाणिकता में अविश्वास प्रकट किया। वे वेदों को अन्तिम सत्य के रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। बौद्ध धर्म ईश्वर को सृष्टि का निर्माता अथवा नियन्ता नहीं मानता क्योंकि यह धर्म वेदों की प्रामाणिकता में विश्वास नहीं रखता।

(V) **अनात्मवाद**—महात्मा बुद्ध ने न यह स्वीकार किया कि आत्मा है और न यह कि आत्मा नहीं है। मूलतः बुद्ध ने आत्मा के सम्बन्ध में विवाद करने से ही इन्कार कर दिया। यदि महात्मा बुद्ध आत्मा को स्वीकारते तो मनुष्य को स्वयं अपने से ही आसक्ति हो जाती, जो कि दुःख का मूल कारण है। यदि वे आत्मा को अस्वीकारते तो मनुष्य यह विचार कर कि मृत्यु के बाद मेरा कुछ भी नहीं रहेगा, मानसिक वेदना से ग्रस्त होता। यही कारण है कि महात्मा बुद्ध इस विवाद में पड़ना उचित नहीं मानते थे।

(VI) **कर्मवाद**—महात्मा बुद्ध का कहना था कि जो मनुष्य जैसे कर्म करता है, वैसे ही फल उसे भुगतने पड़ते हैं। मनुष्य का यह लोक एवं परलोक उसके कर्म पर निर्भर है। वे मनुष्य के द्वारा मन, वचन व काया से की गयी चेष्टाओं को कर्म मानते थे। ये कर्म ही दुःख या सुख का कारण होते हैं।

(VII) **पुनर्जन्म**—महात्मा बुद्ध कर्मवाद में विश्वास करते थे। वे इस बात को स्वीकार करते थे कि कर्मों के अनुसार ही मनुष्य का पुनर्जन्म होता है। कर्मफल एवं पुनर्जन्म में गहरा सम्बन्ध है। महात्मा बुद्ध के अनुसार पुनर्जन्म अहंकार का होता है, आत्मा का नहीं। जिस समय मनुष्य की इच्छाएँ और वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं, मनुष्य पुनर्जन्म के अर्थात् आवागमन के चक्कर से मुक्त हो जाता है।

(VIII) **निर्वाण**—इस धर्म का चरम लक्ष्य निर्वाण प्राप्ति है। 'निर्वाण' शब्द का शाब्दिक अर्थ है 'बुझाना'। महात्मा बुद्ध का कहना था कि मानव मन में उत्पन्न होने वाली इच्छा या तृष्णा या वासना की आग को बुझा देने पर ही निर्वाण प्राप्ति सम्भव है। निर्वाण का अर्थ है जन्म-मरण की स्थिति से मुक्ति प्राप्त करना अथवा मोक्ष को प्राप्त करना।

(IX) **प्रतीत्य समुत्पाद**—बौद्धधर्म कारणवादी है। प्रतीत्य का तात्पर्य है 'इनके होने से' एवं समुत्पाद का तात्पर्य 'यह उत्पन्न होता है'—अर्थात् 'इसके होने से यह उत्पन्न होता है'। यानी किसी कारण से कोई भी बात उत्पन्न होती है। दूसरे शब्दों में, इसको **'कार्य-कारण नियम'** भी कहा जा सकता है। यह बौद्ध धर्म के मूल उपदेशों में से एक है।

(X) **क्षणिकवाद**—बौद्ध दर्शन क्षणिकता और परिवर्तन में विश्वास रखता है। क्षणिकवाद की उत्पत्ति प्रतीत्य समुत्पाद से मानी जाती है। जगत एवं जीवन में से कोई नित्य नहीं है, इनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। यह दोनों परिवर्तनशील एवं नाशवान हैं। बुद्ध का मानना था कि संसार परिवर्तनशील है, संसार की प्रत्येक वस्तु में प्रतिक्षण परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन जनसाधारण को हर समय दिखायी नहीं देता, जैसे नदी का प्रवाह परिवर्तित होने के उपरान्त भी पूर्ववत् ही दिखायी देता है।

महात्मा बुद्ध के निर्वाण के बाद बौद्ध धर्म विभिन्न सम्प्रदायों में विभाजित हो गया—जो परम्परागत बुद्ध के नियमों को मानते थे 'स्थविर' कहलाये, जो नियमों में परिवर्तन करना चाहते थे वे 'महा साधिक' कहलाये।

जैन धर्म (Jainism)

भारत में जैन धर्म के अनुयायियों की जनसंख्या 0.42 प्रतिशत है। ईसा से 600 वर्ष पूर्व का काल भारतवर्ष के लिए ही नहीं, वरन् संसार के कई देशों के लिए धार्मिक क्रान्ति का काल रहा है। इसी शताब्दी में भारत की पुण्य स्थली में भी दो महान पुरुषों ने जन्म लिया, ये थे—भगवान महावीर स्वामी और महात्मा बुद्ध। इन्हें हम भारत की धार्मिक और बौद्धिक क्रान्ति के अग्रदूत कह सकते हैं। इन दोनों ही महापुरुषों ने प्राचीन हिन्दू धर्म की बुराइयों की आलोचना की और नवीन धर्मों को जन्म दिया जो जैन धर्म और बौद्ध धर्म के नाम से जाने जाते हैं।

जैन धर्म में ज्ञान प्राप्त महात्माओं, संस्थापकों और जितेन्द्रिय महापुरुषों को तीर्थंकर कहा जाता है। तीर्थंकर का अर्थ है—**'संसार सागर के पार उतारने वाला।'** जैन धर्म के अनुसार जैन धर्म के 24 तीर्थंकर हुए हैं। पहले तीर्थंकर ऋषभदेव थे। उनके समय में भारत प्रायः असभ्य एवं बर्बर था, उन्होंने ही असभ्य समाज को सभ्यता का प्रथम पाठ पढ़ाया। 23वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ थे जो एक ऐतिहासिक पुरुष थे। इनका उल्लेख ब्राह्मण साहित्य में भी मिलता है। ये काशी नरेश अश्वसेन के पुत्र थे। इन्होंने भी 70 वर्ष तक धर्म प्रचार किया और जैन संघ की स्थापना की। इनका जन्म महावीर स्वामी से 250 वर्ष पूर्व हुआ था। स्वयं महावीर के माता-पिता भी इनके अनुयायी थे।

24वें तीर्थंकर महावीर स्वामी

जैन धर्म के 24वें तीर्थंकर महावीर स्वामी थे। स्पष्ट है कि महावीर स्वामी जैन धर्म के संस्थापक नहीं थे, वरन् उनसे पूर्व ही जैन धर्म भली-भांति संगठित था और जैन संघों की स्थापना हो चुकी थी। महावीर स्वामी ने तो जैन धर्म में सुधार, परिवर्तन, संवर्द्धन और उसे पुनर्संगठित करने का कार्य किया। महावीर स्वामी का जन्म ईसा से 600 वर्ष पूर्व बिहार के कुण्डग्राम नामक स्थान पर हुआ था। इनके पिता का नाम सिद्धार्थ था जो क्षत्रिय राजा थे। महावीर का विवाह यशोदा नामक एक सुन्दर राजकुमारी से हुआ था। महावीर का बचपन का नाम वध र्मान था। प्रारम्भ से ही महावीर का जीवन राजकीय समृद्धि और विलासिता में बीता। 30 वर्ष की आयु में उनके पिता का स्वर्गवास हो गया। प्रारम्भ से ही महावीर स्वामी चिंतनशील व्यक्ति थे और उनका मन सांसारिक बातों में नहीं लगता था। अत: उन्होंने पिता की मृत्यु के बाद अपने बड़े भाई नन्दीवर्धन को राज्य सौंपकर उनसे आज्ञा लेकर गृह त्याग दिया और भिक्षु बन गये। इन्होंने 12 वर्ष तक घोर तपस्या की। तपस्या के पश्चात जम्भियगाम के समीप एक नदी के तट पर उन्हें **'कैवल्य'** (ज्ञान) **प्राप्त हुआ। तभी से उन्हें 'केवलिन्' की उपाधि मिली।** उन्होंने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया था, अत: वे 'जिन' कहलाये। अतुल पराक्रम दिखाने के कारण वे 'महावीर' के नाम से विख्यात हुए।

प्रश्न उठता है कि जब पार्श्वनाथ का जैन धर्म पहले से ही मौजूद था तो महावीर स्वामी ने अपना नया सम्प्रदाय क्यों चलाया? इसका कारण यह था कि उन दोनों में सैद्धान्तिक मतभेद था। पार्श्वनाथ ने अपने अनुयायियों को वस्त्र पहनने की आज्ञा दे रखी थी, जबकि महावीर स्वामी बिल्कुल नग्न रहने पर जोर देते थे। पार्श्वनाथ जैन भिक्षु के लिए चार बातों को आवश्यक समझते थे। वहीं महावीर स्वामी ने उसमें पाँचवां व्रत ब्रह्मचर्य और जोड़ दिया था। आपको अपने धर्म के प्रचार के लिए तत्कालीन राजवंशों का बहुत सहयोग मिला। आपने लगभग 30 वर्ष तक अपने धर्म का प्रचार किया और अन्तत: 72 वर्ष की आयु में पावा नामक स्थान पर उन्हें मोक्ष प्राप्त हुआ।

जैन धर्म के सिद्धान्त (Theories of Jainism)

जैन धर्म के प्रमुख सिद्धान्त निम्नांकित हैं :

(1) **निवृत्तिमार्ग**—महावीर स्वामी का विश्वास था कि यह समस्त संसार दु:खमय है, व्याधि रूप है। इसमें मनुष्य जरा (वृद्धावस्था) और मृत्यु से सम्पीड़ित है। गृहस्थ जीवन में भी उसके लिए कोई सुख-शान्ति नहीं है। संसार में मनुष्य आजीवन तृष्णा से घिरा रहता है। मनुष्य का सुख संसार-त्याग में ही निहित है। उसे सम्पत्ति, संसार, परिवार, आदि सभी का परित्याग कर, संसार से कोई भी सम्बन्ध न रख भिक्षु बनकर परिभ्रमण करना चाहिए। निर्बन्ध मनुष्य ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

(2) **कर्म और पुनर्जन्म**—जैन धर्म ईश्वर को सृष्टिकर्ता नहीं मानता क्योंकि ऐसा करने से तो उसे संसार के पापों और कुकर्मों का कर्ता भी मानना पड़ेगा। जैन धर्म के अनुसार, मनुष्य अपने कर्म के लिए स्वयं उत्तरदायी है। मनुष्य के सुख-दु:ख उसके कर्म के कारण ही हैं और प्रत्येक जीव को अपने कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है। इस जगत में जितने भी प्राणी हैं, वे सब अपने-अपने संचित कर्मों से ही संसार में भ्रमण करते हैं और उन्हीं के अनुसार भिन्न-भिन्न योनियाँ पाते हैं। यही उनके पुनर्जन्म का भी कारण है। कर्मफल भोगे बिना जीव का छुटकारा नहीं होताहै। यदि मनुष्य अपने पूर्व जन्म के कर्मफल को नष्ट कर दे और इस जन्म में किसी प्रकार का कर्मफल एकत्रित न करे तो वह जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो सकता है और यही निर्वाण (मोक्ष) की प्राप्ति है।

(3) **त्रि-रत्न**—पूर्व जन्म के कर्मफल को नष्ट करने तथा इस जन्म के कर्मफल से बचने के लिए जैन धर्म में त्रि-रत्नों के पालन का आदेश दिया गया है ये त्रि-रत्न हैं—(*i*) सम्यक् श्रद्धा, (*ii*) सम्यक् ज्ञान, (*iii*) सम्यक् आचरण। सम्यक् विश्वास ही सम्यक् श्रद्धा है और सत् का ज्ञान प्राप्त कर लेना सम्यक् ज्ञान है। संसार के किसी भी विषय में आसक्ति न रखना तथा सुख और दु:ख दोनों में समभाव रखना ही सम्यक् आचरण है।

(4) **स्याद्वाद**—जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु के अनन्त स्वरूप हैं। केवल ज्ञानी अथवा अर्हत् ही उन सभी स्वरूपों को जानता है। वस्तु के स्वरूप की यह विभिन्नता सात प्रकार की हो सकती है—(*i*) है, (*ii*) नहीं है,

(*iii*) है और नहीं है, (*iv*) कहा नहीं जा सकता, (*v*) है, किन्तु कहा नहीं जा सकता, (*vi*) नहीं है और कहा नहीं जा सकता, (*vii*) है और नहीं है, किन्तु कहा नहीं जा सकता। जैन धर्म में इसे **'स्याद्‌वाद'**, **'अनेकान्तवाद'** तथा **'सप्तभंगी का सिद्धान्त'** कहा जाता है।

नोट

(5) **अनेकात्मवाद**–जैन धर्म के अनुसार जिस प्रकार जीव भिन्न-भिन्न होते हैं, उसी प्रकार उनमें आत्माएँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं। मनुष्य, पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े, ईंट-पत्थर सभी में अलग-अलग आत्मा है।

(6) **जीव के दो अंश**–जैन धर्म यह मानता है कि प्रत्येक जीव में दो अंश होते हैं–एक आत्मा और दूसरा भौतिक तत्व। आत्मा सत्, अनन्त, असीम और सर्वव्यापी है। इसके विपरीत, भौतिक तत्व असत् है, वह आत्मा को घेरे रहता है। इसलिए जीव को सत् का ज्ञान नहीं होता। यदि आत्मा को भौतिक अंश से छुटकारा दिला दिया जाये तो निर्वाण प्राप्त हो जायेगा।

(7) **निर्वाण**–जैन धर्म का परम लक्ष्य निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त करना है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि जीव के भौतिक अंश का नाश करना ही निर्वाण है और यह भौतिक अंश तब तक नष्ट नहीं हो सकता जब तक मनुष्य कर्म फल से मुक्ति न पा ले। कर्मफल का नाश त्रि-रत्न के पालन से ही सम्भव है।

(8) **ईश्वर और सृष्टि**–जैन धर्म अनीश्वरवादी है। यह ईश्वर के अस्तित्व को एवं उसे सृष्टिकर्ता नहीं मानता है। संसार है और वास्तविक है। इसका कभी भी मूलतः विनाश नहीं होता। जो वस्तु है, वह कभी न रहे, ऐसा सम्भव नहीं है।

(9) **ब्राह्मण धर्म का विरोधी**–जैन धर्म ने ब्राह्मण धर्म, वेदवाद, यज्ञवाद और जातिवाद का विरोध किया है।

(10) **स्त्रियों की स्वतन्त्रता**–महावीर नारी स्वतन्त्रता के पक्ष में थे। इसलिए उन्होंने अपने धर्म में स्त्रियों को भी दीक्षित किया। उन्हें भी वे मोक्ष या निर्वाण की अधिकारिणी मानते हैं।

(11) **अहिंसा**–जैन धर्म परम अहिंसावादी है। श्वास लेते समय हवा के साथ कहीं कीटाणु शरीर के भीतर जाकर मर न जाएँ, इस डर से जैन सन्त एवं अनुयायी लोग मुंह एवं नाक पर पट्टी बांधते हैं, वे पानी छानकर पीते हैं तथा चलते समय पग-पग पर झाड़ू लगाते हैं। प्राणीमात्र के प्रति मन, वचन और कर्म से किये गये किसी भी असंगत आचरण को वे हिंसा मानते हैं।

(12) **शरीर क्लेश**–जैन धर्म का विश्वास है कि शरीर को जितना कष्ट दिया जायेगा, उतना ही अधिक भौतिक अंश का दमन और आत्मा का उत्थान होगा। इसी कारण से जैन धर्म में व्रत, तपस्या, अनशन और आत्महत्या तक का विधान है।

(13) **नग्नता**–महावीर स्वामी पूर्ण नग्नता के पक्षपाती थे। इसके पीछे लज्जा, त्याग, अपरिग्रह और शरीर क्लेश की भावनाएँ थीं। मनुष्य को दुःख और सुख में समान होना चाहिए। इसके लिए उसे लज्जा की भावनाओं से ऊपर उठना चाहिए।

(14) **पंच महाव्रत**–जैन धर्म में भिक्षुओं के लिए पांच महाव्रतों का उल्लेख किया गया है। ये हैं :

(*i*) **अहिंसा महाव्रत**–जानबूझकर अथवा अनजाने में भी किसी की हिंसा न करना। (*ii*) **असत्य त्याग महाव्रत**–भिक्षु को सदा सत्य और मीठा बोलना चाहिए। बिना सोचे-समझे न बोलना, क्रोध, लोभ, भय, हंसी-मजाक, आदि के समय में भी उसे असत्य का प्रयोग नहीं करना चाहिए। (*iii*) **अस्तेय महाव्रत**–बिना अनुमति के दूसरे की वस्तुओं को ग्रहण नहीं करना चाहिए। (*iv*) **ब्रह्मचर्य महाव्रत**–भिक्षु को पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। **अपरिग्रह महाव्रत**–भिक्षु को किसी भी वस्तु का संग्रह नहीं करना चाहिए क्योंकि इससे वस्तु के प्रति आसक्ति पैदा होती है। भिक्षु के लिए धन, धान्य, वस्त्र सभी त्याज्य हैं।

(15) **जैन धर्म का नैतिक पक्ष**–महावीर स्वामी ने नैतिकता पर बहुत जोर दिया और कहा कि स्नान आदि से केवल बाह्य शुद्धि होती है, आन्तरिक नहीं। उन्होंने कहा कि कर्म से ही व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होता है न कि जन्म से। जैन धर्म ने कर्म-काण्डों के स्थान पर सदाचार, अनुशासन और तपस्या पर बल दिया।

जैन धर्म में वर्तमान में दो प्रमुख सम्प्रदाय हैं–दिगम्बर और श्वेताम्बर।

नोट

पारसी धर्म

पारसी धर्म की उत्पत्ति ईसा से 600 वर्ष पूर्व ईरान में हुई। इस धर्म के संस्थापक **जरथ्रुष्ट** थे। भारत में पारसी धर्म का प्रारम्भ 8वीं सदी में हुआ, जब इस धर्म के कुछ संत भारत के पश्चिमी तट खम्भात की खाड़ी में स्थित 'दिव' नामक द्वीप में आये। पारसी धर्म को मानने वाले अधिकांश लोग मुम्बई और उसके आस-पास ही निवास करते हैं। वर्तमान में यहां इनकी संख्या 0.66 प्रतिशत है। **पारसी धर्म में ईश्वर को 'होरमज्द' कहा जाता है। 'अवेस्ता' इनकी पवित्र धार्मिक पुस्तक है, जिसे वे हिन्दुओं के वेदों की तरह ही मानते हैं।** इस्लाम और ईसाई धर्म की भाँति पारसी धर्म भी एक ही ईश्वर 'होरमज्द' में विश्वास करता है, अत: यह एकेश्वरवादी है। वैदिक धर्म और पारसी धर्म में अनेक समानताएँ देखने को मिलती हैं। पारसी लोग भी हिन्दुओं की तरह यज्ञ एवं अनुष्ठानों में विश्वास करते हैं। वे भी अग्निपूजक हैं और प्रत्येक पारसी के घर में चौबीसों घण्टे अग्नि का प्रज्वलित रहना आवश्यक माना जाता है। हिन्दुओं की भांति ये लोग भी अपने बच्चों का उपनयन (जनेऊ) संस्कार सम्पन्न कराते हैं जिसे 'नओजोत' कहते हैं। इनमें भी बलि, हवन, आचमन और आहुतियों का प्रचलन है। श्राद्ध, दान, धार्मिक कर्मकाण्डों, आत्मा एवं कर्म के बारे में विचार भी इनमें हिन्दू धर्म की तरह ही प्रचलित हैं। पारसी धर्म की प्रमुख मान्यताएँ इस प्रकार हैं–(1) होरमज्द नामक ईश्वर ने ही सम्पूर्ण सृष्टि की रचना की है, (2) वही जीवन और प्रकाश को देने वाला है तथा सत् का प्रतीक है, (3) मृत्यु और अन्धकार को देने वाली अग्रा मैन्यु अथवा अहिरामन नामक शक्ति है जो असत् का प्रतीक है, (4) सम्पूर्ण संसार सत् और असत् दो भागों में विभाजित है। सत् के अनुयायी होरमज्द की ओर तथा असत् के अनुयायी अहिरामन की ओर जाते हैं। वह समय आ रहा है जबकि होरमज्द अहिरामन को समाप्त कर देगा, (5) मनुष्य सत् और असत् किसी भी मार्ग को चुनने के लिए स्वतन्त्र है, किन्तु सत् मार्ग से ही उसका उद्धार सम्भव है, (6) अग्नि सत् का बाह्य रूप है, इसलिये उसकी उपासना आवश्यक है, (7) सद् विचार, सद् वचन और सत्कर्म से ही मानव का कल्याण हो सकता है। पारसी धर्म में अग्नि मन्दिर का विशिष्ट स्थान है, जहाँ इस धर्म के अनुयायी जाकर प्रार्थना करते हैं। कट्टर पारसी प्रतिदिन एवं सामान्य वर्ष में चार बार अग्नि मन्दिर में जाकर ईश्वर की प्रार्थना करता है। पारसियों में मृत शरीर को एक ऊँचे गुम्बद पर छोड़ दिया जाता है जिसे 'शान्ति गुम्बद' कहते हैं। वे शव को दफनाते या जलाते नहीं हैं। पारसी धर्म एवं हिन्दू धर्म में अनेक समानताएँ हैं, अत: यह हिन्दू धर्म के बहुत निकट है।

3.18 सारांश (Summary)

- परिवार बसाने के लिए दो या अधिक स्त्री-पुरुष में आवश्यक सम्बन्ध (जिसमें यौन-सम्बन्ध भी सम्मिलित है) स्थापित करने और उसे स्थिर रखने की कोई-न-कोई व्यवस्था प्रत्येक समाज में पाई जाती है। इसी को 'विवाह' कहते हैं।
- **श्री बोगार्डस** (Bogardus) ने भी विवाह की परिभाषा करते हुए लिखा है, **"विवाह स्त्रियों और पुरुषों को पारिवारिक जीवन में प्रवेश कराने वाली संस्था है।"**
- मानव-समाज का इतिहास परिवार का ही इतिहास है क्योंकि मानव-जीवन के प्रारम्भ से ही परिवार उसके साथ है और किसी न किसी रूप में यह सांस्कृतिक विकास सभी स्तरों पर पाया जाता है।
- धर्म शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृति भाषा के 'धृ' शब्द से मानी जाती है जिसका अर्थ है 'धारण करना' अर्थात् सभी जीवों के प्रति मन में दया धारण करने को ही धर्म कहा गया है।
- **क्यूबर** (Cuber) का विचार है, "धर्म सांस्कृतिक जीवन से सम्बन्धित व्यवहार का वह प्रतिमान है जिसका निर्माण पवित्र विश्वासों, विश्वासों से सम्बन्धित उद्वेगपूर्ण विचारों तथा इन्हें व्यक्त करने वाले बाहरी आचरणों आदि से होता है।"
- धर्म मानव का अलौकिक शक्ति से सम्बन्ध जोड़ता है। इसका सम्बन्ध मानव की भावनाओं, श्रद्धा एवं भक्ति से है। धर्म मानव के आन्तरिक जीवन को ही प्रभावित नहीं करता वरन् उसके सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक जीवन को भी प्रभावित करता है।

- प्राचीनकाल से भारत विभिन्न धर्मों की पुण्यभूमि रहा है। विश्व में शायद ही कोई अन्य ऐसा देश हो जिसमें धर्मों की इतनी विविधता एवं बहुलता पायी जाती हो। यहाँ मुख्य रूप से छः धर्मों–हिन्दू, इस्लाम, ईसाई, सिख, बौद्ध तथा जैन की प्रधानता है, कुछ पारसी एवं जन-जातीय धर्मों को मानने वाले लोग भी यहाँ हैं।

3.19 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. विवाह से क्या समझते हैं? इसके सामान्य उद्देश्यों का वर्णन करें।
2. विवाह के प्रकारों का विस्तृत वर्णन करें।
3. परिवार की परिभाषा देते हुए इसकी विशेषताओं का वर्णन करें।
4. परिवार के कार्य तथा सामाजिक महत्त्व पर प्रकाश डालें।
5. परिवार के विभिन्न प्रकारों का वर्णन करें।
6. नातेदारी से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट करें।
7. नातेदारी की विभिन्न रीतियों की व्याख्या करें।
8. धर्म की परिभाषा देते हुए इसकी विशेषताओं का वर्णन करें।
9. पूर्व-आधुनिक समाज में धर्म के उद्भव के सिद्धांतों का वर्णन करें।
10. धर्म की उपयोगिता पर प्रकाश डालें।
11. धर्म एवं विज्ञान की व्याख्या करें।
12. धर्म की आधुनिक प्रवृत्तियों की विवेचना करें।
13. धर्मनिरपेक्षता की विशेषताओं का वर्णन करें।
14. हिन्दूधर्म तथा हिन्दूधर्म के मूल सिद्धांतों को समझाएँ।
15. इस्लाम धर्म तथा इसकी मौलिक विशेषताओं की विवेचना करें।
16. बौद्धधर्म तथा जैन धर्म की व्याख्या करें।

3.20 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. समाजशास्त्र : अवधारणाएँ एवं सिद्धांत–*डॉ. जे.पी. सिंह, पी.एच.आई. लर्निंग प्रा.लि.।*
2. समाजशास्त्र के सिद्धांत–*राधिका गोयल, सुरभि।*
3. समाजशास्त्र के सिद्धांत–*जी.आर. मदान, राधा पब्लिकेशन्स।*
4. समाजशास्त्र–धर्मेन्द्र कुमार, टाटा मैकग्रॉ हिल।
5. समाजशास्त्र के मूल तत्व–गिसवर्ट पैसकल, ऑरिएन्ट लोंगमैन्स।

नोट

इकाई–4: संस्कृति एवं समाजीकरण (Understanding Culture—Culture and Civilization)

संरचना (STRUCTURE)

अनुक्रमणिका (Contents)

4.1 उद्देश्य (Objectives)
4.2 प्रस्तावना (Introduction)
4.3 संस्कृति का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Culture)
4.4 संस्कृति के उपादान (Components of Culture)
4.5 सांस्कृतिक तत्व (Cultural Trait or Element)
4.6 संस्कृति संकुल (Culture Complex)
4.7 संस्कृति का मानव जीवन या समाज पर प्रभाव और महत्व (Theory of Cultural Lag)
4.9 समाजीकरण का अर्थ और परिभाषा (Meaning and Definition of Socialization)
4.9 समाजीकरण की प्रकृति (Nature fo Sociolization)
4.10 समाजीकरण सीखने की एक प्रक्रिया के रूप में (Socialization as a process of Learning)
4.11 सामाजिकता सीखने या समाजीकरण के कारक (Factors of Social Learning or Socialization)
4.12 सामाजिकता सीखने या समाजीकरण की विधियाँ (Methods of Social Learning and Socialization)
4.13 समाजीकरण की प्रक्रिया के स्तर पर अवस्थाएँ (Stages of the process of Socialization)
4.14 समाजीकरण की मुख्य संस्थाएँ, साधन या अभिकरण (Chief Institution, Sources or Agencies of Socialization)
4.15 समाजीकरण के सिद्धांत (Theories of Socialization)
4.16 व्यक्तितव के विकास में समाजीकरण का महत्व (Role of Socialization in the Development of Personality)
4.17 सारांश (Summary)
4.18 शब्दकोश (Keywords)
4.19 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
4.20 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

4.1 उद्देश्य (Objectives)

नोट

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे :

- संस्कृति, संस्कृति के उपादान तथा संस्कृति के तत्व को समझने में;
- संस्कृति संकुल को समझने में;
- समाजीकरण की परिभाषा, प्रक्रिया एवं प्रकृति को समझने में;
- समाजीकरण के कारक, विधियाँ एवं स्तर को समझने में;
- समाजीकरण के संस्थाएँ, सिद्धांत एवं अभिकरण को जानने में।

4.2 प्रस्तावना (Introduction)

मनुष्य एक अनोखा प्राणी है और वह अनोखा इसलिए हो पाया है क्योंकि वह संस्कृति का अधिकारी तो है ही, साथ ही निर्माता भी है। वास्तव में यह संस्कृति ही है जो कि मनुष्य को पशु से पृथक् कर देती है। इसीलिए प्राय: यह कहा जाता है कि संस्कृति का उद्भव मानव के मध्य ही होता है। 'पशु' संस्कृति के अधिकारी नहीं होते और यदि होते भी हैं तो वह नाममात्र के लिए या 'न' के बराबर। किसी ने सच ही कहा है कि **"मनुष्य के पास से उसकी संस्कृति को छीन लीजिए, जो कुछ शेष रहेगा, वह निश्चित ही मानव नहीं, अपितु एक प्रकार का बन्दर होगा।"** इसी कारण **श्री हॉबेल** (Hoebel) का कथन है कि संस्कृति अनोखे रूप में एक मानव-घटना (Human Phenomenon) है और वह इस अर्थ में कि सभी प्राणियों में मनुष्य ही एक अकेला ऐसा प्राणी है जो कि संस्कृति को बनाने और उसे बनाये रखने की क्षमता रखता है। यही 'संस्कृति' इस अध्याय का अध्ययन-विषय है।

4.3 संस्कृति का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Culture)

संस्कृति को विभिन्न विद्वानों ने अलग-अलग ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। साहित्यकारों के लिए संस्कृति जीवन का प्रकाश और कोमलता है। शाब्दिक अर्थ में, 'संस्कृति' शब्द 'संस्कार' का रूपान्तर है। एक हिन्दू को अपने जीवन को परिमार्जित (Cultured) करने के लिए अनेक प्रकार के संस्कारों को करना पड़ता है और इसके बाद वह कहीं 'संस्कृत' (Cultured) कहा जाता है। इसी प्रकार इतिहासकारों के लिए एक देश का कलात्मक अथवा बौद्धिक विकास ही 'संस्कृति' है। परन्तु मानवशास्त्री 'संस्कृति' शब्द का प्रयोग भिन्न अर्थ में करते हैं। संस्कृत सीखे हुए व्यवहार (Learned behaviour) की वह समग्रता है जिसमें कि एक बच्चे का व्यक्तित्व पलता और पनपता है।

प्रारम्भिक मानवशास्त्रियों में **श्री टायलर** (Tylor) ने सर्वप्रथम संस्कृति शब्द को परिभाषित किया और इस शब्द का विस्तृत प्रयोग अपनी कृतियों में किया। आपके अनुसार, "संस्कृति वह जटिल समग्रता (complex whole) है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून, प्रथा तथा ऐसी ही अन्य क्षमताओं और आदतों का समावेश रहता है जिन्हें मनुष्य समाज के सदस्य के नाते प्राप्त करता है।" इस परिभाषा में इस बात पर बल दिया गया है कि संस्कृति मानव की सामाजिक विरासत (social heritage) है; यह व्यक्ति को समाज का 'उपहार' है जो कि उसे समाज के सदस्य के नाते प्राप्त होता है। और भी स्पष्ट रूप में, **श्री टायलर** के अनुसार संस्कृति से हमारा तात्पर्य उस सब कुछ से होता है जिसे मानव अपने सामाजिक जीवन में सीखता है या समाज से पाता है। संस्कृति प्रकृति की देन नहीं, बल्कि समाज की देन है; यह समाज का मानव को श्रेष्ठतम वरदान है।

श्री पिडिंगटन (Pidington) ने संस्कृति को एक दूसरे ढंग से परिभाषित किया है। आपके शब्दों में, "संस्कृति उन भौतिक तथा बौद्धिक साधनों या उपकरणों का सम्पूर्ण योग है, जिनके द्वारा मानव अपनी प्राणिशास्त्रीय तथा सामाजिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि तथा अपने पर्यावरण से अनुकूलन करता है।" इस प्रकार **श्री पिडिंगटन** के अनुसार किसी भी मानव की संस्कृति में दो प्रकार की घटनाओं (phenomena) का समावेश होता है—**प्रथमत:**

भौतिक वस्तुएँ (material objects) जिन्हें कि मानव अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बनाता है जैसे, उपकरण, औजार, वस्त्र, मकान, मन्दिर, मूर्तियाँ आदि। **द्वितीयत:** ज्ञान, विश्वास, मूल्य (values) आदि अभौतिक या अमूर्त घटनाओं (phenomena) का भी समावेश संस्कृति में होता है। संस्कृति के ये दोनों पक्ष एक-दूसरे से सम्बन्धित तथा एक-दूसरे के पूरक होते हैं।

नोट

श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) के अनुसार, "संस्कृति प्राप्त आवश्यकताओं की एक व्यवस्था तथा उद्देश्यमूलक क्रियाओं की एक संगठित व्यवस्था है।" आपके मतानुसार संस्कृति के अन्तर्गत जीवन के समग्र तरीके या ढंग (total ways of life) आ जाते हैं जो कि व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं और उसे प्रकृति के बन्धनों से मुक्त करते हैं। इस प्रकार **श्री मैलिनोवस्की** के अनुसार संस्कृति मानव का वह साधन है जिसके द्वारा या जिसके माध्यम से वह अपने साधनों को प्राप्त करता है अर्थात् अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।

श्री हॉबल (Hoebel) के मतानुसार, उन सब व्यवहार-प्रतिमानों (behaviour patterns) की समग्रता को संस्कृति कहते हैं जिन्हें मानव अपने सामाजिक जीवन में सीखता है। आपके शब्दों में, "संस्कृति सम्बन्धित सीखे हुए व्यवहार प्रतिमानों का सम्पूर्ण योग है जो कि एक समाज के सदस्यों की विशेषता को बतलाता है और जो इसलिए, प्राणिशास्त्रीय विरासत का परिणाम नहीं होता है।" **श्री हॉबल** के मतानुसार संस्कृति वंशानुसंक्रमण के द्व ारा निर्मित नहीं होती है। संस्कृति तो पूर्णतया सामाजिक आविष्कारों (social inventions) का परिणाम होती है। दूसरे शब्दों में, संस्कृति सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन के रूप में मानव का आविष्कार है। इसी कारण यह विचारों के आदान-प्रदान तथा शिक्षा के माध्यम से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती है और इस प्रकार इसकी निरन्तरता बनी रहती है। अत: **श्री हॉबल** के अनुसार, संस्कृति में किसी सामाजिक समूह विशेष की जीवनविधि (life way) निहित होती है।

संस्कृति की एक संक्षिप्त तथा उपयोगी परिभाषा **श्री हर्षकॉवित्स** (Herskovits) ने दी है। आपके शब्दों में, "संस्कृति पर्यावरण का मानव-निर्मित (Man-made) भाग है।" यह परिभाषा हमारा ध्यान इस सत्य की ओर आकर्षित करता है कि मानव-जीवन दो प्रकार के पर्यावरणों में पलता है—प्रथम तो प्राकृतिक पर्यावरण और दूसरा सामाजिक पर्यावरण। मानव का सम्पूर्ण सामाजिक पर्यावरण ही संस्कृति है। इस सामाजिक पर्यावरण को मानव स्वयं बनाता है। इस निर्माण-कार्य में प्राकृतिक घटनाओं या पर्यावरण का कुछ भी योग नहीं होता, ऐसी बात नहीं परन्तु एक प्राकृतिक चीज से जो कुछ भी मानव बनाता है वह उसकी कृति (work) होता है और इसके सम्पूण ॅ योग से ही संस्कृति का निर्माण होता है। उदाहरणार्थ मिट्टी एक प्राकृतिक वस्तु है परन्तु उसी मिट्टी से मनुष्य जब अपने लिये बर्तन, मूर्ति आदि बना लेता है तो वे सब उसकी संस्कृति के अंग बन जाते हैं। वायु या पानी या पहाड़ संस्कृति नहीं हैं क्योंकि वे सभी प्राकृतिक पर्यावरण के अंग हैं और इनका निर्माण मानव ने नहीं किया है। संस्कृति के अन्तर्गत तो सम्पूर्ण पर्यावरण के उस भाग की उन वस्तुओं को सम्मिलित करते हैं जिन्हें स्वयं मानव ने बनाया है। 'वस्तुओं' से यहाँ हमारा तात्पर्य केवल भौतिक वस्तुओं (material things) से ही नहीं है बल्कि अभौतिक (non-material) वस्तुओं से भी है। इस प्रकार संस्कृति में उपकरण, औजार, मशीन, आभूषण, मकान, प्रथा, परम्परा, कला, आचार, धर्म, भाषा आदि सभी भौतिक तथा अभौतिक वस्तुओं का समावेश रहता है, क्योंकि इन सभी को मनुष्य ने बनाया है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि मानवशास्त्री, जैसा कि **सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर** (Beals and Hoijer) ने लिखा है, "संस्कृति शब्द का प्रयोग कुछ निश्चित अर्थों में करते हैं जैसे, संस्कृति (1) समस्त मानव जाति में एक समय विशेष में सामान्य जीवन के तरीके (ways of life) या जीवनयापन या रहन-सहन के नमूने (designs for living) हैं; या (2) समाजों के एक समूह, जिसमें कि थोड़ी-बहुत अंत:क्रिया होती है, के रहन-सहन के तरीके हैं; या (3) व्यवहार के प्रतिमान (patterns of behaviour) हैं जो कि एक समाज-विशेष में विशिष्ट रूप से पाये जाते हैं; या (4) व्यवहार करने के विशिष्ट तरीके हैं जो कि बड़े और जटिल रूप में संगठित समाज के विभिन्न भागों में विशेष रूप से पाये जाते हैं।"

संस्कृति के गुण व विशेषताएँ (Attributes and Characteristics of Culture)

उपरोक्त परिभाषाओं से संस्कृति की प्रकृति का बहुत कुछ स्पष्टीकरण हो गया होगा। फिर भी संस्कृति के निम्नलिखित गुण व विशेषताएँ उसकी वास्तविक प्रकृति को स्पष्ट करने में सहायक होंगी–

नोट

1. **संस्कृति सीखी जाती है** (Culture is learned)—जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि सीखे हुए व्यवहार-प्रतिमानों (behaviour patterns) के सम्पूर्ण योग को संस्कृति कहते हैं। प्रजातीय या शारीरिक विशेषताओं की भाँति संस्कृति प्रजनन के माध्यम से व्यक्ति को प्राप्त नहीं होती, बल्कि वह जिस संस्कृति में जन्म लेता है उसमें वह उसे सीखता है। मानव की भाषा व प्रतीकों के माध्यम से विचारों के आदान-प्रदान की शक्ति इस बात की द्योतक है कि वह दूसरों से संस्कृति के तत्वों को सीख सकता है। संस्कृतियों में भिन्नताएँ इस कारण नहीं होती हैं कि लोगों की जन्मजात क्षमताएँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं, बल्कि इसलिए होती हैं कि उन्हें अलग-अलग तरीके से पाला-पोसा जाता है। जन्म के समय बच्चों में संस्कृति-संगत व्यवहार करने का कोई भी तरीका नहीं होता है, इन्हें तो वह बड़े होने के साथ-साथ सीखने की जटिल प्रक्रिया के माध्यम से प्राप्त करता है।

इस सम्बन्ध में एक बात यह स्मरणीय है कि जब हम यह कह सकते है कि संस्कृति सीखी जाती है, तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि सभी सीखे हुए व्यवहार संस्कृति हैं। पशु भी बहुत-कुछ सीख जाते हैं, परन्तु शायद ही कोई मानवशास्त्री उन्हें संस्कृति का अधिकारी मानता हो। पशुओं द्वारा सीखे हुए व्यवहार और मानव के संस्कृति पर आधारित व्यवहार में जो अन्तर है उसे समझे बिना संस्कृति की वास्तविक प्रकृति को नहीं समझा जा सकता है। यह सच है कि पशु मानव की भाँति कुछ व्यवहारों को सीख सकता है व सीखता भी है और इसी के आधार पर उसमें कुछ आदतें भी पनप जाती हैं। परन्तु केवल आदतों के आधार पर ही संस्कृति की यथार्थ व्याख्या सम्भव नहीं। इस सत्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि संस्कृति में आदतों या व्यवहारों का समावेश रहता है, परन्तु संस्कृति में निहित ये आदतें तथा व्यवहार-तरीके व्यक्तिगत (individual) आदतों तथा व्यवहारों से इस अर्थ में भिन्न हैं कि वे आदतें तथा व्यवहार-तरीके किसी व्यक्ति विशेष के नहीं बल्कि एक समाज के सभी या अधिकतर सदस्यों की सामान्य (common) आदतें तथा व्यवहार-तरीके होते हैं। पशुओं द्वारा सीखे हुए व्यवहार वैयक्तिक होते हैं, इसीलिए उसे संस्कृति नहीं कहा जा सकता; इसके विपरीत मानव की सांस्कृतिक व्यवस्था के व्यवहार तरीके या आदतें 'सामूहिक आदतें' (group habits) होती हैं जिसे कि हम जन-रीति (folkways), रूढ़ि (mores) या प्रथा (customs) कहते हैं। इस प्रकार की कोई भी चीज पशु-समाज में नहीं मिलती। इस दृष्टिकोण से आज भी चिम्पांजी या बन्दर उसी स्तर पर हैं जिस पर कि वे सौ साल पहले थे, पर मानव आज वह नहीं है जो दस साल पहले था। नित्य नये ढंग से प्रकृति का विकास मानव ही कर सकता है और करता भी है; मानव ही एकमात्र संस्कृति का निर्माण करने वाला प्राणी है। दूसरे शब्दों में, संस्कृति मानव-समाज में ही पनपती है; मानव द्वारा मानव-समाज में ही संस्कृति का निर्माण विकास, परिमार्जन और विस्तार होता है।

2. **संस्कृति में संचारित या हस्तान्तरित होने का गुण निहित है** (Culture has transmission quality)—संस्कृति को केवल सीखा ही नहीं जा सकता, अपितु इसे एक मानव से दूसरे मानव तक फैलाया या एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित भी किया जा सकता है। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, पशु भी बहुत-कुछ सीखने की क्षमता रखते हैं, परन्तु उनके इन सीखे हुए व्यवहारों व अनुभवों से दूसरे पशु लाभ नहीं उठा सकते क्योंकि विचारों तथा अनुभवों को दूसरों तक पहुँचाने या फैलाने की क्षमता उनमें नहीं होती। मानव अपनी भाषा और प्रतीकों (Symbols) की सहायता से यह काम बड़ी सरलता से कर सकता है और अपनी संस्कृति को दूसरे लोगों में फैला देता है या एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित कर देता है। संस्कृति के इस गुण का तात्पर्य यह हुआ कि मानव अपनी पिछली पीढ़ियों की कृतियों के आधार पर अपना वर्तमान जीवन-तरीका प्रारम्भ करता है और प्रत्येक पीढ़ी को फिर से सब कुछ सीखना या आविष्कार करना नहीं पड़ता है। यदि एक पीढ़ी बैलगाड़ी का आविष्कार करती है तो दूसरी पीढ़ी को फिर से बैलगाड़ी बनाने के तरीकों को नहीं खोजना पड़ेगा; वह अपनी पिछली पीढ़ी से बैलगाड़ी बनाने के तरीकों को सीख लेगी।

इस प्रकार प्राप्त अनुभवों और ज्ञानों के आधार पर बैलगाड़ी से अधिक उन्नत ढंग के यातायात के साधन का आविष्कार करने का प्रयत्न करेगी जिसके फलस्वरूप साइकिल या रेलवे इन्जन का आविष्कार होगा। अत: स्पष्ट

है कि संस्कृति में, संचारित तथा हस्तान्तरित होने के गुण निहित होने के कारण ही संस्कृति का विकास, विस्तार, परिमार्जन और परिवर्द्धन सम्भव होता है। इससे संस्कृति की एक अन्य विशेषता स्पष्ट हो जाती है और वह यह कि संस्कृति अपने विकास, विस्तार तथा निरन्तरता के लिए किसी एक व्यक्ति या समूह पर निर्भर नहीं रहती क्योंकि संस्कृति अनेक व्यक्तियों की अन्त:क्रिया तथा एकाधिक पीढ़ियों की कीर्तियों (achievements) का फल होती है।

नोट

3. **संस्कृति प्रत्येक समाज में एक विशेष प्रकार की होती है** (Culture is distinctive in every separate society)—प्रत्येक समाज की अपनी एक विशिष्ट संस्कृति होती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि प्रत्येक समाज की भौगोलिक तथा सामाजिक परिस्थितियाँ भी अलग-अलग होती हैं। संस्कृति पूर्णतया सामाजिक आविष्कार का परिणाम होती हैं। आविष्कार करने की जरूरत मानव-आवश्यकताओं के कारण होती है। ये सामाजिक आवश्यकताएँ प्रत्येक समाज में भिन्न-भिन्न होती हैं; इसी कारण संस्कृति का रूप या स्वरूप भी प्रत्येक समाज में अलग होता है। इन सांस्कृतिक भिन्नताओं का परिणाम यह होता है कि एक समाज के सदस्यों के व्यवहारों की विशेषताएँ दूसरे समाज के सदस्यों के व्यवहारों से पृथक् होती हैं। इतना ही नहीं, संस्कृति में परिवर्तन तभी होता है जबकि उस समय के विशिष्ट व्यवहारों में परिवर्तन होता है। इन विशिष्ट व्यवहारों में परिवर्तन सभी समाजों में एक-से नहीं होते, इस कारण सभी समाजों में सांस्कृतिक परिवर्तन की दिशा, गति और स्वरूप भी एक-सा नहीं होता। अत: स्पष्ट है कि प्रत्येक समाज में संस्कृति की भिन्नता स्वाभाविक ही है। फिर भी, संस्कृति के कुछ तत्व सभी समाजों में एक-से या सामान्य होते हैं, जिन्हें कि **श्री मुरडॉक** (Murdock) ने 'संस्कृति का सामान्य हर' (The Common Denominator of Culture) कहा है।" **सर्वश्री बील्स तथा हॉइजर** (Beals and Hoijer) ने भी लिखा है कि "ऊपर से देखने से ऐसा लगता है कि न्यूयॉर्क या पेरिस और एस्किमों की संस्कृतियों में पर्याप्त अन्तर है, परन्तु यदि इन दोनों संस्कृतियों का विश्लेषण किया जाए तो उनमें सामान्य विशेषताओं को ढूंढ़ा जा सकता है।" विभिन्न संस्कृतियों की सामान्यता को ढूँढ़ने का सबसे सीधा तरीका यह है कि उनके कार्यों का विश्लेषण किया जाये। ऐसा करने पर यह मालूम होगा कि कुछ सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रत्येक संस्कृति में अलग-अलग तरीके हैं। किसी भी संस्कृति के अध्ययन से यह पता चल जाता है कि संस्कृति समाज के सदस्यों की कुछ शारीरिक तथा मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। संस्कृति उन साधनों को प्रस्तुत करती है जिनकी सहायता से मनुष्य को वस्त्र तथा निवास प्राप्त होता है, वह जिन्दा रहता है और समाज की निरन्तरता बनी रहती है, परन्तु समाज की निरन्तरता के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है; समाज व्यवस्था (social order) भी आवश्यक है। संस्कृति समाज के सदस्यों के सम्बन्धों को नियमित (regulate) करती है और उन्हें ज्ञान और अनुभव हस्तान्तरित करती है। साथ ही, अनेक प्रकार की प्रथा, परम्परा, जन-रीति, धर्म आदि के माध्यम से भी संस्कृति अपने समाज के सदस्यों के व्यवहार में एकरूपता उत्पन्न करती है। ये कुछ ऐसे कार्य हैं जो कि प्रत्येक समाज की संस्कृति की ही विशेषता हैं, यद्यपि इनके स्वरूपों में भिन्नताएँ होती हैं। इस प्रकार विभिन्न समाज की संस्कृतियों में भिन्नताएँ और समानताएँ दोनों ही होती हैं। स्वरूपों में भिन्नताएँ और अनेक कार्यों में समानताएँ या एकता सभी संस्कृतियों की एक प्रमुख विशेषता है।

4. **संस्कृति में सामाजिक गुण निहित होता है** (Culture has social quality)—संस्कृति की प्रकृति निश्चय ही सामाजिक है क्योंकि जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, संस्कृति मानव-आवश्यकताओं की प्रतिक्रियास्वरूप सामाजिक आविष्कार का फल है। समाज की परम्परा संस्कृति को जीवित रखती है। संस्कृति सामाजिक इस अर्थ में भी है कि संस्कृति किसी व्यक्ति-विशेष या दो-चार व्यक्तियों की धरोहर नहीं होती; उसका विस्तार व्यापक और सामाजिक होता है, अर्थात् संस्कृति समाज के समस्त या अधिकतर सदस्यों का सीखा हुआ व्यवहार-प्रतिमान होती है और इसीलिए संस्कृति एक समाज की सम्पूर्ण सामाजिक जीवन-विधि (life way) का प्रतिनिधित्व करती है। इसी सामाजिक गुण के कारण समाज का प्रत्येक सदस्य संस्कृति को अपनाता है चूँकि संस्कृति 'सबका' सीखा हुआ व्यवहार-प्रतिमान या व्यवहार-प्रकारों की समग्रता है, इस कारण इसमें व्यक्तिगत व्यवहारों पर सामाजिक दबाव डालने की शक्ति होती है। इसी सामाजिक दबाव (social pressure) के कारण, सदस्यों की व्यवहार-विधि में अधिक अन्तर या भिन्नताएँ उत्पन्न नहीं हो पाती और इसके फलस्वरूप समाज के व्यवहार प्रतिमानों (behaviour patterns) में एकरूपता होती है और संस्कृति के रूप या स्वरूप में भी एक प्रकार की स्थिरता बनी रहती है।

परन्तु इस 'स्थिरता' का तात्पर्य यह नहीं कि संस्कृति में परिवर्तन होता ही नहीं है, इसका तात्पर्य केवल इतना है कि संस्कृति एक अव्यवस्थित अवधारणा (concept) नहीं है क्योंकि, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, यह तो सम्पूर्ण सामाजिक जीवन-विधियों का प्रतिनिधित्व करती है। साथ ही एक समाज के सदस्यों को अपनी संस्कृति से कुछ आशाएँ (expectations) होती हैं। सदस्यों की ये आशाएँ भी संस्कृति के सामाजिक गुण को ही बतलाती हैं और वह इस अर्थ में कि ये आशाएँ सामाजिक या सामूहिक अनुभवों, आदतों आदि की ही उपज होती है। संस्कृति के अन्तर्गत जो प्रथा, परम्परा, जन-रीति, रूढ़ि, धर्म, भाषा, कला आदि का समावेश होता है, उसी से यह स्पष्ट है कि संस्कृति में सामाजिक गुण निहित होते हैं क्योंकि ये प्रथा, परम्परा, जन-रीति, धर्म आदि व्यक्तिगत जीवन-विधि को नहीं बल्कि सामाजिक या सामूहिक जीवन-विधि को व्यक्त करते हैं।

5. **समूह के लिए संस्कृति आदर्श होती है** (Culture is ideal for the group)—**श्री मुरडॉक** (Murdock) ने संस्कृति की इस विशेषता या प्रकृति की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। आपके मतानुसार, "काफी हद तक सामूहिक आदतों को, जिनसे संस्कृति का निर्माण होता है, व्यवहार के आदर्श नियम या प्रतिमान (pattern) माना या कहा जाता है।" इसका तात्पर्य यह हुआ कि एक समाज या समूहों के सदस्यों की दृष्टि में उनकी संस्कृति सामाजिक व्यवहार का एक आदर्श मान (standard) है और इस कारण उसे स्वीकार करना और उसी के अनुरूप अपने व्यवहार को ढालना ही उचित है। यद्यपि यह सच है कि व्यवहारिक तौर पर इन आदर्शों को आदर्श के रूप में शायद ही ग्रहण किया जाता हो, फिर भी इस विषय में सचेतता अवश्य ही पाई जाती है, विशेषकर जब अपनी संस्कृति की तुलना दूसरी संस्कृति से करने की आवश्यकता होती है तो अपनी संस्कृति को आदर्श रूप में प्रस्तुत करने का मनोभाव उस समाज के अधिकतर लोगों में पाया जाता है। उदाहरणार्थ, धर्म को ही लीजिए। जब एक ईसाई पादरी एक हिन्दू को ईसाई धर्म को स्वीकार करने को कहता है तो वह हिन्दू धर्म की बुराइयों तथा ईसाई धर्म की अच्छाइयों को अतिरंजित रूप में प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार एक भारतवासी को प्रायः अपनी भारतीय संस्कृति के गुण-गान में मुखरित होते देखा जाता है। संस्कृति आदर्श इसलिये भी है कि यह व्यवहार-प्रतिमान किसी व्यक्ति का व्यवहार नहीं है, बल्कि सारे समूह का व्यवहार है। इसी कारण ये व्यवहार आदर्श व्यवहार हैं। इन्हें मानने से समाज या समूह से प्रशंसा प्राप्त होती है और न मानने से निन्दा मिलती है। इसीलिए इन आदर्श सांस्कृतिक प्रतिमानों से सम्बन्धित सामूहिक अभिमतियों (group sanctions) के बारे में बहुत-कुछ सचेत रहता है।

6. **संस्कृति मानव-आवश्यकताओं की पूर्ति करती है** (Culture satisfies human wants)—मानव-समाज में संस्कृति के कुछ विशिष्ट कार्य होते हैं। वह मानव की प्राणिशास्त्रीय तथा सामाजिक दोनों प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन जुटाती है। किसी संस्कृति या सांस्कृतिक तत्व अथवा प्रतिमान की निरंतरता इसी बात पर निर्भर होती है कि उसमें शारीरिक तथा सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने की क्षमता है या नहीं? जिस प्रकार व्यक्तिगत आदत (individual habit) तभी बनी रहती है जब कि उससे व्यक्ति की सचेत या अचेत इच्छा या प्रेरणा (drive) की तृप्ति या पूर्ति होती है; उसी प्रकार संस्कृति की सामूहिक आदतों में भी समूह की आवश्यकताओं की पूर्ति करने का गुण होता है। सम्पूर्ण संस्कृति तक की समाप्ति हो सकती है यदि वह निरन्तर अपने समाज के सदस्यों की महत्त्वपूर्ण शारीरिक, मानसिक व सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असफल रहे। वास्तव में एक संस्कृति के अन्तर्गत अनेक भाग और उपभाग होते हैं जो कि सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था में संगठित होते हैं यद्यपि इनमें से प्रत्येक भाग का एक विशिष्ट स्वरूप होता है जैसे कि एक नाव या एक बर्तन, एक मूर्ति या एक प्रथा का एक स्वरूप होता है। इनमें से प्रत्येक का सम्पूर्ण जीवन-विधि में या सामाजिक जीवन में कोई न कोई कार्य होता ही है। ये व्यर्थ में ही नहीं बने रहते। इन समस्त भागों और उपभागों में जो पारस्परिक सम्बन्ध तथा प्रभाव होता है उनके सम्पूर्ण योग से ही संस्कृति के ढाँचे का निर्माण होता है और प्रत्येक भाग की सम्पूर्ण सांस्कृतिक व्यवस्था में जो योगदान (contribution) होता है उसे उस भाग का कार्य (function) कहते हैं, जो उनके स्वरूप (form) से पृथक् होता है। इस प्रकार एक नाव, जिसका कि स्वरूप नाप और चित्रों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है, कुछ कार्यों को भी करती है जैसे, यातायात के साधन के रूप में या मछली पकड़ने में सहायक के रूप में कार्य करती है। उसी प्रकार बाहरी तौर पर, एक संस्कृति की एक प्रथा विशेष हमारे लिये अर्थहीन और अनोखी प्रतीत हो सकती है परन्तु यदि सम्पूर्ण सांस्कृतिक ढाँचे के सन्दर्भ में उस प्रथा के कार्यों

नोट

की हम सावधानी से विवेचना करें तो उसी प्रथा का वैज्ञानिक अर्थ स्पष्ट हो जायेगा। फिर यह एक अनोखी तथा बेतुकी प्रथा न रहकर सामाजिक तौर पर एक महत्त्वपूर्ण कार्य को करने वाली प्रतीत होगी। इस प्रकार संस्कृति के अन्तर्गत प्रत्येक इकाई का एक विशिष्ट महत्त्व तथा कार्य होता है जो कि सम्पूर्ण सांस्कृतिक व्यवस्था की स्थिरता तथा निरन्तरता को बनाए रखने में सहायक होता है। प्रत्येक के बिना सम्पूर्ण का अस्तित्व (existence) असम्भव है और सम्पूर्ण के बिना प्रत्येक अर्थहीन भी है। जिस प्रकार शरीर के प्रत्येक अंग का सम्पूर्ण शरीर को जीवित रखने में महत्त्वपूर्ण योगदान होता है, उसी प्रकार प्रत्येक प्रथा या प्रत्येक संस्था का सम्पूर्ण सांस्कृतिक व्यवस्था की जीवन-विधि को कायम रखने में महत्त्वपूर्ण योगदान हुआ करता है। संस्कृति के अध्ययन में प्रकार्यवादियों (functionalists) ने, जिनमें **सर्वश्री रैडक्लिफ-ब्राउन** (Radcliffe-Brown) तथा **मैलिनोवस्की** (Malinowski) का नाम विशेष उल्लेखनीय है, संस्कृति के इस प्रकार्यात्मक (functional) पक्ष पर विशेष बल दिया है।"

7. **संस्कृति में अनुकूलन करने का गुण होता है** (Culture has adaptive quality)—संस्कृति की इस विशेषता या गुण के दो स्पष्ट पहलू हैं–**प्रथम** तो यह कि संस्कृति जड़ और स्थिर नहीं होती, गतिशीलता उसकी एक उल्लेखनीय विशेषता है और **दूसरा** यह कि इस गतिशीलता या समय-समय पर संस्कृति में होने वाले परिवर्तनों के फलस्वरूप इसका अनुकूलन बाहरी शक्तियों से होता रहता है। इस प्रकार के अनुकूलन में संस्कृति का भौगोलिक पर्यावरण से अनुकूलन विशेष रूप से उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण है। एक जंगल में रहने वाला समुदाय अपनी सांस्कृतिक व्यवस्था का अनुकूलन जंगल की परिस्थितियों से करता है या टुण्ड्रा निवासियों की संस्कृति वहाँ के बर्फीले पर्यावरण के अनुकूल होती है। परन्तु इसका यह मतलब कदापि नहीं है कि भौगोलिक पर्यावरण संस्कृति को निश्चित करता है, इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि भौगालिक पर्यावरण सांस्कृतिक विकास की सीमाओं को निश्चित करता है जिसके आगे एक निश्चित सांस्कृतिक स्तर के लोग नहीं जा सकते। बर्फ से ढके हुए टुण्ड्रा प्रदेश के अत्यधिक प्रतिकूल भौगोलिक पर्यावरण में अमेरिका जैसी संस्कृति का विकास सम्भव नहीं। भौगोलिक पर्यावरण उन कच्चे मालों को प्रदान करता है जिनसे संस्कृति के निर्माण कार्य में सहायता मिलती है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह ध्यान रहे कि मनुष्य स्वयं अपनी संस्कृति का निर्माता है; भौगोलिक पर्यावरण का कार्य उस निर्माण कार्य में आवश्यक कच्चे माल को प्रदान करना है। परन्तु उस कच्चे माल में संस्कृति की झोंपड़ी बनेगी या महल, इसे तो मनुष्य स्वयं ही निश्चित करता है। मानव भौगोलिक पर्यावरण के हाथ में एक कठपुतली मात्र नहीं कि वह जैसे भी चाहे उसे नचा सकता है। ज्यों-ज्यों मानव की संस्कृति का विकास होता है, त्यों-त्यों भौगोलिक पर्यावरण का प्रभाव कम होता जाता है। अत: स्पष्ट है कि संस्कृति परिवर्तनशील या गतिशील होती है। प्रत्येक संस्कृति का प्रमुख उद्देश्य तथा कार्य मानव की शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना होता है। अत: इन आवश्यकताओं के अनुसार संस्कृति का स्वरूप भी प्रभावित होता है और इनमें होने वाले प्रत्येक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन के साथ-साथ संस्कृति के ढाँचे तथा स्वरूप में भी परिवर्तन होता रहता है। प्रत्येक युग की माँग पृथक्-पृथक् होती है; समय परिवर्तन के साथ-साथ अनेक नयी आवश्यकतायें पनपती हैं और अनेक पुरानी आवश्यकतायें समाप्त हो जाती हैं। इन दोनों अवस्थाओं के साथ ही अपना अनुकूलन कर सकने का गुण संस्कृति में होता है। अनेक मानवीय आवश्यकताओं तथा पर्यावरण-सम्बन्धी व ऐतिहासिक परिस्थितियों या घटनाओं (phenomena) के कारण संस्कृति के ढाँचे में परिवर्तन होता रहता है। परन्तु संस्कृति के सम्पूर्ण ढाँचे में एकाएक परिवर्तन शायद ही होता हो। वास्तव में सम्पूर्ण सांस्कृतिक व्यवस्था के विभिन्न अंगों या इकाइयों में विभिन्न समय में परिवर्तन होता रहता है और इन परिवर्तनों के कारण यह आवश्यक हो जाता है कि दूसरे अंग या इकाइयाँ भी अपना अनुकूलन परिवर्तित भागों या इकाइयों के अनुरूप करती रहें। चूँकि अपनी विविध आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए मनुष्य संस्कृति या इसकी विभिन्न इकाइयों को काम में लाता है, इसलिए मनुष्य को भी इन निरन्तर परिवर्तनशील इकाइयों के साथ अपना अनुकूलन करना पड़ता है। अत: स्पष्ट है कि संस्कृति के अपने-आपको ढाँचे में परिवर्तन कर सकने के गुण ने समस्त पशुओं में मनुष्य को सर्वाधिक अनुकूलनशील (adaptive) प्राण ी बना दिया है।

8. **संस्कृति में सन्तुलन तथा संगठन होता है** (Culture has the integrative quality)—संस्कृति एक अखण्ड व्यवस्था नहीं है। संस्कृति के अन्तर्गत अनेक खण्ड या इकाइयाँ होती हैं; परन्तु ये सब आकस्मिक और

नोट

अव्यवस्थित (random and haphazard) नहीं होतीं। संस्कृति के इन खण्डों या इकाइयों में एक पारस्परिक सम्बन्ध तथा अंत:निर्भरता होती है जिसके कारण संस्कृति में एक प्रकार का सन्तुलन तथा संगठन पाया जाता है। यह वास्तव में इसलिये होता है कि संस्कृति की विभिन्न इकाइयाँ बिल्कुल पृथक् होकर कार्य नहीं करतीं; प्राय: वे दूसरी इकाइयों के साथ मिलकर कार्य करती हैं। इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि इन इकाइयों का अस्तित्व शून्य (vacuum) में नहीं होता, ये एक सम्पूर्ण सांस्कृतिक ढाँचे के अन्तर्गत व्यवस्थित ढंग से गुंथी हुई या सम्बद्ध होती हैं। इस ढाँचे के अन्दर प्रत्येक इकाई की एक निश्चित स्थिति तथा कार्य होता है। इन सबका परिणाम यह होता है कि संस्कृति के सम्पूर्ण ढाँचे में सन्तुलन और संगठन होता है। चूँकि संस्कृति की विभिन्न इकाइयाँ एक-दूसरे से सम्बन्धित तथा एक-दूसरे पर आधारित होती हैं; इस कारण संस्कृति के एक भाग में कोई परिवर्तन होने पर उसका कुछ-न-कुछ प्रभाव दूसरे भागों पर भी अवश्य पड़ता है। अत: संक्षेप में हम कह सकते हैं कि संस्कृति के विभिन्न भागों या इकाइयों में, जैसा कि **श्री समनर** (Sumner) ने कहा है, "एकरूपता की ओर एक खिंचाव" (a strain towards consitsency) होता है जिसके फलस्वरूप ये विभिन्न भाग एक साथ मिलते हैं और एक बहुत-कुछ पूर्णतया संगठित समग्रता (more or less completely integrated whole) का निर्माण करते हैं। यह सम्पूर्ण समग्रता की संस्कृति है। संस्कृति की यह विशेषता सादे, छोटे तथा पृथक् समाजों में अधिक स्पष्ट रूप में देखने को मिलती है क्योंकि ऐसे समाजों में तनाव उत्पन्न करने वाली शक्तियाँ कम होती हैं और संस्कृति के विभिन्न पक्षों तथा तत्वों से अधिक शीघ्रता से परिवर्तन नहीं होते।

9. **संस्कृति अधि-वैयक्तिक तथा अधि-सावयवी है**—संस्कृति की एक अन्य प्रमुख विशेषता यह है कि अधि-वैयक्तिक (Super individual) और अधि-सावयवी (Super organic) दोनों ही है। इन दोनों विशेषताओं की विवेचना हम पृथक्-पृथक् कर सकते हैं। पहले संस्कृति अधि-वैयक्तिक है, इस विशेषता को लीजिए। यह सच है कि व्यक्ति संस्कृति का वाहक (carrier) है और इन व्यक्तियों को निकालकर किसी भी संस्कृति के अस्तित्व की चिन्ता करना मूर्खता है। फिर भी संस्कृति किसी व्यक्ति विशेष की रचना है, यह सोचना भी गलत है। "जो कुछ भी एक मानव प्राणी या व्यक्ति विशेष को अपने अधिकार में रख सकता है या अपने काम में लगा सकता है, कोई भी संस्कृति उससे कहीं अधिक होती है" (Any culture is more than any individual human being can grasp or manipulate)। साथ ही, संस्कृति की स्थिरता या निरन्तरता किसी एक व्यक्ति विशेष पर निर्भर नहीं है क्योंकि संस्कृति व्यक्ति का व्यवहार नहीं है, वह तो समूह-व्यवहारों की समग्रता (The whole of group habits) है। एक वैयक्तिक आदत या व्यवहार-विधि उस व्यक्ति की मृत्यु के बाद समाप्त हो सकती है परन्तु सामूहिक आदतों या व्यवहार-विधियों की निरन्तरता इस प्रकार समाप्त नहीं होती है—यह तो असंख्य व्यक्तियों की अन्त:क्रिया (interaction) और विचारों के आदान-प्रदान के माध्यम से पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होती है। चूँकि संस्कृति की रचना और निरन्तरता दोनों ही किसी व्यक्ति विशेष पर निर्भर नहीं है, इसीलिए यह (संस्कृति) अधि-वैयक्तिक (super individual) है।

संस्कृति अधि-वैयक्तिक ही नहीं अधि-सावयवी भी है, यह विचार **श्री क्रोबर** का है। संस्कृति के सम्बन्ध में अधि-सावयवी शब्द का प्रयोग **श्री क्रोबर ने** इस अर्थ में तथा इस बात पर बल देने के लिए किया था कि चूँकि प्राणिशास्त्रीय (सावयवी) क्षमताएँ और संस्कृति (अधि-सावयवी) भिन्न कोटि की घटनाएँ (phenomena) हैं, इसलिए संस्कृति का स्थान सावयवी से ऊँचा मान लेना ही उचित है और वह भी इस अर्थ में कि संस्कृति मानव-जीवन को परिभाषित, नियन्त्रित तथा निर्देशित करती है। मानव इसके प्रभावों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता, संस्कृति के धारा-प्रवाह में उसे बहना ही पड़ता है। संस्कृति अधि-सावयवी इसलिये भी है कि केवल सावयवी घटनाएँ संस्कृति को जन्म नहीं दे सकतीं। अगर यह सम्भव होता तो सभी पशु संस्कृति के अधिकारी होते। पशु भी समाज में रहते हैं, पर वे संस्कृति को नहीं रखते क्योंकि संस्कृति, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, शारीरिक विशेषताओं की भाँति प्रजनन के माध्यम से व्यक्ति को नहीं मिलती। सावयवी घटनाएँ अथवा वंशानुक्रमण सांस्कृतिक लक्षणों को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित करने की क्षमता नहीं रखते। **श्री क्रोबर** ने इस सत्य को एक उदाहरण देकर समझाया है। चींटियों के बहुत से ताजे अण्डों में से केवल दो अण्डों को चुन लीजिए और बाकी सबको नष्ट कर दीजिए। उन दो अण्डों की गर्मी, नमी आदि के विषय में थोड़ा-सा ध्यान रखिए। उन

नोट

अण्डों से जो चींटियाँ उत्पन्न होंगी उनमें चींटी 'समाज' की समस्त विशेषताएँ अन्य चींटियों की भाँति ही स्पष्ट होंगी; उनमें क्षमता, शक्ति, क्रियाशीलता आदि किसी भी विषय में कोई कमी नहीं होगी। परन्तु एक सर्वाधिक सभ्य राष्ट्र के सर्वोच्च वर्ग में से वंशानुक्रमण वाले दो-चार सौ मानव शिशुओं को चुनकर एक रेगिस्तानी प्रदेश या निर्जन स्थान में रख दीजिए और उन्हें खाने, पीने, रहने आदि की चीजों को देते रहिए, पर उनको एक-दूसरे से पृथक् रखिए। यह सच है कि वे शिशु आयु में बढ़ते रहेंगे, परन्तु उन्हें और कुछ भी न होगा। उन्हें उस संस्कृति का एक-तिहाई तो क्या, एक कण भी प्राप्त न होगा जिससे उन्हें पृथक् रखा गया है, उनसे केवल कला, ज्ञान, विज्ञान धर्म आदि सबसे रहित गूंगों (mutees) के एक झुण्ड मात्र का ही निर्माण होगा। उनमें संस्कृति या सभ्य मानव की विशेषताओं का नाममात्र भी न होगा। उन्हें देखकर यह कभी प्रतीत न होगा कि उनके बाप-दादा सभ्य थे। वंशानुक्रमण या सावयवी घटनाएँ उन मानव-शिशुओं को सभ्य या संस्कृति का अधिकारी नहीं बना सकतीं क्योंकि संस्कृति अधि-सावयवी है। **श्री क्रोबर** के ही शब्दों में, "चींटियों के लिए वंशानुक्रमण पीढ़ी-दर-पीढ़ी उन सब गुणों को बनाए रखता है जो कुछ भी उनका होता है, परन्तु वंशानुक्रमण सभ्यता या संस्कृति के एक कण को भी, जो विशेष रूप से मानवीय है, बनाए नहीं रखता है और न ही रखा है क्योंकि वह उसे बनाए रख भी नहीं सकता।" अत: स्पष्ट है कि संस्कृति अधि-सावयवी है।

परन्तु, जैसा कि संस्कृति की उपर्युक्त विशेषता के सम्बन्ध में **श्री क्लूखौन** (Klukhon) का मत है, संस्कृति को अधि-वैयक्तिक तथा अधि-सावयवी मानने का यह अर्थ कदापि नहीं है कि हम यह मान लें कि संस्कृति का अस्तित्व उसमें अंश ग्रहण करने वाले सभी व्यक्तियों के मर जाने के बाद या सभी सावयवी घटनाओं के नष्ट हो जाने के बाद भी बना रहेगा। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि संस्कृति का निर्माण, अस्तित्व और निरन्तरता किसी व्यक्ति विशेष पर निर्भर नहीं है और न ही संस्कृति हमें वंशानुसंक्रमण से प्राप्त होती है। इसी अर्थ में संस्कृति **अधि-वैयक्तिक** और **अधि-सावयवी** है।

4.4 संस्कृति के उपादान (Components of Culture)

श्री पिडिंगटन ने स्पष्ट ही लिखा है कि **"संस्कृति उन भौतिक तथा बौद्धिक साधनों या उपकरणों का सम्पूर्ण योग है जिनके द्वारा मानव अपनी प्राणिशास्त्रीय तथा सामाजिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि तथा अपने पर्यावरण से अनुकूलन करती है।"** हम यह जानते हैं कि इस संस्कृति में सन्तुलन और संगठन होता है। यह संगठन अनेक तत्वों, इकाइयों, भागों और उपभागों को मिलाकर बनता है। ये तत्व या भाग छोटे-से-छोटे या बड़े-से-बड़े हो सकते हैं। इनमें जो पारस्परिक सम्बन्ध तथा अन्त:निर्भरता पाई जाती है उसी के कारण संस्कृति के ढाँचे में सन्तुलन और संगठन उत्पन्न होता है। यह एक तथ्य की बात है कि कोई भी व्यक्ति सम्पूर्ण संस्कृति को एकाएक या एक साथ न समझ सकता है और न ही समझना सम्भव है। इसलिए संस्कृति की विभिन्न इकाइयों या उपादानों की विवेचना आवश्यक हो जाती है। संस्कृति के विभिन्न उपादानों को जिनसे कि उनके ढाँचे का निर्माण होता है, सांस्कृतिक तत्व, संस्कृति-संकुल, संस्कृति-प्रतिमान और सांस्कृतिक क्षेत्र कहा जाता है। ये सभी संस्कृति के क्रमश: बढ़ाने वाले उपादान हैं और वह इस अर्थ में कि सांस्कृतिक तत्व (cultural trait) संस्कृति की सबसे छोटी इकाई है, जो परस्पर मिलकर एक संस्कृति-संकुल (culture complex) का निर्माण करती है। ये संस्कृति-संकुल संस्कृति के ढाँचे में एक विशेष ढंग से व्यवस्थित रहते हैं जिससे एक संस्कृति को एक विशिष्ट रूप या स्वरूप प्राप्त होता है। संस्कृति से इस विशिष्ट स्वरूप को संस्कृति-प्रतिमान (culture pattern) कहते हैं। इस संस्कृति-प्रतिमान का अर्थात् एक प्रकार की जीवन-विधियों का फैलाव एक विशिष्ट क्षेत्र में पाया जाता है, जिसे सांस्कृतिक क्षेत्र (culture area) कहते हैं। संस्कृति के इन उपादानों की विवेचना अब हम विस्तारपूर्वक करेंगे।

4.5 सांस्कृतिक तत्व (Cultural Trait or Element)

संस्कृति के अन्तर्गत सम्पूर्ण जीवन-विधियों (life-ways) का समावेश होता है। अत: स्पष्ट है कि संस्कृति में अनेक विधियों या तरीकों का एक सन्तुलित संगठन होता है। एक-एक विधि संस्कृति की एक-एक इकाई या

तत्व है। संस्कृति की इकाइयों या तत्वों को सांस्कृतिक तत्व कहते हैं। ये सांस्कृतिक तत्व भौतिक और अभौतिक (Material and non-material) दोनों प्रकार के ही हो सकते हैं। जैसे, एक बर्तन या एक मेज या एक कहावत या एक जनरीति। इस प्रकार के असंख्य सांस्कृतिक तत्वों को मिलाकर सम्पूर्ण सांस्कृतिक ढाँचे का निर्माण होता है। अत: हम कह सकते हैं कि सम्पूर्ण सांस्कृतिक ढाँचे की सबसे छोटी इकाई को सांस्कृतिक तत्व कहते हैं। किसी भी संस्कृति के विश्लेषण और निरूपण में इन इकाइयों या सांस्कृतिक तत्वों को पहले एकत्रित करना परमावश्यक हो जाता है क्योंकि इसके बिना संस्कृति के आधारभूत तत्वों या उपादानों को समझा नहीं जा सकता। प्रत्येक सांस्कृतिक तत्व की सम्पूर्ण सांस्कृतिक व्यवस्था में एक निश्चित स्थान तथा कार्य होता है और इस प्रकार काम आने की दृष्टि से एक सांस्कृतिक तत्व का आगे और विभाजन या टुकड़ा नहीं हो सकता। जिस प्रकार पदार्थ या सूक्ष्म भाग परमाणु होता है जो फिर विभाजित नहीं किया जा सकता है, उसी प्रकार **सांस्कृतिक तत्व सम्पूर्ण सांस्कृतिक व्यवस्था की सबसे छोटी वह इकाई है जिसका मानव-जीवन में काम आने की दृष्टि से और विभाजन नहीं हो सकता।**

श्री **हॉबल** (Hoebel) के अनुसार, **"एक सांस्कृतिक तत्व व्यवहार का एक प्रकार या इस प्रकार के व्यवहार से उत्पन्न एक भौतिक वस्तु है जिसे सांस्कृतिक व्यवस्था की सबसे छोटी इकाई माना जा सकता है।" श्री हर्षकॉविट्स ने सांस्कृतिक तत्व को एक संस्कृति विशेष में सबसे छोटी पहचानी जा सकने वाली इकाई** (the smallest identifiable unit in a given culture) **कहा है;** और **श्री क्रोबर** ने इसे "संस्कृति का न्यूनतम परिभाष्य तत्व" (minimum definable element of culture) के रूप में स्वीकार किया है।" अत: संक्षेप में, **किसी काम में आ सके, इस प्रकार की एक संस्कृति की सबसे छोटी इकाई को सांस्कृतिक तत्व कहते हैं।**

परन्तु परिभाषा से सांस्कृतिक तत्व का जो अति सरल स्वरूप प्रकट होता है, वास्तव में वह उतना सरल या सीधा नहीं है। समग्र रूप में या केवल एक खण्ड में ही संस्कृति की विभिन्न इकाइयाँ इतनी अधिक घुली-मिली रहती हैं या इनमें इतना अधिक पारस्परिक योग और अन्त:निर्भरता होती है कि सबसे छोटी इकाई को पृथक् और परिभाषित करना एक प्रकार से असम्भव न सही फिर भी कठिन अवश्य ही हो जाता है। उदाहरणार्थ, एक मकान को लीजिए जिसमें एक परिवार निवास करता है। इसका प्रत्येक कमरा इस मकान की एक-एक इकाई है। तो क्या इनमें से प्रत्येक कमरा एक सांस्कृतिक तत्व है? इस प्रश्न का उत्तर सूझने से पहले ही दूसरे और प्रश्न हमें परेशान कर सकते हैं। जैसे, इन कमरों में एक कमरा सोने का कमरा है जिसमें दो पलंग, दो-एक टेबुल, कुछ किताबें, एक घड़ी, एक-दो टेबुल लैम्प, चद्दर, तकिया, गद्दा, दरी आदि कितनी ही इकाइयाँ मौजूद हैं। अगर हम उस सोने के कमरे को एक सांस्कृतिक तत्व मानते हैं तो उसके अन्दर ये सब टेबुल, तकिया, लैम्प, दरी, चद्दर, किताबें, घड़ी आदि भी तो एक-एक सांस्कृतिक तत्व हैं। केवल इतना ही नहीं, इनमें से प्रत्येक इकाई में भी अनेक अन्य इकाइयों का समावेश हो सकता है जैसे, पलंग में लकड़ी के अनेक टुकड़े, कील, पेंच (screw), निवाड़ आदि। वास्तव में ये सब भी एक-एक इकाइयाँ या सांस्कृतिक तत्व हैं जो मानव के किसी न किसी काम में आते हैं। परन्तु इनका आगे और विभाजन सम्भव नहीं। जैसे, कील या पेंच के दो टुकड़े कर देने पर फिर उससे कील या पेंच का काम नहीं लिया जा सकेगा, उसी प्रकार पलंग को दो-चार टुकड़ों में काट डालने से फिर वह पलंग का काम नहीं देगा। घड़ी में भी अनेक पुर्जे हैं, वे सभी घड़ी की एक-एक इकाई हैं, पर उनको अलग-अलग रखने से घड़ी की उपयोगिता हमें नहीं मिलेगी—वे सब एक साथ मिलकर ही घड़ी का निर्माण करते हैं और उस प्रकार की निर्मित घड़ी को एक निश्चित काम में लाते हैं। अत: स्पष्ट है कि मनुष्य के किसी काम में आने की दृष्टि से आगे विभाजित न हो सकने वाली सबसे छोटी इकाई को सांस्कृतिक तत्व कहते हैं।

सांस्कृतिक तत्व की विशेषताएँ—सांस्कृतिक तत्व की **तीन प्रमुख** विशेषताओं का उल्लेख किया जाता है जो निम्नवत हैं :

1. प्रत्येक सांस्कृतिक तत्व का उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक इतिहास होता है, चाहे वह इतिहास छोटा हो या बड़ा। उदाहरणार्थ, सर्वप्रथम घड़ी का आविष्कार किसने किया और कब किया, पहले की सूर्य घड़ी से आधुनिक स्वयं-क्रियाशील या स्वमेव चलने वाली (automatic) घड़ी का क्रम-विकास कैसे हुआ,

इत्यादि के सम्बन्ध में एक इतिहास है। इसी प्रकार एक विशेष प्रकार के विश्वास का या किसी पशु या पौधे को टोटम (totem) के रूप में स्वीकार करने का एक इतिहास ढूँढ़ा जा सकता है।

नोट

2. सांस्कृतिक तत्व, संस्कृति की भाँति, स्थिर नहीं होता; गतिशीलता उसकी एक उल्लेखनीय विशेषता है। सांस्कृतिक तत्व से सम्बन्धित व्यक्ति (अर्थात् जो लोग सांस्कृतिक तत्व के अधिकारी होते हैं या उन्हें काम में लाते हैं) जैसे-जैसे एक स्थान से दूसरे स्थान को फैलते हैं या दूसरे लोगों के सम्पर्क में आते हैं, वैसे-वैसे सांस्कृतिक तत्व भी फैलते रहते हैं। एक संस्कृति-समूह दूसरे संस्कृति-समूह से मिलता है, तो सांस्कृतिक तत्वों का आदान-प्रदान होता है। आधुनिक युग में यातायात तथा संचार के साधनों में उत्तरोत्तर उन्नति होने के फलस्वरूप सांस्कृतिक तत्वों की गतिशीलता और भी बढ़ गई है। अब तो अनेक जनजातियाँ (tribes) के सांस्कृतिक तत्व सभ्य समाजों में भी तेजी से फैलते जा रहे हैं और बहुत-से फैल भी गए हैं। सांस्कृतिक तत्व की यह विशेषता अन्त तक सांस्कृतिक परिवर्तन का एक कारण बन जाती है और संस्कृति के ढांचे में परिवर्तन भी लाती है।
3. सांस्कृतिक तत्वों में पृथक्-पृथक् या छिटके हुए रहने की प्रवृत्ति नहीं होती है। वे फूलों के गुलदस्ते की तरह एक साथ घुल-मिलकर रहते हैं, क्योंकि कोई भी तत्व अकेला स्थाई नहीं रह सकता। उदाहरणार्थ, घड़ी एक सांस्कृतिक तत्व है, परन्तु समस्त मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति केवल घड़ी से नहीं हो सकती, इसके लिए अन्य अनेक सांस्कृतिक तत्वों की आवश्यकता होगी। इस कारण ये सभी सांस्कृतिक तत्व एक साथ मिलकर संस्कृति की एक या विविध आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। यदि केवल घड़ी को ही लिया जाए तो भी हम यही पाएँगे कि घड़ी के विभिन्न पुर्जों का इकाइयों में एक शृंखला या संगठन है; सभी पुर्जों को एक क्रम में लगाया जाना चाहिए, नहीं तो घड़ी नहीं चलेगी। कोई भी पुर्जा इधर-उधर हो जाने से घड़ी बेकार हो जाएगी। इस अर्थ में भी सांस्कृतिक तत्वों में छिटके हुए रहने की प्रवृत्ति नहीं होती है।

सांस्कृतिक तत्वों का सर्वप्रथम **महत्त्व** यह है कि इन तत्वों को समझे बिना किसी भी संस्कृति को पूर्णतया समझना सम्भव नहीं है। किसी भी संस्कृति के अध्ययन, विश्लेषण तथा निरूपण में ये सांस्कृतिक तत्व वे प्राथमिक चरण या आधार हैं जिन पर सम्पूर्ण सांस्कृतिक ढाँचा निर्भर रहता है। **सर्वश्री गिफोर्ड** तथा **क्रोबर** (Gifford and Kroeber) ने संस्कृति का अध्ययन सांस्कृतिक तत्व सम्बन्धी प्रश्नावली (a trait question list) की सहायता से किया था। उसी प्रकार **सर्वश्री रे** (Ray), **क्लिमेक** आदि ने भी सांस्कृतिक तत्वों के अध्ययन पर अधिक बल दिया है। इन तत्वों के अध्ययन से एक और लाभ यह होता है कि इनके आधार पर दो या अधिक संस्कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन सम्भव हो जाता है। **श्री टायलर** (Tylor) ने इसी आधार विभिन्न संस्कृतियों का अध्ययन किया था। उसी प्रकार **श्री बोआस** (Boas) ने अध्ययन करने के लिए कि पौराणिक कथाओं (mythology) का क्या प्रभाव मानव-जीवन के तरीकों पर पड़ता है, विभिन्न संस्कृतियों के सांस्कृतिक तत्वों को तुलनात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। कुछ भी हो, अध्ययन-कार्य में इनको प्रयोग करने के सम्बन्ध में पर्याप्त सावधानी बरतनी पड़ती है, क्योंकि ये सांस्कृतिक तत्व आपस में इस प्रकार घुले-मिले रहते हैं कि इनमें से किसी एक का मूल्यांकन सम्भव नहीं होता।

4.6 संस्कृति संकुल (Culture Complex)

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, सांस्कृतिक तत्वों की एक प्रमुख विशेषता यह होती है कि वे फूलों के गुलदस्तों की भाँति घुले-मिले रहते हैं। मानव-संस्कृति या समाज में एक सांस्कृतिक तत्व का कोई अर्थ ही नहीं होता है। प्राय: अनेक सांस्कृतिक तत्व एक साथ गुँथे हुए रहकर मानव-आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। जब कुछ या अनेक सांस्कृतिक तत्व आपस में घुल-मिलकर मानव-आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं या मानव-उपयोग (use) में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान होता है तो सांस्कृतिक तत्वों के उस गुच्छे या संकुल को संस्कृति-संकुल कहते हैं। संक्षेप में, **संस्कृति-संकुल सांस्कृतिक तत्वों का वह गुच्छा या मिलित रूप है जो मानव-आवश्यकताओं की**

पूर्ति करता है। श्री हॉबेल (Hoebel) के अनुसार, "संस्कृति-संकुल परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित प्रतिमानों का एक जाल है।"

नोट

सर्वश्री सदरलैण्ड तथा वुडवार्ड के शब्दों में, **"संस्कृति-संकुल सांस्कृतिक तत्वों का वह समग्र समूह है जो अर्थपूर्ण अन्तःसम्बन्ध में परस्पर गुँथे होते हैं।"**

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि संस्कृति-संकुल सांस्कृतिक तत्वों का ही एक **मिलित रूप या गुच्छा** (cluster) है, जिनमें मिलित होने पर एक अर्थपूर्ण ढंग का पारस्परिक सम्बन्ध पाया जाता है और जो सम्पूर्ण संस्कृति के अन्तर्गत उसके एक अंग के रूप में कार्य करता है, जिसके फलस्वरूप मानव की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति सम्भव होती है। भाषा एक संस्कृति-संकुल है क्योंकि इसके अन्तर्गत अनेक शब्दों, वाक्यों, कहावतों, व्याकरण आदि, जो कि एक-एक सांस्कृतिक तत्व है, का समावेश होता है। पर यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि केवल शब्दों या वाक्यों के मनमाने संग्रह से ही भाषा नहीं बन जाती है, इन शब्दों और वाक्यों का अर्थपूर्ण ढंग से मिलन भी भाषा के निर्माण में आवश्यक है। उदाहरण के लिए एक सामान्य वाक्य के निर्माण को ही लीजिए। 'हम', 'खाना', 'आज', 'साथ', 'तुम', 'साथ', 'खायेंगे'—ये सभी अलग-अलग शब्द हैं, इन्हें इसी रूप या क्रम से प्रस्तुत करने से इनका कोई भी अर्थ नहीं निकलता है, परन्तु अगर हम इन्हीं शब्दों को अर्थपूर्ण ढंग से परस्पर सम्बन्धित कर दें तो उसका रूप इस प्रकार होगा—'आज हम-तुम साथ-साथ खाना खायेंगे'। इस रूप में इन शब्दों के द्वारा हम अपने विचार को व्यक्त कर सकते हैं। यही बात भाषा के सम्बन्ध में भी सत्य है जो कि अनेक शब्दों, वाक्यों, व्याकरण, कहावत आदि का एक अर्थपूर्ण संग्रह है और जिसके द्वारा विचारों का आदान-प्रदान सम्भव है। इसलिए मैंने संस्कृति-संकुल की उपरोक्त परिभाषा में इसे (संस्कृति-संकुल) सांस्कृतिक तत्वों का वह गुच्छा या सम्मिलित रूप कहा गया है जो कि मानव-आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। यहाँ पर 'मानव-आवश्यकताओं की पूर्ति करता है'—इस वाक्यांश से यह भ्रम न होना चाहिए कि संस्कृति-संकुल एक संस्था नहीं है क्योंकि मानव-आवश्यकताओं की पूर्ति करने के स्वीकृत (accepted) या स्थापित (established) साधनों को ही संस्था कहा जाता है। पर संस्कृति-संकुल में यह जरूरी नहीं है कि वह मानव-आवश्यकताओं की पूर्ति का स्वीकृत या स्थापित साधन ही हो। वास्तव में, जैसा कि **श्री पिडिंगटन** (Piddington) का कथन है, "संस्कृति-संकुल में सांस्कृतिक तत्वों का संयोग प्रकार्यात्मक सम्मिलन (functional association) के कारण या महज आकस्मिक सह-अवस्थान (accidental co-existence) के कारण हो सकता है।" उदाहरणार्थ, भारत में खेती, यह एक सांस्कृतिक तत्व (culture trait) है, परन्तु इस खेती से सम्बन्धित अन्य तत्व हैं, जैसे खेत जोतने के पहले हल और बैल की पूजा करना, चिड़ियों से फसल की रक्षा के लिए खेत में 'घोख' लगाना, फसल काटकर खलिहान में रखना, नौ प्रकार के नए अनाज से खाना पकाना आदि अन्य सांस्कृतिक तत्वों का संयोग प्रकार्यात्मक सम्मिलन ही है। इसके विपरीत हिन्दू-स्त्रियों के सौंदर्य-संकुल (beauty-complex) के अन्तर्गत कौन-कौन से सांस्कृतिक तत्वों का समावेश होगा, यह अनेक आकस्मिक कारणों पर निर्भर करेगा क्योंकि उपरोक्त खेती-संकुल की भाँति सौन्दर्य-संकुल के अन्य सांस्कृतिक तत्वों का सम्मिलन किसी प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण से अनिवार्य या आवश्यक नहीं है। इसीलिए हिन्दू-स्त्रियों के सौन्दर्य-संकुल के अन्तर्गत चूड़ी, कंगन तथा अन्य आभूषण, सिंदूर, बिन्दी, सुर्मा, पाउडर, लिपिस्टिक, नाखूनों की पॉलिश, आलता, तेल, सेंट आदि का समावेश आकस्मिक सह-अवस्थान (accidental co-existence) के कारण कहा जा सकता है, क्योंकि फैशन आदि में परिवर्तन के साथ-साथ इस संकुल में सांस्कृतिक तत्वों का प्रायः नए तौर पर घटना-बढ़ना सम्भव है। कुछ भी हो, इस सम्बन्ध में इतना तो निश्चित रूप से कहा ही जा सकता है कि संस्कृति-संकुल में एकाधिक सांस्कृतिक तत्वों का समावेश होता है और ये सांस्कृतिक तत्व परस्पर अन्तःक्रिया करते हुए एक विशिष्ट प्रकार के व्यवहार-प्रतिमान (behaviour pattern) को निश्चित करते हैं। इसीलिए संस्कृति-संकुल को सांस्कृतिक तत्वों की अन्तःक्रिया का प्रतिमान (pattern of the interaction of culture traits) कहकर भी परिभाषित किया जाता है।

संस्कृति-संकुल के अनेक उदाहरण हमें अपने समाज तथा आदिम समाज दोनों में ही मिल सकते हैं। **श्री विली** (Willey) ने 'फुटबाल-संकुल' (football complex) का अति रोचक वर्णन प्रस्तुत किया है। आपने लिखा है कि फुटबॉल के खेल में प्रयोग की जाने वाली हर चीज का एक-एक तत्व (trait) है जैसे स्वयं गेंद, गोल-पोस्ट

(goal post) मैदान, वर्दी (uniform), विशेष प्रकार के जूते, गोल-कीपर के दस्ताने, रेफरी की सीटी आदि। परन्तु ये सब चीजें सम्पूर्ण फुटबॉल खेल के केवल कुछ ही तत्व हैं; इनके अतिरिक्त भी अनेक तत्वों (traits) का समावेश इस खेल में है, जैसे खेल से सम्बन्धित अनेक नियम स्वयं ही अनेक तत्वों का संग्रह है। इसके अतिरिक्त खेल के समय बजने वाले बैण्ड (band), दर्शकों का हर्ष-ध्वनि या ताली पीटना और खिलाड़ियों को प्रोत्साहित करना, मैदान के चारों कोनों में लगे हुए झण्डे, टिकट, सीट सुरक्षित (reserve) कराने की व्यवस्था, टिकटघर, बेंच या कुर्सियाँ, पत्रकारों तथा विशेष अतिथियों के लिए बैठने का विशेष प्रबन्ध आदि सभी चीजें फुटबॉल के खेल में ही आ जाती हैं और इनके बिना खेल पूरा भी नहीं हो सकता। परन्तु फुटबॉल-संकुल का अन्त यहीं नहीं होता, क्योंकि खेल समाप्त होने के बाद खेल का जो विस्तृत विवरण समाचार पत्रों, रेडियो या टेलीविजन से प्रसारित किया जाता है, कॉलेज आदि में विशेष खेल के दिनों में जो छुट्टियाँ होती हैं, खेल के बाद जो कप और शील्ड विजयी दल को दिया जाता है और उस विजय की खुशी में जो पार्टियाँ दी जाती हैं, वे सभी मिलकर वास्तव में इस संकुल को पूरा करते हैं क्योंकि इन सबका आधार फुटबॉल का खेल ही है। इन समस्त तत्वों (traits) के इस 'महामिलन' या सम्पूर्ण योग को ही 'फुटबाल-संकुल' कहते हैं। उसी प्रकार हिन्दुओं में 'विवाह-संकुल' के अन्तर्गत केवल ऐसे सांस्कृतिक तत्व जैसे मंगल-कलश, मढ़ा, हवन-सामग्री, आभूषण, वस्त्र, दान-सामग्री, दहेज, भोज की वस्तुएँ, सप्तपदी, मन्त्र, अनेक प्रथाएँ, रीति-रिवाज व संस्कार ही सम्मिलित नहीं हैं, बल्कि सुहागरात मनाने के लिए आवश्यक वस्तुएँ तथा रीतियाँ, गौने से सम्बन्धित चीजें तथा रीति-रिवाज, पत्नी के पहली बार 'माँ' बनने पर 'पचवासा' या 'सतवासा' के अवसर पर होने वाली रस्में या पत्नी के बाँझ होने पर पुत्र-प्राप्ति के लिए दूसरा विवाह आदि कितने ही सांस्कृतिक तत्वों का समावेश हिन्दुओं के विवाह-संकुल में होता है। यहाँ यह उल्लेख करना अनुचित न होगा कि ऐसे भी कुछ संस्कृति-संकुल होते हैं जिन्हें कि सह-संकुलों (component complexes) में विभाजित किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, आधुनिक समाज के यातायात-संकुल (transport complex) में विभिन्न सह-संकुलों का समावेश होता है, जैसे वायु यातायात-संकुल, रेल यातायात-संकुल, जल यातायाता-संकुल आदि।

सांस्कृतिक क्षेत्र (Cultural Area)

उपरोक्त पक्षों के अतिरिक्त प्रत्येक संस्कृति का एक भौगोलिक पक्ष भी होता है, जिसके सम्बन्ध में भी थोड़ी-बहुत जानकारी आवश्यक है। यदि हम एक महाद्वीप (continent) के एक कोने से दूसरे कोने तक यात्रा करें तो हम यह पायेंगे कि दो अलग-अलग भौगोलिक क्षेत्रों के सांस्कृतिक तत्वों (cultural traits) और संस्कृति-संकुलों (culture complexes) में कुछ-न-कुछ अन्तर अवश्य ही है। दो आस-पास के क्षेत्रों की अपेक्षा यदि हम दूर-दूर के क्षेत्रों का तुलनात्मक अध्ययन करें तो यह भिन्नता या अन्तर और भी स्पष्ट हो जाएगा कि दो क्षेत्रों के सांस्कृतिक तत्व पृथक्-पृथक् हैं। इसी को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि सांस्कृतिक तत्वों या संकुलों का फैलाव एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में ही विशेष रूप से होता है। अतः **वह भौगोलिक क्षेत्र, जिसमें कि संस्कृति के एक-से तत्व** (traits) **या संकुल विशेष रूप से पाए जाते हैं, सांस्कृतिक क्षेत्र कहलाता है। श्री हर्षकॉवित्स** (Herskovits) के शब्दों में, "उस क्षेत्र को, जिसमें कि एक-सी संस्कृतियाँ पाई जाती हैं, एक सांस्कृतिक क्षेत्र कहा जाता है।"

उपरोक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि संस्कृति या उसके तत्वों का फैलाव एक भौगोलिक क्षेत्र में विशेष रूप से होता है। संस्कृति को चूँकि सीखा जाता है, इस कारण कोई भी व्यक्ति किसी भी संस्कृति को सीख सकता है। परन्तु अपने पास-पड़ोस वाली संस्कृति को सीखना जितना सरल है, उतनी सरलता से दूर की संस्कृतियों को नहीं सीखा जा सकता। इस कारण सांस्कृतिक तत्वों में गतिशीलता का गुण होते हुए भी एक निश्चित भू-भाग में ही वे विशेष रूप से पाए जाते हैं। ऐसा भी हो सकता है कि एक ही सांस्कृतिक तत्व विभिन्न क्षेत्रों में समान या एक-से हों फिर भी सम्पूर्ण सांस्कृतिक व्यवस्था या संस्कृति-संकुल में उनका स्थान और विशेषता भिन्न-भिन्न क्षेत्र में अलग-अलग होती है। सांस्कृतिक क्षेत्र की किसी भी विवेचना में इस सत्य को न भूलना चाहिए।

श्री क्लार्क विसलर (Clark Wissler) का कथन है कि सांस्कृतिक तत्व और संकुल, विशेषकर अगर वे अभौतिक (non-material) हैं, अन्य संस्कृति के तत्वों और संकुलों के साथ मिश्रित हुए बिना अधिक दूर

तक नहीं फैल सकते। इसका प्रभाव यह होता है कि ये सांस्कृतिक तत्व और संकुल अपने मूल रूप में केवल एक सीमित क्षेत्र में ही पाए जाते हैं। **श्री विसलर** के मतानुसार प्रत्येक सांस्कृतिक क्षेत्र का, जिसमें कि कुछ संस्कृति-संकुल पाए जाते हैं, एक केन्द्रीय भाग या 'केंद्र-स्थान' ढूँढ़ा जा सकता है, जहाँ से कि सांस्कृतिक तत्व अन्य क्षेत्रों में फैलते हैं और वहाँ के सांस्कृतिक तत्वों से मिश्रित होते रहते हैं। दूसरे शब्दों में, **श्री विसलर** का यह विश्वास है कि एक सांस्कृतिक क्षेत्र में एक ऐसा भी स्थान होता है जहाँ कि कुछ सांस्कृतिक तत्व अपने विशिष्ट रूप में पाए जाते हैं और वे सांस्कृतिक तत्व उस रूप में और कहीं नहीं मिलते और अगर मिलते भी हैं तो मिश्रित रूप में। **श्री विसलर** का यह भी कहना है कि अधिक दूरी, पर्वत, सागर व महासागर, घने जंगल या विस्तृत रेगिस्तान सांस्कृतिक तत्वों के फैलने में प्रमुख बाधा हैं।

नोट

वैसे तो **श्री सैपीर** (Sapir) तथा कुछ विद्वानों ने सांस्कृतिक क्षेत्र की अवधारणा को सैद्धांतिक रूप में प्रयोग किया था, पर **श्री विसलर** ही ऐसे सर्वप्रथम विद्वान् थे जिन्होंने इसकी क्रमबद्ध और वास्तविक विवेचना प्रस्तुत की। आपकी यह विवेचना अमेरिकन इण्डियन की संस्कृतियों के अध्ययन पर आधारित है। इसी विवेचना के दौरान आपने सांस्कृतिक क्षेत्र के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "यदि नई दुनिया (new world) के आदिवासियों को सांस्कृतिक तत्वों के अनुसार बांटा जाए तो हमें भोजन-क्षेत्र, वस्तु-क्षेत्र, धर्म-क्षेत्र आदि प्राप्त हो सकते हैं। परन्तु यदि हम एक-साथ सभी तत्वों (traits) को ध्यान में रखें और अपने दृष्टिकोण को सामाजिक या जनजातीय इकाइयों की ओर घुमाएँ तो हम बहुत कुछ निश्चित समूहों का पता लगा सकते हैं। यही सांस्कृतिक क्षेत्र है, अर्थात् सांस्कृतिक तत्वों के आधार पर सामाजिक समूहों का वर्गीकरण।" **श्री विसलर** ने सामाजिक समूहों को ही आधार मानकर सांस्कृतिक क्षेत्र की परिभाषा इस प्रकार दी है—"सांस्कृतिक क्षेत्र वह भौगोलिक प्रदेश है जिसमें काफी संख्या में एक-सी संस्कृति वाली बहुत-कुछ स्वतंत्र जनजातियाँ निवास करती हैं।" परन्तु इस सम्बन्ध में, **श्री विसलर** के मतानुसार यह ध्यान में रखना होगा कि यह समानता संस्कृति के कुछ छिटके हुए तत्वों में ही होने से काम नहीं चलेगा; यह समानता तो आम जनता द्वारा अपनाए गए महत्त्वपूर्ण संस्कृति-संकुलों में होनी चाहिए।

जैसा कि 'क्षेत्र' शब्द से पता चलता है, सांस्कृतिक क्षेत्र की कोई निश्चित सीमारेखा नहीं होती है और वह भी इस अर्थ में कि हम स्पष्टत: यह नहीं कह सकते कि अमुक स्थान पर एक सांस्कृतिक क्षेत्र समाप्त हुआ और दूसरा सांस्कृतिक क्षेत्र प्रारम्भ हुआ। एक सांस्कृतिक क्षेत्र के जितने भी आस-पास के क्षेत्र या प्रदेश होंगे, उन सब में उस सांस्कृतिक क्षेत्र की विशेषताएँ अनेक रूप में देखने को मिल सकती हैं। परन्तु सांस्कृतिक क्षेत्र का यह फैलाव अनेक बातों पर निर्भर करेगा, जैसे यातायात और संचार के उपलब्ध साधन, सांस्कृतिक सम्पर्क स्थापित करने में प्राकृतिक बाधाएँ, उस प्रदेश की अन्य भौगोलिक परिस्थितियाँ इत्यादि। आधुनिक युग में यातायात और संचार के साधनों में उत्तरोत्तर प्रगति होने के कारण सांस्कृतिक आदान-प्रदान के अवसर तथा साधन दिन-प्रतिदिन बढ़ते ही जा रहे हैं, जिनके कारण सांस्कृतिक क्षेत्र की सीमा रेखाएँ (boundary lines) और भी अनिश्चित होती जा रही हैं।

अत: स्पष्ट है कि अब सांस्कृतिक क्षेत्र की अवधारणा केवल उन केन्द्रों (Centres) का पता लगाने का एक मोटा-सा साधारण तरीका है जहाँ कि कुछ सांस्कृतिक तत्व या संकुल विशेष रूप से या अपने 'विशुद्ध' (pure) रूप में पाए जाते हैं। वास्तव में इस अवधारणा की उपयोगिता अब केवल सभ्य समाज के सम्पर्क से दूर आदिम समाजों की संस्कृतियों के अध्ययन तक ही सीमित है क्योंकि अब केवल ऐसे ही समाजों की संस्कृति को एक भौगोलिक क्षेत्र-विशेष में कुछ हद तक सीमाबद्ध कहा जा सकता है। आधुनिक समाजों में तो यातायात और संचार के साधनों ने इस सीमा को तोड़ दिया है। आधुनिक समाज की संस्कृति का वास्तविक भौगोलिक क्षेत्र या सांस्कृतिक क्षेत्र तो सारी दुनिया ही है।

सांस्कृतिक प्रतिमान (Cultural Pattern)

पिछले विवेचन से यह स्पष्ट है कि अनेक सांस्कृतिक तत्वों के सम्मिलिन से एक संस्कृति-संकुल बनता है; परन्तु संस्कृति के ये संकुल शून्य में रहकर कार्य नहीं करते, बल्कि सम्पूर्ण सांस्कृतिक ढाँचे के अन्तर्गत प्रत्येक संकुल का एक निश्चित स्थान या स्थिति और कार्य होता है। ये सब मिलकर या मिलित रूप में एक संस्कृति की प्रमुख विशेषताओं को व्यक्त करते हैं। **सांस्कृतिक ढाँचे के अन्तर्गत संस्कृति-संकुलों की उस व्यवस्था को, जिससे कि सम्पूर्ण संस्कृति की विशेषताएँ अभिव्यक्त हों, सांस्कृतिक प्रतिमान कहते हैं।**

नोट

सर्वश्री सदरलैण्ड तथा वुडवार्ड (Sutherland and Woodward) ने सांस्कृतिक प्रतिमान की परिभाषा करते हुए लिखा है, "सम्पूर्ण संस्कृति के एक प्रकार के सामान्यीकृत चित्र के रूप में संकुलों का एक संग्रह सांस्कृतिक प्रतिमान है।" **श्री हर्षकॉवित्स** (Herskovits) ने सांस्कृतिक प्रतिमान की परिभाषा और भी विस्तृत रूप में प्रस्तुत की है। आपके मतानुसार, सांस्कृतिक प्रतिमान "एक संस्कृति के तत्वों का वह डिजाइन है जो कि, उस समाज के सदस्यों के व्यक्तिगत व्यवहार-प्रतिमान के माध्यम से व्यक्त होता हुआ, जीवन के ढंग या तरीके को सम्बद्धता, निरन्तरता तथा विशिष्ट स्वरूप प्रदान करता है।"

उपरोक्त परिभाषाओं से सांस्कृतिक प्रतिमान की प्रकृति का पर्याप्त स्पष्टीकरण हो जाता है। सांस्कृतिक प्रतिमान की किसी भी विवेचना में यह बात सदा याद रखनी चाहिए कि संस्कृति कोई अव्यवस्थित चीज या वस्तु नहीं है। प्रत्येक संस्कृति में, चाहे वह आदिम समाज की हो या सभ्य समाज की, एक संगठन होता है। यह संगठन इस कारण दिखाई पड़ता है कि संस्कृति के विभिन्न पक्ष और तत्व या संकुल संस्कृति के ढाँचे के अन्दर एक विशिष्ट ढंग या फैशन से सजे हुए होते हैं। संस्कृति इन तत्वों या संकुलों से इस प्रकार बनी होती है जिस प्रकार ईंटों से एक मकान। परन्तु केवल संस्कृति-संकुलों (culture complexes) का एकत्रीकरण उसी प्रकार संस्कृति नहीं कहा जा सकता जिस प्रकार ईंटों के ढेर को मकान नहीं कह सकते। मकान कहलाने के लिए इन ईंटों में एक व्यवस्था (arrangement), क्रम (order) या ढंग होना चाहिए। एक विशिष्ट ढंग से ईंटों को संयुक्त करने से एक कमरा बनता है और इन कमरों को एक क्रम से लगाने या सजाने पर मकान बनता है। ठीक उसी प्रकार संस्कृति-संकुलों के एक विशिष्ट ढंग से व्यवस्थित हो जाने से सांस्कृतिक प्रतिमान बनता है और इन सांस्कृतिक प्रतिमानों की सम्पूर्ण व्यवस्था को संस्कृति कहते हैं। अत: स्पष्ट है कि **सम्पूर्ण संस्कृति के ढाँचे के अन्दर एक विशिष्ट ढंग या क्रम से सजे हुए संस्कृति-संकुलों के सम्मिलित रूप को ही सांस्कृतिक प्रतिमान कहते हैं।**

सांस्कृतिक प्रतिमान के सम्बन्ध में **प्रो. रुथ बेनेडिक्ट** (Ruth Benedict) के विचार अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। आपका मत है कि एक संस्कृति के अन्तर्गत छोटे-छोटे अनेक खण्ड या इकाइयाँ होती हैं। ये इकाइयाँ अलग-अलग नहीं रहतीं, बल्कि एक साथ इस प्रकार संगठित हो जाती हैं कि संस्कृति को एक विशिष्ट स्वरूप या डिजाइन प्राप्त हो जाता है। संस्कृति के विभिन्न खण्डों या उप-खण्डों से इस सम्बद्ध रूप को ही सांस्कृतिक प्रतिमान कहते हैं।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि सांस्कृतिक प्रतिमान के अध्ययन से एक संस्कृति की प्रमुख विशेषताओं का ज्ञान सरलता से हो सकता है और सांस्कृतिक प्रतिमान की अवधारणा का यही सबसे उल्लेखनीय महत्त्व है। भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत पाए जाने वाले संस्कृति-प्रतिमान, जैसे जाति-प्रथा, पंचायत, संयुक्त परिवार, धार्मिक भिन्नता, खेती, गांधीवाद, अध्यात्म जीवन-दर्शन आदि भारतीय संस्कृति की विशेषताओं और आधारों को बताते हैं।

सम्भवत: इसी कारण आधुनिक युग में, संस्कृति-प्रतिमान के अध्ययन का महत्त्व किसी-न-किसी रूप में दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है।

सांस्कृतिक संरूपण (Cultural Configuration)

कुछ विद्वानों ने संस्कृति को एक संरूपण (configuration) के रूप में देखा है। उदाहरणार्थ, **श्री रेल्फ लिण्टन** (Ralph Linton) के मतानुसार संस्कृति सीखे हुए व्यवहारों का एक संरूपण और उन व्यवहारों का फल है जिनके तत्व एक विशेष समुदाय के सदस्यों में पाए जाते हैं तथा उनके द्वारा प्रसारित किए जाते हैं। संस्कृति के ये तत्व आपस में इस प्रकार संगठित होते हैं कि ये सब तत्व एक साथ मिलकर एक समाज की संस्कृति को एक विशिष्ट 'रूप' या स्वरूप प्रदान करते हैं। यह इसलिए होता है कि प्रत्येक समाज में सीखे हुए व्यवहारों की एक परम्परा होती है। यह परम्परा प्रत्येक समाज में अलग-अलग होती है। यही कारण है कि प्रत्येक समाज की संस्कृति को अपनी कुछ विशिष्ट विशेषताएँ प्राप्त हो जाती हैं और उन्हीं विशेषताओं के आधार पर एक समाज की संस्कृति को हम दूसरे से अलग कर सकते हैं।

संरूपणात्मक दृष्टिकोण से संस्कृति की विवेचना **प्रोफेसर रुथ बेनेडिक्ट** (Ruth Benedict) के अध्ययनों तथा कृतियों में भी देखने को मिलती है। वास्तव में संस्कृति के संरूपण की चर्चा **प्रो. बेनेडिक्ट** ने संस्कृति-प्रतिमान (culture pattern) की अवधारणा को विकसित करते हुए ही की है और इस अवधारणा की लोकप्रियता

प्रो. बेनेडिक्ट की कृतियों के कारण ही हुई। आपका कथन है कि एक संस्कृति में संगठन (integration) इसकी अन्तर्वस्तु (content) के विभिन्न खण्डों का एक स्थायी या अर्द्ध-स्थायी (semi-permanent) रूप या डिजाइन में व्यवस्थित हो जाने पर उत्पन्न होता है। **प्रो. बेनेडिक्ट** के मतानुसार प्रत्येक संस्कृति के कुछ महत्त्वपूण र्ा तथा बड़े खण्ड (segment) होते हैं। इन खण्डों में भी छोटे-छोटे उपखण्ड होते हैं। ये उपखण्ड एक विशिष्ट ढंग या 'स्टाइल' (Style) से परस्पर संयुक्त होकर या मिलकर एक बड़े खण्ड को एक विशिष्ट रूप या डिजाइन प्रदान करते हैं और इन बड़े खण्डों के ये विशिष्ट रूप या डिजाइन परस्पर मिलकर सम्पूर्ण संस्कृति के डिजाइन को निर्धारित करते हैं। इसे ही संस्कृति की सम्बद्ध स्थिति या संरूपण (configuration) कहते हैं। अत: स्पष्ट है कि **प्रो. बेनेडिक्ट** के मतानुसार संस्कृति के इन महत्त्वपूर्ण और बड़े-बड़े खण्डों, जो कि अन्य अनेक उपखण्डों का सम्बद्ध रूप है, को ही संस्कृति-प्रतिमान कहते हैं। इन भिन्न-भिन्न प्रतिमानों के मिलने से एक विशाल प्रतिमान बन जाता है जो कि सम्पूर्ण संस्कृति होती है। इस प्रकार अनेक प्रतिमानों से सम्पूर्ण संस्कृति का निर्माण होता है।

परन्तु इस सम्बन्ध में, **प्रो. बेनेडिक्ट** के अनुसार यह बात स्मरणीय है कि यद्यपि संस्कृति-प्रतिमान या सम्पूर्ण संस्कृति अनेक भागों (parts) से मिलकर बनते हैं और फिर भी इन भागों के केवल मात्र योग से ही न तो संस्कृति संकुल का निर्माण होता है और न ही संस्कृति का। सम्पूर्ण संस्कृति या संकुल या इन भागों की एक विशिष्ट व्यवस्था (unique arrangement) तथा अन्त:सम्बन्ध का ही परिणाम होता है, जिसके फलस्वरूप एक नवीन चीज की सृष्टि होती है।" जिस प्रकार ईंटों के योग मात्र से ही मकान नहीं बनता है बल्कि इन ईंटों की एक विशिष्ट व्यवस्था तथा अन्त:सम्बन्ध से ही एक नई चीज़ का निर्माण होता है और निर्माण हो जाने के बाद उसे ईंट या ईंटों का ढेर या एकत्रीकरण नहीं कहते बल्कि 'मकान' के नाम से पुकारते हैं, उसी प्रकार संस्कृति के विभिन्न तत्वों की विशिष्ट व्यवस्था तथा अन्त:सम्बन्ध से जिस नीवन चीज़ का सृष्टि होती है उसे तत्वों का योग मात्र नहीं बल्कि संस्कृति-प्रतिमान कहते हैं और इन संस्कृति-प्रतिमानों से बने हुए विशाल प्रतिमान को संस्कृति कहते हैं।

उपरोक्त आधार पर ही **प्रो. बेनेडिक्ट** ने लिखा है कि, "व्यक्ति की भाँति संस्कृति भी विचार और क्रिया का एक बहुत-कुछ सुस्थिर प्रतिमान है। प्रत्येक संस्कृति के अन्तर्गत ऐसे विशिष्ट लक्ष्यों या उद्देश्यों का जन्म होता है जो कि अन्य प्रकार के समाज में न पाए जाते हों। इन उद्देश्यों का पालन करते हुए प्रत्येक समाज अपने अनुभव का उत्तरोत्तर एकीकरण करता जाता है, जिसके फलस्वरूप व्यवहार की विभिन्न मदों (items) में अधिकाधिक एकरूपता उत्पन्न हो जाती है।"

यहाँ पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि प्रत्येक संस्कृति में अनेक सांस्कृतिक तत्व समान होते हैं, फिर उन तत्वों से बनने वाले संस्कृति-प्रतिमान एक-से क्यों नहीं होते हैं? इस प्रश्न का अति सरल उत्तर यह है कि सांस्कृतिक तत्व एक-से होते हुए भी उनमें सम्बद्ध या संगठित (integrate) होने का तरीका या डिज़ाइन या रूप एक-सा नहीं होता है, जिसके कारण संस्कृति-प्रतिमान का स्वरूप भी भिन्न-भिन्न होता है। एक ही प्रकार के सांस्कृतिक तत्वों (culture traits) को अपनी आवश्यकताओं, अनुभव या समझ के अनुसार प्रत्येक समाज के सदस्य विभिन्न रूप में सम्बद्ध या संगठित करते हैं जिसके फलस्वरूप संस्कृति-प्रतिमान का डिजाइन या रूप भी प्रत्येक समाज में भिन्न-भिन्न होता है। एक ही प्रकार का सीमेंट, ईंट आदि दो-तीन अलग-अलग राज मिस्त्री (mason) को दे दीजिए; पर एक राज मिस्त्री उस सामान से जिस डिज़ायन का कमरा बनाएगा; यह जरूरी नहीं कि दूसरा या तीसरा राज मिस्त्री भी उसी डिज़ाइन का कमरा बनाएगा; प्रत्येक के डिज़ाइन में कुछ पृथक्ता, भिन्नता या विशेषता होगी ही। उसी प्रकार प्रत्येक समाज में सांस्कृतिक तत्वों से बचने वाले संस्कृति-प्रतिमान के डिज़ाइन में या उनके संगठन (integration) में भिन्नता अवश्य ही होती है; परन्तु हाँ, संगठन प्रत्येक संस्कृति में होता अवश्य है।

प्रो. बेनेडिक्ट का कथन है कि संस्कृति में यह संगठन (integration) प्रत्येक संस्कृति में अन्तर्निहित एक अन्दरूनी प्रवृत्ति (tendency) या झुकाव (trend) के कारण ही होता है। आपने इस प्रवृत्ति या झुकाव को संस्कृति की 'आत्मा' (genius) कह कर पुकारा है। संस्कृति की सम्बन्ध-स्थिति या संरूपण संस्कृति की आत्मा से ही बनती है। **श्रीमती बेनेडिक्ट** का यह विश्वास था कि संस्कृति की आत्मा दो प्रकार की हो सकती है—या तो यह आत्मा 'अपोलोनियन' (Apollonian) हो सकती है या 'डायोनीसियन' (Dionysian) भी हो सकती है। 'अपोलोनियन' शब्द 'अपोलो' (Apollo) से बना है। अपोलो ग्रीसवासियों के कृपालु तथा सुखदायक सूर्य-देवता

नोट

का नाम है। अत: स्पष्ट है कि अपोलोनियन-संस्कृति से **श्रीमती बेनेडिक्ट** का अभिप्राय ऐसी संस्कृति से है जिसमें शान्त-गुण प्रधान हो जिसके कारण संस्कृति के विभिन्न भागों में एक प्रकार का संगठन बना रहता है। इसके विपरीत, 'डायोनीशियन' शब्द डायोनीसियस (Dionysius) से बना है। डायोनीसियस ग्रीसवासियों के कष्टदायक, मदमस्त देवता का नाम है। इस प्रकार डायोनीसियस आत्मा वाली संस्कृति में संगठन भोग-विलास तथा अहिंसा के आधार पर होगा। **प्रो. बेनेडिक्ट** ने इन दो प्रकार की आत्माओं के आधार पर विभिन्न संस्कृति के विभिन्न अंगों या पक्षों में पाए जाने वाले संगठन (integration) को समझाया है।

संस्कृति के भेद या प्रकार–भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति
(Kinds of Culture—Material and Non-material Culture)

एक सामाजिक प्राणी के रूप में व्यक्ति को अपने समाज से जो कुछ भी प्राप्त होता है वह उसकी सामाजिक विरासत (social heritage) है। विद्वानों ने इसी सामाजिक विरासत को 'संस्कृति' की संज्ञा दी है। **श्री ऑगबर्न** (Ogburn) ने इसी सामाजिक विरासत अर्थात् संस्कृति को निम्नलिखित दो भागों में विभाजित किया है–

1. भौतिक संस्कृति (Material Culture)— **श्री ऑगबर्न** (Ogburn) ने भौतिक संस्कृति के अन्तर्गत समस्त मूर्त वस्तुओं या चीजों को सम्मिलित किया है। दूसरे शब्दों में, भौतिक संस्कृति के अन्तर्गत वह समस्त चीजें आ जाती हैं जो कि मूर्त होती हैं अर्थात् जिन्हें कि प्रत्यक्ष रूप से हम देख या छू सकते हैं। मकान, कपड़ा, फर्नीचर, रेडियो, साइकिल, उपकरण, बर्तन, मूर्त्तियाँ, पुस्तकें, मशीन आदि भौतिक संस्कृति के अति उत्तम उदाहरण हैं। भौतिक संस्कृति की एक प्रमुख विशेषता यह और होती है कि यह मानव द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्मित होती है।

2. अभौतिक संस्कृति (Non-material Culture)— सम्पूर्ण सामाजिक विरासत (total social heritage) का वह भाग जो कि अमूर्त (abstract) तथा मानव-निर्मित होता है, अभौतिक संस्कृति कहलाता है। वास्तव में अभौतिक संस्कृति के अन्तर्गत वे समस्त चीजें सम्मिलित की जाती हैं जिन्हें कि देखा या छुआ नहीं जा सकता; और इसीलिए अभौतिक संस्कृति का एक प्रमुख लक्षण अमूर्तता है। अभौतिक संस्कृति के कुछ प्रमुख उदाहरण हैं–धर्म, प्रथा, परम्परा, आदर्श, भाषा, जनरीतियाँ, साहित्य, विज्ञान इत्यादि।

उपरोक्त विवेचना के आधार पर हम **भौतिक और अभौतिक संस्कृति में निम्नलिखित अन्तरों** का उल्लेख कर सकते हैं–

1. **भौतिक संस्कृति** मूर्त होती है, जैसे मकान, फर्नीचर, मशीन इत्यादि। इसके विपरीत **अभौतिक संस्कृति** अमूर्त होती है, जैसे धर्म, परम्परा, भाषा आदि।
2. **श्री ऑगबर्न** के अनुसार **भौतिक संस्कृति** में परिवर्तन तेजी से होता है, जबकि **अभौतिक संस्कृति** में परिवर्तन धीमी गति से होता है। उदाहरणार्थ, भौतिक चीजों में परिवर्तन आविष्कार के आधार पर जल्दी हो सकता है, पर अपने विचार, आदर्श या परम्परा आदि को उतनी तेजी से नहीं बदला जा सकता।
3. **चूँकि भौतिक संस्कृति** मूर्त होती है, इस कारण उसे नापा जा सकता है परन्तु अभौतिक संस्कृति अमूर्त होने के कारण उसकी नाप-तौल सम्भव नहीं है। उदाहरणार्थ, एक मकान या अलमारी को हम नाप-तौल सकते हैं, परन्तु प्रथा, परम्परा या धर्म को हम भला क्या नापेंगे और कैसे नापेंगे।
4. **भौतिक संस्कृति** प्रत्यक्ष रूप से मानव-निर्मित होती है अर्थात् स्वयं मनुष्य को यह बनाना पड़ता है; जबकि **अभौतिक संस्कृति** का सामाजिक अंत:क्रियाओं के दौरान में स्वत: विकास भी हो सकता है, जैसे प्रथा, जनरीति या धर्म।
5. **भौतिक संस्कृति** का सम्बन्ध मुख्यत: हमारे बाहरी जीवन से होता है, जैसे मकान, फर्नीचर, कपड़े आदि मुख्य रूप से हमारे बाहरी जीवन को प्रभावित करते हैं; जबकि **अभौतिक संस्कृति** जैसे प्रथा, परम्परा, धर्म, मूल्य आदर्श इत्यादि हमारे आन्तरिक जीवन से सम्बन्धित होते हैं।

4.7 संस्कृति का मानव-जीवन या समाज पर प्रभाव (Effect of Culture on Human Life or Society)

नोट

संस्कृति का मानव-समाज पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। इसका कारण भी स्पष्ट है और वह यह है कि प्राकृतिक शक्तियाँ तो मनुष्य को केवल कच्चा माल प्रदान करती हैं। यह कच्चा माल तब तक उपयोगी नहीं हो सकता है, जब तक कि उसकी वास्तविक उपयोगिता के बारे में ज्ञान न हो और यह ज्ञान संस्कृति का ही एक अंग है। उदाहरण के लिए, बिहार की कोयले की खानों व ईरान के मिट्टी के तेल की उस समय तक कोई उपयोगिता नहीं थी, जब तक मनुष्य को इनके प्रयोग के बारे में ज्ञान नहीं था। मानव-समाज पर संस्कृति का यह प्रभाव निम्नलिखित विवेचना से और अधिक स्पष्ट हो जाएगा :

1. **व्यक्ति के व्यक्तित्व-निर्माण पर प्रभाव**—संस्कृति का व्यक्ति के व्यक्तित्व-निर्माण (personality formation) में महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। एक बच्चा कुछ जन्मजात लक्षणों के साथ पैदा होता है। वंशानुक्रमण प्रक्रिया द्व ारा माता-पिता से उसे शरीर का कद और ढाँचा व कुछ अन्य शारीरिक तथा मानसिक विशेषताएँ प्राप्त होती हैं। वह जन्म के समय न तो सामाजिक होता है न ही समाज विरोधी, वह तो केवल असामाजिक होता है। धीरे-धीरे समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा संस्कृति के सन्दर्भ में वह एक सामाजिक प्राणी बन जाता है। उसकी आदतें, विश्वास, व्यवहार सभी कुछ उसकी संस्कृति के अनुसार ही बनते हैं और इस रूप में उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। दूसरे शब्दों में, एक व्यक्ति को जो कुछ भी वंशानुक्रमण के माध्यम से प्राप्त होता है, उसका विकास संस्कृति के लीला क्षेत्र में ही होता है। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के व्यवहार और आदतें भी भिन्न-भिन्न होती हैं। उदाहरणार्थ, संसार के अधिकतर भागों में किसी व्यक्ति पर थूकना घृणा का चिह्न है, परन्तु अफ्रीका की मसाई जनजाति में यह व्यवहार (थूकना) स्नेह और भलाई का चिह्न है। यूरोप और भारत में अपने से श्रेष्ठ व्यक्ति की उपस्थिति में खड़ा हुआ जाता है जबकि फीजी और टोंगा लोग बैठ जाते हैं। इसी प्रकार विनम्रता (शीलता) (modesty) का व्यक्तित्व गुण भी संस्कृति द्वारा निर्धारित होता है। डरुस (Druse) जनजाति की लड़की के लिए यह शीलता है कि वह बाहर के लोगों को एक आँख दिखाए, दो आँखें दिखाना वहाँ सामाजिक अपराध है। बुर्का पहनना मुसलमान स्त्री के लिए शीलता का परिचायक है जबकि अंग्रेज स्त्री के लिए नहीं।

2. **आर्थिक जीवन पर प्रभाव**-संस्कृति का आर्थिक जीवन पर भी महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। प्रत्येक देश की आर्थिक उन्नति बहुत-कुछ उसकी संस्कृति पर निर्भर करती है। चूँकि अमेरिका में भौतिक उन्नति को ही सब कुछ समझा जाता है, इसलिए वहाँ आर्थिक क्षेत्र में अत्यधिक प्रगति हुई है; परन्तु भारत में आध्यात्मिक उन्नति को अधिक महत्त्व दिया जाता है, इस कारण यहाँ आर्थिक उन्नति नहीं हो पाती है। **श्री मैक्स वेबर** (Max Weber) ने संस्कृति के एक अंग धर्म को आर्थिक व्यवस्था से सम्बद्ध किया है। आपके मतानुसार प्रोटेस्टैण्ट धर्म में कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो पूँजीवाद के विकास में सहायक सिद्ध हुई हैं। **श्री वेबर** के अनुसार, पूँजीवाद का सर्वोत्तम विकास इंग्लैण्ड, अमेरिका, हॉलैण्ड आदि उन देशों में हुआ है, जहाँ लोग प्रोटेस्टैण्ट धर्म के अनुयायी होने के कारण पूँजीवाद को अधिक विकसित कर पाए हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि संस्कृति आर्थिक जीवन की दिशा निर्धारित करती है।

3. **औद्योगिक विकास का प्रभाव**—संस्कृति औद्योगिक विकास को भी प्रभावित करती है। किसी भी देश में प्रौद्योगिकी के विकास की क्या दशा होगी—इसका निर्धारण उस देश की संस्कृति ही करेगी। किसी समाज में किस प्रकार के मशीनों, उपकरणों आदि का विकास होगा और कौन-सी वस्तुओं का उत्पादन होगा, यह उस समाज विशेष की संस्कृति ही निश्चित करती है। किसी देश के कारखानों में भोग-विलास की वस्तुएँ बनेंगी या युद्ध सामग्री का निर्माण होगा—इसका निर्णय और निर्धारण उस देश की संस्कृति करेगी। अणु शक्ति का प्रयोग हम दूसरे देशों का विनाश करने के लिए करेंगे या उसे जन-कल्याण के कार्यों में लगाएँगे—यह भी हमारी संस्कृति द्वारा ही निर्धारित होगा। इस रूप में यह कहा जा सकता है कि औद्योगिकी भी संस्कृति द्वारा प्रभावित होती है।

4. **सामाजिक ढाँचे व संगठन का प्रभाव**—भिन्न-भिन्न संस्कृतियों में सामाजिक ढाँचे (Social Structure) और सामाजिक संगठन का रूप भी भिन्न-भिन्न होता है। परिवार को ही ले लीजिए। किन्हीं संस्कृतियों में संयुक्त

नोट

परिवारों का आधिक्य होता है तो किन्हीं में एकाकी (single) परिवारों का। विवाह का स्वरूप भी भिन्न-भिन्न संस्कृतियों में अलग-अलग होता है। उदाहरणार्थ, हिन्दुओं में पिता की सात पीढ़ी और माता की पाँच पीढ़ी तक के सम्बन्धियों में आपस में विवाह नहीं हो सकता जबकि मुसलमानों में भाई-बहिनों तथा कुछ बहुत ही निकट के रक्त सम्बन्धियों को छोड़कर विवाह-सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। सभ्य समाजों में लड़की का अपहरण करके उससे विवाह कर लेना सामाजिक अपराध माना जाता है, किन्तु भील, गोंड आदि जनजातियों में विवाह का यही तरीका आदर्श माना जाता है।

सामाजिक ढाँचे के अन्तर्गत सदस्यों की स्थितियों और कार्यों (status and roles) को सम्मिलित किया जाता है। वास्तव में समाज के सदस्यों की स्थिति और कार्य भी समाज विशेष की संस्कृति द्वारा निश्चित होते हैं। उदाहरण ार्थ, परम्परागत रूप में हिन्दू परिवारों में स्त्रियों की स्थिति अत्यन्त नगण्य है, वह पति की दासी या सेविका समझी जाती है, परन्तु कई समाजों में स्त्रियाँ ही परिवार की मुखिया होती हैं, उन्हीं को आर्थिक सत्ता प्राप्त होती है और उन्हीं के नाम पर वंश चलता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि संस्कृति सामाजिक ढाँचे के स्वरूप को निश्चित करती है।

5. **राजनीतिक संगठन पर प्रभाव**–प्रत्येक समाज में राजनीतिक संगठन का निर्धारण उस समाज विशेष की संस्कृति के सन्दर्भ में ही होता है। किसी समाज विशेष की सरकार प्रजातन्त्र कुलीनतन्त्र, एकतन्त्र, राजतन्त्र, साम्यवाद में से किस विचारधारा को मानेगी–यह उस समाज विशेष की संस्कृति ही निर्धारित करेगी। सरकार किस प्रकार के कानून बनाएगी–यह भी संस्कृति ही निश्चित करती है। वास्तव में कानून, समाज विशेष में प्रचलित प्रथाओं, परम्पराओं, आदि के ही दूसरे रूप होते हैं। इसी प्रकार उस समाज विशेष में किन-किन वर्गों को संरक्षण प्रदान किया जाएगा, क्या-क्या सामाजिक सुविधाएँ होंगी, आदि बातें संस्कृति द्वारा ही निश्चित होती हैं। उदाहरणार्थ, भारत में कानून द्वारा हरिजनों की विशेष सुरक्षा व उन्नति का प्रयत्न किया गया है जबकि अमेरिका में नीग्रो लोगों की दशा सुधारने के प्रयत्नों की अभी आवश्यकता है।

6. **समाजीकरण की प्रक्रिया पर प्रभाव**–समाजीकरण की प्रक्रिया भी काफी सीमा तक संस्कृति द्वारा प्रभावित होती है। जब बच्चा जन्म लेता है तो उसमें कोई भी सामाजिक गुण नहीं होता, वह एक प्राणिशास्त्रीय प्राणी ही होता है। धीरे-धीरे परिवार, खेल के साथी व पड़ोस आदि के सम्पर्क में रहकर वह सामाजिक गुणों को सीखता है। ये सामाजिक गुण किस प्रकार के होंगे–इनका निर्धारण संस्कृति करती है। बच्चे को हिन्दी बोलना सिखाया जाएगा या अंग्रेजी या फारसी–यह उस समाज में प्रचलित भाषा (संस्कृति का अंग) पर निर्भर करेगा। बच्चों को बड़ों के पैर छूना व प्रणाम करना सिखाया जाएगा या नमस्ते करना–यह भी संस्कृति द्वारा ही निश्चित होगा। इतना ही नहीं, एक सामाजिक प्राणी को वास्तव में सामाजिक बनने के लिए सांस्कृतिक शुद्धि के नियमों को मानना पड़ता है, इन्हें संस्कार कहते हैं। उदाहरणार्थ, हिन्दुओं में नामकरण, संस्कार, मुण्डन, संस्कार, यज्ञोपवीत संस्कार और अन्त में मृत्यु संस्कार तथा मुसलमानों में अकीका, मकतब, खतना, निकाह एवं मृत्यु संस्कार सामाजिक जीवन को पूर्णता प्रदान करने के लिए अनिवार्य हैं। परन्तु इन संस्कारों का निर्धारण संस्कृति द्वारा ही होता है। इस प्रकार व्यक्ति की सम्पूर्ण समाजीकरण की प्रक्रिया संस्कृति द्वारा ही प्रभावित होती है।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि संस्कृति का मानव समाज पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि मानव-जीवन के निर्धारण में संस्कृति ही सब कुछ है। वास्तव में इस सम्बन्ध में अन्य कारणों के प्रभाव को भी ध्यान में रखना होगा। इस सम्बन्ध में एक अन्य बात यह है कि व्यक्ति संस्कृति का निर्माता स्वयं होता है यद्यपि इसका कारण निर्माण करने के बाद वह स्वयं उसके द्वारा प्रभावित भी होता है। किसी ने सत्य ही कहा है कि **व्यक्ति संस्कृति का दास ही नहीं वरन् संस्कृति का निर्माता भी है।**

संस्कृति के सामाजिक कार्य या महत्त्व (Social Functions or Importance of Culture)

संस्कृति के सामाजिक कार्यों या महत्त्व को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है–

1. **संस्कृति मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के नियमों को प्रतिपादित करती है–श्री मैलिनोवस्की** ने लिखा है कि संस्कृति उन साधनों का एक मूर्त रूप है जिनके द्वारा मनुष्य की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। उदाहरण के लिए संस्कृति ही यह तय करती है कि हम अपनी भोजन की आवश्यकता

की पूर्ति माँस खाकर करेंगे या अन्य चीजें; विवाह में दहेज लेंगे या नहीं, इत्यादि। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संस्कृति उन नियमों को प्रतिपादित करती है जिससे कि समाज के लोग अपनी सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें।

नोट

2. **संस्कृति नैतिकता के विकास में भी सहायक होती है**—सामाजिक दृष्टिकोण से क्या उचित और क्या अनुचित है इस बात का निर्धारण संस्कृति के द्वारा ही होता है और इसीलिए सांस्कृतिक प्रतिमान के आधार पर भी नैतिकता का विकास होता है। ये सांस्कृतिक मान्यताएँ ही हैं जो कि यह निश्चित करती हैं कि एक व्यक्ति को एक पति-विवाह करना है या बहुपति-विवाह अथवा बहुपत्नी-विवाह; जाति के नियमों को मानना है अथवा नहीं, यौन-व्यवहारों में कहाँ तक छूट मिल सकती है, संयुक्त परिवारों में बड़े-बूढ़ों के शासन को स्वीकार करना है या नहीं, इत्यादि अनेक विश्वासों में संस्कृति व्यक्ति की नैतिकता को विकसित करती है।
3. **संस्कृति सामाजिक जीवन से सम्बन्धित व्यवहारों में एकरूपता उत्पन्न करती है**—संस्कृति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती है और इस दौरान संस्कृति के नियमों में निश्चितता पनप जाती है और वह व्यक्ति के व्यवहारों को एक निश्चित स्वरूप में ढालने में सफल होती है। इसका परिणाम यह होता है कि संस्कृति सामाजिक जीवन व व्यक्तिगत व्यवहार में एकरूपता को उत्पन्न करती है। संस्कृति हस्तान्तरित होती रहती है, पर यह नहीं होता है कि एक व्यक्ति को सांस्कृतिक तत्व एक रूप में मिलें तो दूसरे व्यक्ति को वही किसी दूसरे रूप में। सांस्कृतिक प्रतिमान का रूप सबके लिए समान होता है और इसलिए समाज में वैयक्तिक भिन्नताएँ होते हुए भी सामाजिक एकरूपता उत्पन्न हो जाती है।
4. **संस्कृति सामाजिक अनुभव व कार्यकुशलता को बढ़ाती है**—संस्कृति कुछ निश्चित व्यवहार-प्रतिमानों को प्रस्तुत करती है और ये व्यवहार-प्रतिमान एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होते रहते हैं। इस प्रकार संस्कृति में अनेक पीढ़ियों में उपयोगी अनुभवों का तथा सामाजिक अभिमति (social sanction) का समावेश होता है। इससे जिन व्यवहार-प्रतिमानों को संस्कृति प्रस्तुत करती है वे व्यक्ति की कार्यकुशलता को भी बढ़ाने में सहायक होतेहैं।
5. **संस्कृति व्यक्ति में सुरक्षा की भावना को पनपाती है**—संस्कृति अनुभव सिद्ध व्यवहारों का संग्रह होती है। हमारे पूर्वज बहुत प्रयास के बाद, विभिन्न परिस्थितियों में जिन वयवहार या क्रियाओं के ढंग को सफल पाते हैं, उचित समझते हैं वही हमें परम्परा के रूप में संस्कृति के द्वारा भेंट किया जाता है। संस्कृति द्व ारा इस प्रकार प्रस्तुत किए गए व्यवहार-प्रतिमान वास्तव में कई पीढ़ियों द्वारा व्यावहारिक ढंग से परीक्षित (tested) व्यवहार के सफल व उपयोगी तरीके ही होते हैं। इसलिए ये तरीके अपने अन्दर विभिन्न परिस्थितियों में एक सुरक्षा की भावना को स्वत: ही विकसित कर लेते हैं। इसका कारण यह होता है कि हमें पहले से ही यह पता होता है कि किस परिस्थिति में हमें किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए।
6. **संस्कृति नवीन परिस्थितियों, समस्याओं तथा संकटों का सामना अपेक्षाकृत अधिक सरलता एवं सफलतापूर्वक करने के योग्य भी बनाती है**—यह सच है कि नवीन परिस्थितियों या संकटों का सामना करने के लिए नवीन तरीकों व नवीन ज्ञान की आवश्यकता होती है। पर चूंकि संस्कृति का स्वरूप ही परिवर्तनशील है इस कारण वह युग की आवश्यकता के अनुसार नवीन उपायों या ज्ञान को प्रस्तुत करती रहती है। नवीन तरीके या ज्ञान परम्परागत तरीकों या ज्ञान पर ही आधारित होते हैं। इस रूप में संस्कृति अपने भूतकाल के अनुभवों से लाभ उठाकर नवीन ज्ञान को विकसित करने में सहायक होती है।
7. **संस्कृति सामाजिक स्तरीकरण व विभेदीकरण के विभिन्न आधारों व स्वरूप को निर्धारित करती है**—संस्कृति के द्वारा ही यह निर्धारित होता है कि सामाजिक संरचना के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति या समूह की क्या स्थिति तथा कार्य हैं। उदाहरण के द्वारा भारतीय संस्कृति में जाति-प्रथा ने विभिन्न जातियों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की स्थिति तथा कार्यों को निश्चित रूप से निर्धारित किया गया है जिसके कारण प्रत्येक जाति के सदस्य को अपने अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है और दूसरों के साथ

उनका कोई तनाव या संघर्ष नहीं होता। संस्कृति के द्वारा निर्धारित स्थिति में रहते हुए चाहे वह ऊँची स्थिति हो या नीची, प्रत्येक सदस्य अपने-अपने कर्त्तव्यों को करता रहता है और इससे समाज में सन्तुलन की स्थिति बनी रहती है।

नोट

8. **संस्कृति सामाजिक नियन्त्रण का एक महत्त्वपूर्ण साधन है**—संस्कृति का एक मुख्य सामाजिक कार्य यह भी है कि यह सामाजिक नियन्त्रण का एक प्रभावशाली साधन है। जैसा कि स्पष्ट ही किया जा चुका है कि समाज के जीवन में हमें जो आचार, व्यवहार, प्रथा, परम्परा, ज्ञान, विज्ञान, कानून, कला और ऐसे ही अन्य सीखे हुए गुण, योग्यताएँ, क्षमताएँ व विलक्षणताएँ देखने को मिलती हैं; इन्हीं की सम्पूर्ण समग्रता को हम संस्कृति कहते हैं। शायद यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इन सभी का प्रभाव सामाजिक नियन्त्रण के क्षेत्र में पड़ता है।

4.8 समाजीकरण का अर्थ व परिभाषा (Meaning and Definition of Socialization)

बच्चा जब सर्वप्रथम जन्म लेता है तो वह केवल रक्त, मांस, हड्डी आदि का एक जीवित पुतला मात्र होता है। उस समय उसमें कोई भी मानवोचित या सामाजिक गुण नहीं होते। दूसरे शब्दों में, उस समय वह कुछ प्राणिशास्त्रीय (Biological) गुणों वाला एक जीवित प्राणी होता है। समाज और संस्कृति के बीच पलते हुए वह बालक धीरे-धीरे एक सामाजिक प्राणी में बदल जाता है, अर्थात् उसमें सामाजिक गुण विकसित हो जाते हैं। इसी प्रक्रिया को, जिसके द्वारा एक प्राणिशास्त्रीय प्राणी सामाजिक प्राणी में बदल जाता है या उसमें सामाजिक गुण विकसित हो जाते हैं, 'समाजीकरण' कहते हैं।

प्रोफेसर ग्रीन (Green) ने समाजीकरण को परिभाषित करते हुए लिखा है, "समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा बच्चा सांस्कृतिक विशेषताओं और व्यक्तित्व को प्राप्त करता है।"

श्री फिचर (Fitcher) के शब्दों में, "समाजीकरण एक व्यक्ति और उसके अन्य साथी व्यक्तियों के बीच पारस्परिक प्रभाव की एक प्रक्रिया है, यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके फलस्वरूप व्यक्ति सामाजिक व्यवहार के प्रतिमानों को स्वीकार करता तथा उनके साथ अनुकूलन करता है।"

श्री किम्बल यंग (Kimbal Young) ने समाजीकरण को एक प्रकार का सीखना माना है। आपके शब्दों में, "समाजीकरण व्यक्ति का सामाजिक और सांस्कृतिक संसार से परिचय कराने, उसे समाज तथा उसके विभिन्न समूहों में एक सहभागी सदस्य बनाने और उस समाज के आदर्श-नियमों (norms) तथा मूल्यों (values) को स्वीकार करने को प्रेरित करने वाली प्रक्रिया है..........समाजीकरण निश्चित रूप से एक प्रकार का सीखना है, न कि प्राणिशास्त्रीय विरासत।"

श्री न्यूमेयर (Neumeyer) के शब्दों में, "व्यक्ति के सामाजिक प्राणी के रूप में विकसित होने की प्रक्रिया को ही 'समाजीकरण' कहते हैं।"

श्री जॉनसन (Johnson) के अनुसार, "समाजीकरण एक प्रकार का सीखना है जो सीखने वाले को सामाजिक कार्य करने के योग्य बनाता है।"

डॉ. मुकर्जी के मतानुसार **जिस प्रक्रिया के द्वारा प्राणिशास्त्रीय व्यक्ति के सामाजिक व्यक्तित्व का निर्माण और विकास होता है, उसे समाजीकरण कहते हैं।"**

श्री बोगार्डस (Bogardus) ने लिखा है—"समाजीकरण मिल कर काम करने, सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना को विकसित करने और दूसरों की कल्याण-सम्बन्धी आवश्यकताओं द्वारा निर्देशित होने की प्रक्रिया है।" इस परिभाषा में समाजीकरण की प्रक्रिया में अन्त:क्रियात्मक प्रभाव पर बल दिया गया है। पर, इसमें समाजीकरण के सकारात्मक (positive) पक्ष को ही उद्घाटित किया गया है, न कि नकारात्मक (negative) पक्ष को भी। यह श्री बोगार्डस की परिभाषा की एक बहुत बड़ी कमजोरी है। वास्तव में समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा व्यक्ति केवल समाज के सद्गुणों या अच्छी बातों को ही ग्रहण नहीं करता, बल्कि बुरी बातें भी सीखता है। समाजीकरण के द्वारा

व्यक्ति ने समाज की शत-प्रतिशत अच्छी बातों को ही सीखा है, ऐसा उदाहरण वास्तव में ढूँढ़ा नहीं जा सकता। इसी प्रकार शत-प्रतिशत बुरी बातों को ही सीखा गया है, यह भी कहना अवैज्ञानिक होगा। वास्तव में, समाजीकरण की प्रक्रिया में सामाजिक व्यवहार के सकारात्मक व नकारात्मक दोनों ही पक्षों को ग्रहण करना सम्मिलित है।

नोट

4.9 समाजीकरण की प्रकृति (Nature of Socialization)

उपर्युक्त परिभाषाओं की विवेचना से यह स्पष्ट है कि व्यक्ति को जन्म के साथ माता-पिता की कुछ शारीरिक तथा मानसिक विशेषताएँ व लक्षण प्राप्त होते हैं। पर, उस समय उसमें कोई भी मानवोचित या सामाजिक गुण नहीं होते। वह न बोल पाता है, न कपड़े पहन पाता है, न शिष्टाचार जानता है और न ही उसके कोई मूल्य या आदर्श होते हैं। पर, समाज और संस्कृति के बीच पलते हुए उसमें ये सभी गुण धीरे-धीरे पनपते हैं। वह उठने-बैठने, खाने-पीने, बोलने-चालने, दूसरों के साथ बात-व्यवहार करने तथा अन्य अनेक नियम, कानून, प्रथा, परम्परा और रीति-रिवाज को व्यवहार में लाने का ढंग सीख जाता है। उसे अपने-पराए का ज्ञान होता है, वह उचित और अनुचित में भेद कर लेता है और कर्त्तव्याकर्त्तव्य के बारे में सचेत हो जाता है। संक्षेप में, उसमें सामाजिक जीवन में हिस्सेदार बनने की क्षमता का विकास हो जाता है और एक प्राणी कहलाने के लिए उसमें आवश्यक गुण व लक्षण विकसित हो जाते हैं। इस प्रकार व्यक्ति के सामाजिक व्यक्तित्व का विकास सम्भव होता है। यानी, जिस सम्पूर्ण प्रक्रिया के द्वारा प्राणिशास्त्रीय व्यक्ति इस भाँति एक सामाजिक मनुष्य में रूपान्तरित हो जाता है, उसे 'समाजीकरण की प्रक्रिया' कहतेहैं।

अर्थात, जिस प्रक्रिया के द्वारा प्राणिशास्त्रीय व्यक्ति के सामाजिक व्यक्तित्व का निर्माण और विकास होता है, उसे समाजीकरण कहते हैं।

इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि "सामाजिक" व्यक्तित्व से तात्पर्य केवल उन गुणों या लक्षणों (Traits) का ही संगठन नहीं है, जो सामाजिक दृष्टि से हितकर या उचित है। समाज-विरोधी कार्य भी वैज्ञानिक वर्ग में 'सामाजिक' ही हैं। अत: यदि समाज के सदस्य के रूप में व्यक्ति घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, संघर्ष, आदि 'अनुचित' गुणों को अपने व्यक्तित्व में विकसित कर लेता है तो वह भी 'समाजीकरण' का ही अंग माना जाएगा। इसका तात्पर्य यह हुआ कि समाजीकरण की प्रक्रिया लोकप्रिय दृष्टि से सदा सफल ही होती है, यह सोचना गलत है। यह प्रक्रिया कभी भी गलत राह ले सकती है और उस अवस्था में विघटित व्यक्तित्व का भी विकास हो सकता है। ऐसे लोग ही समाज-विरोधी या कानून-विरोधी कार्य करते हैं और अपराधी या बाल-अपराधी या आत्महत्याकारी के नाम से अपने को परिचित करवाते हैं।

समाजीकरण की प्रकृति की चर्चा करते हुए **श्री किम्बल यंग** (Kimbal Young) ने लिखा है कि समाजीकरण शब्द का प्रयोग तीन भिन्न, पर परस्पर सम्बन्धित अर्थ में किया जाता है–(1) विस्तृत अर्थ में इसका प्रयोग उन प्रक्रियाओं के लिए किया जाता है, जिनके द्वारा व्यक्ति को उसके सामाजिक-सांस्कृतिक संसार से परिचित करवाया जाता है; (2) कुछ संकीर्ण अर्थ में इस शब्द का प्रयोग केवल शिशु या कम आयु के बच्चों को सामाजिक प्रशिक्षण (social training) देने के लिए किया जाता है। बाल-मनोविज्ञान (child psychology) के लेखों में समाजीकरण का प्रयोग बहुधा इसी अर्थ में किया जाता है; (3) इस शब्द का प्रयोग उस समाजिक सीखने (social learning) के लिए भी होता है, जो बच्चों तथा युवकों के नैतिक प्रशिक्षण (moral training) से सम्बन्धित होता है।

चूँकि अब सामाजिक विज्ञान नैतिक या आदर्शात्मक दृष्टि के तथ्यों को एकत्रित करने तथा उनका विश्लेषण करने में मान्यता प्रदान नहीं करते, इसलिए व्यक्तित्व तथा सामाजिक व्यवहार के विद्यार्थी 'समाजीकरण' शब्द का प्रयोग उपर्युक्त तीसरे अर्थ में नहीं करते। इस शब्द का इस अर्थ में प्रयोग समाज-सुधारक, उपदेशक आदि ही करते हैं। इस तीसरे अर्थ में 'समाजीकरण' शब्द का प्रयोग करने के सम्बन्ध में दो बातें कहे बिना समाजीकरण की प्रकृति को स्पष्ट नहीं किया जा सकता। समाजीकरण को केवल नैतिक प्रशिक्षण से सम्बन्धित करना उस लोकप्रिय धारण ाा को ही अभिव्यक्त करता है, जिसके अनुसार समाज में केवल सन्तोषजनक सीखने के अन्तर्गत प्रेम, सहयोग,

नोट

सहानुभूति आदि को ही सम्मिलित किया जा सकता है। इसके विपरीत, जिस सीखने में संघर्ष, प्रतिस्पर्धा आदि का समावेश होता है, वह अनुचित, अनैतिक या बुरा है, इसलिए उसको त्याग देना ही उचित होगा। इस दृष्टिकोण के अनुसार समाजीकरण सहयोग, सहानुभूति, पारस्परिक एकता आदि के प्रशिक्षण तक ही सीमित है; और इसीलिए यह दृष्टिकोण समाजीकरण के अन्तर्गत संघर्ष, ईर्ष्या, विरोध आदि से सम्बन्धित प्रशिक्षण को सम्मिलित नहीं करता। पर, वास्तव में इस प्रकार के सीमित व आदर्शात्मक दृष्टिकोण का व्यक्तित्व-विज्ञान के निर्माण में कोई भी स्थान नहीं हो सकता।

इसीलिए **श्री किम्बल यंग** ने उपर्युक्त तीन दृष्टिकोणों में से प्रथम को ही स्वीकार किया है। समाजीकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत जनरीतियों, रूढ़ियों, कानूनों, आदर्शों, मूल्यों, सामूहिक उद्देश्यों आदि का सीखना सम्मिलित है जो इसमें प्रतिस्पर्द्धा, संघर्ष, विरोध, ईर्ष्या, घृणा आदि का सीखना भी आ जाता है। यह सीखना जीवन के अति आरम्भिक काल से आरम्भ हो जाता है और जाने अनजाने, सचेत या अचेत रूप में होता रहता है। विस्तृत अर्थ में समाजीकरण सामाजिक सीखने (social learning) को वर्णन करने का एक दूसरा तरीका है, विशेषकर इस प्रकार का सीखना—जिसका सम्बन्ध आदतों, मनोवृत्तियों, विचारों और प्रत्यक्षीकरण के ऐसे प्रशिक्षण से है जो व्यक्ति को उसके समाज का सहभागी सदस्य बनाने के लिए आवश्यक है।

4.10 समाजीकरण सीखने की एक प्रक्रिया के रूप में (Socialization as a Process of Learning)

'समाजीकरण' की परिभाषाओं का उल्लेख करते हुए हमने ऊपर लिखा है कि **प्रो. किम्बल यंग** के मतानुसार 'समाजीकरण निश्चित रूप से एक प्रकार का सीखना है, न कि प्राणिशास्त्रीय विरासत।' अर्थात् इसे वंशानुक्रमण (heredity) के द्वारा माता-पिता से प्राप्त नहीं किया जाता, अपितु समाज के सदस्य के रूप में समाज में ही रहते हुए सीखा जाता है। अत: हम फिर दोहरा सकते हैं कि **समाजीकरण वास्तव में सीखने की एक प्रक्रिया है।** निम्नलिखित विवेचना से यह बात और भी स्पष्ट हो जाएगी—

चूँकि अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य का वातावरण व आचरण अधिक विस्तृत होता है और आवश्यकताएँ अनन्त, अत: मनुष्य के लिए अनुकूलन (adjustment) की समस्या अधिक जटिल होती है। इस जटिल समस्या को मानव विभिन्न प्रकार की प्रक्रियाओं द्वारा हल करता है। इन क्रियाओं को दो मोटे भागों में विभाजित किया जा सकता है—**जन्मजात** (innate) तथा **अर्जित** (acquired)। मानव के अनुकूलन की समस्या जन्मजात क्रियाओं से ही नहीं सुलझती, क्योंकि उसकी आवश्यकताओं, अभिरुचि तथा परिस्थितियों में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। अत: इस बात की आवश्यकता होती है कि इन परिवर्तनों के साथ व्यक्ति के व्यवहार में भी परिवर्तन होता रहे, ताकि परिवर्तनशील परिस्थितियों के साथ उसका सफल अनुकूलन हो सके। इसके लिए उसे अनेक क्रियाएँ 'सीखनी' पड़ती हैं। आरम्भ में बच्चा भूख लगने पर रोता है और माँ के दूध पिला देने पर चुप हो जाता है। कुछ ही देर बाद वह फिर रोता रहता है, पर उसे दूध नहीं पिलाया जाता। माँ दूध उसे एक निश्चित समय के बाद ही पिलाती है। शीघ्र ही बच्चा यह 'सीख' जाता है कि एक निश्चित समय के बाद ही रोने से उसे दूध मिलेगा, न कि उससे पहले। इस प्रकार सीखने के आधार पर ही वह बच्चा जन्मजात क्रिया (भूख और रुदन करने) में आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर लेता है ताकि उसका सफल अनुकूलन परिस्थिति के साथ (अर्थात् माँ के दूध पिलाने के एक निश्चित समय के साथ) सम्भव हो सके। इसी प्रकार व्यक्ति की सामाजिक-सांस्कृतिक आवश्यकताओं के प्रत्युत्तर (response) में और सामाजिक अन्त:क्रियाओं के दौरान व्यवहारों को अर्जित करने की प्रक्रिया सामाजिक सीखना ही है। कुछ परिभाषाएँ इस तथ्य को और भी स्पष्ट कर देंगी।

श्री गिलफोर्ड (Guilford) के अनुसार, "हम इस शब्द की परिभाषा विस्तृत रूप में यह कहकर कर सकते हैं कि सीखना, व्यवहार के परिणामस्वरूप, व्यवहार में कोई-न-कोई परिवर्तन है।"

श्री बर्न हर्ट (Bern Hardt) के मतानुसार, "एक परिस्थिति-विशेष में किसी एक उद्देश्य की प्राप्ति करने अथवा किसी समस्या को सुलझाने के प्रयास में अभ्यास द्वारा एक व्यक्ति के कार्य में बहुत-कुछ स्थायी परिवर्तन लाए जाने को सीखना कहते हैं।"

इतना ही **श्री किम्बल यंग** (Kimbal Young) ने भी सामाजिक सीखने की परिभाषा करते हुए कहा है कि "सामाजिक सीखना कुशलताओं, तथ्यों और मूल्यों को अर्जित करने की ओर संकेत करता है और यह कार्य दूसरे व्यक्तियों के सम्पर्क में रहकर अभ्यास के द्वारा किया जाता है।"

नोट

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि अपने **सम्पूर्ण पर्यावरण की विभिन्न अवस्थाओं से अनुकूलन करने के लिए एक व्यक्ति के द्वारा समाज के सदस्य के रूप में नए व सुस्थिर व्यवहार-प्रतिमानों को अर्जित करने की प्रक्रिया को ही सामाजिक सीखना कहते हैं।** सामाजिक सीखने की इस प्रक्रिया के द्वारा ही व्यक्ति का समाजीकरण होता जाता है। बच्चा जब जन्म लेता है तो उसे सामाजिक प्राणी नहीं कहा जा सकता और वह इस अर्थ में कि उस समय वह कोई भी मानवोचित व्यवहारों को कर नहीं पाता। जन्म के बाद वह अपने समाज व संस्कृति के अनेक लोगों के सम्पर्क में आता है और उनके सम्पर्क में आने से उसके जीवन में सामाजिक गुणों का संचय होता है। उदाहरणार्थ, बच्चा दूसरों की देखा-देखी गुरुजनों को प्रणाम करता है, किताब पढ़ने या कपड़ा पहनने का प्रयत्न करता है इत्यादि। इस प्रकार कुछ व्यवहारों को वह अनुकरण से, कुछ को प्रयत्न और भूल (trial and error) से, तो कुछ व्यवहारों को अपनी सूझ से सीखता जाता है। सामाजिक सीखने का यह तरीका कुछ भी हो, इतना तो स्पष्ट ही है कि प्रत्येक नई चीज को सीखने के साथ ही समाजीकरण की प्रक्रिया भी एक पग आगे बढ़ जाती है क्योंकि किसी भी चीज को सीखना सामाजिक प्राणी के रूप में उसकी एक विशेषता या गुण बन जाता है। अत: हम कह सकते हैं कि सामाजिक सीखना व समाजीकरण में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

4.11 सामाजिकता सीखने या समाजीकरण के कारक (Factors of Social Learning or Socialization)

समाजीकरण या सीखने की प्रक्रिया अत्यन्त जटिल प्रक्रिया है। इसी कारण सामाजिक सीखने में एकाधिक कारकों का योगदान रहता है। इन कारकों में से कुछ महत्त्वपूर्ण कारकों की विवेचना निम्नलिखित है–

(अ) मनोवैज्ञानिक कारक (Psychological Factors)

वास्तव में मन और मस्तिष्क से किसी चीज को ग्रहण किए बिना उसे सही अर्थ में सीखना सम्भव नहीं होता। अत: सीखने की प्रक्रिया में अनेक मनोवैज्ञानिक कारकों का योग होता है। ये कारक निम्नलिखित हैं–

1. **प्रणोदन** (Drives)—प्रणोदन का अर्थ समझाते हुए **श्री किम्बल यंग** (Kimbal Young) ने लिखा है, "प्रणोदन एक शक्तिशाली उत्तेजना है तो सावयव के कुछ असन्तुलन के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है और प्रतिक्रिया करने को बाध्य कर देती है।" उदाहरणार्थ, भूख एक विशेष प्रकार का प्रणोदन है। भूख लगने पर उसकी कुछ-न-कुछ प्रतिक्रिया हमारे शरीर पर पड़ती है जिसके फलस्वरूप प्राणी इस बात को विवश हो जाता है कि वह भूख को शान्त करने का कोई-न-कोई उपाय करे। प्रणोदन के इसी बाध्यतामूलक प्रभाव के कारण व्यक्ति को अनेक प्रकार की चीजों को सीखना पड़ता है। उदाहरणार्थ, प्यास का प्रणोदन हमें इस बात को प्रेरित करता है कि हम गिलास को पकड़ने और पानी पीने के तरीकों को सीख लें। गिलास या अन्य किसी पात्र के अभाव में चुल्लू द्वारा किस प्रकार पानी पीना चाहिए, यह बात भी हम प्यास के प्रणोदन से ही प्रेरित होकर सीखते हैं।
2. **संकेत या 'क्यू'** (Cue)—सीखने की प्रक्रिया में जिन मनोवैज्ञानिक कारकों का योगदान रहता है उनमें संकेत का भी विशेष स्थान है। इसका कारण यह है कि संकेत प्रणोदन (drive) का मार्गदर्शक होता है। **सर्वश्री डॉलर्ड और मिलर** (Dollard and Miller) ने इसी बात का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि प्रणोदन व्यक्ति को प्रतिक्रिया करने को बाध्य करता है, पर व्यक्ति की यह प्रतिक्रिया कब, कहाँ और कैसे होगी, यह संकेत (cue) द्वारा ही निश्चत होता है। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति में काम-वासना जागृत होती है। इस वासना की अनेक प्रकार की प्रतिक्रिया हो सकती है। पर उसे वर्तमान परिस्थिति के अनुसार किस प्रकार से अपनी काम-वासना को तृप्त करना है इसका निर्देश या सुझाव व्यक्ति को संकेत से ही प्राप्त होगा। अत: इन सुझावों के कारण व्यक्ति को सीखने के सही तरीके मालूम हो जाते हैं। इस अर्थ

नोट

में प्रणोदन और संकेत एक-दूसरे के पूरक हैं। प्रणोदन उत्तेजना को उत्पन्न करके व्यक्ति को प्रतिक्रिया करने को बाध्य करता है, जबकि संकेत उस प्रतिक्रिया की दिशा, स्वरूप व समय निर्धारित करता है।

3. **प्रतिक्रिया** (Response)—सीखने की प्रक्रिया में तीसरा महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक कारक प्रतिक्रिया है। सही प्रकार की प्रतिक्रिया के बिना किसी भी नई चीज को सीखना सम्भव नहीं है। उदाहरणार्थ, शिक्षक के पढ़ाने के प्रति यदि बच्चे की प्रतिक्रिया ठीक नहीं है तो बच्चे के लिए पढ़ना-लिखना सीखना सम्भव नहीं। आरम्भ में जब बच्चे को किसी तरह का कोई भी पूर्व-अनुभव नहीं होता तो वह विभिन्न वस्तुओं या परिस्थितियों के प्रति उचित प्रतिक्रिया भी नहीं कर पाता है। इसीलिए उसके सीखने की प्रक्रिया में कोई क्रमबद्धता नहीं होती है। पर धीरे-धीरे बुद्धि और अनुभव के विकास के साथ-साथ उचित प्रतिक्रिया करने की योग्यता का विकास उसमें हो जाता है।
4. **सुगमता** (Facilitation)—सामाजिकता सीखने या समाजीकरण के मनोवैज्ञानिक कारकों में सुगमता का भी पर्याप्त महत्त्व है। सुगमता से तात्पर्य कर्ता (actor) के दृष्टिकोण से किसी क्रिया का सरल व रुचिकर होना है। यह तो मानी हुई बात है कि व्यक्ति को जो क्रियाएं सरल व रुचिकर लगती हैं, उसको सीखने में उसे देर नहीं लगती क्योंकि ऐसे कार्यों को वह दिल लगाकर सीखता है।
5. **प्रत्याशा** (Expectancy)—प्रत्याशा भी एक ऐसी मनोवैज्ञानिक या मानसिक स्थिति है जो कि व्यक्ति को सीखने के लिए आवश्यक प्रयास करने को प्रेरित करती है। उदाहरणार्थ, यदि एक बेरोजगार व्यक्ति को यह आशा हो कि उसके टाइप राइटिंग, शॉर्ट-हैण्ड सीख जाने से उसे अच्छी नौकरी मिल जायेगी तो यह स्वाभाविक ही है कि उसकी यह प्रत्याशा उसे हर दु:ख-कष्ट को झेलकर भी बड़े लगन से टाइप-राइटिंग, शॉर्ट-हैण्ड सीखने को प्रेरित करेगी।

(ब) भौतिक कारक (Physical Factors)

मानव एक भौतिक पर्यावरण में निवास करता और सीखता है। अत: सीखने की प्रक्रिया में अनेक भौतिक कारक भी अपना-अपना योगदान करते हैं। उदाहरणार्थ, हवा की शुद्धता या अशुद्धता, तापक्रम का कम या अधिक होना, प्रकाश की मात्रा, नमी की मात्रा, धूप का प्रबन्ध आदि अनेक भौतिक या प्राकृतिक दशाओं का प्रभाव सीखने पर पड़ता है। **श्री हण्टिंगटन** (Huntington) के मतानुसार अत्यधिक गर्मी या अत्यधिक ठण्डक सीखने में बाधक कारक हैं, जबकि समशीतोष्ण जलवायु सीखने में सहायक कारक हैं। उनके अनुसार अधिक गर्मी या अधिक सर्दी से व्यक्ति परेशान हो जाता है और किसी काम में मन नहीं लगा पाता। इसके विपरीत, शारीरिक या मानसिक, दोनों प्रकार के कार्य बसन्त ऋतु में सबसे अधिक और उत्तम हो सकते हैं। व्यक्ति किसी भी काम में मन लगा सकता है और सीखने के लिए आवश्यक अभ्यास कर सकता है। **हण्टिगटन महोदय** का मत है कि जलवायु स्वास्थ्य निश्चित करती है; और स्वास्थ्य शारीरिक व मानसिक कुशलता निश्चित करता है; और इस कुशलता का प्रभाव सीखने की प्रक्रिया पर पड़ता है।

(स) सामाजिक कारक (Social Factors)

चूँकि व्यक्ति एक भौतिक पर्यावरण में ही नहीं, अपितु एक सामाजिक पर्यावरण में भी रहता व पलता है। अत: सीखने की प्रक्रिया पर अनेकानेक सामाजिक कारकों का भी प्रभाव पड़ता है। इनमें से निम्नलिखित कुछ कारक मुख्य हैं–

1. **सामाजिक प्रोत्साहन** (Social Encouragement)—व्यक्ति अपनी वास्तविक सामाजिक परिस्थिति में रहते हुए ही सीखता है। यह परिस्थिति यदि उसे प्रोत्साहन देने वाली हो तो व्यक्ति के लिए सीखना सरल हो जाता है। व्यक्ति को यह सामाजिक प्रोत्साहन अनेक रूप में मिल सकता है। उनमें एक रूप है अन्य व्यक्तियों की उपस्थिति। अपने ही समान सीखने वाले अन्य व्यक्तियों की उपस्थिति में सीखने का कार्य सरल हो जाता है साधारणतया यह देखा गया है कि दूसरे लोगों को कुछ सीखने का प्रयास करते देखकर एक व्यक्ति अपने अन्दर भी उसी प्रकार प्रयास द्वारा सीखने की प्रेरणा न केवल प्राप्त करता है अपितु दूसरों को देखकर अनुकरण के द्वारा भी बहुत-कुछ सीख जाता है। सामाजिक प्रोत्साहन सामाजिक

सहयोग के रूप में भी व्यक्ति के सीखने की प्रक्रिया को प्रभावित कर सकता है। माता-पिता, भाई-बहन, शिक्षक-प्रशिक्षक आदि के सहयोग से ही व्यक्ति के लिए असंख्य व्यवहारों को सीखना सम्भव होता है। उसी प्रकार सामाजिक प्रोत्साहन एक व्यक्ति को सामाजिक सुविधाओं के रूप में भी मिल सकता है। इस प्रकार की सुविधाएँ सीखने की प्रक्रिया को सरल बना देती हैं। उदाहरणार्थ, गाँव की अपेक्षा शहरों में पढ़ने-लिखने की सुविधाएँ अधिक प्राप्त होने के कारण गाँव की अपेक्षा नगरों के लोग पढ़ना-लिखना अधिक सीख जाते हैं।

नोट

2. **प्रशंसा तथा निन्दा** (Praise and Blame)—प्रशंसा सीखने में सहायक कारक है जबकि निन्दा बाधक कारक। प्रशंसा प्राप्त होने पर व्यक्ति को एक क्रिया के दोहराने और उसका पुष्टिकरण करने में प्रोत्साहन मिलता है। बच्चों के अच्छे कार्यों की प्रशंसा होती है तो वे विभिन्न व्यवहारों को शीघ्रता से सीख लेते हैं। प्रत्येक व्यक्ति यह चाहता है कि वह जो कुछ भी कर रहा है, उसके लिए उसे दूसरों से स्वीकृति या पुरस्कार मिले। सामाजिक पुरस्कार व स्वीकृति उसे प्रशंसा के रूप में मिलती है। इससे उसमें नया उत्साह भर जाता है और वह एक कार्य-विशेष का अभ्यास अच्छी तरह कर सकने की शक्ति अपने में पाता है। इसके विपरीत जिन कार्यों को करने से अन्य व्यक्तियों द्वारा उसकी निन्दा होती है, उनको व्यक्ति त्याग देने की ही बात सोचता है। इस प्रकार प्रशंसा और निन्दा सीखने में महत्त्वपूर्ण कारक हैं।

3. **अनुकरण** (Imitation)—**सर्वश्री ड्रिवर** (Drever) **तथा मैकडूगल** (McDougall) ने बालकों के सीखने में 'अनुकरण' को आधार माना है। यद्यपि इस सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन अगले अध्याय में प्रस्तुत किया जाएगा, फिर भी यहाँ यह कहना अनावश्यक न होगा कि अनुकरण सीखने की प्रक्रिया को अति संक्षिप्त कर देता है, क्योंकि अनुकरण की सहायता से किसी व्यक्ति को कोई कार्य करते देखकर, वैसा ही कार्य तुरन्त सीख लेना सरल होता है। इससे समय की भी बहुत बचत होती है, क्योंकि हम समस्त असफल प्रतिक्रियाओं से बच जाते हैं और दूसरे व्यक्तियों की सफल प्रतिक्रियाओं को देख-सुनकर नकल कर लेते हैं। इससे एक लाभ यह और होता है कि अनुकरण द्वारा सीखने में गलतियों की सम्भावना कम हो जाती है, क्योंकि जिसकी हम नकल करते हैं, उस व्यक्ति से हमें एक क्रिया-विशेष का एक बना-बनाया स्वरूप प्राप्त हो जाता है। सीखने की प्रक्रिया में अनुकरण का यही महत्त्व है।

4. **सुझाव** (Suggestion)—सीखने की प्रक्रिया में सुझाव के महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि ठीक ढंग से प्रस्तुत किया जाए तो सुझाव का प्रभाव व्यक्ति पर बहुत अधिक होता है–विशेषकर यदि वह सुझाव किसी प्रतिष्ठित या आदर्श व्यक्ति से प्राप्त हो। इसीलिए बच्चे अपने माता-पिता, शिक्षक आदि के सुझावों के आधार पर अनेक सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवहारों या क्रियाओं को सीखने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। परन्तु स्मरण रहे कि सुझाव ग्रहण करने की क्षमता प्रत्येक व्यक्ति में समान नहीं होती है। इस कारण सीखने की प्रक्रिया में सुझाव प्रत्येक व्यक्ति को समान रूप से प्रभावित नहीं कर पाता। फिर भी, अच्छे-बुरे का भेद करना या उपयुक्त-अनुपयुक्त, धार्मिक-अधार्मिक, नैतिक-अनैतिक कार्यों के बीच अन्तर करना व्यक्ति दूसरों से प्राप्त सुझावों के आधार पर ही सीखता है। परम्पराएँ, रीति-रिवाज, समाज के अन्य नियम आदि व्यक्ति को पग-पग पर सुझाव देते रहते हैं, जिनकी सहायता से व्यक्ति के लिए अनेक प्रकार के व्यवहारों को सीखना सहज हो जाता है।

5. **प्रतिस्पर्धा** (Competition)—प्रतिस्पर्धा भी सीखने का एक महत्त्वपूर्ण प्रेरक है। विभिन्न परीक्षणों से यह पता चला है कि जहाँ-कहीं भी किसी सामाजिक व्यवहारों को सीखने में प्रतिस्पर्धापूर्ण परिस्थिति उत्पन्न कर दी गई, वहाँ सीखना अच्छे ढंग से हुआ। उदाहरणार्थ, स्कूल की वार्षिक खेलकूद प्रतियोगिता में भाग लेने और उसमें सफलता प्राप्त करने की इच्छा अनेक बालकों को साल-भर विभिन्न प्रकार के खेलकूदों को सीखने को प्रेरित करती है। इसी प्रकार यह आर्थिक प्रतिस्पर्धा का ही परिणाम है कि आर्थिक क्षेत्र में हम व्यापार और वाणिज्य से सम्बन्धित अनेक बातों को आए-दिन सीखते रहते हैं। वास्तविकता तो यह है कि प्रतिस्पर्धा एक ऐसी संवेगात्मक परिस्थिति को उत्पन्न कर देती है, जिसमें उस परिस्थिति से सम्बन्धित

हर व्यक्ति दूसरों की तुलना में एक उद्देश्य की प्राप्ति की दौड़ में आगे निकलना चाहता है। इसलिए वह नए-नए व्यवहारों या तरीकों को सीखकर उस प्रतिस्पर्धा में सफल होने के स्वप्न देखता है।

नोट

6. **सहयोग** (Cooperation)—सहयोग का भी अत्यधिक प्रभाव व्यक्ति के सीखने की प्रक्रिया पर पड़ता है। वास्तव में अनेक व्यवहार ऐसे होते हैं जिन्हें व्यक्ति बिना दूसरों के सहयोग के नहीं सीख सकता। यह सहयोग प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों ही तरह के हो सकते हैं। जब माँ बच्चे का हाथ पकड़कर उसे चलना या लिखना सिखाती है तो उसे 'प्रत्यक्ष सहयोग' कहते हैं; और जब गृहणी किसी पुस्तक को पढ़कर खास पकवान बनाना सीखती है, तो उसे 'अप्रत्यक्ष सहयोग' कहते हैं, क्योंकि इसमें सीखने की प्रक्रिया में सहयोग करने वाला व्यक्ति प्रत्यक्षत: उपस्थित रहकर सहयोग नहीं देता। वास्तव में दोनों ही प्रकार के सहयोग महत्त्वपूर्ण हैं। दूसरे का सहयोग व्यक्ति को सीखने के लिए प्रेरित करता है, क्योंकि उसे यह विश्वास हो जाता है कि सीखने के कार्य में वह बिल्कुल असहाय और अकेला नहीं है, आवश्यकतानुसार उसे दूसरों से सहायता और सहयोग मिलता ही रहेगा।

(घ) सांस्कृतिक कारक (Cultural Factors)

प्रत्येक समाज में कुछ सांस्कृतिक तत्व होते हैं और इस प्रकार संस्कृति स्वयं ही सीखने की प्रक्रिया में एक महत्त्वपूर्ण कारक बन जाती है। वास्तव में संस्कृति स्वयं ही एक सीखा हुआ व्यवहार-प्रतिमान है। अत: सीखने की प्रक्रिया में इसके महत्त्व को शायद ही भुला जा सके। संस्कृति के एक अंग 'भाषा' को ही लिया जा सकता है। सीखने की क्रिया में भाषा का महत्त्व वास्तव में अत्यधिक है। उसी प्रकार धर्म भी संस्कृति की एक अभिव्यक्ति ही है। प्रत्येक धर्म में कुछ आदर्श या व्यवहार करने के तरीके होते हैं और प्रत्येक समाज अपने सदस्यों को इन आदर्शों आदि के विषय में सिखा देता है। इतना ही नहीं, प्रत्येक समाज में भौतिक संस्कृति का भी एक विशेष रूप होता है और यह भौतिक संस्कृति मानव के सीखने की प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण है। उदाहरणार्थ, एक औद्योगिक समाज अपने सदस्यों को मशीनों के सम्बन्ध में बहुत-कुछ सिखा देता है और इस प्रकार सिखाने की प्रक्रिया में अनेक प्रकार की आदतों का विकास होता है। **श्री वेब्लेन** (Veblen) का कथन है कि एक व्यक्ति जिस प्रकार कार्य करता है, उसी प्रकार सोचता भी है। इस प्रकार स्पष्ट है कि भौतिक संस्कृति भी सीखने की प्रक्रिया को प्रभावित करती है और इस रूप में सीखने की प्रक्रिया में सांस्कृतिक कारकों का भी महत्त्व स्पष्ट हो जाता है।

4.12 सामाजिकता सीखने या समाजीकरण की विधियाँ (Methods of Social Learning or Socialization)

मानव के सीखने का क्षेत्र, वास्तव में, अत्यधिक विस्तृत एवं जटिल है। मानव एक सामान्य शब्द के उच्चारण करने से लेकर जटिल-से-जटिल मशीनों का काम करना तक सीखता है। वास्तविकता तो यह है कि इस सभी को किसी एक यन्त्रवत् विधि (mechanical method) के आधार पर परिभाषित नहीं किया जा सकता। अर्थात् सीखने की एकाधिक विधियाँ होती हैं, जिनमें से निम्नलिखित मुख्य हैं–

1. **अनुकरण से सीखना** (Learning by Imitation)—सामाजिक सीखने का सर्वप्रथम प्रकार अनुकरण से सीखना है। वास्तव में यह सीखने की अत्यन्त सरल एवं व्याप्त विधि है। इस विधि का सरल रूप यह है कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के व्यवहार की नकल उतारता है और जब इस काम में सफल हो जाता है तो उस व्यवहार को वह सीख जाता है। अनुकरण विधि में व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति से व्यवहार का एक बना-बनाया स्वरूप (ready-made form) प्राप्त करता है और उसे अपने व्यवहार में उतारने या अनुकरण करने का प्रयत्न करता है। और इस प्रकार नए व्यवहारों को सीख जाता है। उदाहरणार्थ, बच्चा औरों को एक निश्चित ढंग से हाथ जोड़कर नमस्ते करते देख उसी की नकल उतारता है और दो-चार प्रयत्न करने के पश्चात् हाथ जोड़कर नमस्कार करना सीख जाता है। उसी प्रकार अपने शिक्षक के व्यवहार का अनुकरण करके एक विद्यार्थी लेक्चर देना सीख जाता है।
2. **प्रयत्न और भूल से सीखना** (Learning by Trial and Error)—सामाजिक सीखने की यह दूसरी लोकप्रिय विधि है। इस विधि का सरल रूप यह है कि व्यक्ति कुछ सीखने के लिए प्रयत्न करता है,

प्रयत्न करते हुए गलतियाँ भी करता है, उन गलतियों को स्वयं सुधारने का प्रयत्न करता है और इसी भाँति प्रयत्न व भूल के बीच सीखता जाता है। यह एक पुरानी कहावत है कि 'हम अपनी गलतियों से सीखते हैं'। इसका तात्पर्य यही है कि प्रत्येक गलती हमारे अनुभवों में वृद्धि करती है और वह अनुभव हमारे सीखने की प्रक्रिया में सहायक सिद्ध होता है। एक ही काम को बार-बार करने का प्रयत्न करने पर धीरे-धीरे गलतियाँ कम होती जाती हैं अर्थात् पहली बार प्रयत्न करने पर जितनी गलतियाँ होती हैं, उतनी गलतियाँ दूसरी बार प्रयत्न करने पर नहीं होती हैं। इसी प्रकार प्रयत्न करते रहने पर अन्त में कोई गलती नहीं होती है और इस प्रकार अपने प्रयत्नों द्वारा व्यक्ति जो कुछ सोचता है वह उसके व्यक्तित्व की एक स्थायी सम्पदा बन जाती है। इस विधि द्वारा व्यक्ति तब ही सीख सकता है जबकि वह गलतियों तथा रुकावटों से घबराता नहीं है अपितु लक्ष्य की प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। उसकी अपनी भूल-भ्रान्तियाँ उसे हतोत्साहित नहीं अपितु और भी अधिक लगन से और अधिक प्रयत्न करने को प्रेरित करती हैं।

नोट

3. **अन्तर्दृष्टि द्वारा सीखना** (Learning through Insight)—कभी-कभी व्यक्ति अपनी ही सूझ-बूझ की सहायता से बिना किसी निरन्तर प्रयत्न के ही नए व्यवहार को सीख जाता है। इसी को हम अन्तर्दृष्टि विधि द्वारा सीखना कहते हैं। प्रयत्न और भूल विधि में व्यक्ति को बार-बार प्रयत्न करके भूल-भ्रान्तियों के बीच सीखना होता है, पर अन्तर्दृष्टि विधि में उसकी अपनी सूझ-बूझ निरन्तर प्रयत्न करते रहने की इस लम्बी विधि से उसे बचा देती है और वह एकाएक ही एक व्यवहार को करने की विधि सीख जाता है। सूझ-बूझ का सम्बन्ध मस्तिष्क से होता है। इसीलिए अन्तर्दृष्टि विधि में व्यक्ति के लिए मस्तिष्क का सहयोग प्राप्त कर लेना अनिवार्य है। इस अर्थ में अन्तर्दृष्टि विधि को अपनी बुद्धि से सीखने की विधि भी कहा जा सकता है। इसीलिए अन्तर्दृष्टि विधि द्वारा पशु की अपेक्षा मानव और बालकों की अपेक्षा वयस्क लोग अधिक सीखते हैं।
4. **प्रतिबद्ध प्रतिक्रिया द्वारा सीखना** (Learning by Conditioned Response)—इस प्रकार के सामाजिक सीखने में व्यक्ति एक काल्पनिक या कृत्रिम परिस्थिति या उत्तेजक के प्रति प्रतिक्रिया (response) करता है और उससे प्राप्त अनुभव के आधार पर एक क्रिया-विशेष को सीख जाता है। यह देखा गया है कि बच्चों को दूध पिलाते समय या सुलाते समय माँ अक्सर उसे 'झोला बाबा' या 'काली बिल्ली' नामक काल्पनिक 'जीव' का उल्लेख करके अपने बच्चे को डराने का प्रयत्न करती है। इस काल्पनिक जीव के प्रति बच्चा प्रतिक्रिया करता है और उसके डर से दूध पी लेता है या सो जाता है, पर बार-बार ऐसा होने पर बच्चा वास्तव में झोला लिए प्रत्येक बूढ़े बाबा से डरना सीख जाता है। उसी प्रकार लकड़ी के घोड़े पर सवार होकर घोड़े को हाँकने का कृत्रिम अभिनय करते-करते घोड़े पर सवार होने और उसे हाँकने की कला बच्चा सीख जाता है। ये सभी प्रतिबद्ध प्रतिक्रिया द्वारा सीखने के उदाहरण हैं।
5. **प्रतीकात्मक सीखना** (Symbolic Learning)—सामाजिक सीखने का एक अन्य महत्त्वपूर्ण विधि प्रतीकात्मक सीखना है। इस विधि के बारे में **श्री किम्बल यंग** (Kimbal Young) ने लिखा है कि "प्रतीकात्मक सीखना सबसे जटिल तथा सर्वश्रेष्ठ प्रकार का सीखना है जिसमें प्रतीकों को तार्किक ढंग से विश्लेषित किया जाता है।" वास्तव में इस विधि में व्यक्ति प्रतीकों के माध्यम से सीखता है। भाषा भी एक प्रकार का प्रतीक है और इस अर्थ में भाषा के माध्यम से जो कुछ भी हम सीखते हैं वह इसी विधि के अन्तर्गत आता है। उसी प्रकार धर्म हमारे नैतिक जीवन का प्रतीक है और प्रत्येक धर्म अपने अनुयायियों को पवित्र आचरण, सदाचार, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक आदि के सम्बन्ध में बहुत-कुछ सिखाता है। पर इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि प्रतीक स्वयं एक सांस्कृतिक तत्व है और इसीलिए प्रतीकात्मक विधि का रूप या स्वरूप तथा प्रभाव उस समाज की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर निर्भर करता है।

उदाहरण एक समाज की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि यह है कि वहाँ केवल निराकार शक्ति की आराधना की जाती है। ऐसी अवस्था में यह आशा नहीं की जा सकती कि उस समाज के सदस्य साकार देवी-देवताओं को पूजना सीख जाएँगे।

4.13 समाजीकरण की प्रक्रिया के स्तर या अवस्थाएँ (Stages of the Process of Socialization)

नोट

समाजीकरण एक प्रक्रिया है और वह भी इस अर्थ में कि व्यक्ति का समाजीकरण जन्म से मृत्यु तक निरन्तर चलने वाली घटना है। व्यक्ति का समाजीकरण उसके जीवन के किसी विशिष्ट क्षण, दिन या वर्ष में होता है, ऐसी बात नहीं है। समाजीकरण की प्रक्रिया तो जन्म के बाद से आरम्भ होकर जीवन भर चलती रहती है। फिर भी अध्ययन की सुविधा के लिए समाजीकरण की प्रक्रिया को कुछ निम्नलिखित प्रमुख अवस्थाओं के विभाजित किया जा सकता है–

1. **पहली अवस्था या स्तर** (First Stage)—समाजीकरण की प्रक्रिया व्यक्ति के जन्म के बाद से ही प्रारम्भ होती है। अपनी मूल-प्रवृत्तियों (instincts) व अन्य प्राणिशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक क्षमताओं एवं लक्षणों के कारण जन्म के बाद बच्चा कुछ आरम्भिक क्रिया-कलाप करता है, जैसे हाथ-पैर पटकता है, भूख लगने पर रोता है आदि। जब माँ उसे दूध पिला देती है तो वह चुप हो जाता है। परन्तु, हर बार उसके रोने से ही माँ दूध नहीं पिला देती; वह प्राय: एक निश्चित समय के बाद ही उसे दूध पिलाती है। माँ की इस प्रक्रिया के फलस्वरूप बच्चे के व्यवहार में कुछ परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं और वह इस रूप में कि भूख लगने पर भी वह प्राय: रोता नहीं है क्योंकि वह सीख जाता है कि उसकी माँ एक निर्धारित समय पर ही उसे दूध पिलाएगी। इस प्रकार मूल-प्रवृत्यात्मक क्रियाओं को भी सुधारने या उनको नियन्त्रित करने का गुण बच्चे में पनपना आरम्भ हो जाता है। इसी रूप में शायद समाजीकरण की प्रक्रिया आरम्भ होती है। उसके बाद धीरे-धीरे बच्चा परिवार के अन्य सदस्यों की देखा-देखी हँसता है, चीजों को पकड़ना सीखता है, किसी का हाथ पकड़ना सीखता है, निरन्तर दूसरे लोगों की बातों को सुनकर और होंठों को हिलाकर बातचीत करते देखकर स्वयं भी दो-चार शब्दों का उच्चारण करने का प्रयत्न करता है। अंतत: तोतली भाषा में कुछ-कुछ बोलना सीख जाता है। इसी प्रकार बच्चा धीरे-धीरे परिवार के सदस्यों की नकल करते हुए उनका पार्ट भी अदा करने (acquisition of roles) लगता है। कभी वह माँ की स्थिति में अपने को स्थापित कर गुड्डे (doll) के साथ बिल्कुल उसी तरह का व्यवहार करता है जिस तरह का माँ उसके साथ करती है। कभी वह पिताजी की छड़ी (stick) उठाकर किसी को उसी भाँति पीटने और बड़बड़ाने लगता है, जैसे कि पिताजी को करते हुए उसने देखा है। इसी प्रकार के पार्ट (roles) अदा करते-करते अनेक व्यवहार उस बच्चे में स्थिर हो जाते हैं। साथ ही धीरे-धीरे बच्चा अपने तथा पिताजी के बीच और अपने तथा माँ के मध्य क्या अन्तर है, यह भी समझ जाता है; और वह स्वयं क्या है, इस सत्य को भी जान जाता है। इसी प्रकार 'आत्म' (self) का भी विकास होता है जो कि समाजीकरण का एक आवश्यक तत्व है क्योंकि अपने को पहचाने बिना दूसरों के स्वरूपों को पहचानना सम्भव नहीं होता। इस प्रकार आत्मा के विकास से व्यक्ति न केवल अपने व्यक्तित्व के सम्बन्ध में ही, अपितु अपने और दूसरों के बीच समानता व अन्तर के विषय में भी जागरूक हो जाता है। इस प्रकार समाजीकरण की प्रक्रिया में पारिवारिक अन्त:क्रियाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है।

2. **दूसरी अवस्था या स्तर** (Second Stage)—समाजीकरण की प्रक्रिया की दूसरी अवस्था उस समय आरम्भ होती है जब कि बच्चा परिवार के बाहर अपने पड़ोस व खेल-साथी समूह के बच्चों के सम्पर्क में आता है, उनके साथ खेलता है और कभी-कभी लड़-झगड़ कर या मारपीट करके घर लौटता है। सामाजिक अनुकूलन के दृष्टिकोण से खेल के साथियों का यह समूह परिवार से अधिक व्यापक होता है क्योंकि इसमें विभिन्न परिवारों के विभिन्न गुण वाले बच्चों का समावेश होता है और बच्चे को उनके साथ अनुकूलन करना पड़ता है। इस अनुकूलन के दौरान उसमें इस प्रकार के कुछ गुण विकसित हो जाते हैं, जिनके आधार पर दूसरे लोगों के साथ मिलकर रहना उसके लिए सम्भव हो जाता है।

3. **तीसरी अवस्था या स्तर** (Third Stage)—कुछ समय बाद बच्चा शिक्षा प्राप्त करने या अन्य कारणों से अनेक व्यस्कों (adults) के सम्पर्क में आता है। ये लोग न केवल शिक्षा के माध्यम से अपितु बातचीत, प्रशिक्षण आदि के माध्यम से भी अनेक बातें बच्चे को सिखा देते हैं। बच्चा स्वयं भी दूसरों की नकल या अनुकरण करके

बहुत-कुछ सीख जाता है। यहीं पर बच्चों को न केवल वृहत्तर जगत् के सम्बन्ध में ज्ञान होता है अपितु वह अनेक नवीन अनुभवों का संचय भी करता रहता है।

नोट

4. **चौथी अवस्था या स्तर** (Fourth Stage)—किशोरावस्था या यौवनावस्था (adolescence) के साथ ही समाजीकरण की प्रक्रिया की चौथी अवस्था आरम्भ होती है। किशोरावस्था के साथ ही बच्चे के समक्ष अनेक नई स्थितियाँ और समस्याएँ आ खड़ी होती हैं, जिनके साथ सामंजस्य स्थापित करना आवश्यक हो जाता है। इस अवस्था में अनेक शारीरिक परिवर्तन भी होते हैं और उन परिवर्तनों से अपना अनुकूलन करने के लिए व्यवहारों के नये तरीके भी सीखने पड़ते हैं। उदाहरणार्थ, लड़कियाँ जब युवती बन जाती हैं तो उनमें जो शारीरिक परिवर्तन होते हैं उनके कारण उन्हें फ्रॉक छोड़कर सलवार-कुर्ता पहनना प्रारम्भ करना पड़ता है। उनमें लज्जाशीलता बढ़ जाती है, साथ ही नई भावनाएँ भी उन्हें आ घेरती हैं। इसीलिए किशोरावस्था समाजीकरण की प्रक्रिया की दृष्टि से, बहुत ही गम्भीर तथा कोमल परिस्थितियाँ प्रस्तुत करती है। इस अवस्था में उसे अपने से विपरीत लिंग (opposite sex) के सदस्यों के प्रति केवल पुनः अनुकूलन (readjustment) की ही आवश्यकता नहीं होती, बल्कि उसे अन्य आयु-वर्गों (age-groups) जैसे बच्चों, माता-पिता, वृद्धजनों आदि के प्रति नई मनोवृत्तियाँ (attitudes) बनानी पड़ती हैं। उदाहरणार्थ, पहले लड़का (बचपन में) नि:सकोच होकर अपनी माँ से लिपट जाया करता था, उसे (माँ) प्यार कर लिया करती थी, परन्तु किशोरावस्था में आ जाने के बाद उसी लड़के को ऐसा करने में संकोच होता है और वह नि:संकोच भाव से अपनी माँ से जाकर नहीं लिपट पाता। दूसरे शब्दों में, माँ के प्रति किए जाने वाले अपने पहले के उस स्वच्छन्द व्यवहार को उसे बदलना पड़ता है। इसी प्रकार अन्य लोगों के प्रति होने वाले व्यवहार भी परिवर्तित हो जाते हैं। विकास की यही एक अवस्था होती है जब समाजीकरण की अनेक असफलताएँ व्यक्ति के सामने आती हैं।

5. **पाँचवी अवस्था या स्तर** (Fifth Stage)—यह अवस्था व्यक्ति के विवाह के साथ प्रारम्भ होती है। विवाह करने पर एक अपरिचित लड़की या स्त्री से व्यक्ति का परिचय होता है या एक अपरिचित पुरुष के घर जाकर लड़की को बस जाना पड़ता है। दोनों ही स्थितियों में अनुकूलन की समस्या सामने आती है और इस समस्या को हल करने के प्रयत्न में ही व्यक्ति अनेक नए व्यवहारों व क्रियाओं को करना सीख जाता है। उदाहरणार्थ, पति या पत्नी के रूप में परिवार से सम्बन्धित उत्तरदायित्व को सम्भालना, यौन-सम्बन्ध स्थापित करना, बच्चों को जन्म देना, उनका पालन-पोषण करना, विवाह द्वारा उत्पन्न अनेक नए नाते-रिश्तेदारों के प्रति अपने कर्त्तव्यों को निभाना आदि कितने ही नवीन कार्य एवं व्यवहार व्यक्ति को करने होते हैं या उन्हें सीखना होता है। कहना न होगा कि यह सभी कुछ समाजीकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत ही आता है।

6. **छठी या अन्तिम अवस्था या स्तर** (Sixth or Last Stage)—समाजीकरण की अन्तिम अवस्था में व्यक्ति अपनी वृद्ध अवस्था में आ पहुँचता है; उद्योग-धन्धा, व्यापार या नौकरी के झंझटों से अवकाश ग्रहण करता है और नाती-पोतों को लेकर संतोष का एक जीवन व्यतीत करने लगता है अथवा इसके विपरीत अपनी ही आँखों के सामने अपने जवान लड़के को मरते देखता है, नाती-पोतों से एक-एक करके हाथ धोता है, अपने ही जीवन-साथी (पति अथवा पत्नी) को अपने ही हाथों चिता पर सुला आता है और सब कुछ खोकर स्वयं एक प्राणहीन पत्थर की मूर्ति की भाँति भावहीन भोलानाथ बन जाता है। दोनों ही अवस्था में उसे यह अनुभव होने लगता है कि जैसे उसने सब कुछ सीख लिया है और उसे सब कुछ मिल गया है; अब और कुछ सीखने की उसमें इच्छा नहीं है, साथ ही उसे अब कुछ चाहिए भी नहीं। इस अवसर पर पहुँचने के पश्चात् समाजीकरण की प्रक्रिया लगभग समाप्त ही हो जाती है।

4.14 समाजीकरण की मुख्य संस्थाएँ, साधन या अभिकरण (Chief Institutions, Sources or Agencies of Socialization)

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि समाजीकरण की प्रक्रिया एक जटिल प्रक्रिया है। जिसमें अनेक संस्थाओं का योगदान होता है। वास्तव में चूँकि समाजीकरण एक सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया है, इस कारण इसकी सफलता

या विफलता किसी एक कारण या संस्था पर निर्भर नहीं होती, बल्कि एकाधिक संस्थाओं पर आधारित होती है। दूसरे शब्दों में, समाजीकरण के कुछ साधन होते हैं। इन साधनों अथवा संस्थाओं को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है :

नोट

1. **परिवार-एक समाजीकरण करने वाली संस्था के रूप में** (Family—as a Socializing Agency)—समाजीकरण करने वाली संस्था के रूप में परिवार का महत्त्व वास्तव में असाधारण है। यह कहा जाता है कि माँ के त्याग और पिता के संरक्षता में रहते हुए बच्चा जो भी सीखता है, वह उसके जीवन की स्थायी पूँजी होती है। इसका कारण भी स्पष्ट है और वह यह है कि परिवार एक प्राथमिक समूह है, इस कारण परिवार में आमने-सामने का सम्बन्ध (face to face relationship) होता है और यह सम्बन्ध अधिक स्थायी व निरन्तर चलने वाला होता है। परिवार के सदस्यों के बीच अधिक घनिष्ठता, सहयोग, स्नेह-प्यार, दुलार आदि होता है। ये सभी विशेषताएँ समाजीकरण में सहायक होती हैं।

बच्चा सबसे पहले परिवार में जन्म लेता है और इस रूप में वह परिवार की सदस्यता ग्रहण करता है। उसका सबसे घनिष्ठ सम्बन्ध अपनी माँ से होता है। माँ उसे दूध पिलाती है और तरह-तरह से उसकी रक्षा करती है। इस कार्य में माँ के साथ परिवार के अन्य सदस्य, विशेषकर पिता भी सहायता करता है। बच्चे को नियमित रूप से खाने-पीने, पहनने व रहने की सीख मिलती है। इससे बच्चे के मन में एक सुरक्षा की भावना का विकास होता है। यह मानसिक सुरक्षा की भावना उसके जीवन को स्थिर तथा सुदृढ़ बनाती है और आगे चलकर उसे उसके व्यक्तित्व के विकास में सहायता प्रदान करती है।

माँ और पिता से बच्चे की अधिकतर आवश्यकतायें पूरी होती हैं। परन्तु, साथ ही बच्चा यह देखता है कि कुछ कार्यों को करने पर माँ या पिता उसे प्यार करते हैं, उसकी प्रशंसा करते हैं और कुछ अन्य कार्यों को करने पर उसे दण्ड मिलता है, उसकी निन्दा की जाती है। परिवार में ही बच्चे को सर्वप्रथम यह ज्ञान होता है कि कौन-कौन से कार्य उसे करने चाहिए और किन-किन कार्यों को उसे नहीं करना है। बालक ऐसे काम करना सीखता है जिनसे उसकी माँ व परिवार के अन्य लोग उसे प्यार करें और ऐसे कार्यों से बचता है जिनके कारण उसे दण्ड भोगना पड़ता है। इस प्रकार परिवार में ही बच्चा समाजीकरण का प्रथम पाठ सीखता या पढ़ता है। माँ अपने बच्चे को प्यार करती है, परिवार के अन्य सदस्य भी उसे प्यार करते हैं। वे उसके साथ हँसते-बोलते हैं। बच्चा उनकी तरफ देखता है, उनके होंठों को हिलाकर बातें करने की प्रक्रिया को बार-बार देखता है और फिर उसी की नकल उतारने का प्रयत्न करता है। इसके फलस्वरूप वह दो-एक शब्दों को उच्चारण करना भी सीखता है। इस क्रम में जो त्रुटियाँ होती हैं, उन्हें परिवार के सदस्य हँसते-बोलते सुधारते रहते हैं और इस प्रकार बच्चा धीरे-धीरे बोलना सीख जाता है। इसके उपरान्त भाषा का ज्ञान होते ही वह अन्य सभी प्राणियों से पृथक् हो जाता है और सामाजिक प्राणी के सर्वश्रेष्ठ गुण का अधिकारी हो जाता है।

बच्चा परिवार में गुड्डे-गुड़ियों का खेल खेलता है। गुड़िया के साथ वह उसी प्रकार का व्यवहार करता है जैसा कि माँ या पिता उसके (बच्चे के) साथ करते हैं। वह उन्हीं की तरह उन्हें सुलाता, खिलाता-पिलाता, यहाँ तक कि मारता-पीटता तक है। इन सब क्रियाओं के माध्यम से परिवार में ही बच्चे को दूसरों के साथ व्यवहार करने और एक विशिष्ट पद (status) के अनुसार कार्य करने की कला का ज्ञान होता है। यह एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक गुण है, जो समाजीकरण की प्रक्रिया में व्यक्ति को अपने परिवार से प्राप्त होता है।

परिवार में प्राय: एक से अधिक सदस्य होते हैं। इनमें से प्रत्येक के अलग-अलग मिज़ाज, रुचि, व्यवहार के तरीके, भावनायें आदि होती हैं। फिर भी इनमें से प्रत्येक के साथ बच्चे को घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है क्योंकि परिवार के एक छोटे से दायरे में उसे हरदम रहना पड़ता है। बच्चा दूसरों के साथ बोलता, खेलता और निवास करता है। इस प्रक्रिया के दौरान वह यह सीख जाता है कि दूसरों के साथ किस प्रकार से मिलकर रहा जाता है तथा दूसरों से किस प्रकार अनुकूलन किया जा सकता है। इस अनुकूलन के दौरान उसमें सहनशीलता का गुण भी पनप जाता है क्योंकि परिवार में सबसे छोटा होने के कारण उसे दूसरों की बातों या व्यवहारों को सहन करना पड़ता है। दूसरों से अनुकूलन करने की क्षमता और सहनशीलता अत्यधिक महत्त्वपूर्ण सामाजिक गुण है

जिसका प्रारम्भिक विकास परिवार में ही होता है। इसके अतिरिक्त चूँकि बच्चा अन्य व्यक्तियों से आयु में छोटा होता है, अतः दूसरों की उम्र का उस पर एक विशेष प्रभाव पड़ता है। इसी कारण उससे जो भी बड़े लोग होते हैं, वे उससे जो कहते हैं वह उसका पालन करता है। इससे बच्चे में आज्ञाकारिता का गुण पनपता है।

नोट

परिवार में ही बच्चा सर्वप्रथम यह सीखता है कि खाना किस प्रकार खाना चाहिए, दूसरों से किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए, किस ढंग से कपड़ा पहनना चाहिए और किस भगवान की पूजा या आराधना करनी चाहिए। परिवार के दूसरे सदस्य नहाने के बाद खाना खाते हैं, खाना खाने से पहले या बाद में हाथों को साफ करते हैं, जूता बाहर उतारकर कमरे में अन्दर जाते हैं, माता-पिता को प्रणाम करते हैं, परिवार में बाहर से आने वाले लोगों को 'नमस्ते' कहते हैं तथा इसी प्रकार के अन्य असंख्य सामाजिक व्यवहार करते हैं। बच्चा यह सभी कुछ प्रतिदिन ही देखता है और नकल उतारने का प्रयत्न करता है। यह प्रयत्न जब निरन्तर चलता है तो विभिन्न सामाजिक क्रियाएं व व्यवहार बच्चे के व्यक्तिगत व्यवहार का एक अंग बन जाते हैं। इसी प्रकार परिवार बच्चे को समाज में प्रचलित आचार-विचार, रीति-रिवाज, आदर्शों और विश्वासों के अनुसार ढालता और उसे समाज के आम नियमों का पालन करवाता है।

परिवार में ही बच्चा सामाजिक उत्तरदायित्व का अर्थ, क्षमा का महत्त्व और सहयोग की आवश्यकता को सीखता है और अपनी मौलिक धारणायें, आदर्श और शैली की रचना करता है। परिवार में माता-पिता, भाई-बहन आदि के प्रेम, सद्भावना, सहानुभूति, प्रीति इत्यादि से बच्चे के मानसिक विकास में काफी सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त परिवार ही वह अधारभूत शिक्षा-संस्था है जहाँ बालक को नागरिकता का प्रथम पाठ पढ़ाया जाता है। परिवार को इसीलिए 'नागरिकता की प्रथम पाठशाला' कहा गया है। परिवार में ही बच्चा दूसरों के साथ मिलकर और उनके व्यवहारों के साथ अनुकूलन करते हुए रहने की कला सिखाता है। परिवार में ही देश-प्रेम, आत्म-त्याग, कर्त्तव्य-पालन, परोपकार आदि सद्गुण बच्चे में विकसित होते हैं।

संक्षेप में, समाजीकरण की एक संस्था के रूप में परिवार का अत्यधिक महत्त्व है। इसलिए परिवार के बिना सामाजिक प्राणी का जीवन या समाजीकरण की प्रक्रिया अधूरी ही है।

2. **खेल या क्रीड़ा-समूह** (Play-group)—बच्चों के खेल का समूह एक महत्त्वपूर्ण प्राथमिक समूह होता है। इस कारण इसका भी समाजीकरण की प्रक्रिया में अत्यन्त प्रभावशाली स्थान होता है। बच्चा जब थोड़ा-सा बड़ा होकर घर से बाहर कदम रखता है तो उसका सम्पर्क अन्य बच्चों से भी होता है। वह उनके साथ खेलता है, उठता है, बैठता है। ये बच्चे अलग-अलग परिवार के होते हैं, इस कारण उनके व्यवहार के ढंग, रीति-नीति, रुचि, मिज़ाज आदि भी अलग-अलग होते हैं। इन विविधताओं के बीच बच्चा खेल तो खेलता ही है, साथ ही वह अनुकूलन की कला, मिलकर काम करने की आदत तथा सामाजिक सम्बन्धों को परिवार के दायरे से बाहर फैलाने का ढंग भी सीखता है। कहना न होगा कि खेल-समूह का भी समाजीकरण के एक साधन के रूप में अत्यधिक महत्त्व है।

3. **पड़ोसी तथा अन्य बड़े-बूढ़ों का समूह** (Neighbour and community group of elders)—इसका भी महत्त्वपूर्ण योगदान समाजीकरण की प्रक्रिया में होता है। पड़ोसियों तथा अन्य बड़े-बूढ़ों के सम्पर्क में आने से व्यक्ति के सामने अनेक नये विचार आते हैं। बातचीत तथा गप्पबाजी (gossips) के दौरान व्यवहार के नये ढंग उसका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते हैं तथा उसे नये आदर्शों से परिचित होने का मौका मिलता है। इसके प्रति वह चेतन तथा अचेतन रूप से प्रतिक्रिया (response) करता है। इसके फलस्वरूप उसमें नयी आदतों का विकास होता है। इससे उसका और अधिक समाजीकरण होता है।

4. **जाति तथा वर्ग** (Caste and Class)—व्यक्ति के समाजीकरण में जाति तथा वर्ग का भी महत्त्वपूर्ण योग रहता है। जाति जन्म के आधार पर सामाजिक संस्तरण (social stratification) और खण्ड-विभाजन की वह गतिशील व्यवस्था, जो खाने-पीने, विवाह, पेशा और सामाजिक सहवासों के सम्बन्ध में अनेक या कुछ प्रतिबन्धों को अपने सदस्यों पर लागू करती है। जाति की इस परिभाषा से ही स्पष्ट है कि यह व्यक्ति के सामने कुछ नियम, निर्देश तथा प्रतिबन्ध प्रस्तुत करती है जिन्हें उसे मानना ही पड़ता है। न मानने पर जाति व्यक्ति को अपने ढंग से दण्ड देती है। इन नियन्त्रणों तथा नियमों का प्रभाव व्यक्ति के समाजीकरण की प्रक्रिया पर पड़ता है। **श्री विलसन**

नोट

(Wilson) ने लिखा है कि व्यक्ति के जन्म के प्रथम दिन से लेकर मृत्यु तक उसके समस्त कार्यों पर जाति-प्रथा का नियन्त्रण रहता है। पहले जाति का प्रभाव व्यक्ति के जीवन के समस्त सम्बन्धों और घटनाओं पर पड़ता था। इसके अतिरिक्त, इसका प्रतिबन्ध जीवन के भूत और भविष्य दोनों पर होता था। जाति यह निर्धारित करती थी कि व्यक्ति को कौन-सा व्यवसाय चुनना है, किस जाति में अपने जीवन-साथी का चुनाव करना है; अन्य जातियों के साथ सामाजिक सम्बन्धों का क्या रूप या स्वरूप चुनना है; किस जाति के हाथ का बना भोजन प्राप्त करना है और किस जाति के हाथ का छुआ पानी तक नहीं पीना है। इतना ही नहीं, जाति-प्रथा विभिन्न जातियों के सदस्यों की सामाजिक और धार्मिक निर्योग्यताओं एवं विशेषाधिकारों को भी निश्चित करती है। इसी प्रकार वर्ग-व्यवस्था (class-system) भी व्यक्ति को एक सामाजिक स्थिति (social status) प्रदान करती है, जिसके आधार पर वर्ग-चेतना (class-consciousness) पनपती है और व्यक्ति के सामाजिक सम्बन्धों का क्षेत्र निश्चित होता है।

5. **भाषा** (Language)—समाजीकरण की प्रक्रिया का एक और महत्त्वपूर्ण साधन भाषा है। समाजीकरण का आधार सामाजिक अन्त:क्रियायें (social interactions) ही हैं और भाषा की सहायता से ही ये अन्त:क्रियायें अत्यधिक सरल हो जाती हैं। वास्तव में मानव और पशुओं में जो अधारभूत भिन्नतायें हैं, उनमें एक प्रमुख अन्तर यही है कि पशुओं के पास भाषा के साधन का अभाव है इसलिए उनकी सामाजिक अन्त:क्रियाओं का क्षेत्र बहुत अधिक सीमित है। भाषा के माध्यम से ही मनुष्य अपने विचार, संस्कृति, आदर्श, मूल्य, ज्ञान और विज्ञान को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को तथा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित करता है। यह हस्तान्तरण की प्रक्रिया जन्म के बाद ही आरम्भ हो जाती है। बच्चा पहले-पहल बोल नहीं पाता, फिर भी माँ तथा परिवार के अन्य सदस्य बच्चे से बातचीत करते रहते हैं। बच्चा उनके होंठ हिलाने की प्रक्रिया को ध्यान से देखता रहता है और उन्हीं की नकल उतारने का प्रयत्न करता है। बड़ों के हाव-भाव से बच्चा शब्दों के अर्थ को भी समझने का प्रयत्न करता है। उदाहरणार्थ, माँ 'आओ' कहकर बच्चे की ओर हाथ फैलाती है, जिससे माँ के हाथ के भाव और ध्वनि संसर्ग (sound combination) बच्चे के मस्तिष्क में बैठ जाते हैं और वह न केवल इस शब्द को सीख जाता है वरन् उसका अर्थ भी उसके लिए धीरे-धीरे स्पष्ट हो जाता है। इसीलिए हाथ को बिना फैलाये भी यदि माँ "आओ" कहती है तो बच्चा माँ के पास चला आता है। विभिन्न शब्दों का अर्थ समझने से बच्चे का बौद्धिक विकास होता है। यद्यपि भाषा को सीखना केवल एक बौद्धिक विषय ही नहीं है, यह उसके व्यक्तित्व के विकास में भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। भाषा की सहायता से बच्चे के लिए परिवार के सदस्यों तथा अन्य लोगों के साथ सम्पर्क स्थापित करना सरल हो जाता है। भाषा के माध्यम से ही वह दूसरों के विचारों को ग्रहण करता और उनसे लाभ उठाता है। यह भाषा ही है जो व्यक्ति को धीरे-धीरे उन कर्त्तव्यों या कार्यों के विषय में, जो कि उसे करने हैं, बताती है। भाषा के माध्यम से ही व्यक्ति का परिचय वृहत्तर समाज व संसार से तथा वृहत्तर जीवन से होता है। भाषा के कारण ही व्यक्ति वास्तविक अर्थ में मानव बन पाता है।

6. **शिक्षण-संस्थाएँ** (Educational Institutions)—शिक्षण संस्थाएँ अर्थात् स्कूल, कॉलेज आदि भी समाजीकरण की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संस्थाएँ हैं। इन्हीं संस्थाओं में बच्चे की मानसिक क्षमताओं का विकास होता है और वह अज्ञानता से ज्ञान की ओर तथा अन्धकार से प्रकाश की ओर बढ़ता है। शिक्षण-संस्थाओं में बच्चे के लिए सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करने का क्षेत्र और भी विस्तृत हो जाता है। वहाँ वह अनेक प्रकार के बच्चों एवं व्यक्तियों के सम्पर्क में आता है और उनसे बहुत कुछ सीखता है। विद्यालय व कॉलेज में ही पुस्तकों के द्वारा बच्चे को देश-विदेश के समाज व संस्कृति से परिचित होने का अवसर मिलता है। इससे भी उसके व्यक्तित्व के विकास में काफी सहायता पहुंचती है। इतना ही नहीं, स्कूल व कॉलेज में बालक एकाधिक शिक्षकों के सम्पर्क में आता है। इनके उपदेश तथा जीवन-आदर्श भी बालक को प्रभावित कर सकते हैं, जिसके आधार पर वह अपने जीवन का मार्ग चुन सकता है। बालक अपने शिक्षकों में से किसी एक शिक्षक को अपना 'आदर्श' मान सकता है और उसी के अनुरूप अपने जीवन को ढाल सकता है।

7. **राजनीतिक तथा आर्थिक संस्थाएँ** (Political and Economic Institutions)—राजनीतिक एवं आर्थिक संस्थाओं का भी योगदान व्यक्ति के समाजीकरण की प्रक्रिया पर होता है। उदाहरणार्थ, तानाशाही सरकार होने पर व्यक्ति के जीवन में सुरक्षा की भावना कम होती है जिसके फलस्वरूप उसके व्यक्तित्व के स्वाभाविक विकास में

बाधा पड़ती है। आज संसार में कल्याणकारी राज्यों (welfare states) का विकास तेजी से हो रहा है। इस प्रकार राज्य अपने नागरिकों की सर्वांगीण उन्नति को अपना लक्ष्य मानता है और उसके लिए सुधार के अनेक कार्यक्रमों को लागू करता है, जिसका प्रभाव व्यक्ति के समाजीकरण पर पड़ता है। उदाहरणार्थ, जब राज्य की ओर से समाज के सभी बच्चों के लिए एक निश्चित कक्षा तक शिक्षा अनिवार्य तथा निःशुल्क कर दी जाती है, तो बच्चों को शिक्षित होने का अवसर मिलता है और यह अवसर उनके विकास में सहायक सिद्ध होता है।

नोट

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि व्यक्ति के समाजीकरण की प्रक्रिया में एकाधिक सामाजिक अभिकरणों (social agencies) का योगदान होता है। इनमें परिवार सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण संस्था है। **श्री कूले** (Cooley) का कथन है कि प्राथमिक समूह में परिवार का स्थान सबसे ऊपर है। परिवार के घनिष्ठ, आन्तरिक तथा स्नेह, प्रीतिपूर्ण सम्बन्धों के बीच बच्चा जो कुछ सीखता है वह उसके जीवन में चिरस्थाई हो जाता है। यही कारण है कि परिवार को नागरिक तथा सामाजिक जीवन की आधारभूत पाठशाला कहा गया है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि समाजीकरण की प्रक्रिया में परिवार ही सब-कुछ है। वृहत्तर सामाजिक जीवन के लिए अन्य संस्थाओं का योगदान भी वास्तव में महत्त्वपूर्ण होता है।

4.15 समाजीकरण के सिद्धान्त (Theories of Socialization)

व्यक्ति के समाजीकरण में समाज या विभिन्न सामाजिक संस्थाओं के महत्त्व को सभी स्वीकार करते हैं। परिवार सामाजिक जीवन की आधारभूत इकाई होता है और वह समाजीकरण की प्रक्रिया में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। उसी प्रकार सुझाव, अनुकरण, सहानुभूति आदि कुछ मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाएँ भी समाजीकरण में सहायक होती हैं। इनका विश्लेषण एक जटिल कार्य है। फिर भी, अनेक विद्वानों ने यह कार्य करके समाजीकरण के सम्बन्ध में अपने मत प्रस्तुत किए हैं। यहाँ हम उनमें से कुछ प्रमुख मतों या सिद्धान्तों की विवेचना करेंगे।

दुर्खीम का सिद्धान्त (Theory of Durkheim)

श्री दुर्खीम ने समाजीकरण की प्रक्रिया को अपने 'सामूहिक प्रतिनिधित्व' (collective representation) की अवधारणा के आधार पर समझाने का प्रयत्न किया है। प्रत्येक समाज में कुछ ऐसे विचार, ऐसी धारणाएँ और भावनाएँ होती हैं, जिन्हें समाज के अधिकतर लोग सामान्य रूप से अपनाते हैं। चूँकि ये विचार, धारणाएँ और भावनाएँ सबके द्वारा मान्य होती हैं, इसलिए ये सामूहिक रूप से समस्त समूह का प्रतिनिधित्व करती हैं। इन विचारों, धारण ााओं और भावनाओं का निर्माण सामाजिक चेतना से होता है और सामाजिक चेतना का निर्माण व्यक्तिगत चेतनाओं की अंतःक्रिया और उनके पारम्परिक प्रभाव के फलस्वरूप होता है। इससे जो सामूहिक विचार, धारणाएँ और भावनाएँ उत्पन्न होती हैं, उनका सम्पर्क किसी व्यक्ति विशेष के विचारों, धारणाओं और भावनाओं से नहीं होता। वे तो सम्पूर्ण सामूहिक जीवन के द्योतक होते हैं। यही कारण है कि उन्हें 'सामूहिक प्रतिनिधित्व' कहा गया है। समाजीकरण की प्रक्रिया में इन सामूहिक प्रतिनिधियों का बड़ा महत्त्व होता है। इसका कारण भी स्पष्ट है। चूँकि ये सामूहिक विचार, धारणाएँ या भावनाएँ समूह के अधिकतर लोगों के द्वारा अपनाई जाती हैं और चूँकि उनके प्रति अधिकतर सदस्यों के हृदय में आदर की भावना होती हैं, इस कारण, इस प्रकार के विचारों अथवा धारणाओं के पीछे सामूहिक अभिमति होती है। इसी कारण वे अत्यन्त प्रभावशाली होते हैं और व्यक्तियों के व्यवहारों को उनकी व्यक्तिगत इच्छा या भावनाओं के द्वारा प्रभावित हुए बिना ही प्रभावित करते रहते हैं। उदाहरणार्थ, भीड़ में व्यक्ति के व्यवहार को ही ले सकते हैं। भीड़ में एक मानसिक एकता होती है, जिसके कारण सभी सदस्यों के विचार और संवेग एक प्रकार के होते हैं, सभी व्यक्ति भीड़ के कार्यों से प्रभावित होते हैं तथा उसी के अनुसार उत्साह, हिंसा, अनैतिक कार्य, आदि सब कुछ करते हैं। इससे व्यक्ति की इच्छा या भावना दब जाती है और उसके स्थान पर सामूहिक इच्छा या भावना कार्यशील हो जाती है। केवल भीड़ में ही नहीं, समस्त समाज में भी यही होता है। सामूहिक प्रतिनिधित्व-रूपी विचार, धारणाएँ या भावनाएँ भी व्यक्तियों पर अपना प्रभाव पूर्ण रूप से डालती हैं और व्यक्तियों के सम्मुख इसके सिवाए और कोई दूसरा रास्ता नहीं होता कि उन्हीं के अनुसार वे अपने व्यवहारों को आयोजित करें। वास्तव में व्यक्ति सदैव सामूहिक प्रतिनिधित्वों का दबाव अनुभव करता है और उसी दबाव

के फलस्वरूप उसमें सामाजिक गुणों का विकास होता है। उदाहरणार्थ, माता-पिता, शिक्षक, सरकार आदि सभी बच्चों को शिक्षित बनाना चाहते हैं। अतः बच्चों की शिक्षा एक सामूहिक विचार है और इसी विचार या सामूहिक प्रतिनिधित्व के कारण बच्चे की शिक्षा सम्भव होती है। माता-पिता, शिक्षक आदि का निरन्तर दबाव—बच्चे के ऊपर—शिक्षा प्राप्त करने के सम्बन्ध में पड़ता रहता है और इन सामूहिक दबावों के कारण ही बच्चे की शिक्षा उचित दिशा में नियन्त्रित होती रहती है। इसी प्रकार अन्य दबावों के कारण बच्चे में दूसरे सामाजिक गुण पनप जाते हैं और उसका समाजीकरण होता है।

कूले का सिद्धान्त (Cooley's Theory)

श्री कूले के अनुसार मानव-प्रकृति उन आदतों का परिणाम है, जो एक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क में आने के फलस्वरूप सीख लेता है। कोई भी व्यक्ति जब दूसरों के सम्पर्क में आता है तो उसे अनेक प्रकार के अनुभव होते हैं। इन्हीं अनुभवों के आधार पर उसकी आदतें बनती हैं। **श्री कूले** का कथन है कि जब तक एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों के सम्पर्क में नहीं आता और उनकी आदतों, मनोभावों, विश्वासों तथा विचारों से परिचित होने का मौका उसे नहीं मिलता, तब तक वह कभी भी अपने सम्बन्ध में भी कोई विचार पनपा नहीं पाता। व्यक्ति के सम्बन्ध में दूसरे लोग जो सोचते हैं, उसी के आधार पर व्यक्ति अपने सम्बन्ध में सोचता है। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति अगर दूसरों से निरन्तर यह सुनता रहता है कि वह निकम्मा है या मूर्ख है, तो यह विचार उसके मस्तिष्क में घर कर जाता है और वह वास्तव में निकम्मा या मूर्ख बन जाता है। अतः स्पष्ट है कि दूसरों की निगाहों से व्यक्ति अपने को देखता है। इसीलिए **श्री कूले** ने लिखा है कि दूसरे व्यक्तियों का विचार और निर्णय व्यक्ति के "स्वयं का आईना" (looking-glass self) है; और, इसी के आधार पर व्यक्ति के विचार, मनोभाव, आदतें आदि पनपती हैं, अर्थात् उसका समाजीकरण होता है।

मीड का सिद्धान्त (The Theory of Meed)

प्रो. मीड के मतानुसार, समाजीकरण की प्रक्रिया में 'अपने सम्बन्ध में चेतना' (self consciousness) महत्त्वपूर्ण है। व्यक्ति जब स्वयं के सम्बन्ध में चेतन होता है, तभी वह दूसरे के मनोभावों, विचारों और आदर्शों के सम्बन्ध में जागरूक हो सकता है। इस आत्म (self) का विकास कैसे होता है ? इसके उत्तर में **प्रो. मीड** का कथन है कि बच्चा पहले-पहल अपने तथा दूसरों के बीच अन्तर या भेद नहीं कर पाता। इसीलिए वह जब खिलौने से खेलता है तो उसे भी जानदार मान लेता है और उसके प्रति भी वह वैसा ही व्यवहार करता है जैसा कि उसके प्रति उसके माता या पिता करते हैं। दूसरे शब्दों में, बच्चा अपने माता या पिता का पार्ट अदा करता है और खिलौने या गुड़ियों से स्वयं अपना पार्ट (roles) अदा करवाता है। पर, एक समय ऐसा भी आता है जब बच्चा यह अनुभव करता है कि माता-पिता के व्यवहारों की प्रतिक्रिया में वह जैसा व्यवहार करता है (जैसे माँ मारती है तो बच्चा रोता है), गुड़िया उसके (बच्चे के) व्यवहारों की प्रतिक्रिया में वैसा व्यवहार नहीं करती। अतः बच्चे में धीरे-धीरे यह ज्ञान या चेतना उत्पन्न हो जाती है कि वह स्वयं माता या पिता नहीं है, न ही गुड़िया या खिलौना वह स्वयं है, अर्थात् वह इनसे कुछ अलग है और उसका अस्तित्व इनसे पृथक् है। इसी चेतना के आधार पर बच्चा स्वयं में तथा अन्य व्यक्तियों में भेद करता है। स्वयं के सम्बन्ध में बच्चे की यह चेतना (अर्थात, आत्म का विकास) ही अपने तथा दूसरों के प्रति उसके व्यवहार को निश्चित करता है और वह धीरे-धीरे तरह-तरह की आदतें सीख लेता है, अर्थात् उसका समाजीकरण हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि **सर्वश्री दुर्खीम, कूले** तथा **मीड,** सभी इस बात से सहमत हैं कि समाज या समाज के सदस्य व्यक्ति के समाजीकरण की प्रक्रिया में महत्त्व रखते हैं। इसके दबावों, प्रभावों या विचार-भावनाओं के फलस्वरूप ही व्यक्ति अपने विचार, आदर्श तथा आदतें बनाता है। इसी बात को उपर्युक्त विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। संक्षेप में, किसी भी अवस्था में समाजीकरण की प्रक्रिया में समाज के महत्त्व को कम नहीं किया जा सकता। समाज के कारण ही व्यक्ति मानव है।

नोट

4.16 व्यक्तित्व के विकास में समाजीकरण का महत्त्व (Role of Socialization in the Development of Personality)

सर्वश्री लॉ-पीयर तथा फार्न्स वर्थ (La-Piere and Farns Worth) का कथन है, "व्यक्तित्व शब्द का वैज्ञानिक प्रयोग किसी समय-विशेष में, किसी व्यक्ति-विशेष के समाजीकरण के प्रतिफलन या परिणति को दर्शाने के लिए किया जाता है। व्यक्तित्व उन सब गुणों की 'समग्रता' है जिन्हें व्यक्ति ने समाजीकरण के द्वारा अर्जित किया है।" यह कथन व्यक्तित्व के विकास में समाजीकरण के असाधारण महत्त्व की ओर ही संकेत करता है। वास्तव में समाजीकरण के साथ-साथ व्यक्ति में समाजिक-सांस्कृतिक गुण प्रकट होते रहते हैं और उन्हीं गुणों के कारण उसके व्यक्तित्व को एक विशिष्ट रूप प्राप्त होता है। **श्री रैंक** (Renk) ने तो यहाँ तक कहा है कि व्यक्तित्व का विकास माता के गर्भ से ही आरम्भ हो जाता है। अर्थात् इस मत के अनुसार वंशानुसंक्रमण (heredity) तथा बालक के उत्पन्न होने की प्रक्रिया का उसके व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है। यदि इस मत को अतिशयोक्तिपूर्ण भी माना जाए, तो भी इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि व्यक्ति के विकास में समाजीकरण की प्रक्रिया का अत्यधिक महत्त्व है।

जन्म होने के बाद से ही बच्चा अपनी मूलप्रवृत्ति के कारण भूख प्यास लगने पर रोता है और माँ के दूध पिलाने पर शान्त हो जाता है। परन्तु हर बार रोने मात्र से ही माँ दूध नहीं पिलाती बल्कि एक निश्चित समय पर ही दूध पिलाती है। माँ की इस प्रक्रिया या व्यवहार के फलस्वरूप सर्वप्रथम समाजीकरण की प्रक्रिया क्रियाशील होती है और वह इस रूप में कि बच्चे को समय का ज्ञान होना आरम्भ हो जाता है। भूख लगने या न लगने पर भी प्राय: वह रोता नहीं क्योंकि वह जान जाता है कि माँ एक निश्चित समय पर उसे दूध पिलाएगी। इस प्रकार मूलप्रवृत्यात्मक प्रवृत्तियों को भी सामाजिक नियमों के अनुसार सुधारने या उन पर नियन्त्रण रखने का गुण बच्चे में भी विकसित होना शुरू हो जाता है। यह गुण किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व का उल्लेखनीय तत्व बन जाता है। प्रयोगों से देखा गया है कि बालक भूख बुझ जाने के बाद भी माँ के स्तनों को नहीं छोड़ता। वास्तव में दूध पिलाना केवल भूख बुझाने की विधि न होकर बालक के प्रति माता के स्नेह का भी परिचायक होता है। इसी कारण दूध छुड़ाने (weaning) का भी बालक के व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है। यदि बच्चे के प्रति उपेक्षा के कारण माँ उसे दूध पिलाना बन्द कर देती है तो बच्चे के व्यक्तित्व में निराशा-भाव (pessimism) और कटुता-भाव आदि पनप सकते हैं।

इसके विपरीत, यदि बच्चे को अधिक आयु तक माँ अपना दूध पिलाती है तो वह पर-निर्भर और आरामतलब हो जाता है। इस सम्बन्ध में परीक्षण के द्वारा यह भी देखा गया है कि जिन बच्चों को दूध तीन से छ: माह की आयु के बीच छुड़ा दिया गया, उनमें सुरक्षा की भावना उन बच्चों से अधिक पाई गई जिनको नौ माह या उससे अधिक समय तक दूध पिलाया गया था। यह कहा जाता है कि अगर समाजीकरण की प्रक्रिया बच्चे के जीवन में प्रथम छ: वर्षों तक उचित प्रकार से क्रियाशील न हो तो उसका स्थाई प्रभाव व्यक्ति के व्यक्तित्व-विकास पर पड़ता है। उदाहरणार्थ, इस आयु में असुरक्षा की भावना विकसित हो जाने पर मानसिक संघर्ष आरम्भ हो जाता है, जिसके कारण कुछ बच्चे दब्बू और पलायनशील (truant) हो जाते हैं और कुछ आक्रामक तथा उद्दण्ड प्रकृति के।

इसी प्रकार जन्म से लेकर, किशोरावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था तक समाजीकरण के द्वारा व्यक्तित्व का निर्माण होता है। हाँ, वृद्धावस्था में पहुँचने के बाद साधारणतया समाजीकरण की प्रक्रिया का अन्त हो जाता है, क्योंकि इस अवस्था में अनुकूलन की शक्ति अत्यधिक कमजोर पड़ जाती है। इतना ही नहीं, इस अवस्था में परिवर्तन की भी आवश्यकता काफी कम होती है। इसलिए इस अवस्था में व्यक्तित्व को कुछ स्थिरता प्राप्त हो जाती है। इस स्थायित्व से व्यक्ति में रूढ़िवादिता, सहिष्णुता और व्यापक अनुभवपूर्ण सामाजिक दृष्टिकोण का विकास होता है। व्यक्तित्व स्थिर होता है, पूर्ण होता है और व्यक्तित्व की 'कहानी' तीव्रता से समाप्ति की ओर बढ़ती है—'महाव्यक्तित्व, में विलीन होने की महत्त्वाकांक्षा लेकर'।

4.17 सारांश (Summary)

नोट

- साहित्यकारों के लिए संस्कृति जीवन का प्रकाश और कोमलता है। शाब्दिक अर्थ में, 'संस्कृति' शब्द 'संस्कार' का रूपान्तर है।
- **श्री टायलर** के अनुसार, संस्कृति से हमारा तात्पर्य उस सब कुछ से होता है जिसे मानव अपने सामाजिक जीवन में सीखता है या समाज से पाता है। संस्कृति प्रकृति की देन नहीं, बल्कि समाज की देन है; यह समाज का मानव को श्रेष्ठतम वरदान है।
- सांस्कृतिक तत्व सम्पूर्ण सांस्कृतिक व्यवस्था की सबसे छोटी वह इकाई है जिसका मानव-जीवन में काम आने की दृष्टि से और विभाजन नहीं हो सकता।
- संस्कृति-संकुल सांस्कृतिक तत्वों का वह गुच्छा या मिलित रूप है जो मानव-आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।
- *सदरलैण्ड* तथा *वुडवार्ड* के शब्दों में, "संस्कृति संकुल सांस्कृतिक तत्वों का वह समग्र समूह है जो अर्थपूर्ण अंत:संबंध से परस्पर गुंथे होते हैं।"
- सांस्कृतिक ढाँचे के अन्तर्गत संस्कृति-संकुलों की उस व्यवस्था को, जिससे कि सम्पूर्ण संस्कृति की विशेषताएँ अभिव्यक्त हों, सांस्कृतिक प्रतिमान कहते हैं।
- जन्म के समय मानव-शिशु में किसी भी मानवोचित गुण के दर्शन नहीं होते हैं, पर बाद में वह शिशु धीरे-धीरे अपने में कुछ मानवोचित गुणों, आदतों, व्यवहार के ढंग, सोचने-विचारने की विशेषता आदि को विकसित करता है। इसी प्रक्रिया को समाजीकरण कहते हैं।
- **डॉ. मुकर्जी** के मतानुसार, जिस प्रक्रिया के द्वारा प्राणिशास्त्रीय व्यक्ति के सामाजिक व्यक्तित्व का निर्माण और विकास होता है, उसे समाजीकरण कहते हैं।"
- समाजीकरण की प्रक्रिया एक जटिल प्रक्रिया है। जिसमें अनेक संस्थाओं का योगदान होता है। वास्तव में चूँकि समाजीकरण एक सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया है, इस कारण इसकी सफलता या विफलता किसी एक कारण या संस्था पर निर्भर नहीं होती, बल्कि एकाधिक संस्थाओं पर आधारित होती है।
- समाजीकरण की एक संस्था के रूप में परिवार का अत्यधिक महत्त्व है। इसलिए परिवार के बिना सामाजिक प्राणी का जीवन या समाजीकरण की प्रक्रिया अधूरी ही है।
- समाजीकरण के साथ-साथ व्यक्ति में सामाजिक-सांस्कृतिक गुण प्रकट होते रहते हैं और इन्हीं गुणों के कारण उसके व्यक्तित्व को एक विशिष्ट रूप प्राप्त होता है।

4.18 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. संस्कृति क्या है? संस्कृति की विशेषताओं को लिखिए।
2. संस्कृति संकुल का उल्लेख करें।
3. संस्कृति कर मानव जीवन या मापन पर पड़ने वाले प्रभाव का वर्णन करें।
4. समाजीकरण से आप क्या समझते हैं ? समाजीकरण के प्रमुख साधनों या अभिकरणों की व्याख्या कीजिए।
5. समाजीकरण की सम्पूर्ण प्रक्रिया को समझाइए। व्यक्तित्व के विकास में समाजीकरण के महत्त्व को स्पष्ट कीजिए।
6. समाजीकरण क्या है ? व्यक्ति के विकास में परिवार एवं स्कूल के महत्त्व की विवेचना कीजिए।
7. समाजीकरण की प्रक्रिया में अन्तर्निहित मनोवैज्ञानिक कारकों को स्पष्ट कीजिए।
8. "समाजीकरण सीखने की एक प्रक्रिया है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।

4.19 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

नोट

1. समाजशास्त्र के सिद्धांत–*रामनाथ शर्मा एवं राजेन्द्र कुमार शर्मा, एटलांटिक पब्लिशर्स।*
2. समाजशास्त्र के मूल तत्व–*गिसबर्ट पैसकल, ओरिएन्ट लोंगमैन्स।*
3. समाजशास्त्र–*सैफर, रिचर्ड टी. एवं रॉबर्ट पी. लैम, एलाइड पब्लिशर्स।*
4. समाजशास्त्र के सिद्धांत–*जी.आर. मदान, राधा पब्लिकेशन्स।*